[हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ डालमिया पुरस्कार २१००) से पुरस्कृत]

॥ श्रीः ॥

बौद्ध-दर्शन-मीमांसा



पं० बलदेव उपाध्याय
(एम. ए. साहित्याचार्य)

चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस-१

उप

जैन-धर्म

चौ

वि

॥ श्रीः ॥

विद्या भवन हिन्दी ग्रन्थमाला

१

बौद्ध-दर्शन-मीमांसा

(बौद्ध-धर्म तथा तत्त्वज्ञान का साङ्गोपाङ्ग प्राञ्जल प्रामाणिक विवेचन)

लेखक—

साहित्याचार्य

पं० बलदेव उपाध्याय एम० ए०

प्रोफेसर, संस्कृत-पाली विभाग हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी

भूमिका लेखक—

महामहोपाध्याय

पं० गोपीनाथ कविराज एम० ए०

चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस-१

१९५४

प्रकाशक—
चौखम्बा विद्या भवन,
चौक, बनारस-१

Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Banaras.

द्वितीय संस्करण
मूल्य ६)

मुद्रक—
विद्याविलास प्रेस,
बनारस-१

बुद्ध-स्तवः

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ।
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्
देशयामास संबुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम् ॥

—नागार्जुन (माध्यमिक-कारिका)

विधूतकल्पनाजालगम्भीरोदारमूर्तये ।
नमः समन्तभद्राय समन्तस्फरणत्विषे ॥

—धर्मकीर्ति (प्रमाणवार्तिक)

विमुक्तावरणक्लेशं दीप्ताखिलगुणश्रियम् ।
स्वैकवेद्यात्मसम्पत्तिं नमस्यामि महामुनिम् ॥

—मनोरथनन्दी (प्रमाणवार्तिकवृत्तिः)

जयन्ति जातिव्यसनप्रबन्धप्रसूतिहेतोर्जगतो विजेतुः ।
रागाद्यरातेः सुगतस्य वाचो मनस्तमस्तानवमादधानाः ॥

—धर्मोत्तर (न्यायबिन्दु-टीका)

प्रमाण-पत्र

श्रीहरजीमल डालमिया पुरस्कार

नई देहली

वर्ष २००२–२००३

विजेता–

पण्डित बलदेव उपाध्याय एम० ए०

कृति—बौद्ध-दर्शन

विषय—दर्शन

पुरस्कार—इक्कीस सौ रुपये

डालमिया जैन निवास, श्रीराम श्रीवास्तव, सरस्वती रामकृष्ण
माघ शुक्ल १३ डालमिया
सं० २००३ विक्रमी मन्त्री सभानेत्री

कृतज्ञता प्रकाशन

मुझे हरजीमल डालमिया पुरस्कार समिति को अपनी कृतज्ञता प्रकट करते विशेष हर्ष हो रहा है। दिल्ली के सुप्रसिद्ध सेठ रामकृष्ण डालमिया ने अपने पूज्य पिता की स्मृति में २१००) रु० के इस पुरस्कार की स्थापना की है जो दर्शन अथवा साहित्य के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी ग्रन्थ के लिए प्रतिवर्ष दिया जाता है। इधर हिन्दी में दस वर्षों के भीतर प्रकाशित तथा हस्तलिखित दर्शन-ग्रन्थों में यह बौद्ध-दर्शन सर्वश्रेष्ठ स्वीकृत किया गया है। मुझे यह जानकर प्रसन्नता होती है कि प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर (रिटायर्ड) प्रो० रानाडे, महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज (काशी) तथा श्री क्षितिमोहन सेन (शान्ति निकेतन) जैसे दार्शनिक मनीषियों ने इस ग्रन्थ की महती प्रामाणिकता स्वीकार कर इसे हिन्दी दार्शनिक जगत् का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना है। इसके लिए ये महनीय विद्वान् मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। 'डालमिया पुरस्कार' हिन्दी साहित्य-संसार का सबसे बड़ा पुरस्कार है। इस पुरस्कार की प्राप्ति से लेखक को सम्मान तथा सत्कार बोध करना स्वाभाविक है। मुझे हिन्दी के गुणग्राही सज्जनों से पूरी आशा है कि वे लेखक के साहित्यिक प्रयासों को इसी प्रकार सत्कृत कर उसका उत्साह बढ़ाते रहेंगे।

काशी
महाशिवरात्रि
सं० २००३

बलदेव उपाध्याय



आचार्य बलदेव उपाध्याय

भूमिका

बौद्ध-धर्म तथा दर्शन के ऊपर अनेक पाश्चात्त्य तथा भारतीय विद्वानों ने ग्रन्थों की रचना की है। ये ग्रन्थ बौद्ध-दर्शन के विभिन्न अंगों तथा इस धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों पर लिखे गये हैं। परन्तु ऐसा कोई भी ग्रन्थ अंग्रेजी या भारतीय भाषाओं में—जहाँ तक मुझे ज्ञात है—देखने में नहीं आया जिसमें बौद्धधर्म तथा दर्शन के विभिन्न अङ्गों का प्रामाणिक तथा साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया हो। प्रस्तुत पुस्तक इसी अभाव की पूर्ति के लिये लिखी गई है।

बौद्ध-दर्शन तथा धर्म का साहित्य व्यापक और विशाल है। इसके विविध भागों के ऊपर अनेक विद्वानों ने अनुसन्धान करके इतनी प्रचुर सामग्री प्रस्तुत कर दी है कि उन सबका मन्थन कर भारतीय भाषा में ग्रन्थ का निर्माण करना सचमुच साहस का काम है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ग्रन्थकार की प्रस्तुत रचना एक साहसपूर्ण उद्योग है परन्तु यह कार्य उचित दिशा में किया गया है। ग्रन्थकार ने अपने दीर्घकालीन अनुसन्धान के बल पर एक ऐसे अनुपम तथा उपादेय ग्रन्थ की रचना की है जिसके समकक्ष ग्रन्थ की उपलब्धि हिन्दी में तो क्या, भारत की किसी भी भाषा में नहीं है। यह ग्रन्थ एक नितान्त मौलिक रचना है। विद्वान् लेखक ने विभिन्न युगों में विभिन्न विद्वानों के द्वारा लिखी परन्तु बिखरी हुई सामग्री को एकत्र कर उन्हें व्यवस्थित रूप प्रदान किया है और उसके तात्पर्य को भलीभाँति समझाने का प्रयत्न किया है। इसमें सन्देह नहीं की शून्यवाद तथा बौद्ध तन्त्र के विषय में जो प्रामाणिक विवरण लेखक ने प्रस्तुत किया है वह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक है। बौद्ध-दर्शन के इतिहास में बौद्ध-योग तथा बौद्ध-तन्त्रों का यह वर्णन संभवतः पहली बार यहाँ किया गया है।

इस ग्रन्थ में पाँच खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में बुद्ध के मूल धर्म का वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से किया गया है। दूसरे खण्ड का विषय है—

बौद्ध-धर्म का विकास। इस खण्ड में बुद्ध-धर्म के अष्टादश निकायों के उत्थान का वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा ही उपादेय है। विद्वान् लेखक ने महासंघिकों तथा सम्मितियों के विशिष्ट सिद्धान्तों के वर्णन करने में अपने पाण्डित्य का परिचय दिया है। त्रिकाय-विषयक परिच्छेद बड़ी सुन्दरता से लिखा गया है। निर्वाण के विषय में विभिन्न सम्प्रदायों के मतों का एकत्र समीक्षण नितान्त श्लाघनीय है। तृतीय खण्ड तो इस ग्रन्थ का हृदय है। इसमें वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक सम्प्रदायों के गूढ तथ्यों का सरल विवेचन किस आलोचक की प्रशंसा का पात्र नहीं हो सकता? यहाँ ग्रन्थकार की विद्वत्ता जितनी गम्भीर है उनकी वर्णन-शैली उतनी ही स्पष्ट और तल-स्पर्शिनी है। चतुर्थ खण्ड में बौद्ध-न्याय, बौद्ध-योग तथा बौद्ध-तन्त्रों का वर्णन है जो एकदम नया है। पञ्चम खण्ड में बौद्ध-धर्म के विस्तार की राम-कहानी है। इस प्रकार एक ही ग्रन्थ में बुद्ध-धर्म की विभिन्न आध्यात्मिक धाराओं का एकत्र वर्णन कर ग्रन्थकार ने एक बड़ा ही श्लाघनीय कार्य किया है।

अन्त में, हम पं० बलदेव उपाध्याय जी को ऐसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक को सफलता-पूर्वक समाप्त करने के लिये बधाई देते हैं। यह कार्य इतना विशाल है कि इसकी विशालता को देखकर बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् भी आश्चर्य-चकित हो उठेंगें। मैं हिन्दी के पाठकों तथा विश्वविद्यालय के उच्च कोटि के छात्रों से इस ग्रन्थ के अध्ययन करने का अनुरोध करूँगा। मुझे पूरा विश्वास है कि यह ग्रन्थ उनकी सहानुभूति को अपनी ओर आकृष्ट कर सकेगा।

गोपीनाथ कविराज

वक्तव्य

आज दर्शन के जिज्ञासुओं के सामने इस 'बौद्धदर्शन' को प्रस्तुत करते समय मुझे अपार हर्ष हो रहा है। बहुत दिनों की साधना आज फलीभूत हो रही है। भगवान् बुद्ध इस विशाल विश्व की एक असामान्य विभूति हैं। उनके धार्मिक उपदेशों ने संख्यातीत मानवों का कल्याण साधन किया है और आज भी कर रहे हैं। बौद्धदर्शन का अपना एक विशिष्ट सन्देश है। तर्कनिपुण बौद्ध-तार्किकों का संसार के मूर्धन्य तत्त्वज्ञों की श्रेणी में नाम उल्लेखनीय है। परन्तु ऐसे विशाल तथा व्यापक दर्शन का प्रामाणिक परिचय राष्ट्रभाषा में न होना एक अनहोनी सी घटना थी। जिस देश में बुद्ध ने जन्म लिया, जहाँ उन्होंने अपना धर्मचक्रप्रवर्तन किया और जहाँ उन्होंने पादचर्या से भ्रमण किया, उसी देश की भाषा में—जिसे आजकल राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्राप्त है—बौद्धदर्शन के सभी अंगों पर आधुनिक दृष्टि से लिखे गये ग्रन्थ का अभाव सचमुच खटक रहा था। इसी अभाव की पूर्ति करने का यथासाध्य उद्योग इस ग्रन्थ में किया गया है।

बौद्ध-दर्शन की विभिन्न तात्त्विक धाराओं के विवेचन के लिए मैंने ऐतिहासिक तथा समीक्षात्मक उभय शैलियों का उपयोग किया है। बुद्धधर्म के विकास तथा प्रसार के ऐतिहासिक तथ्यों का परिचय उसके दार्शनिक सिद्धान्तों के विकास तथा स्वरूप समझने में नितान्त सहायक सिद्ध होगा, इसीलिए यहाँ उभय शैलियों का संमिश्रण किया गया है। प्रत्येक सम्प्रदाय का प्रथमतः ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया गया है जिससे पाठकों को उसके मुख्य आचार्यों तथा उनकी मौलिक रचनाओं का पूर्ण परिचय मिल जाय। तदनन्तर उसके दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन इन्हीं रचनाओं के आधार पर किया गया है। इन दार्शनिक तथ्यों की समीक्षा भी प्राचीन तथा नवीन दृष्टि से प्रकरण के अन्त में कर दी गई है। विवेचन आधुनिक शैली से किया गया है। केवल अंग्रेजी ग्रन्थों या केवल अधूरे अनुवादों के आधार पर लिखी गई पुस्तक में अपसिद्धान्तों के होने की विशेष आशङ्का रहती है। इसीलिए मैंने इस ग्रन्थ को पाली तथा संस्कृत में निबद्ध मूल प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर लिखा है और अपने कथन की पुष्टि में मैंने मूल पुस्तक में या पाद-टिप्पणियों में तत्तत् ग्रन्थों का पर्याप्त उल्लेख किया है तथा

विशिष्ट आवश्यक उद्धरण भी दे दिया है। एक ही ग्रन्थ में बौद्ध धर्म तथा दर्शन के नाना रूपों का दिग्दर्शन करा दिया जाय, यही मेरी इच्छा रही है। इसीलिये मैंने इस ग्रन्थ को पाँच खण्डों में विभक्त कर प्रत्येक सम्प्रदाय की दार्शनिक धारा के परिचय देने का यथाशक्ति प्रयास किया है। हीनयान, महायान, वज्रयान तथा कालचक्रयान-आदि समग्र रूपों का यथार्थ दर्शन हमें संक्षिप्त रूप में यहाँ मिलता है। बौद्ध-ध्यानयोग तथा बौद्धतन्त्रों को तो (जहाँ तक मैं जानता हूँ) बौद्धदर्शन के लेखकों ने सर्वदा ही उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। यह प्रथम अवसर है कि इन आवश्यक विषयों का प्रामाणिक विवेचन दर्शन-ग्रन्थ में किया जा रहा है। वज्रयान के कई ग्रन्थ तो इधर अवश्य प्रकाशित हुए हैं, परन्तु साधना-जगत् से सम्बद्ध होने के कारण उनके सिद्धान्तों का निरूपण यथार्थरूप से नहीं हो पाया है। वज्रयान के रहस्योद्घाटन का उद्योग बड़े अनुशीलन के अनन्तर यहाँ किया गया है। 'कालचक्रयान' का विवरण भी यहाँ एकदम नया है।

इस पुस्तक के पाँच खण्ड किये गये हैं। प्रथम खण्ड में बुद्ध-धर्म के **आदिम** रूप का वर्णन है। इस खण्ड में बुद्ध के जीवनचरित, उनके वचन, व्यक्तित्व, आचार-शिक्षा का तो वर्णन है ही; साथ ही साथ उस समय की सामाजिक तथा धार्मिक दशा तथा तत्कालीन दार्शनिकों के सिद्धान्तों का वर्णन बुद्ध के उपदेशों की विशिष्टता समझाने लिये किया गया है। बुद्ध के दार्शनिक विचारों का विस्तृत विवेचन यहाँ है। दूसरे खण्ड में बौद्ध-धर्म का **धार्मिक-विकास** है जिसमें अष्टादश निकाय, उनके मत, त्रिविधयान तथा महायान के विशिष्ट सिद्धान्तों का विस्तृत विवरण है। अन्तिम परिच्छेद में निर्वाण के स्वरूप का ऐतिहासिक विवरण विस्तार के साथ है। तीसरा खण्ड इस ग्रन्थ की मूल प्रतिष्ठा है। इसमें दार्शनिक विकास का विस्तृत विवेचन है। बौद्ध-धर्म के सुप्रसिद्ध चारों दार्शनिक सम्प्रदायों का पृथक्-पृथक् विस्तृत तथा प्रामाणिक वर्णन किया गया है।

१४ वें परिच्छेद में वैभाषिकों के इतिहास तथा साहित्य का विस्तृत विवरण है। इस सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं होते। परन्तु चीनी भाषा में अनुवाद रूप में इनका पूरा त्रिपिटिक उपलब्ध है। इस विशिष्ट साहित्य का वर्णन इस ग्रन्थ में विशेष रूप से किया गया है। १५ वें परिच्छेद में वैभाषिकों के तथ्यों का स्वरूप विस्तार के साथ प्रदर्शित किया गया है। षोडश परिच्छेद

में सौत्रान्तिकों के इतिहास और सिद्धान्त का विवेचन है। इस महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय का इतिहास लुप्तप्राय हो गया है। हेन्सांग के ग्रन्थों तथा विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि की चीनी टीकाओं में आये हुये कतिपय निर्देशों को ग्रहण कर इसके इतिहास तथा सिद्धान्तों का स्वरूप मैंने खड़ा किया है। सिद्धान्त भी इसके एकत्र नहीं मिलते। बौद्ध तथा हिन्दू ग्रन्थों में आये हुये निर्देशों को एकत्र कर सिद्धान्तों का परिचय दिया गया है। १७ वें तथा १८ वें परिच्छेदों में विज्ञानवाद के साहित्य तथा सिद्धान्त का वर्णन है। जैन तथा ब्राह्मण दार्शनिकों ने विज्ञानवाद की जो बड़ी कड़ी समीक्षा की है वह भी यहाँ पाठकों को उपलब्ध होगी।

१९ वें परिच्छेद में शून्यवाद के साहित्य और सिद्धान्त का विस्तृत तथा व्यापक विवेचन है। नागार्जुन की माध्यमिककारिका एक अभेद्य दुर्ग है जिसके भीतर प्रवेश कर माध्यमिकों के तथ्यों का रहस्य समझना एक दुरूह व्यापार है। इसी व्यापार को सुलभ करने का यहाँ प्रबल प्रयास है। शून्यवाद के स्वरूप का यथार्थ विवेचन इस अध्याय की महती विशेषता है। शून्य और ब्रह्म के साम्य की ओर पाठकों की दृष्टि विशेष रूप से आकृष्ट की गई है।

चतुर्थ खण्ड में बौद्ध-न्याय, बौद्ध-ध्यानयोग तथा बौद्ध-तन्त्र का परिचय दिया गया है। बौद्ध-न्याय के इतिहास के परिचय के अनन्तर हेतुविद्या तथा प्रमाणशास्त्र का संक्षिप्त विवरण है। बौद्ध-ध्यानयोग का परिचय विसुद्धिमग्ग के आधार पर है। २२ वें परिच्छेद में बौद्धतन्त्र के इतिहास, साहित्य तथा सिद्धान्तों का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया गया है। पांचवें खण्ड में बृहत्तर भारत में बौद्धधर्म के भ्रमण की कहानी, हिन्दूधर्म से बौद्धधर्म की तुलना और बौद्धधर्म की महत्ता का वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर बौद्ध-दर्शन की हिन्दूदर्शन से तुलना की गयी है। यह तुलना केवल तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से की गयी है; इसके द्वारा किसी विशिष्ट दर्शन को ऊँचा या नीचा दिखाने का भाव तनिक भी विद्यमान नहीं है। बौद्ध-धर्म तथा दर्शन का वर्णन सर्वत्र निष्पक्षपात दृष्टि से किया गया है। जो कुछ लिखा गया है वह मौलिक संस्कृत तथा पाली ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है तथा यथासंभव 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' की मल्लिनाथी प्रतिज्ञा को निभाने की प्रयत्न किया गया है।

जहाँ तक मैं जानता हूँ हिन्दी भाषा में तो क्या अंग्रेजी भाषा में भी इस प्रकार का साङ्गोपाङ्ग-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अंग्रेजी में बौद्ध-दर्शन पर अनेक ग्रन्थ है सही, परन्तु वे इसके किसी अंग को लेकर लिखे गये हैं। परन्तु इस ग्रन्थ में बौद्ध-दर्शन के इतिहास के साथ ही बौद्ध-ध्यान-योग का भी वर्णन है जो विद्वानों के द्वारा अभी तक अछूता है। ऐसी दशा में यह ग्रन्थ एक नितान्त मौलिक रचना है। मुझे पाठकों को यह सूचित करते हुए हर्ष होता है कि इस ग्रन्थ की उपयोगिता तथा विशिष्टता को समझकर कुछ बौद्ध विद्वान् इसका अनुवाद चीनी, बर्मी तथा सिंघाली भाषा में करने वाले हैं।

अन्त में अपने सहायकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते समय मुझे अत्यधिक आनन्द आ रहा है। इस ग्रन्थ के लिखने में मुझे सबसे अधिक सहायता श्रद्धा-भाजन महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज से प्राप्त हुई जिनके लेखों और मौखिक व्याख्यानों का मैंने यहाँ भरपूर उपयोग किया है। तन्त्रशास्त्र के तो वे मार्मिक विद्वान् हैं ही, बौद्धतन्त्रों के सिद्धान्तों का वर्णन आपकी ही प्रतिभा का प्रसाद है। प्राक्कथन लिखकर आपने इस ग्रन्थ को गौरवान्वित किया है। इस नैसर्गिक कृपा के लिए मैं हृदय से आपका आभार मानता हूँ।

आज आषाढ़ी पूर्णिमा है। आज की ही पुण्य तिथि में भगवान् तथागत ने अपने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया था तथा अपने उपदेशामृत से धर्मतत्त्व के जिज्ञासुओं की तृष्णा शान्त की थी। यह ग्रन्थ बुद्ध के मूलगन्धकुटीविहार से एक गव्यूति के भीतर काशी में बैठकर बुद्ध की ही भाषा की आधुनिक प्रतिनिधि हिन्दी में निबद्ध किया गया है। भगवान् सुगत से प्रार्थना है कि यह ग्रन्थ अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता प्राप्त करे। आचार्य धर्मोत्तर के शब्दों में मेरा भी यही निवेदन है—

जयन्ति जातिव्यसनप्रबन्धप्रसूतिहेतोर्जगतो विजेतुः।
रागाद्यरातेः सुगतस्य वाचो मनस्तमस्तानवमादधानाः॥

आषाढ़ी पूर्णिमा सं २००३
हिन्दूविश्वविद्यालय काशी।
१४–७–'४६

बलदेव उपाध्याय

नवीन संस्करण

का

वक्तव्य

आज इस ग्रन्थ का नवीन परिवर्धित संस्करण प्रस्तुत करते समय मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। जिस समय यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था उस समय मुझे आशा नहीं थी कि इसका समधिक आदर तथा सातिशय सत्कार होगा। परन्तु मुझे आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। इसे दर्शन विभाग को एम० ए० कक्षा का पाठ्य ग्रन्थ निश्चित कर अनेक विश्वविद्यालयों ने अपनी गुणग्राहिता का परिचय दिया है। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ 'हरजीमल डालमिया पुरस्कार' २१००) से तथा उत्तरप्रदेशीय सरकार के १२००) विशिष्ट पुरस्कार से पुरस्कृत होने का गौरव इसे प्राप्त हो चुका है। अभी हाल में इसके आन्तरिक गुणों से आकृष्ट होकर एक सिंहलदेशीय भिक्षु ने इसका अनुवाद सिंहली भाषा में किया है जिससे सिंहल-वासी बौद्धों को भी बुद्धधर्म के विकास तथा सिद्धान्त का सुलभता से परिचय प्राप्त हो सके। इस प्रकार यह पुस्तक अपने उद्देश्य की सिद्धि में **पूर्णतया सफल हो रहा है; ग्रन्थकार के** लिए यह कम सन्तोषजनक घटना नहीं है। **इस नवीन संस्करण में इसका शोधन तथा** परिवर्धन कर दिया गया है जिससे यह **और भी अधिक उपयोगी तथा लाभदायक** सिद्ध होगा। इस संस्करण में बौद्धदर्शन के महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों का एक कोष भी दिया गया है जिसमें उन शब्दों की एक संक्षिप्त व्याख्या है। विश्वास है पाठकों को इससे विशेष लाभ होगा।

ज्येष्ठ पूर्णिमा सं० २०११

१७–६–५४

काशी

बलदेव उपाध्याय

Foreword

Numerous works have been written in the west as well as in India on the different phases cf Buddhist religion and thought and attempts at a systematic presentation of some of the main philosophical teachings of the more popular schools have also been made from time to time. But a complete history of Buddhist philosophy, based on the original Pali and Sanskrit Texts and their learned commentaries by Indian and trans-Indian scholars of the times and also on the fragments which are available as Purvapakshas in various Sanskrit works of the Hindus and Jains, is still a great desideratum. The chapters on Buddhist philosophy in the several standard works on Indian Philosophy are necessarily brief, being confined to the essentials; and a thorough and critical work on the entire Buddhist philosophy, more or less on the lines of Prof. Stcherbatski's Buddhist Logic, has not yet appeared in any language.

In these circumstances, therefore, the step which the author of the present monograph has taken in summing up the results of the studies of modern scholars in the field of Buddhist philosophico-religious thought and presenting them in a popular form in the vernacular may be regarded in some quarters as a

bold one. Bold it certainly is, but it is a highly welcome attempt and represents a step in the right direction. In fact the author has succeeded in bringing out, as a result of his studies through long years, an excellent readable work on the subject, the like of which does not perhaps exist in Hindi or in any other vernacular literature of India. The book does indeed claim to be original. A glance through its pages would convince the reader of the critical acumen and powers of discretion with which the raw materials of scattered and disjointed researches of individual scholars working in different ages and with different mental predilections have been reduced to a system and invested with a meaning. There is no doubt that some of the chapters, especially those on Sunyavada and Buddhist Tantras, may be regarded as fresh contributions in a sense, in the form in which they are presented to the readers, to a knowledge of the subject derived from any of the Indian Vernaculars.

The work is divided into five parts dealing respectively with the essentials of ancient Buddhism, with the evolution of Dharma, with the philosophical schools, with Logic and Mysticism and with the propagation of Buddhism in foreign countries. It seems to me that a separate section devoted to a consideration of the influence of the currents of early and contemporary Indian philosophy on the origin and development of Buddhist Thought and of the manner in

which Hindu and Jain schools of thought reacted to the growing development of philosophical ideas of the Buddhists should have been added. It is well known that works on Vedanta, Nyaya, Vaishesika, Sankhya Yoga, Mimansa, Saiva Agama and Jainism contain not only nominal references to specific Buddhist views but also actual quotations of passages from original Buddhist texts and summaries of arguments in support of those views. In the present state of our imperfect knowledge, it may not be possible to trace all those quotations to the sources and to verify each of these views. But assuming their general correctness we have to base on them, on the actual texts accesible to us, a working knowledge of the system as a whole. No history of Buddhist philosophy would thus be complete without a consideration of these views in their proper setting.

The first part of the book (pp. 1—92) contains in seven chapters a short account of the Buddhist religious thought in its earliest stages. It is a review of Indian society and religion in the days of the Buddha and of the moral and religious teachings of the teacher. A list of the canonical literature of early Buddhism, presented in the Pali Tripitaka and a discourse on the four noble Truths revealed to the Buddha together with his philosophical speculations have also been added. The theory of Natural causation (प्रतीत्य समुत्पत्ति) and the Buddha's views on Matter (पञ्च स्कन्ध), Soul

(आत्मा), God (ईश्वर) and Rebirth have been expounded. In connection with the Four Truths there appears a short analysis of the eight-fold path said to have been discovered by the Buddha. This eight-fold path is actually one path, known as the Middle Path, the path which avoids the extremes.

The second part (pp. 93–157) has five chapters dealing with the Nikāyas or the eighteen sects, the Mahayana Sutras, the three Bodies of the Buddha and Nirvana. The section on Nikayas is useful. It presents the views on the eighteen Nikayas according to the commentary on Kathavasthu and Vasumitra's work and shows that the Mahayana is a developed form grown out of the Andhaka sect coming down from the Mahasanghikas. The special doctrinal features distinguishing the Mahayana from the Hinayana are shown. These relate to the concepts of Bodhisattva, three-fold Buddhakāya, ten bhumies or spiritual stages and Nirvāna and to the introduction of the Bhakti element as an important characteristic of spiritual life. Of the 18 sects the tenets of the Mahasanghikas and Sammitiyas alone have been taken up for discussion as being comparatively important. The Mahasanghikas represented the esoteric view-point and consequently their attitude to Buddha, Arhat, Bodhisattva etc. was far removed from the more popular views of the Theravadins. We know that the Pancharātra conception of Visuddha Sattva, as entirely free from the admixture

of Rajas and Tamas, bears a strong contrast to the conception of Sattva recognised in Sankhya and the allied schools in which, even in its utmost purity, the disturbing elements of Rajas and Tamas donot cease to exist. This differential outlook stands at the bottom of the difference of the entire structure of mediaeval Vaishnava thought in all its traditional ramifications from the orthodox schools. The flowering of the Bhakti philosophy would not have been possible except on the soil prepared by belief in the doctrine of Immaculate Sattva. Similarly the conception of Bindu or Kundalini in the Shaiva Agamas, known also as Mahāmāyā, is to be sharply distinguished from that of Māyā in the popular literature. The entire culture of the Tantras, with its recognition of Mantras, Mantresvaras and Mantramahesvaras and of a pure and bright world beyond the reach of Māyā has its roots in the assumption of this principle of pure immateriality. The doctrines of the Mahasanghikas and of the Andhakas, in many of their features, are closely analogous to those of the historical schools where Suddha Sattva and Bindu are recognised. The transcendental character (लोकोत्तर) of the Buddha is only different mode of expressing what the Pancharatras would call his supernatural (अप्राकृत) status, and the absence of Sāsrava dharmas in him means only that he is above the defilements of impure Matter.

The views of the Sammitiyas in regard to the Soul

(पुद्गलवाद) are peculiar. The chapter on the Mahayana sutras which follows gives an account of such works as Saddharma Pundarika, Prajnā pāramitā (different recensions), Ganda Vyuha, Dasabhumika sutra, Ratnakuta. Samadhiraja, Sukhavativyuha, Lankaratara and Suvarna Prabhasa. The three Vehicles, viz, Srāvaka, Pratyeka-Buddha and Bodhisattva, are described in the next chapter. The four stages of the old Sravakayana are mentioned, showing how an ordinary soul (पृथग् जन) enters into the stream of spiritual life and continues to make regular progress towards meditation. A detailed analysis of this progressive spiritual journey should have been furnished. The author's statement of the meaning of the term Anagami is not quite clear, for if the Anagami does not reappear on the physical plane (कामधातु) and even on any of the supra-physical planes, how is he to be distinguished from the Arhat ? The destruction of the first five out of the ten Samyojanas precludes the possibility of return to the Kamaloka but so long as the other samyojanas persist, the condition of bodily emancipation of Arhat can not arise. In case of death at such an incomplete stage the saint is bound to return on a higher plane, evidentdy in Brahmaloka. Perfection in the third meditation leads to rebirth in the suddhavasa heaven, though a lower meditation causes re-emergence in a lower heaven. The state of Arhat corresponds roughly to that of the Vedantic jivanmukti. It is a condition of Nirvana in the sense

that attachment and klesas have disappeared, though the Skandhas still persist. On the disintegration of Skandhas life ceases and true Nirvana takes place. The aim of a Sravaka is to become an Arhat in life and then to realise Nirvana on its extinction. But the Pratyeka Buddha stands on a higher level, in as much as his spiritual strength is greater enabling him, unlike a Sravaka, to discover the Light within his heart dispensing with the necessity of reliance on external sources of illumination. But even the Pratyeka Buddha, inspite of his relative spirituality, is unable to look beyond his narrow personal horizon and strive to be a Bodhisattva for the true welfare of the entire creation. The ideal of the Bodhisattva is the absolute selflessness of the Buddha whose strivings in the cause of the world emancipation are unceasing. The opinion of the Srimala Sutra that in reality the three yanas are successive stages of one and the same path is to be accepted as representing the correct view-point. The conflicting positions of the divergent lines of approach are easily explained in the light of the theory of Saktipāta to which the Agamas attach great importance. The inherent differences in the basic character of the evolving souls account for apparent differences in their outer behaviour.

While speaking of the Bodhisattva the author has taken pains to go into details regarding the origin of Bodhichitta and the stages through which it passes

into the perfection of the Buddha. The initial and preparatory process of Anuttara Puja and the assumption of Paramitas have been carefully described. The final Paramita is that of Prajnā or Supreme Wisdom which follows from a closely disciplined Samādhi and ends in the inauguration of the Buddha condition.

The chapter on the Triple Kāya or Body of the Buddha is brightly written. Western and Japanese Scholars have done a lot of spade work in this field and have tried to bring out the true sigificance of each of the Kayas: the labours of Levi, Poussin, Suzuki and others have already cleared up most of the thick mists which gathered round this question. The Dharma, Sambhoga and Nirmāna Kayas have been compared to the concepts of Nirguna Brahma, Isvara and Avatāra respectively. But it appears to me that there is a closer resemblance to the conceptions of the three so-called Avasaras of the Tantras, Viz. Laya, Sambhoga, and Adhikara corresponding in a sense to Siva, Sadasiva and Isvara.*

* The conception of Nirmana Kaya or Nirmana Chitta is familiar to the school of Patanjali. It is assumed by the Yogin in response to the need for preaching Wisdom, as was the case with Paramarsi Kapila in communicating the secrets of Shastitantra. It may be assumed by the Supreme Isvara also, as Udayana observes in the Kusumanjali. The Buddhists did not distinguish between one type of Nirmana Kaya and another, but Patanjali laid emphasis on the existence of such a distinction, saying that of all its varieties that

The description of the ten Bodhisattva bhumis follows next. It is a short note and does not call for any special comment. The chapter on Nirvana contains within a brief compass most of the important points which a study of Pali and Sanskrit Buddhist works (in origional or in Tibetan and Chinese translations) discloses. The general conception of Nirvana according to the older canons followed by the specific views of particular sects including Sthaviravadins, Vaibhasikas, Sautrantikas and the Mahayanists has been clearly stated. Even in the older school we find two apparently conflicting views regarding Nirvana—one associated with the Vaibhasikas who believed in it as positive and the other with the Sautrantikas whose attitude was distinctly negative in character. Of course, there was a difference of views also even in the same sect. The Sautrantikas held that the Skandhas are not all uniform, some being destroyed in Nirvana and others surviving it. The Vaibhasikas as a rule believed in the doctrine of Survival. A brief resume of most of the views has been supplied in the book. It has been shown that the secret of much of the difference between Hinayana and Mahayana lies in the fact that while in one view there is emphasis on subjective nihilism (पुद्गल नैरात्म्य) or elimination of the obscuration (आवरण) of klesas only, in the other we find stress laid on both

---

which criginates through Dhyana or Samadhi is the best, being free from the contaminations of Karmakaya.

subjective and objective nihilism (धर्म नैरात्म्य) or elimination of the obscurations of klesas as well as dharmas. The point of difference between the Hinayana and Mahayana conceptions have been brought out clearly in a tabular form.

Tne third part of the book (pp. 160-313) divided into 7 chapters, is probably the most important. It devotes itself to a more or less exhaustive treatment, of course consistently with the popular form of the work, of the central philosophical doctrines of the Vaibhasika, Sautrantika, Yogachara and Madhyamika schools, preceded by a general introduction dealing with the question of the development of Buddhist thought. In his treatment of each of the schools the author has added some historical notes relevant to it, and the appropriate bibliographical data (original texts) concerned. The presentation of the views is, generally speaking lucid, faithful and intelligible, except in the case of the Vaibhasika system, where in my opinion he would have done a distinct service to the cause of Buddhist philosophy if he had tried to present in a systematical way the summary of the contents of the Abhidharma kosa. Now that the excellent French edition of Poussin and the Sanskrit commentary of Yasomitra (published from Japan) are available, the preparation of such a summary would not have been so difficult. He has utilised the Kosa undoubtedly in the section on the Vaibhasika, but only in

a loose and unconnected manner. The sections on Vijnana and Sunyavadas are based on the standard works of the Schools, Viz. Vijnaptimātratā Siddhi (smaller and larger) and Madhyamika Karikas (with Chandrakirti's gloss). What is objectionable and uncalled for in this presentation is the so-called Samiksha of the doctrines as in some of the non-Buddhist works. It is well known that most of the Buddhist views have been subjected to a critical examination by many of the contemporary and subsequent philosophical writers of the Brahmanical and Jain schools. This is natural in polemics. But what the reader expects to find in a work on Buddhist philosophy is a faithful presentation of the Buddhist stand-point itself and not its refutation from the view-point of the opponent. We are not concerned here so much with the history of a controversy or with the merits of particular tenets as with a lucid and reliable version of the tenets as such.

In this connection it may also be pointed out that special treatments should have been accorded to such doctrines as those of the Flux (क्षणभङ्ग) etc. which have been made the targets of attacks from both orthodox and non-orthodox quarters. Indeed we expected a historico-philosophical survey of the so-called Kṣaṇikavāda among the Buddhists. The conception of Avasthāparināma among the yogins is the nearest equivalent of the Buddhist view, except for what may be described as the extreme position of the Buddhists

leaning towards (निरन्वयता) in connection with the origination and disappearance of phenomena. An analysis of the Vithichitta together with Bhavanga would have been a valuable psychological contribution to our knowledge of the subject.*

In spite of these limitations, however it may be said that the whole of the third part is a very valuable contribution. It is the cream of the whole work and reflects great credit on its writer for the great learning displayed in it and the lucid style of its presentation.

The fourth part (pp. 315–387) deals with Buddhist Logic, spiritual disciplines and Tantrika Mysticism. As regards Logic, the author is indebted to the writings of Dignaga, Dharmottra, Dharmakirti, etc. and to the monumental work on the subject by the veteran Russian Indologist, Professor Th. Stcherbastky of the University of Leningrad.

The chapter on Buddhist yoga derives much of its material from Buddhaghosa's Visuddhimagga. In view of the gravity of the subject, the arrangement and

---

* Dr. S. Mookerjee in his excellent work on the Buddhist Philosophy of Flux (1935) has made a valuble contribution to Buddhist Philosophy in the way of a critical examination of the doctrines of Dignaga's school—especially those associated with the names of Dignaga, Dharmakirti, Dharmottara and others. His notes on the nature of existence, the theory of flux, the Sautrantika theory of causation, the doctrines of universals and import of words (Apoha), the conception of kalpana and the Buddhist views on percep tual and inferential knowledge are critical and informative.

presentation appear in my opinion to be a little desultory in character. It is well known that the Pali literature, specially the Abhidhamma section of the canons and most of Buddhaghosa's Commentaries, contain a wealth of information on the theory and practice of yoga among the early Buddhists. The Mahayanists also devoted their attention and energies to the practice of yoga and to a methodical analysis of its theory from their own points of view. The Abhidharmakosa too is full of important material on which a theory of yoga, according to its conception, may be built up. The chapter on yoga would have been enriched greatly if an attempt had been made to furnish in a nutshell, as it were, the entire history of the theory and practice of yoga among the Buddhists from the earliest times.

The Chapter on Tantric Buddhism seeks to provide some original information on the teachings of a few of the later Mahayanist schools, viz, Mantrayana, Vajrayana, Sahajayana, and Kālachakrayana. It is an interesting chapter and considering the paucity of material concerning details may be deemed to have been sufficiently well written. The writer has utilised the works of Anangavajra, Advayavajra and others, and also the Buddhist Dohas ascribed to the Siddhacharya and recovered from Nepal.

For Kālachakrayāna the author is indebted to Naropa's commentary on Sekoddesa (recently published). As the system is not widely known to-day the contents

of this book should have been more liberally utilised. All the post-Mahayanic Tantric schools have certain points of difference also. We have heard much of Mantra Naya as distinguished from Prajna Naya, but it is true that in the midst of this distinction there is a bond of secret affinity. I miss in this part a statement of the theory of PARAVRITTI or reversion to which Mahayana Sutralankara, Trimsika, Lankavatara etc. refer. The cultural phase of Mahayanic sādhana is closely associated with the doctrine of transformation, and this cannot be intelligible without an appreciation of the thory of PARAVRITTI. As a matter of fact the process of sublimation itself to which the work refers implies PARAVRITTI. *

The last chapter (pp. 390—430), which considers the question of the spread of Buddhism through successive centuries is of a historical nature and need not detain us long. It gives us an idea as to how India through the regenerating and soothing influence of this faith, with its moral fervour, intellectual appeal and spiritual stamina, helped to civilise humanity in the neighbouring countries and how for hundreds of years there continued to be maintained a living intercourse between India and those lands. It is a graphic account of the manner in which India propagated its Gospel of Peace and Good Will to the world at large.

---

* For a brief note on paravritti see Dr. P. C. Bagchi's Studies in the Tantras (Pt. I), pp. 87-92.

Buddhism declined in the land of its birth but it left behind a rich legacy of thought which gave rise to and coloured diverse thought currents in the mediaeval ages. Mm. H. P. Shastri discovered living Buddhism in Bengal. The Nātha Cult received a strong impetus from Buddhist and Tantric speculations. The Sahajiyas and Bauls in Bengal, the Santas of Upper India and followers of Mahima Dharma in Orissa inherited strong Buddhist traditions of an esoteric nature. I think a brief review of these crypto-Buddhist speculations in the middle ages would not be altogether useless in a treatise which has for its objective the presentation of Buddhist thought.

In the end, I congratulate Pandit Baldeva Upadhyaya on having successfully fulfilled a selfimposed and heavy task the enormity of which staggers even giants. I commend this sdmirable work to the attention of the Hindi-reading public and to the advanced students of the University in the hope that it will find in them a sympathetic response which for the labours involved in its completion it so richly deserves.

Gopinath Kaviraj.

विषय--सूची

प्रथम खण्ड

(मूल बौद्ध-धर्म) पृष्ठ १–६२ ।

द्वितीय खण्ड

(धार्मिक-विकास) ९३-१५७

तृतीय खण्ड

(दार्शनिक सम्प्रदाय) १५६–३१३

चतुर्थ खण्ड

(बौद्ध तर्क और तन्त्र) ३१५–३८०

संकेत शब्द-सूची

अ० को०	अभिधर्मकोष
के० उप०	केनोपनिषत्
गा० ओ० सी०	गायकवाड ओरियन्टल सीरीज
त० सं०	तत्त्व-संग्रह
तैत्ति० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
दी० नि०	दीघनिकाय
न्या० वि०	न्यायबिन्दु
प्र० वि० सि०	प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि
प्र० वा०	प्रमाणवार्तिक
बि० बु०	बिब्लिओथिका बुद्धिका
बुद्ध ग्रन्थावली	बिब्लिओथिका बुद्धिका
बृह० उप०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बोधि० बोधिचर्या०	बोधिचर्यावतार
बोधि० पञ्जिका	बोधिचर्यावतार पंजिका
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
म० सू०	महायान-सूत्रालंकार
मा० का० माध्य०	माध्यमिककारिका
माध्य० वृत्ति०	माध्यमिककारिकावृत्ति
मि० प्र०	मिलिन्द प्रश्न
लं० सू०	लंकावतार-सूत्र
वा० प०	वाक्यपदीय
स० सि०	सर्वसिद्धान्तसंग्रह
सां० का०	सांख्य-कारिका
शां० भा०	शाङ्कर-भाष्य

बौद्ध-दर्शन-मीमांसा

प्रथम खण्ड

(मूल बौद्ध-धर्म)

'मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा ।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानञ्च चक्खुमा ॥'

(धम्मपद)

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासंबुद्धस्स

प्रथम परिच्छेद

विषयप्रवेश

भारतवर्ष का यह पुण्यमय प्रदेश सदासे प्रकृति नटी का रमणीय रंगस्थल बना हुआ है। प्रकृति देवी ने अपने करकमलों से इसे सजाकर शोभा का आगार बनाया है। भारत का बाह्य रूप अतिशय अभिराम है। उसका अभ्यन्तर रूप उससे भी अधिक सुचारु और सुन्दर है। यहाँ सभ्यता और संस्कृति का उदय हुआ। धर्म तथा दर्शन का जन्म हुआ। वेदरूपी ज्ञान-मानसरोवर से अनेक विचारधारायें निकलीं जो भारत को ही नहीं, प्रत्युत संसार के अनेक देशों को, किसी न किसी रूप में आज भी आप्यायित कर रही हैं।

बौद्ध धर्म विश्व के महनीय धर्मों में अन्यतम है। भगवान् बुद्ध इसी भारत-भूमि में अवतीर्ण हुए थे। वे संसार की एक दिव्य विभूति थे। महामहिमशाली गुणों से वे विभूषित थे। उन्होंने समय की परिस्थिति के अनुरूप जिस धर्म का चक्र-प्रवर्तन किया, वह इतना सजीव, इतना व्यावहारिक तथा इतना मंगलमय था कि आज ढाई हजार वर्षों के अनन्तर भी उसका प्रभाव मानवसमाज पर न्यून नहीं हुआ है। एशिया के केवल एक छोटे पश्चिमी भाग को छोड़कर इस विस्तृत भूखण्ड पर इसकी प्रभुता अतुलनीय है। बुद्ध धर्म ने करोड़ों प्राणियों का मंगल साधन किया है और आज भी वह उनके आत्यन्तिक कल्याण की साधना में लगा हुआ है। पाश्चात्य जगत् के चिन्ताशील व्यक्तियों पर इस धर्म तथा दर्शन का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पूर्वकाल में पड़ा है और आज भी पड़ रहा है।

बुद्धने सम्यक् संबोधि-परम उत्कृष्ट ज्ञान-प्राप्त कर लेने पर जिन चार उत्तम सत्यों (आर्य सत्यों) को खोज निकाला, उनमें पहला सत्य है दुःख। यह जगत् दुःखमय है। इस सिद्धान्त को देखकर आधुनिक विद्वानों की यह धारणा बन गई है कि बौद्धधर्म नैराश्यवादी है, परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। यदि दुःख तत्त्व तक ही यह व्याख्या समाप्त हो जाती, तो नैराश्यवादी होने का कलंक इस पर लगाया जाता। परन्तु बुद्ध ने दुःख के समुदय (कारण) तथा दुःख के निरोध (निर्वाण) को बतलाकर उस दुःखनिरोध के मार्ग का स्पष्ट प्रतिपादन

किया। अतः अन्य भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों की भाँति इस जगत् के दुःखों से अत्यन्त विराम पाना ही बौद्धधर्म का भी लक्ष्य है। भारत का तत्त्वज्ञान आशावादी है, वह तो दुःखबहुल जगत् के वास्तव स्वरूप के समझाने में व्यस्त है। इससे उद्धार पाने के उपायों के निरूपण में वह अपनी समग्र शक्तियाँ व्यय कर देता है, जिससे निराशामय जगत् में आशा का संचार होता है, क्लेशका स्रोत आनन्द के रूप में परिणत हो जाता है। जिस व्यक्ति ने मनुष्यों, पुरोहितों, देवताओं तथा स्वयं ईश्वर की सहायता के बिना भी कल्याण का सम्पादन केवल अपनी ही शक्ति पर निर्भर होना बतलाया है, उसके धर्म को नैराश्यवादी बतलाना घोर अन्याय है, नितान्त भ्रान्त विचार है। मनुष्य की स्वतन्त्रता, स्वावलम्ब तथा महत्ता का प्रतिपादन बौद्ध धर्म की महती विशेषता है।

बुद्ध धर्म के तीन मौलिक सिद्धान्त हैं—(१) सर्वमनित्यम्—सब कुछ अनित्य हैं, (२) सर्वमनात्मम्—समग्र वस्तुएँ आत्मा से रहित हैं, (३) निर्वाणं शान्तम्—निर्वाण ही शान्त है। इन तथ्यों का अनुशीलन तथागत के धर्म की विशिष्टता समझने के लिए पर्याप्त होगा।

विश्व के समग्र पदार्थ अनित्य हैं—स्थायी नहीं है। ऐसी कोई वस्तु विद्यमान नहीं है जिसे स्थायिता प्राप्त हो। इस सिद्धान्त का अंश है क्षणिकता का वाद। जगत् परिणामशाली है। कोई भी वस्तु स्थावर नहीं है। क्षणक्षण में वस्तुएँ परिणाम—परिवर्तन प्राप्त होती रहती हैं। जगत् में 'सत्ता' नहीं है, 'परिणाम' ही केवल सत्य है। बुद्धदर्शन का यही मुख्य सिद्धान्त है। ग्रीक दार्शनिक हिरेक्लिटस ने भी 'परिवर्तन' के तथ्य को माना है, परन्तु बुद्ध का यह मत इस ग्रीक तत्त्ववेत्ता से कहीं अधिक प्राचीन है।

सब वस्तुएँ आत्मा (स्वभाव) से रहित हैं। आत्मा या जीवके नाम से जो तत्त्व पुकारा जाता है वह स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह तो केवल मानसिक वृत्तियों का संघातमात्र है। वस्तुतः द्रव्य की सत्ता नहीं है। वह तो कतिपय गुणों का समुच्चयमात्र है। यह तथ्य अन्तर तथा बाह्य दोनों जगत् के पदार्थों के विषय में है। न अन्तर्जगत् का चित्त जगत् का कोई पदार्थ-स्वरूप है, न बाह्य जगत् का पदार्थ (धर्म)। पहले अंश का नाम है पुद्गल-नैरात्म्य तथा दूसरे अंश का नाम है धर्म-नैरात्म्य। दोनों को एक साथ मिला देने से यह समस्त

संसार ही आत्म-शून्य प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त की मीमांसा हीनयान तथा महायान में बड़ी युक्तियों से की गई है।

निर्वाण ही शान्त है। जगत् में दुःख का राज्य है। इसकी निवृत्ति ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। काम तथा तृष्णा से जगत् का उदय होता है। तृष्णा आदि क्लेशों का मूल अविद्या है। जब तक 'अविद्या' का नाश नहीं होता, दुःख की निवृत्ति नहीं उपजती। इसके लिए आवश्यकता है प्रज्ञा की। शील, समाधि, प्रज्ञा—ये बुद्ध धर्म के तीन रत्न हैं। प्रज्ञा का उदय निर्वाण का साधन है। इस प्रकार बुद्ध ने जगत् के दुःखमय जीवन से निवृत्ति पाने के लिए 'निर्वाण' को शान्त बतलाया है।

इन्हीं मूल सिद्धान्तों की व्याख्या को लेकर नाना बौद्ध सम्प्रदायों का उदय हुआ। बुद्धधर्म के दो प्रधान विभाग हैं—हीनयान और महायान। बुद्धधर्म का प्रारम्भिक रूप हीनयान है और अवान्तर विकसित रूप महायान है। बुद्ध के व्यक्तित्व के परिचय पाने से उनके धर्म के मूलरूप को समझना सरल है। यहाँ प्रथमतः इसी आरम्भिक बौद्धधर्म (हीनयान) का वर्णन किया जायगा। अनन्तर उसके धार्मिक विकास महायान तथा वज्रयान की ओर दृष्टिपात किया जायगा। बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक—के विस्तृत सिद्धान्तों का प्रतिपादन इसके बाद तीसरे खण्ड में रहेगा। चौथे खण्ड में बौद्धतर्क, योग तथा तन्त्र के सिद्धान्त तथा साधना का प्रामाणिक विवेचन है। इस प्रकर बौद्धधर्म के भिन्न भिन्न रूपों का विशदीकरण प्रकृत ग्रन्थ का उद्देश्य है।

बुद्ध का जीवनचरित

बौद्ध धर्म की स्थापना ऐतिहासिक काल में गौतम बुद्ध ने की। बौद्धों का विश्वास है कि शाक्य मुनि अन्तिम बुद्ध थे। अनेक जन्मों में पारमिता (पूर्णता) का अभ्यास करते करते उन्हें यह ज्ञान प्राप्त हुआ था। उनसे पहिले २३ बुद्धों ने इस धर्म का प्रचार भिन्न भिन्न युगों में किया था। शाक्यमुनि की जीवन घटनाओं से परिचय प्राप्त करना इस धर्म की विशेषताओं को समझने के लिये आवश्यक है। प्राचीन कोशल जनपद के प्रधान नगर कपिलवस्तु में शाक्य लोगों के गणराज्य में बुद्ध का जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम शुद्धोदन और माता

का नाम महामाया था। ५०५ वि. पू. की वैशाखी पूर्णिमा को लुम्बिनी नामक उद्यान (वर्तमान रुमिनदेई) में ये पैदा हुए थे। महामाया देवी पुत्रजन्म के छः या सात दिन के बाद ही परलोक सिधार गयी।

अतः इनके लालन-पालन का भार इनकी विमाता रानी प्रजावती पर पड़ा। इनका नाम सिद्धार्थ रक्खा गया। उस समय के नियमानुसार शिक्षणीय समस्त विद्याओं में पारङ्गत होकर सिद्धार्थ ने अपने आरम्भिक १९ वर्ष सांसारिक जीवन में बिताया। इस बीच में इनका विवाह देवदह की राजकुमारी यशोधरा (गोपा) देवी के साथ हो गया। जन्म के समय ज्योतिषियों ने इनके विषय में वैराग्य सम्पन्न होने की जो भविष्यवाणी की थी वह सच्ची निकली। राजसी भोग-विलास में रहने पर भी इनकी चित्तवृत्ति वैराग्य से सदा सिक्त रही। संसार से इनकी स्वाभाविक अरुचि तो थी ही किन्तु जब इन्होंने अपने भ्रमण में एक वृद्ध पुरुष, रोगी, शव तथा संन्यासी को देखा, तब उनके मन में संसार की क्षणभंगुरता और भी खटकने लगी। अतः २९ साल की उम्र में युवती पत्नी के प्रेममय आलिङ्गन, नवजात शिशु के आनन्दमय अवलोकन तथा विशाल साम्राज्य के उपभोग को लात मारकर इन्होंने जंगल का रास्ता लिया। उनका गृहत्याग 'महाभिनिष्क्रमण' के नाम से प्रसिद्ध है।

महा-भिनिष्क्रमण

इसके बाद में वे अनेक वर्षों तक कोशल और मगध के जंगलों में किसी उपयुक्त गुरु की खोज में घूमते रहे। इन्हीं पर उन्हें आराड़कलाम नामक गुरु से साक्षात्कार हुआ। गुरु ने इन्हें आध्यात्मिक मार्ग की शिक्षा दी जो सांख्य सिद्धान्त के अनुकूल थी। छः साल तक इन्होंने कठोर तपस्या कर अपना शरीर सुखा कर काँटा कर दिया। परन्तु इन्हें सम्बोधि की प्राप्ति नहीं हुई। तब इन्होंने इस मार्ग को आध्यात्मिक उन्नति में व्यर्थ विचार कर बुद्धगया के पास 'उरुवेला' नामक स्थान में आर्यसत्यों का साक्षात्कार किया तथा उसी दिन से इन्हें बुद्ध (जगा हुआ) की पदवी प्राप्त हुई। आध्यात्मिक जगत् की यह महत्त्वपूर्ण घटना ४७१ वि. पू. की वैशाखी पूर्णिमा को घटित हुई। उस समय सिद्धार्थ केवल ३५ वर्ष के नवयुवक थे। इसके अनन्तर उसी साल की आषाढ़ी पूर्णिमा को वे काशी के समीपस्थ मृगदाव (इसिपत्तन-सारनाथ) में कौण्डिन्य आदि पञ्चवर्गीय भिक्षुओं के सामने अपने धर्म का प्रथम

धर्मचक्र-प्रवर्तन

उपदेश किया। यह 'धर्मचक्रप्रवर्तन' के नाम से बौद्ध साहित्य में विख्यात है।

इसके अनन्तर इन्होंने अपनी शेष आयु इस धर्म के प्रचार में बिताई। अपने नगर के गणराज्य के आदर्श पर इन्होंने भिक्षुओं के लिये संघ की स्थापना की तथा उनकी चर्या के लिये विनय का उपदेश किया जो 'विनयपिटक' में संगृहीत है।

पण्डितों की भाषा संस्कृत का परित्याग कर बुद्ध ने जनसाधारण के हृदय तक पहुँचने के लिये उस समय की लोक-भाषा (पाली) का आश्रय लिया। धर्म के व्याख्यान में भी इन्होंने तत्त्वों को समझाने के लिये कथा कहानियों तथा रोचक दृष्टान्तों के देने की परिपाटी स्वीकार की। फलतः इनके जीवनकाल में ही इनका धर्म चारों ओर फैल गया। अन्ततः ४२६ वि. पू. की वैशाखी पूर्णिमा को ८० साल की आयु में मल्ल गणतन्त्र की राजधानी कुशीनगर (आधुनिक कसया, जिला गोरखपूर) में भगवान् बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुये। इस प्रकार बुद्धधर्म के इतिहास में वैशाखी पूर्णिमा की तिथि बड़ी पवित्र मानी जाती है क्योंकि इसी तिथि को बुद्ध के जीवन की तीन घटनायें—जन्म, सम्बोधि तथा निर्वाण—सम्पन्न हुई थीं। इनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाले लुम्बिनी, बोध गया, सारनाथ और कुशीनगर अत्यन्त पवित्र तीर्थ माने जाते हैं।

निर्वाण

द्वितीय परिच्छेद

बुद्धवचन (त्रिपिटक)

भगवान् बुद्ध ने जनसाधरण की जिस बोली में अपना उपदेश दिया, वह उस समय कोशल तथा मगध में बोली जाती थी और इसी लिए इसका नाम 'मागही' (मागधी) भाषा था। इसे ही आजकल 'पाली' के नाम से व्यवहृत करते हैं। बुद्ध के वचन तथा उपदेशों के प्रतिपादक ग्रन्थों को 'पिटक' (पेटारी) कहते हैं। पिटक तीन हैं—१. विनय, २. सुत्त (सूत्र या सूक्त), ३. अभिधम्म (अभिधर्म)। इनके भीतर अनेक ग्रन्थों का समावेश किया जाता है।

क. विनयपिटक—'विनय' का अर्थ है नियम। भिक्षुओं, भिक्षुणियों तथा इन सब के पालन के निमित्त जिन नियमों का उपदेश बुद्ध ने दिया था, उनका संकलन इस पिटक में है। यह आचारप्रधान ग्रन्थ है और बुद्धकालीन भारतीय समाज की दशा के दिग्दर्शन कराने में यह पिटक विशेषतः उपयुक्त है। इसके तीन भाग हैं—(१) सुत्तविभंग, (२) खन्धक, (३) परिवार। विभंग के अन्तर्गत उन नियमों का वर्णन है जिन्हें भिक्षु अपोसथ के दिन (प्रत्येक मास की कृष्ण चतुर्दशी और पूर्णिमा) आवृत्ति किया करता है। इन्हें ही पातिमोख (प्रातिमोक्ष या प्रातिमौख्य) कहते हैं। इसके दो भाग हैं—(१) भिक्षुप्रातिमोक्ष तथा (२) भिक्षुणीप्रातिमोक्ष। खन्धक के दो प्रधान खण्ड हैं—(१) महावग्ग और (२) चुल्लवग्ग। परिवार या परिवारपाठ में इन्हीं नियमों का संक्षिप्त विवरण है।

ख. सुत्त-पिटक—जिस प्रकार विनयपिटक का प्रधान लक्ष्य 'संघ' का शासन है, उसी प्रकार सुत्तपिटक का प्रधान उद्देश्य 'धर्म' का प्रतिपादन है। बुद्ध ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर अपने धर्म को जिन शिक्षाओं का विवरण दिया था, उन्हीं का समावेश इस पिटक में है। बुद्ध के जीवनचरित तथा उपदेशों की जानकारी के लिए यही हमारा एकमात्र आश्रय है। इसके पाँच बड़े विभाग हैं जिन्हें 'निकाय' (संग्रह) कहते हैं—

(१) दीघनिकाय—लम्बे उपदेशों का संग्रह—३४ सूत्र। जिनमें प्रथम 'ब्रह्मजालसूत्त' में बुद्ध के समकालीन बासठ दार्शनिक मतों का उल्लेख भारतीय-दर्शन के इतिहास के लिए विशेषतः महनीय है। सामञ्ञ-फल सुत्त में बुद्ध के

सामयिक सुप्रसिद्ध तीर्थकरों के मतों का वर्णन है जिनके नाम हैं—१. पूर्ण कश्यप, २. मक्खलि गोसाल, ३. अजित केशकम्बल, ४. प्रकुध कात्यायन, तथा ५. निगण्ठ नाथपुत्त। तेविज्ज-सुत्त (१।१३) बुद्ध की वेदरचयिता ऋषियों के प्रति विशिष्ट भावना का पर्याप्त परिचायक है।

(२) **मज्झिम निकाय**—मध्यमकाय १५२ सुत्तों का संग्रह। चार आर्यसत्य, कर्म, ध्यान, समाधि, आत्मवाद के दोष, निर्वाण—आदि उपादेय विषयों का कथन। कथनोपकथन के रूप में होने से नितान्त रोचक तथा मनोरञ्जक है।

(३) **संजुत्त निकाय**—लघुकाय ५६ सुत्तों का संग्रह।

(४) **अंगुत्तर-निकाय**—११ निपात या विभाग में विभक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन।

(५) **खुद्दक-निकाय**—इस निकाय में १५ ग्रन्थ सन्निविष्ट हैं:—

(१) **खुद्दकपाठ**—यह बहुत ही छोटा ग्रन्थ है। इसमें नव अंश हैं। आरम्भ में शरण त्रय, दश शिक्षापद, कुमार प्रश्न के अनन्तर मंगल सुत्त, रतन सुत्त, तिरोकुड्ड सुत्त, निधिकण्ड सुत्त और मेत्त सुत्त हैं। मंगल सुत्त में उत्तम मंगलों का वर्णन किया गया है। मेत्त सुत्त (मैत्री सूत्र) में मैत्री की उदात्त भावना का बड़ा ही प्रासादिक वर्णन है।

(२) **धम्मपद**—बौद्ध साहित्य का सबसे प्रसिद्ध तथा जनप्रिय ग्रन्थ धम्मपद है। संसार की समग्र सभ्य भाषाओं में इसके अनुवाद किए गए हैं। इसमें केवल ४२३ गाथाएँ हैं जिन्हें भगवान बुद्ध ने अपने जीवन काल में विभिन्न शिष्यों को उपदेश दिया था। ये गाथाएँ नीति तथा आचार की शिक्षा से ओतप्रोत हैं। ग्रन्थ २६ वर्गों में विभक्त है जिनका नामकरण वर्णनीय विषय तथा दृष्टान्तों के ऊपर रक्खा गया है। यथा पुष्प के दृष्टान्त वाली समग्र गाथाओं को एकत्र कर 'पुष्प वर्ग' पृथक् निर्दिष्ट किया गया है। इन गाथाओं में बुद्धधर्म का सार्वजनिक रूप अत्यन्त मनोहर रूप से वर्णित है। कुछ गाथाएँ सुत्तपिटक आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं और कुछ मनु तथा महाभारत आदि से ली गई प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिये गाथा नीचे दी जाती है:—

अहं नागोव सङ्गामे चापतो पतितं सरम्।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं दुस्सीलो हि बहुज्जनो॥

अनुवाद—जैसे युद्ध में हाथी धनुष से गिरे शर को सहन करता है वैसे ही कटुवाक्यों को सहन करूँगा। संसार में दुःशील आदमी ही अधिक हैं।

(३) उदान—भावातिरेक से जो प्रीतिवचन सन्तों के मुख से कभी कभी निकला करते हैं उन्हें उदान कहते हैं। इस छोटे ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के ऐसे ही उद्गारों का संग्रह है। उदानवाक्यों के पहले उन कथाओं तथा घटनाओं का उल्लेख है जिस अवसर पर ये वाक्य कहे गये थे। वाक्य बड़े ही मार्मिक तथा बुद्ध की सुन्दर शिक्षाओं से सम्बद्ध हैं। इसमें आठ वर्ग हैं। छठें जात्यन्त वर्ग में अन्धों के द्वारा हाथी के स्वरूप के पहिचानने के रोचक कथानक का उल्लेख है। इस पर बुद्ध की शिक्षा है कि जो लोग पूरे सत्य को न जानकर केवल उसके अंश रूप को जानते हैं वे इसी प्रकार की परस्परविरोधी बातें किया करते हैं[१]।

(४) इतिवुत्तक—इस ग्रन्थ में बुद्ध के द्वारा प्राचीन काल में कहे गए उपदेशों का वर्णन है। इसमें ११२ छोटे-छोटे अंश हैं। ये गद्यपद्य मिश्रित हैं। इस नाम का अर्थ है 'इति उक्तकम्' अर्थात् इस प्रकार कहा गया। और प्रत्येक उपदेश के आगे इस शब्द का प्रयोग किया गया है। दृष्टान्तों के द्वारा शिक्षा को हृदयङ्गम कराने का सफल उद्योग दीख पड़ता है।

(५) सुत्त निपात—बौद्ध साहित्य का यह बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें ५ वर्ग तथा ७२ सुत्त हैं। इन सुत्तों में बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का वर्णन बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। प्रायः समग्र ग्रन्थ गाथा रूप में है। कहीं-कहीं कथानक की सुभीता के लिए गद्य का ही प्रयोग है। 'प्रवज्या सुत्त' और 'प्रधान सुत्त' में बुद्ध के जीवन की प्रधान घटनाओं का यथावत् विवरण है।

(६) विमान वत्थु
(७) पेत वत्थु } इन दोनों पुस्तकों का विषय समान है। मृत्यु के अनन्तर शुभ कर्म करने वाले प्रेत (मृतक) की स्वर्गप्राप्ति तथा पाप कर्म करने वालों प्रेतों का पापयोनि की प्राप्ति। इन ग्रन्थों

१—संस्कृत में भी अन्धगज-न्याय बहुत ही प्रसिद्ध है। ईश्वर के विषय में अज्ञानियों के द्वारा कल्पित नानामतों के लिए इस न्याय का प्रयोग किया जाता है। नैष्कर्म्य सिद्धि (२।९३) में सुरेश्वर ने इसका प्रयोग इस प्रकार किया है:—

तदेतदद्वयं ब्रह्म निर्विकारं कुबुद्धिभिः।
जात्यन्धगजदृष्ट्येव कोटिशः परिकल्प्यते॥

के अनुशीलन से बौद्धों के प्रेत-विषयक कल्पनाओं तथा भावनाओं का विशेष परिचय हमें प्राप्त होता है।

(८) थेर गाथा
(९) थेरी गाथा } बुद्धधर्म को ग्रहण करने वाले भिक्षुओं और भिक्षुणियों ने अपने जीवन के सिद्धान्त तथा उद्देश को चित्रित करनेवाली जिन गाथाओं को लिखा था उन्हीं का संग्रह इन ग्रन्थों में है। थेरगाथा में १०७ कविताएँ हैं जिनमें १२७९ गाथाएँ संगृहीत हैं। थेरीगाथा[1] इससे छोटा है। उसमें ७३ कविताएँ ५२२ गाथाएँ हैं। ये गाथाएँ साहित्यिक दृष्टि से अनुपम हैं। इनके पढ़ने से गीति-काव्य के समान आनन्द आता है। उदाहरण के लिए दन्तिका नामक थेरी की यह गाथा कितनी मर्मस्पर्शिनी है:—

दिस्वा अदन्तं दमितं मनुस्सानं वसं गतम्।
ततो चित्तं समाधेमि खलुताय बनं गता॥

(१०) जातक—जातक से अभिप्राय बुद्ध के पूर्व जन्म से सम्बन्ध रखने वाली कथाओं से है। ये कथाएँ संख्या में ५५० हैं। साहित्य तथा इतिहास की दृष्टि से इनका बहुत ही अधिक महत्त्व है। बौद्ध कला के ऊपर भी इन जातकों का प्रचुर प्रभाव है क्योंकि ये कथाएँ अनेक प्राचीन स्थानों पर पत्थरों पर खोदी गई हैं। कथाओं का मुख्य उद्देश्य तो बुद्ध की शिक्षा देना है परन्तु साथ ही साथ विक्रमपूर्व षष्ठ शतक में भारत की सामाजिक तथा आर्थिक दशा का जो चित्रण हमें उपलब्ध होता है वह सचमुच बड़ा ही उपादेय, बहुमूल्य तथा प्रामाणिक है।[2]

(११) निद्देस—इस शब्द का अर्थ है व्याख्या। इसके दो भाग हैं—महानिद्देस और चुल्लनिद्देस जिनमें अष्टक वर्ग और खग्गविशान सुत्त (सुत्त निपात का तीसरा सुत्त) के ऊपर क्रमशः व्याख्याएँ लिखी गई हैं। इससे पता चलता है कि प्राचीन काल में पाली सुत्तों की व्याख्या का क्रम किस प्रकार था।

(१२) पटिसंभिदामग्ग—(विश्लेषण का मार्ग) इस ग्रन्थ में तीन बड़े खण्ड हैं जिनमें बौद्ध सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण विषयों का विश्लेषण तथा व्याख्यान है।

---

१. थेरीगाथा का बङ्गला कविता में अनुवाद विजयचन्द्र मजुमदार ने किया है।

२. जातक का अनुवाद भदन्त आनन्द कौशल्यायन ने हिन्दी में और ईशानचन्द्र घोष ने बंगला में किया है। बंगला अनुवाद के सब भाग छप चुके हैं। हिन्दी के तीनों खण्डों को हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने प्रकाशित किया है।

(१३) अपदान—(अवदान-चरित्र) इस ग्रन्थ में बौद्ध सन्तों के जीवन वृतान्त का बड़ा रोचक वर्णन है। कथा-साहित्य बौद्धधर्म की विशेषता है, परन्तु सब कथाएँ जातक के अन्तर्गत ही नहीं हो जातीं। बौद्ध धर्मावलम्बी थेरों की शिक्षाप्रद जीवन चरित्र यहाँ संगृहीत हैं। संस्कृत-निबद्ध महायान ग्रन्थों में अवदान नाम के ग्रन्थ इसी कोटि के हैं। दोनों ग्रन्थों की तुलना एक महत्त्व-पूर्ण विषय है।

(१४) बुद्ध वंश—इसमें गौतम बुद्ध से पूर्व काल में उत्पन्न होने वाले २४ बुद्धों के कथानक गाथाओं में दिए गए हैं। आरम्भ में एक प्रस्तावना है। तदनन्तर २४ बुद्ध तथा अन्त में गौतमबुद्ध के जीवन की प्रधान घटनाओं का कवित्व-मय वर्णन है। बौद्धों की यह धारणा है कि गौतम बुद्ध पचीसवें बुद्ध हैं। इनसे पहले वे चौवीस बुद्धों के रूप में अवतीर्ण हो चुके थे। इसी धारणा के ऊपर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है।

(१५) चरियापिटक—इस ग्रन्थ में ३५ जातक गाथाबद्ध रचित हैं। कथानक पुराने हैं परन्तु उनका गाथामय सुन्दर रूप नवीन है। इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है उन 'पारमिताओं' का वर्णन करना जिन्हें पूर्व जन्म में बोधिसत्त्वों ने धारण किया था। पारमिता शब्द का अर्थ है पूर्णत्व, पारगमन। पाली में इसका रूप 'पार्मी' होता है। इसमें ६ पारमिताओं का वर्णन है। दान, शील, अधिष्ठान, सत्य, मैत्री, उपेक्षा—इन्हीं पारमिताओं को विशेष रूप से प्रकट करने के लिए इन कथाओं की रचना की गई है। इस प्रकार खुद्दक निकाय के इन पन्द्रहों ग्रन्थों में शिक्षा तथा आख्यान का मनोरम विवेचन प्रस्तुत किया गया है[1]।

ग. अभिधम्म (अभिधर्म)—बौद्ध साहित्य का तीसरा पिटक है। अभिधर्म शब्द का अर्थ आर्य असंग ने महायानसूत्रालंकार (११।३) में इस प्रकार किया है :—

अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्याद्भिभवगतितोऽभिधर्मश्च।

'अभिधर्म' नामकरण के चार कारण इस कारिका में बताये गये हैं। सत्य, बोधि, विमोक्ष, सुख आदि के उपदेश देने के कारण निर्वाण के अभिमुख धर्म-

---

१. ऊपर वर्णित निकाय के ११ ग्रन्थ नागरी लिपि में सारनाथ से प्रकाशित हुए हैं। लण्डन की पाली टेक्स सोसाईटी ने समग्र पाली त्रिपिटकों का तथा उनकी टीकाओं का रोमन लिपि में विस्तृत संस्करण निकाला है।

प्रतिपादन करने से इनका नाम अभिधर्म है (अभिमुखतः)। एक ही धर्म के दिग्दर्शन आदि बहुत प्रभेद दिखलाने के कारण यह नामकरण है (आभीक्ष्ण्यात्)। दूसरे मतों के खण्डन करने के कारण तथा सुत्तपिटक में बतलाये गए सिद्धान्तों की [उचित व्याख्या करने के कारण इस पिटक का नाम अभिधर्म है। (अभिभवात् तथा अभिगतितः)। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्थूलरूप से सुत्तपिटक में किया गया है उन्हीं का विशदीकरण तथा विस्तृत विवेचन अभिधर्म का प्रधान उद्देश्य है। जो विषय सुत्तपिटक में भगवान् बुद्ध के प्रवचन रूप में कहे गए हैं उन्हीं का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन इस पिटक में किया गया है।

अभिधर्म पिटक के सात विभाग हैं:—

(१) धम्मसङ्गणि
(२) विभङ्ग
(३) धातुकथा
(४) पुग्गल पञ्ञत्ति (पुद्गलप्रज्ञप्तिः)
(५) कथावत्थु (कथावस्तु)
(६) यमक
(७) पट्ठान (प्रस्थानम्)

(१) धर्मसङ्गणि—अभिधर्म पिटक का यह सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। धर्मसङ्गणि का अर्थ है धर्मों की अर्थात् मानसिक वृत्तियों की गणना या वर्णना। पालीटीका में इसका अर्थ इसी प्रकार किया गया है—**कामवचररूपावचरादिधम्मे सङ्गह्य संखिपित्वा वा गणपति संख्याति एत्थाति धम्मसङ्गणि।** अर्थात् कामावचर, रूपावचर धर्मों का संक्षेप तथा व्याख्या करने वाला ग्रन्थ।

प्राचीन बौद्धधर्म में कर्तव्यशास्त्र और मनोविज्ञान का घनिष्ठ संबन्ध है। इन दोनों विषयों का वर्णन इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। ग्रन्थ दुरूह है तथा विद्वान् भिक्षुओं के पठन-पाठन के लिए ही लिखा गया है। यह सिंहल द्वीप में बड़े आदर तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। इस ग्रन्थ में चित्त की विभिन्न वृत्तियों का विस्तृत विवेचन है। प्रज्ञान, सम, प्रगाह्य (वस्तु का ग्रहण) तथा अविक्षेप (चित्त की एकाग्रता) इन चारों धर्मों के उदय होने का वर्णन है।

(२) विभङ्ग—विभङ्ग शब्द का अर्थ है—वर्गीकरण। यह ग्रन्थ धर्म-सङ्गणि के विषय को और भी आगे बढ़ाता है। कहीं-कहीं विषय का पार्थक्य भी है। धम्मसङ्गणि में अनुपलब्ध नवीन शब्द भी इस ग्रन्थ में व्याख्यात हैं। पहले अंश में बुद्धधर्म के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। दूसरे अंश में साधारण ज्ञान से लेकर बुद्ध के उच्चतम ज्ञान तक का वर्णन है। तीसरे खंड में ज्ञानविरोधी पदार्थों का विवेचन है। अन्तिम अंश में मनुष्य तथा मनुष्येतर प्राणियों की विविध दशाओं का वर्णन है।

(३) धातुकथा - धातु (पदार्थों) के विषय में प्रश्न तथा उत्तर इस ग्रन्थ में दिये गए हैं। चौदह परिच्छेदों का यह छोटा सा ग्रन्थ है। एक प्रकार से यह धम्मसंगणि का परिशिष्ट माना जा सकता है। इसमें पाँच स्कन्ध, आयतन, धातु, स्मृति-प्रस्थान, बल, इन्द्रिय आदि के विभेदों का पर्याप्त विवेचन है।

(४) पुग्गल पञ्ञत्ति—पुद्गल शब्द का अर्थ है जीव और प्रज्ञप्ति शब्द का अर्थ है विवेचन अथवा वर्णन। अतः नाना प्रकार के जीवों का उदाहरण तथा उपमा के बल पर विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ का विषय है। यह सुत्त-निपात के निकायों से विषय तथा प्रतिपादन शैली में विशेष समानता रखता है। दीघनिकाय के संगीति-परियाय सुत्त (३३) से इसमें विशेष अन्तर नहीं है। इसमें एगारह परिच्छेद हैं। एक गुण, दो गुण, तीन गुण इसी प्रकार दस (गुण) प्रकार के जीवों का विस्तृत वर्णन इन परिच्छेदों में किया गया है। नीचे लिखे उदाहरण से इस ग्रन्थ का परिचय मिल सकता है:—

प्रश्न—इस जगत में वे चार प्रकार के मनुष्य कैसे हैं जिनकी समता चूहों से दी जा सकती है।

उत्तर—चूहे चार प्रकार के होते हैं (१) वे जो अपना बिल स्वयं खोद कर तैयार करते हैं, परन्तु उसमें रहते नहीं। (२) वे जो बिल में रहते हैं, परन्तु स्वयं उसे खोदकर तैयार नहीं करते। (३) वे जो उन बिलों में रहते हैं जिसे वे स्वयं खोदते हैं। (४) वे जो न तो बिल बनाते हैं न तो उसमें रहते हैं। प्राणी भी ठीक इसी प्रकार से हैं। वे मनुष्य जो सुत्त, गाथा, उदान, जातक आदि का अभ्यास तो करते हैं परन्तु चारों आर्य-सत्यों के सिद्धान्त को स्वयं अनुभव नहीं करते। शास्त्र पढ़कर भी वे उसके सिद्धान्त को हृदयङ्गम नहीं करते। वे

प्रथम प्रकार के चूहों के समान हैं। वे लोग जो ग्रन्थ का अभ्यास नहीं करते, परन्तु आर्यसत्य का अनुभव करते हैं दूसरे प्रकार के मनुष्य हैं। जो लोग शास्त्र का अभ्यास भी करते हैं, साथ ही साथ आर्यसत्य के सिद्धान्तों का भी अनुभव करते हैं वे तीसरे प्रकार के मनुष्य हैं। जो न तो शास्त्र का अभ्यास करते हैं और न आर्यसत्य का अनुभव करते हैं वे चौथे प्रकार के चूहों के समान हैं जो न तो अपना बिल बनाता है न तो उसमें रहता ही है[1]।

(५) कथावत्थु—अभिधम्म का यह ग्रन्थ बुद्धधर्म के इतिहास जानने में नितान्त महत्त्वपूर्ण है। कथा का अर्थ है विवाद तथा वत्थु का अर्थ है विषय। अर्थात् बुद्धधर्म के १८ संप्रदायों (निकाय) में जिन विषयों को लेकर विवाद खड़ा हुआ था, उनका विवेचन इस ग्रन्थ में बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है। अशोक के समय होनेवाली तृतीय सङ्गीति के प्रधान मोग्गलिपुत्ततिस्स इसके रचयिता माने जाते हैं। अधिकांश विद्वान् इस परम्परा को विश्वसनीय और ऐतिहासिक मानते हैं। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष के भीतर ही बुद्धसङ्घ में आचार तथा सिद्धान्त, विनय तथा सुत्त के विषय में नाना प्रकार के मतभेद खड़े हो गए। अशोक के समय तक विरोधी सम्प्रदायों की संख्या १८ तक पहुँच गई। इन्हीं अष्टादश निकायों के परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों का उल्लेख इस ग्रन्थ की महती विशेषता है।

(६) यमक—इसमें प्रश्न दो प्रकार से किये गये हैं और दो प्रकार से उनका उत्तर दिया गया है। इसी कारण इन्हें यमक कहते हैं। ग्रन्थ कठिन है और अभिधम्म के पूर्व पाँच ग्रन्थों के विषय में उत्पन्न होने वाले संदेहों के निराकरण के लिए लिखा गया है।

(७) पट्ठान—यह ग्रन्थ तथा सर्वास्तिवादियों का ज्ञानप्रस्थान अभिधम्म का अन्तिम ग्रन्थ है। प्रस्थान प्रकरण का अर्थ है कारण सम्बन्ध का प्रतिपादक ग्रन्थ। ग्रन्थ में तीन भाग है—एक, दुक, और तीक। जगत् के वस्तुओं में परस्पर २४ प्रकार का कार्य-कारण सम्बन्ध हो सकता है। इन्हीं सम्बन्धों का प्रतिपादन इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है। इन २४ प्रत्ययों (कारण) के नाम

---

१. प्रकरण ४, प्रश्न ९।

इस प्रकार है—(१) हेतुप्रत्यय, (२) आरम्भण प्रत्यय, (३) अधिपति प्रत्यय, (४) अन्तर प्रत्यय, (५) समन्तर प्रत्यय, (६) सहजात प्रत्यय, (७) अन्यमत्र प्रत्यय, (८) निःसय प्रत्यय, (९) उपनिःसय प्रत्यय, (१०) पूरेजात प्रत्यय, (११) पश्चातजात प्रत्यय, (१२) आसेवन प्रत्यय, (१३) कर्म प्रत्यय, (१४) विपाक प्रत्यय, (१५) आहार, (१६) इन्द्रिय, (१७) ध्यान, (१८) मार्ग, (१९) संप्रयुक्त, (२०) विप्रयुक्त, (२१) अस्ति, (२२) नास्ति, (२३) विगत तथा (२४) अविगत प्रत्यय। जगत् में एक ही परमार्थ है और वह है निर्वाण। उसे छोड़कर जगत् में समस्त पदार्थों की स्थिति सापेक्षिकी है अर्थात् वे आपस में इन्हीं २४ सम्बन्धों से सम्बद्ध हैं। कार्य–कारण के सम्बन्ध की इतनी सूक्ष्म विवेचना स्थविरवादियों की गहरी छान–बीन का परिचायक है। यह ग्रन्थ छोटा होने पर भी दार्शनिक दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय है।

बौद्ध दर्शन के मूल रूप को जानने के लिए अभिधम्म का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। स्थविरवादी इसे अन्य पिटकों के समान ही प्रामाणिक 'बुद्धवचन' मानते हैं। परन्तु अन्य मतवाले इसे आदर की दृष्टि से नहीं देखते। पिटक की प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं है कथावत्थु की रचना ईसा–पूर्व तृतीय शतक में अशोक के राज्यकाल में हुई। उसके पहले अन्य ६ ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी[1]।

अभिधम्म-त्थसङ्गह

अभिधम्म पिटक की समता हिमालय से दी जा सकती है। जिस प्रकार हिमालय विस्तार में अत्यधिक लम्बे–चौड़े बीहड़ जंगलों के कारण दुःप्रवेश है, उसी प्रकार इस पिटक की दशा है। नक्शों और चार्टों के द्वारा उसमें सहज में ही प्रवेश किया जा सकता है, उसी प्रकार अभिधम्मत्थसङ्गह को स्वायत्त कर लेने पर अभिधर्म में प्रवेश करना सुगम है। इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम भिक्षु अनिरुद्ध है जो १२ वीं शताब्दी में बर्मा में उत्पन्न हुए थे। बर्मा प्राचीन काल से ही आज तक अभिधम्म के अध्ययन और अध्यापन का मुख्य केन्द्र रहा है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ भी कालान्तर में लिखी गईं जिनमें 'विभाविनी' और 'परमत्थ–दीपनी' टीकाएँ विद्वत्ता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। अभी धर्मानन्द कौशाम्बी ने

---

१. अभिधम्म के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—विमलाचरण ला–हिस्ट्री आफ पाली लिटरेचर भाग—१, पृ० ३०३–३२।

'नवनीत' टीका लिखकर इसके गम्भीर तात्पर्य को सुबोध बनाने में स्पृहणीय कार्य किया है। इस प्रसंग में 'मिलिन्द प्रश्न' का भी महत्त्व कम नहीं है। बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का उपमा और दृष्टान्तों के द्वारा रोचक विवेचन इस ग्रन्थ की महती विशेषता है। इस ग्रन्थ में स्थविर नागसेन और यवन नरेश मिलिन्द (मिनेण्डर) के परस्पर प्रश्नोत्तर के रूप में बौद्ध-तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इन्हीं ग्रन्थों की सहायता से स्थविरवाद के दार्शनिक रूप का दर्शन किया जा सकता है[1]।

---

१. भिक्षु जगदीश काश्यप ने 'अभिधम्मत्थसङ्गह' का अंग्रेजी अनुवाद और व्याख्या 'अभिधम्म फिलासफी' (प्रथम भाग) में किया है तथा 'मिलिन्दप्रश्न' का भी भाषानुवाद किया है।

तृतीय परिच्छेद

बुद्धकालीन समाज और धर्म

(क) सामाजिक दशा

बुद्ध के उपदेशों के प्रबल प्रभाव के रहस्य को समझने के लिए तत्कालीन समाज तथा धर्म की अवस्था अच्छी तरह परखनी चाहिये। पिटकों के अनुशीलन से सामाजिक तथा धार्मिक दशा का रोचक चित्र हमें उपलब्ध होता है। बुद्ध के समय समाज की दशा बहुत कुछ अस्तव्यस्त सी हो गई थी। उसमें नाना जातियों तथा वर्णों की विषमता थी। जनसमाज आज के ही समान अनेक जातियों में बँटा हुआ था—वे लोग भी थे जिनमें दया थी; उधर वे लोग भी वर्तमान थे जो दया तथा धर्म के भूखे थे। पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए हाथ फैलाने वाले लोग भी थे और उस हाथ को खाली न लौटाने वाले भी थे। समाज की विषमता विद्वानों की दृष्टि में एक विषम समस्या थी।

भूख की ज्वाला को शान्त करने के लिए कुछ लोग बड़े आदमियों के जूठन से ही सन्तोष करते थे, पर कुछ उग्र-स्वभाववाले व्यक्तियों ने लूट और चोरी को अपनी जीविका के अर्जन का प्रधान साधन बनाया था। 'चक्रवर्ती सीहनाद सुत्त' में चोरी से जीविका कमाने वाले लोगों का अच्छा वर्णन है। धनाढ्यों के ऊपर ही चोर अपना हाथ साफ किया करते थे, यह बात न थी। बुद्ध के धर्मभीरु भिक्षुओं को इन आततायियों के उग्र स्वभाव का परिचय बहुत बार मिला करता था। 'उदान' में वर्णित आयुष्मान् नागसमाल की सुन्दर कथा इस तथ्य की पर्याप्त परिचायिका है। बुद्ध के समय में संसार के भोगविलासों में आकण्ठ-मग्न विलासी जनों का भी एक बड़ा समुदाय था जिन्हें देखकर उन्होंने यह 'उदान' कहा था—

कामन्धा जाल-संछन्ना तण्हाछादनछादिता।
पमत्त-बन्धुना बन्धा मच्छा व कुमिना मुखे॥

[कामान्ध लोगों की दशा मछलियों जैसी है। जिस प्रकार मछलियाँ अपनी जिह्वा की तृष्णा से आच्छादित होकर जाल में फँसती हैं और कँटिया में बिंध जाती

हैं, उसी प्रकार कामान्ध नर जाल में फँसे हैं, तृष्णा के आच्छादन से आच्छादित हैं और प्रमत्त बन्धु द्वारा बंधे हैं]

भोगविलास में लिप्त होने का दुष्परिणाम होता ही है। ये लोग वेश्या-वृत्ति को प्रोत्साहन देने में नहीं चूकते थे। पिटक में एक रोचक वृत्तान्त से इसकी पुष्टि होती है। राजगृह का नैगम (श्रेष्ठी से भी उन्नत पद का अधिकारी व्यक्ति) श्रावस्ती में गया और वहाँ अम्बपाली गणिका ने नृत्य-वाद्य से बड़ा प्रभावित हुआ। लौटने पर उसने मगध नरेश राजा बिम्बसार से राजगृह में ऐसी गणिका के न होने की शिकायत की। राजा के आदेशानुसार उसने 'सालवती' नामक सुन्दरी कन्या को गणिका बनाया।

देश की दशा बड़ी समृद्ध थी। खेती तथा व्यापार—दोनों से जनता की आर्थिक स्थिति सुधर गयी थी। खेती सब वर्ण के लोग करते थे। कुछ ब्राह्मण लोगों का भी व्यवसाय खेती था। उनकी क्षेत्र-सम्पत्ति बहुत ही अधिक थी। कसि भारद्वाज नामक ब्राह्मण के घर पाँच सौ हल चलने का वर्णन मिलता है। पिप्पलीमाणवक की अतुल सम्पत्ति की बात पढ़कर हमें आश्चर्य चकित होना पड़ता है। प्रव्रज्या लेने पर पति-पत्नी दासों के गाँव में गये और उनसे कहा यदि तुम लोगों में से एक एक को पृथक् दासता से मुक्त करें, तो सौ वर्षों में भी न हो सकेगा। तुम्हीं अपने आप सिरों को धोकर दासता से मुक्त हो जावो (बुद्धचर्या पृ० ४४)। इसकी सम्पत्ति का भी वर्णन मिलता है—'उनके शरीर को उबटन कर फेंक देने का चूर्ण ही मगध की नालो से बाहर नाली भर होता था। ताले के भीतर साठ बड़े चहबच्चे थे। बारह योजन तक खेत फैले थे। उसके पास १४ दासों के गाँव, १४ हाथियों के, १४ घोड़ों के तथा १४ रथों के झुण्ड थे' (बुद्धचर्या पृ० ४२)।

खेती

व्यापार के बल पर अपार सम्पत्ति बटोरने वाले सेठ (श्रेष्ठी) राजधानियों में फैले हुए थे। मगध में अमित भोग वाले पाँच व्यक्तियों के नाम मिलते हैं—जोतिय, जटिल, मेंडक, पुण्णक तथा काकवलिय। इन व्यक्तियों को अपनी राजधानी में रखने के लिए राजा लोग लालायित रहते थे। कोसलराज प्रसेनजित् के आग्रह पर मगधराज बिम्बसार ने मेंडक को उनकी राजधानी में भेजा था। शाम को उसने जहाँ डेरा डाला वहीं 'साकेत'

व्यापार

नगर बस गया। ('सायं केत' शब्द से 'साकेत' की व्युत्पत्ति पिटकों में दिखलाई गई है)। धनञ्जय सेठ की कन्या 'विशाखा' का विवाह श्रावस्ती के सेठ मृगार के पुत्र पुण्ड्रवर्धन के साथ हुआ था। इस विवाह की विशालता का परिचय दहेज के द्रव्यों से भली भांति मिलता है। धनञ्जय ने दहेज में इतनी चीजें दी थीं—९ करोड़ मूल्य के आभूषण, ५४ सौ गाड़ी, ५ सौ दासियाँ और ५ सौ रथ। खेती और व्यापार के निर्वाह के लिए दासों की आवश्यकता थी, यह कहना व्यर्थ सा है। इस प्रकार बुद्धयुग में अतुल सम्पत्ति के साथ ही साथ विशाल दरिद्रता का भी राज्य विराजता था; यह कथन अत्युक्तिपूर्ण नहीं समझा जा सकता।

समाज में सेठों का विशेष आदर था, परन्तु इससे भी बढ़कर सम्मान की पात्र थी क्षत्रिय जाति। राज्याधिकार इसी जाति के पास था, अतः उसे गौरवशालिनी होना न्यायसङ्गत है। लोकमान्य होने के कारण ही बुद्ध ने क्षत्रिय

क्षत्रिय

वंश में जन्म ग्रहण किया था। क्षत्रिय लोगों को अपनी वर्णशुद्धि पर बड़ा गर्व था। वे जन्मगत उत्कृष्टता के विशेष पक्षपाती थे। फिर भी उनके घर दासियाँ पत्नी के रूप में रहती थीं जिनसे उत्पन्न कन्याओं के विवाह की समस्या कभी-कभी बडी विकट हो उठती थी। दासी कन्याओं की शादी छलपूर्वक बड़े घरानों में भी कभी-कभी कर दी जाती थी जिसका बुरा परिणाम लोगों को भुगतना पड़ता था। प्रसेनजित् शाक्यों की कन्या से शादी करना चाहते थे। शाक्यों को अपनी वर्ण-शुद्धि पर बड़ा अभिमान था। वे प्रसेनजित् को कन्या देना नहीं चाहते थे, परन्तु उनसे डर कर 'महानाम' नामक शाक्य ने अपनी दासी पुत्री का विवाह राजा से कर दिया। इसीसे 'विडूडभ' पुत्र उत्पन्न हुआ। वही आगे चलकर कोशल का राजा हुआ। ननिहाल में उसे दासी के पुत्र होने का पता चला। शाक्यों का आदर ऊपरी तथा बनावटी था। हृदय में वे उससे घृणा करते थे। जिस पीढ़े पर वह बैठता था वह दूध से धोया जाता था। इस घोर अपमान से उसे इतना क्षोभ हुआ कि उसने शाक्यों का संहार ही कर डाला। इस प्रकार विशुद्ध वंश को दूषित करने का फल शाक्यों को भोगना पड़ा।

'राजा प्रकृतिरञ्जनात्' का आदर्श दूर हट रहा था। प्रकृति के रञ्जक होने के

बदले अपने व्यक्तिगत लाभ की स्पृहा ही उनमें अधिक जागरूक रहती थी। बुद्ध के समय में चार राजा विशेष महत्त्व रखते थे—(१) मगध के राजा बिम्बसार, (२) कोशल के राजा प्रसेनजित, (३) कौशाम्बी के राजा उदयन तथा (४) उज्जैनी के राजा चण्डप्रद्योत। इन चारों में

राजा

चख-चख थी। प्रद्योत उदयन को अपने वश में लाना चाहता था। उसने उसे कैद कर लिया, पर अन्त में अपनी कन्या वासवदत्ता का विवाह उनके साथ कर उसे अपना जामाता बनाया। इन राजाओं के रनिवास में बहुत-सी रानियाँ रहती थीं। उदयन के अन्तःपुर में पाँच सौ रानियों का वर्णन मिलता है। बुद्ध के प्रति इन राजाओं की आस्था थी। राजाओं तथा सेठों की आर्थिक तथा नैतिक सहायता ही बुद्धधर्म का प्रभाव जनता में फैला। रानियों का प्रेम भी बौद्धधर्म से था। पर छोटी छोटी बातों पर लड़ना भी इन अधिपतियों का सामान्य काम था। रोहिणी नदी के पानी के लिए एक बार शाक्यों तथा कोलियों में झगड़ा खड़ा हो गया था जिसे बुद्ध ने समझा बुझा कर निपटारा करा दिया। यह दशा उस युग के शासक क्षत्रियों की थी।

ब्राह्मण-वर्ग समाज का आध्यात्मिक नेता था। वे लोग शील, सदाचार तथा तपस्या को ही अपना सर्वस्व मानते थे। पर धीरे धीरे ब्राह्मण लोगों के पास भी सम्पत्ति का अधिवास होने लगा। बड़ी-बड़ी जमीन रखने वाले, बड़े बड़े मकान वाले (महाशाल), भोग-विलासी ब्राह्मणों के परिवार भी थे। इन्हें देखकर बुद्ध को उन तपस्वी ब्राह्मणों के प्राचीन गौरव की स्मृति आई थी। इन प्राचीन शीलव्रती ब्राह्मणों के प्रति बुद्ध के ये उद्गार कितने महत्त्वपूर्ण हैं :—

ब्राह्मण

न पसू ब्राह्मणानासुं न हिरञ्ञं न धानियं।
सज्झाय धनधञ्ञासुं ब्रह्मं निधिमपालयुं॥[1]

ब्राह्मणों के पास न पशु था, न धन और न धान्य। स्वाध्याय पठन, पाठन ही उनका धन था। वे लोग ब्रह्मनिधि वेद के खज़ानों की रक्षा में लीन रहते थे। इस सदाचार का फल भी इन्हें प्राप्त होता था। वे अवध्य थे, अजेय थे, धर्म से

१–२. सुत्तनिपात—ब्राह्मणधम्मिकसुत्त श्लोक २ और ५।

संरक्षित थे। 'धर्मो रक्षति रक्षितः'। बड़े आदमियों के दरवाजों में प्रवेश करने से उन्हें कोई नहीं रोकता था—

अवज्झा ब्राह्मणा आसुं अजेय्या धम्मरक्खिता।
न ते कोचि निवारेसि, कुलद्वारेसु सब्बसो॥

सुत्तनिपात के 'ब्राह्मण धम्मिक सुत्त' में पूर्वकालीन ब्राह्मणों के सदाचार, शील तथा तपस्या का वर्णन भगवान् बुद्ध ने अपने श्रीमुख से प्रशस्तरूप से किया है। क्षत्रियों के भोग, ऐश्वर्य को देखकर उनके सहवास से ब्राह्मणों में भी भोगलिप्सा जाग्रत हुई, परन्तु त्यागी ब्राह्मणों की कमी बुद्ध-युग में नहीं थी। जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तथा समाज के कल्याण के लिए वे सदा बद्धपरिकर थे। पर समय की बुराइयाँ उन्हें भी छूती जाती थीं। उनका भी चित्त निवृत्ति से हटकर प्रवृत्ति की ओर चलायमान था। स्वाध्याय की ओर उनकी शिथिलता होने लगी। आध्यात्मिक नेताओं की बुराई से समाज उच्छृङ्खल होने लगा।

स्त्रियों की दशा वैदिक युग के समान उदात्त न थी। वेदकाल में जितनी स्वतन्त्रता तथा आध्यात्मिकता इन स्त्रियों में थी उसका क्रमशः ह्रास हो गया था।

स्त्रियाँ

धर्म में अधिकार से वे वञ्चित रखी जाती थीं। बुद्ध स्वयं उन्हें दीक्षा देने के पक्ष में न थे परन्तु अपनी माता के स्नेह से, शिष्यों के आग्रह से, उन्हें ऐसा करना पड़ा था। स्त्रीत्व को बौद्ध लोग हीनत्व का सूचक मानते थे। तभी तो 'शिक्षा समुच्चय'[1] में स्त्रियों को पुरुष बनने के लिए शुभाशंसा है। पुरुष बन कर ही वे शूर, वीर तथा पण्डित बन सकती थीं, बोधि के लिए आचरण कर सकती थीं तथा छः पारमिताओं का अभ्यास कर सकती थीं।

इस प्रकार बुद्ध के समय का समाज आदर्श नहीं कहा जा सकता। उस समय जहाँ धनी मानी लोग थे, वहां गरीब भी बहुत थे। धनी लोग भोग विलास का जीवन बिताते थे। राजाओं में पारस्परिक कलह था और समय समय पर युद्धों के कारण पर्याप्त जनसंहार होता था। दास-दासियों के रखने की प्रथा बहुत थी, खेती और व्यापार में इनकी विशेष सहायता रहती थी, पर इनकी स्थिति अच्छी

---

१. सर्वा स्त्रिया नित्य नरा भवन्तु शूराश्च वीरा विदु पण्डिताश्च।
ते सर्वि बोधाय चरन्तु नित्यं चरन्तु ते पारमितासु षट्सु॥

न थी। स्त्रियों का दर्जा भी समाज में घट कर था। स्त्रीजाति में जन्म लेना ही इसका प्रधान कारण था। बुद्ध ने समाज की इस विषमता को बड़े नजदीक से देखा था तथा समझा था। इसे दूर करने के लिए उन्होंने अपना नया रास्ता निकाला जिसके ऊपर उन्हें पूर्ण भरोसा था कि वह जनता का दुःख दूर कर सकेगा।[1]

(ख) धार्मिक अवस्था

बुद्ध के उदय का समय दार्शनिक इतिहास में नितान्त उथल-पुथल का समय है। उस समय नये-नये विचारों की बाढ़ सी आ गई थी। बुद्धिवाद का इतना बोलबाला था कि विद्वान् लोग शुद्ध बुद्धिवाद के बल पर नवीन मार्ग की व्यवस्था में लगे थे। एक ओर संशयवाद की प्रभुता थी, तो दूसरी ओर अन्धविश्वास का बाजार गर्म था। कतिपय लोग आध्यात्मिक विषयों को बड़े सन्देह की दृष्टि से देखते थे, तो दूसरे लोग इन्हीं विषयों पर निर्मूल विश्वास कर नये नये सिद्धान्तों के उधेड़-बुन में लगे थे। दर्शन के मूल तथ्यों की अत्यधिक मीमांसा इस युग की विशेषता थी। उपनिषदों की रचना हो चुकी थी, परन्तु उनके सिद्धान्तों के प्रति जनता के नेताओं का आदर कम हो चला था। नियामक के बिना जिस प्रकार देश में अराजकता फैलती है, उसी प्रकार शास्त्रीय नियमन के बिना दार्शनिक जगत् में अराजकता का विस्तार था। प्रत्येक व्यक्ति अपने को नवीन विचारों के सोचने का अधिकारी समझता था। कार्य-अकार्य की व्यवस्था के लिए शास्त्र ही एकमात्र साधन है, इस तथ्य को इस युग ने तिलाञ्जलि दे दी थी[2]। फलतः नवीन वादों के उदय का अन्त न था। जैन ग्रन्थों में क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानिकवाद तथा वैनयिकवाद के अन्तर्गत ३६४ जैनेतर मतों का उल्लेख मिलता है[3]। इतने विभिन्न

आध्यात्मिकता की बाढ़

१. विशेष के लिये द्रष्टव्य-शान्ति भिक्षु के लेख—(विश्वभारती पत्रिका भाग ४, खण्ड २ तथा ३)

२. तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ (गीता १६।२४)

३. द्रष्टव्य उत्तराध्ययन सूत्र १८।२३ तथा सूत्रकृतांग २।२।७९।
इन सिद्धान्तों के स्वरूप के विषय में टीकाकारों में कहीं-कहीं वैमत्य दीख पड़ता है, परन्तु फिर भी इनका रूप प्रायः निश्चित सा है।

और विचित्र मतों का एक समय में ही प्रचार था, इसे हम सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, परन्तु फिर भी अनेक मतों का प्रचलित होना अवश्यमेव निःसन्दिग्ध है।

ब्रह्मजाल-सुत्त के ६२ मत

दीर्घनिकाय में बुद्ध के आविर्भाव के समय ६२ मतवादों के प्रचलित होने का वर्णन मिलता ही है[1]। इनमें कुछ लोग आत्मा और लोक दोनों को नित्य मानते थे (शाश्वत वाद) कुछ लोग आत्मा और लोक को अंशतः नित्य मानते थे और अंशतः अनित्य मानते थे (नित्यता-अनित्यता वाद)। कतिपय विद्वान् अन्तानन्तवादी थे—लोक को सान्त भी तथा अनन्त भी मानते थे। कुछ लोग कार्य-अकार्य के विषय में निश्चित मत नहीं रखते थे (अमराविक्षेप वाद)। कितने लोग सभी चीजों को बिना किसी हेतु के ही उत्पन्न होने वाली मानते थे (अकारण-वाद)। इस प्रकार 'आदि' के विषय में १८ धारणायें थीं। 'अन्त' के विषय में इससे अढाई गुनी अधिक धारणायें (४४) मानी जाती थीं। कुछ ब्राह्मण-श्रमण लोग सोलह कारणों से मरने के बाद आत्मा को संज्ञी ('मैं हूँ'—ऐसा ज्ञान रखने वाला)

---

(१) **क्रियावाद**—से मतलब आत्मा की सत्ता मानने से है। टीकाकारों के कथनानुसार क्रियावादी लोग आत्मा का प्रधान चिह्न 'अस्तित्व' मानते हैं। जैन लोग इसे जैनेतर सिद्धान्त मानते हैं, परन्तु महावग्ग (६।३१।२) तथा सूत्रकृतांग (१।१२।२१) के अनुसार महावीर स्वयं क्रियावादी थे।

(२) **अक्रियावाद**—बौद्धों का 'क्षणिक वाद' है जिसके अनुसार जगत् के प्रत्येक पदार्थ क्षणभर रहकर लुप्त हो जाते हैं और उनके स्थान पर उन्हीं के समान पदार्थ की स्थिति हो जाती है। सांख्यों की भी गणना इसी के अन्तर्गत है।

(३) **अज्ञानवाद**—मुक्ति के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत तपस्या की। यह 'कर्ममार्ग' के अनुरूप ही है।

(४) **विनयवाद**—मुक्ति के लिए 'विनय' को उपयुक्त साधन मानने का सिद्धान्त।

इस सिद्धान्तों के लिए विशेष द्रष्टव्य-सूत्रकृतांग (१।१२)। टीकाकारों के अनुसार क्रियावादियों के १८० सम्प्रदाय थे, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानिकवादियों के ६७ तथा वैनयिकवादियों के ३२।

१. दीघ निकाय (हिन्दी पृ० ६-१४)

मानते थे। कतिपय लोगों की धारणा ठीक इससे विरुद्ध थी। वे समझते थे कि मरने के बाद आत्मा नितान्त 'संज्ञा-शून्य' रहता है। दूसरे लोग दोनों प्रकार के प्रमाण होने के कारण मरणानन्तर आत्मा को संज्ञी तथा असंज्ञी दोनों मानते थे। उधर आत्मा के उच्छेद को मानने वाले चार्वाक के मतानुयायी थे। इसी संसार में देखते-देखते निर्वाण हो जाता है, इस मत (दृष्टधर्म निर्वाण वाद) के अनुयायियों की भी संख्या कम न थी। इस प्रकार केवल ब्रह्मजाल के अध्ययन से विचित्र, परस्पर विरुद्ध मतों का अस्तित्व हमें उस समय उपलब्ध होता है।

वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्टमत

वैदिक ग्रन्थों से भी इस मतवैचित्र्य के अस्तित्व की पर्याप्त पुष्टि मिलती है। श्वेताश्वतर[1] तथा मैत्रायणी उपनिषदों में मूल कारण की मीमांसा करते समय नाना मतों का उल्लेख किया गया है, जिनके अनुसार काल[2], स्वभाव, नियति (भाग्य) यदृच्छा, भूत आदि जगत् के मूल कारण माने जाते थे। इतना ही नहीं, अहिर्बुध्न्य संहिता (अ० १२।२०-२३) ने सांख्यों के प्राचीन ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' के विषयों का विवरण दिया है। उनमें ब्रह्मतन्त्र, पुरुषतन्त्र, शक्तितन्त्र, नियतितन्त्र, कालतन्त्र, गुणतन्त्र, अक्षरतन्त्र आदि ३२ तन्त्रों (सिद्धान्तों) का उल्लेख है। नामसाम्य से जान पड़ता है कि इनमें से कतिपय मत श्वेताश्वतर में निर्दिष्ट मतों के समान ही हैं। इन प्रमाणों के आधार पर यह कथन अत्युक्तिपूर्ण नहीं है कि बुद्ध के समय भारतवर्ष में परस्परविरोधी मत-मतान्तरों का विचित्र बखेड़ा खड़ा था। इन मतों का समझना ही जानता के लिए दुरूह था। सार ग्रहण करने की तो बात ही न्यारी थी।

---

१. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावात्
आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥ (श्वेता० उप० १।२)

२. **कालवाद**—नितान्त प्राचीन मत है। काल को सृष्टि का मूल कारण मानना वैदिक मतों में अन्यतम है। अथर्व वेद (१८ काण्ड, ५३ सूक्त) में काल की महिमा का विशद विवेचन है। महाभारत (आदिपर्व अध्याय २४७-२५१) ने भी कालतत्त्व की बड़ी अच्छी मीमांसा की है।

सदाचार का ह्रास इस युग की दूसरी विशेषता थी। दार्शनिक मतों की अव्यवस्था आचार को व्यवस्थाहीन बनाती जाती थी। विचार की दृढ़ भित्ति पर ही आचार का प्रसाद खड़ा होता है, परन्तु विचार ही जब डाँवाडोल है, तब आचार की सुव्यवस्था दुराशामात्र है। धर्म के बाह्य अनुष्ठान में लोगों की तत्परता ने धर्म के हृदय को भुला दिया था। धर्म के भीतरी रहस्य को जानकर उसका पालन करना कल्पना से बाहर था। झूठी बातों बाहरी आडम्बरों ने धार्मिक जनता के हृदय को आकृष्ट कर लिया था। अनेक देवतावाद ने इस विश्व को नाना प्रकार के बुरे-भले देवताओं से भर दिया था। इनकी प्रसन्नता पाने के लिए ही मनुष्य सदा व्यस्त दीखता था। एकेश्वरवाद में एक ईश्वर की कल्पना मान्य थी, परन्तु उसके साथ स्वामी-सेवक के भाव ने मनुष्य के उच्च पद को नितान्त हीन बना दिया था। कर्मकाण्ड के अनुष्ठान में ही जनता की समधिक रुचि थी। कर्मों के अनुष्ठान का भी मूल्य है, महत्त्व है परन्तु जब आवश्यकता से अधिक ध्यान उनकी ओर दिया जाता है, तब उनका मूल्य कम हो जाता है। कर्मकाण्ड के विपुल विस्तार तथा पशुहिंसा की बहुलता ने लोगों के हृदय में इन कर्मों के प्रति विरोध की भावना जाग्रत कर दी। वे इन कर्मबन्धनों से उन्मुक्त होने की राह उत्सुकता से देखते थे। इन परस्पर-विरोधी दृष्टियों के कारण साधारण जन धर्म के मार्ग चुनने में आकुल हो रहा था। उसका पुराना मार्ग यज्ञ तथा उपासना का था जिससे वह इस लोक में कल्याण चाहता था और परलोक में भी मंगल की कामना करता था, परन्तु सदाचार के ह्रास के कारण उसकी धार्मिक स्थिति दयनीय हो गई थी।

शील का ह्रास

ऐसे ही वातावरण में गौतम बुद्ध का जन्म हुआ। सबसे पहले उन्होंने जनता की दृष्टि सदाचार की ओर फेरी। व्यर्थ के दिमागी कसरतों की क्या जरूरत? भाग्य और ईश्वर के ही ऊपर विश्वास रखते रखते प्राणियों ने आत्म-विश्वास खो डाला था। बुद्ध ने उस विस्मृत विश्वास को फिर से जगाया। उन्होंने श्रद्धा को हटाकर युक्ति और तर्क को अपने नवीन धर्म का आश्रय बनाया। तर्क से जो सिद्धान्त सिद्ध होते हैं, उन्हें ही मानना बुद्ध ने सिखलाया तथा ऐसे धर्म को प्रतिष्ठित किया जिसमें प्रत्येक प्राणी पुरोहित की सहायता तथा देवताओं के भरोसे के बिना ही अपना मोक्ष स्वयं प्राप्त

बुद्ध की व्यवस्था

रखने में समर्थ होता है। मानवता के प्रति लोगों के हृदय में आदर का भाव बढ़ाया। मानव होना देवता की अपेक्षा घट कर नहीं है, क्योंकि निर्वाण की प्राप्ति हमारे ही यत्नों तथा प्रयासों से साध्य है। देवता लोग भी निर्वाण से रहित होने के कारण ही इतना कष्ट पाते रहते हैं। बुद्ध बुद्धिवादी थे। अन्धविश्वास के अन्धकार ने वैराग्य तथा निवृत्ति की सुन्दरता को ढक रखा था। बुद्ध ने वैराग्य की पवित्रता तथा सुन्दरता को पुनः प्रदर्शित किया। आचार बुद्धधर्म की पीठ है। शील, समाधि तथा प्रज्ञा—बुद्धधर्म के तीन तत्त्व हैं। शील से कायशुद्धि, समाधि से चित्तशुद्धि तथा प्रज्ञा से अविद्या का नाश—संक्षेप में बुद्ध की यही धार्मिक व्यवस्था है।

(ग) समकालीन दार्शनिक

बुद्ध अपने युग की एक महान् आध्यात्मिक विभूति थे, परन्तु उनके समय में लोकमान्य तथा विश्रुत अनेक चिन्ताशील दार्शनिक विद्यमान थे, इसमें शंका की जगह नहीं है। उनके समकालीन ६ तीर्थकारों के नाम बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं[1]। इनके नाम थे—(१) पूर्णकाश्यप, (२) अजित केशकम्बल, (३) प्रकुध कात्यायन, (४) मक्खलि गोसाल, (५) संजय बेलट्ठिपुत्त, (६) निगण्ठ नाथपुत्त। ये छहो धर्माचार्य बुद्ध की अपेक्षा अवस्था में अधिक थे। एक बार नवयुवक बुद्ध को धर्मोपदेश करते देख कर प्रसेनिजित् ने कहा था[2] कि श्रमण-ब्राह्मण के अधिपति, गणाधिपति, गण के आचार्य, प्रसिद्ध यशस्वो पूर्णकाश्यप आदि छः तीर्थङ्कर पूछने पर इस बात का दावा नहीं करते कि उन्होंने परमज्ञान (सम्यक् संबोधि) प्राप्त कर लिया है, फिर जन्म से अल्पवयस्क और प्रव्रज्या में नये दीक्षित होने वाले आपके लिए कहना ही क्या है? इस कथन से स्पष्ट है कि ये उपदेशक लोग बुद्ध से उम्र में ज्यादा थे। निगण्ठ नाथपुत्त (महावीर वर्धमान) की मृत्यु बुद्ध के समय में ही हो गई थी। जैन अङ्गों में गोसाल की मृत्यु महावीर के कैवल्य से सोलह वर्ष पहले बतलाई जाती है। अत गोसाल का उम्र में बुद्ध से अधिक होना अनुमान सिद्ध है। अन्य तीर्थकरों के विषय में भी यह बात ठीक जँचती है।

---

१. दीघनिकाय पृ० ६-१०, सूत्रकृतांग २।६

२. संयुक्त निकाय ३।१।२

(१) पूर्णकाश्यप–अक्रियावाद

इनके जीवन चरित के विषय में कुछ पता नहीं चलता। मत का वर्णन अनेक स्थलों पर है। मगधनरेश अजातशत्रु के द्वारा पूछे जाने पर काश्यप ने अपना सिद्धान्त इन शब्दों में प्रतिपादित किया[१]—

करते कराते, छेदन करते, छेदन कराते, पकाते पकवाते, शोक करते, परेशान होते, परेशान कराते, चलते चलाते, प्राण मारते, बिना दिया लेते, सेंध मारते, गाँव लूटते, चोरी करते, बटमारी करते, परस्त्रीगमन करते, झूठ बोलते भी, पाप नहीं किया जाता। छुरे के तेज चक्र द्वारा जो पृथ्वी के मनुष्यों का मांस का खलिहान बना दे, मांस का पुंज बना दे, तो इसके कारण उसे पाप नहीं, पाप का आगम नहीं। यदि घात करते कराते, काटते कटाते, पकाते पकवाते, गंगा के दक्षिण तीर पर भी जाय तो भी इस कारण उसे पाप नहीं, पाप का आगमन नहीं होगा। दान देते, दान दिलाते, यज्ञ करते, यज्ञ कराते यदि गंगा के उत्तर तीर भी जाय, तो इसके कारण उसे पुण्य नहीं, पुण्य का आगमन नहीं होगा। दान–दम–संयम से सत्य बोलने से न पुण्य है, न पुण्य का आगम है।

पूर्णकाश्यप का यह मत क्रियाफल का सर्वथा निषेध करता है। भले कर्मों से न तो पुण्य होता है और न बुरे कर्मों से पाप। इस मत को **अक्रियावाद** कह सकते हैं। प्रत्यक्ष फल कर्मों का होता है, इसे तो प्रत्येक प्राणी को मानना ही पड़ेगा। अतः इस लोक के कर्मों का फल परलोक में कभी नहीं प्राप्त होता। यही बात प्रसङ्गतः स्फुट होती है।

(२) अजित केशकम्बल—भौतिकवाद, उच्छेदवाद

इस उपदेशक का व्यक्तिगत नाम अजित था। 'केशकम्बल' उपाधि प्रतीत होती है जो केशों के बने रूखे कम्बलों के धारण करने के कारण दी गई होगी। इनकी जीवनी का पता नहीं चलता। मत—पक्का विशुद्ध भौतिकवाद है। दीघनिकाय के शब्दों में इनका मत इस प्रकार है।[२]

---

१. दीघनिकाय (हि० अनु०) पृ० १९–२०

२. दीघनिकाय पृ० २०–२१

न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य-पापका अच्छा बुरा फल होता है, न माता है, न पिता है, न अयोनिज सत्त्व (देवता) हैं और न इस लोक में ज्ञानी और समर्थ ब्राह्मण-श्रमण हैं जो इस लोक और परलोक को जानकर तथा साक्षात्कार कर कुछ कहेंगे। मनुष्य चार महाभूतों से मिलकर बना है। मनुष्य जब मरता है, तब पृथ्वी महापृथ्वी में लीन हो जाती है; जल...तेज...वायु...और इन्द्रियाँ आकाश में लीन हो जाती हैं। मनुष्य लोग मरे हुए को खाट पर रख कर ले जाते हैं, उसकी निन्दा प्रशंसा करते हैं। हड्डियाँ कबूतर की तरह उजली होकर बिखर जाती हैं और सब कुछ भस्म हो जाता है। मूर्ख लोग जो दान देते हैं उसका कुछ भी फल नहीं होता। आस्तिकवाद (आत्मा की सत्ता मानना) झूठा है। मूर्ख और पण्डित सभी शरीर के नष्ट होते ही उच्छेद को प्राप्त हो जाते हैं। मरने के बाद कोई नहीं रहता।

अजित का सिद्धान्त एकान्त भौतिकवाद है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु-इन्हीं चार महाभूतों से यह शरीर बना हुआ है[1]। अतः मरने के बाद चारों भूत अपने अपने मूलतत्त्व में लीन हो जाते हैं। तब बचता ही कुछ नहीं है। अतः मृत्यु के पश्चात् वह आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं करता। परलोक भी असत्य है। स्वर्ग नरक की कल्पना नितान्त निराधार है। वह पाप-पुण्य के फल मानने के लिए उद्यत नहीं है। चार्वाकमत बुद्ध से भी प्राचीन है। बुद्ध के समय में अजित इस मत के उपदेशक प्रतीत होते हैं। जन-सम्मानित होने से स्पष्ट है कि उस समय जनता में उनकी शिक्षा का प्रभाव कम न था।

(३) प्रक्रुध कात्यायन—अक्रुततावाद

प्रक्रुध कात्यायन का जीवनचरित हम नहीं जानते। लोकमान्य उपदेष्टा, तीर्थंकर ही उनका एकमात्र परिचय है। उसका मत इस प्रकार है[2]—यह सात काय (समूह), अकृत, अकृत के समान, अनिर्मित के समान, अवध्य, कूटस्थ स्तम्भवत् अचल हैं। यह चल नहीं होते, विकार को प्राप्त नहीं होते; न एक दूसरे को हानि पहुँचाते हैं।

---

१. दीघनिकाय पृ० २०-२१

२. दीघनिकाय (अनु०) पृ० २१.

एक दूसरे के सुख-दुःख या सुख-दुःख के लिए पर्याप्त हैं। कौन से सात? पृथ्वीकाय (पृथ्वी तत्त्व), आपकाय, तेजकाय, वायुकाय, सुख, दुःख और जीवन यह सात। यह सात काय अकृत, सुख-दुःख के योग्य नहीं हैं। यहाँ न हन्ता है, न घातयिता (मार डालने वाला), न सुनने वाला, न सुनाने वाला, न जानने वाला, न जतलाने वाला। जो तीक्ष्ण शस्त्र से शीश भी काटे, तो भी किसी को कोई प्राण से नहीं मारता। सात कायों से अलग विवर में (खाली जगह में) शस्त्र गिरता है।

इस मत में जगत् में सात पदार्थों की सत्ता है जिनमें चार तो वे ही महाभूत हैं जिन्हें चार्वाक-पन्थी अजित केशकम्बल ने भी माना है। अन्य तीन अदृश्य तत्त्व हैं—सुख, दुःख तथा जीवन। जीवन (चैतन्य) को पृथक् पदार्थ मानना कात्यायन को अध्यात्मवाद की ओर ले जा रहा है। इनकी स्थिति परमाणु रूप में सम्भवतः मानी गई है, जो जगत् के प्रत्येक स्थान को व्याप्त नहीं करते, प्रत्युत इन सातों पदार्थों से पृथक् खाली जगह भी है। शस्त्र मारने से किसी की हिंसा नहीं होती, क्योंकि शस्त्र इन सप्तकायों में न पड़ कर इनसे अलग विवर में ही गिरता है और किसी भी पदार्थ को उच्छिन्न नहीं करता। यह सिद्धान्त भी अक्रियावाद ही है और सामाजिक व्यवस्था को उच्छृङ्खल बनाने वाला है। ऐसे ही मतवादों को खण्डन कर बुद्ध ने अपने क्रियावाद का प्रचार किया तथा सदाचार पर जोर देकर समाज को अस्त-व्यस्त होने से बचाया।

(४) मक्खलि गोसाल—दैववाद

ये बुद्ध के समकालीन संभ्रान्त धर्माचर्यों में से अन्यतम थे। इनके जीवन-चरित का विशेष विवरण जैन अंगों और पाली निकायों में उपलब्ध होता है। अब तक वर्णित तीर्थंकरों के सम्प्रदाय का पता नहीं चलता कि वे किसी प्राचीन सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त थे अथवा स्वयं ही किसी सम्प्रदाय के जन्मदाता थे। परन्तु आचार्य गोशाल प्राचीन 'आजीवक' सम्प्रदाय के माननीय उपदेष्टा थे। 'मक्खलि' शब्द इसकी सप्रमाण सूचना देता है।

'मक्खलि' संस्कृत 'मस्करी' का पाली रूप है। पाणिनीय व्याकरण के ग्रन्थों में इस सम्प्रदाय के विषय में अनेक उल्लेख मिलते हैं। पाणिनि ने 'मस्करमस्क-

रणौ वेणुपरिव्राजकयोः' (६।१।१५४) सूत्र के द्वारा 'मस्करी शब्द को व्युत्पन्न किया है। 'वेणु' अर्थ में मस्कर और परिव्राजक अर्थ में मस्करिन् निपातन से सिद्ध होते हैं। महाभाष्यकार इस सूत्र की व्याख्या करते लिखते हैं—'मस्कर (वेणु) जिसके पास होगा' इस अर्थ के द्योतक इनि प्रत्यय के करने पर 'मस्करिन्' शब्द सिद्ध हो ही जाता है फिर पूर्वोक्त सूत्र में इस शब्द के रखने का प्रयोजन क्या है? 'वेणुधारी' के अर्थ में यह पद सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत उस परिव्राजक के अर्थ में व्युत्पन्न होगा जो उपदेश देता हो 'काम मत करो; शान्ति तुम्हारे लिए भली है'[1]। कैयट के प्रदीप से पता चलता है कि मस्करी लोग काम्य कर्मों के परित्याग की शिक्षा देते थे[2]। काशिका वृत्ति में इसी अर्थ को पुष्ट किया है तथा इस पद की व्युत्पत्ति का प्रकार यह है—मा + कृ + इनि (ताच्छील्ये)। 'मा' के आकार के ह्रस्व तथा सुट् के आगम से यह पद तैयार हुआ है। इस प्रकार 'मस्करी' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'काम न करने वाला' (माकरणशीलः) अकर्मण्यतावादी, दैववादी[3]। बौद्ध निकायों से इस अर्थ की पर्याप्त पुष्टि मिलती है। मक्खलि लोगों का यही उपदेश था[4]—नत्थि कम्म, नत्थि किरियं नत्थि विरियं—कर्म नहीं है, क्रिया नहीं है, वीर्य नहीं है। पाणिनि तथा बुद्ध के बहुत समय पीछे भी इस सम्प्रदाय का अस्तित्व भारतवर्ष में अवश्य था, तभी तो महाकवि कुमारदास (६ शतक) ने जानकी को हरण करते समय रावण को मस्करी रूप में वर्णित किया है[5]। जैन ग्रन्थों से पता चलता है कि

मस्करी आजीवक

---

१. न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि मा कृत कर्माणि, मा कृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः। (महाभाष्य)

२. अयं मा कृत अयं मा कृतेत्युपक्रम्य शान्तितः काम्यकर्मप्रहाणिर्युष्माकं श्रेयसीत्युपदेष्टा मस्करीत्युच्यते।—प्रदीप

३. परिव्राजकेऽपि माङ्युपपदे करोतेस्ताच्छील्य इनिर्निपात्यते माङो ह्रस्वत्वं सुट् च तथैव। माकरणशीलो मस्करी कर्मापवादित्वात् परिव्राजक उच्यते। काशिका (६।१।१५४)

४. अंगुत्तर निकाय जि० १, पृ० २८६

५. दम्भाजीवकमुत्तुंगजटामण्डितमस्तकम्
कञ्चिन्मस्करिणं सीता ददर्शाश्रममागतम्॥ (जानकीहरण १०।७६)

मस्करी लोग बड़े भारी तापस थे, हठयोग की कठिन साधना में अपनी देह को सुखा देते थे, पञ्चाग्नि तापते थे और अपने शरीर पर भस्म रमाया करते थे। 'जानकी हरण' के पूर्वोक्त निर्देश से उनके सिर पर लम्बी जटाओं के होने का भी पता चलता है। इस प्रकार इस धार्मिक सम्प्रदाय के व्यापक प्रभुत्व का अनुमान हम सहज में कर सकते हैं।

संस्कृत में 'मस्कर' का अर्थ बाँस होता है। अतः कुछ आधुनिक विद्वानों की यही कल्पना है कि बाँस के दण्ड धारण करने से ही ये लोग 'मस्करिन्' नाम से अभिहित किये जाते थे। परन्तु यह कल्पना एकदम निराधार है। पतञ्जलि ने स्पष्ट ही लिखा है कि इनकी मस्करी संज्ञा बाँस के दण्ड धारण के कारण न थी। जैनों के 'भगवती सूत्र' से इसकी पर्याप्त पुष्टि होती है। गोशाल ने जब महावीर का शिष्यत्व अंगीकार किया, तब अपने शरीर की चीज़ें उतार कर ब्राह्मणों को दे डालीं। उन चीज़ों में साटिक (अन्दर का वस्त्र), पाटिक (ऊपर के वस्त्र), कुंडिआँ, उपानह (जूते) तथा चित्रफलक (चित्रपट) का उल्लेख मिलता है[1], दण्ड का उल्लेख नहीं है। अतः भगवतीसूत्र के इस महत्त्वपूर्ण उल्लेख से यह स्पष्ट है कि मस्करी परिव्राजक दण्ड धारण नहीं रहता था, प्रत्युत चित्रपट दिखला-कर अपने सिद्धान्तों का उपदेश दिया करता था। भारतीय समाज से मक्खली परिव्राजक एकदम लुप्त नहीं हो गया। बल्कि 'मंख' के नाम से उनकी स्मृति बहुत दिनों तक जागृत रही।

जैन ग्रन्थों में, विशेषतः 'उवासग दसाओ' और 'भगवती सूत्र' में तथा बौद्ध त्रिपिटकों में **मक्खलि गोसाल** का विवरण मिलता है। इसका

जीवनी

पिता स्वयं मस्करी था, माता का नाम भद्रा था; दोनों स्त्री-पुरुष भीख माँगते इधर-उधर फिरते थे। गोबहुल नामक ब्राह्मणकी गोशाला में जन्म होने से इसका नाम **गोशाल** पड़ गया था। मगध का ही यह निवासी था। यह जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी का पहला शिष्य था— बड़ा भक्त शिष्य। महावीर की इस पर बड़ी कृपा थी। एक बार 'वेश्यायन' नामक

---

१. साडियाओ य पाडियाओ य कुंडियाओ य।
वाहणाओ य चित्तफलगं य माहणे आयामेति ॥ (भगवती सूत्र)

किसी बाल तपस्वी ने इसके अपमान से दुःखित होकर गोशाल पर 'तेजोलेश्या' नामक शक्ति छोड़ी थी। तब महावीर ने शीतलेश्या का प्रयोग कर इसके प्राणों की रक्षा की। परन्तु महावीर के साथ इसका सिद्धान्त भेद खड़ा हो गया जिससे बाध्य होकर गोशाल ने जैन मार्ग को छोड़ कर आजीवक मार्ग को पकड़ा[1]। महावीर के साथ इसके शास्त्रार्थ करने तथा पराजित होने का भी उल्लेख मिलता है।

गोशाल का मत उस समय व्यापक तथा प्रभावशाली हो गया था। उसके ६ दिशाचर शिष्य थे—(१) ज्ञान, (२) कलन्द, (३) कर्णिकार, (४) अच्छिद्र, (५) अग्नि वैश्यायन, (६) गोमायुपुत्र अर्जुन। चूर्णिकार का कहना है कि ये भगवान् महावीर के ही शिष्य थे, परन्तु पतित हो गये थे। अतः अपने मत के प्रचार के लिए गोशाल ने इन जैनविरोधी विद्वानों को अपनी जमात में मिला लिया और अपने को 'जिन' नाम से विख्यात किया। आजीवक सम्प्रदाय के इतिहास में श्रावस्ती में रहने वाली 'हालाहला' नामक कुँभारिन प्रधान स्थान रखती है। वह बड़ी धनाढ्य, सौन्दर्यवती तथा बुद्धिमती थी। इसने आजीवक मत के प्रचार में खूब रुपया खर्च किया। गोशाल इसीके घर प्रायः रहता था। श्रावस्ती ही गोशाल का अड्डा जान पड़ती है। अपने गुरु के चरित के अनुशीलन से इनके भक्तों ने 'अष्टचरम वाद' नामक सिद्धान्त का प्रचार किया। भगवती सूत्र के अनुसार ये आठों चरम (अन्तिम बातें) इस प्रकार हैं—(१) चरम पान, (२) चरम गान, (३) चरम नाट्य, (४) चरम अंजलिकर्म (५) चरम पुष्कर संवर्तक महामेघ, (६) चरम सेचनक गन्धहस्ती, (७) चरम महाशिला कंटक संग्राम (८) चरम तीर्थंकर (गोशाल अपने को अन्तिम तीर्थंकर उद्घोषित करता था)। महावीर की मृत्यु से १६ वर्ष पहले गोशाल की मृत्यु होने का उल्लेख मिलता है। बुद्ध के ये समकालीन अवश्य थे, परन्तु उनके निर्वाण से बहुत पहिले ही गोशाल की ऐहिक लीला समाप्त हो गई थी[2]। इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मक्खलि गोसाल उस समय के सुप्रसिद्ध धर्माचार्यों में थे।

---

१. इसीलिए आज भी जैनसमाज में यदि कोई साधु अपने गुरु से विरुद्ध हो कर निकल जाता है, तो अक्सर लोग कहते हैं—वह तो 'गोशाल' निकला। इस कहावत का मूल इस विरोध में है।

२. कल्याणविजय गणी—श्रमण भगवान् महावीर (पृ० १२३–१२८) तथा लेखक रचित 'धर्म और दर्शन' (पृ० ७१–८१)

गोशाल के सिद्धान्तों का उल्लेख त्रिपिटक तथा अगों में अनेक स्थानों में आया है। शब्द भी प्रायः समान ही है। दीघनिकाय के अनुसार उनका मतवाद यह है[1]— 'सत्त्वों के क्लेश का हेतु नहीं है, प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु के और बिना प्रत्यय के सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वों की शुद्धि का कोई हेतु नहीं है, बिना हेतु के और बिना प्रत्यय के सत्त्व शुद्ध होते हैं। अपने भी कुछ नहीं कर सकते हैं, पराये भी कुछ नहीं कर सकते। कोई पुरुष भी कुछ नहीं कर सकता। बल नहीं है, वीर्य नहीं है। पुरुष का कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अपने में नहीं हैं। निर्बल, निर्वीय भाग्य और संयोग के फेर से छै जातियों में उत्पन्न होकर सुख और दुःख भोगते हैं। सुख और दुःख द्रोण (नाप) से तुले हुए हैं। संसार में घटना, बढ़ना, उत्कर्ष, अपकर्ष नहीं होता। जैसे सूत की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही पण्डित और मूर्ख दौड़कर, आवागमन में पड़कर, दुःख का अन्त करेंगे।'

सिद्धान्त

स्पष्ट ही यह नियतिवाद का समर्थन है। भाग्य के ही प्रभाव से जब सब प्राणी सुख-दुःख के चक्कर में पड़े रहते हैं, तब उनका अनुष्ठित कर्म अकिंचित्कर है ही। कर्म व्यर्थ है। उसमें किसी भी प्रकार की शक्ति नहीं है। नियति पर ही अपने को छोड़कर सुख की नींद सोना जीवों का कर्तव्य है। गोशाल का यह सिद्धान्त समाज तथा व्यक्ति दोनों के अभ्युदय के लिए नितान्त अनुपादेय है। इसके पालन से समाज का महान् अहित सम्पन्न होगा, यह निश्चय है।

(५) संजय वेलट्ठिपुत्त—अनिश्चिततावाद

संजय का मत बड़ा विलक्षण प्रतीत होता है। ये किसी भी तत्व यथा परलोक, देवता, पुण्यापुण्य के विषय में किसी निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं करते। इनका मत है[2]—

'यदि आप पूछें—क्या परलोक है ? और यदि मैं जानूं कि परलोक है, तो आपको बतलाऊं कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता और मैं वैसा भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं है'। मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं नहीं है'। परलोक नहीं है। परलोक है भी और

१. दीघनिकाय (हि० अनु०) पृ० २०। २. दीघनिकाय (अनु०) पृ० २२।

नहीं भी। परलोक न है और न नहीं है। देवता (अयोनिज प्राणी) हैं, नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी। न हैं और न नहीं हैं। अच्छे बुरे काम के फल है, नहीं है, है भी और नहीं भी, न है और न नहीं है। तथागत (मुक्तपुरुष) मरने के बाद होते हैं, नहीं होते हैं। यदि मुझे ऐसा पूछें और मैं ऐसा समझूँ कि मरने के बाद तथागत रहते हैं और न नहीं रहते हैं, तो मैं ऐसा आपको कहूँ। मैं ऐसा भी नहीं कहता और मैं वैसा भी नहीं कहता।'

यहाँ परलोक, देवता, कर्म तथा मुक्तपुरुष इन माननीय विषयों की समीक्षा की गई है। इन चारों विषयों में संजय अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, न अस्ति न नास्ति—इन चार प्रकार की कोटियों का निषेध करते हैं। ऊपर का उद्धरण संजय के किसी निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं करता। यह 'अनेकान्तवाद' प्रतीत होता है। सम्भवतः ऐसे ही आधार पर महावीर का स्याद्वाद प्रतिष्ठित किया गया था।

(६) निगण्ठ नातपुत्त—चतुर्यामसम्वर

निगण्ठ नातपुत्त (निग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) से अभिप्राय जैन धर्म के अन्तिम तीर्थ-कर वर्धमान महावीर से है। बौद्ध ग्रन्थों में ये सदा इस अभिधान से संकेतित हैं।

जीवनी

ये वैशाली (बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) में ५९९ ई० पू०, पैदा हुए थे। वैशाली गणतन्त्र राज्य था, वहीं के ज्ञातृवंशी क्षत्रिय सरदार के ये पुत्र थे। पिता का नाम था सिद्धार्थ, माता का त्रिशला। यशोदा देवी के साथ इनका विवाह होना श्वेताम्बर लोग बतलाते हैं। तीस वर्ष की अवस्था में (लगभग ५७० ई० पू०) इन्होंने यतिधर्म ग्रहण किया। १२ वर्ष की अनवरत तपस्या के बल पर इन्होंने कैवल्य ज्ञान (सर्वज्ञता) प्राप्त किया। इन्होंने मध्यदेश (कोशल—मगध) में अपने धर्म का उपदेश दिया। इनका केन्द्रस्थान मगध की तत्कालीन राजधानी 'राजगृह' था। 'अर्ध मागधी' लोक भाषा के द्वारा अपने धर्म का प्रचुर प्रचार जनसाधारण में कर इन्होंने ७२ वर्ष की आयु में बुद्धनिर्वाण से पहले ही कैवल्य प्राप्त किया[1]।

जैन अंगों में तो आपके उपदेश हैं ही। बौद्ध निकायों में भी इनकी शिक्षा

---

१. जैन अंगों के आधार पर महावीर के जीवन वृत्तान्त के लिए द्रष्टव्य—कल्याणवजय गणी रचित 'श्रमण भगवान् महावीर।'

का अनेक बार उल्लेख मिलता है। ये 'चतुर्याम संवर[1]' अर्थात् चार प्रकार के संयम को मानते थे। (१) जीव हिंसा के भय से निर्ग्रन्थ जल के

सिद्धान्त

व्यवहार का संयम करता है। (२) सभी पापों का वारण करता है तथा (३) सभी पापों के वारण करने में लगा रहता है तथा (४) पापों के वारण करने के कारण वह सदा धूतपाप (पापरहित) होता है। निगण्ठ का कायिक कर्मों के ऊपर बड़ा आग्रह था। वे स्वयं तपस्या-साधन में निरत थे तथा सदा इसका उपदेश देते थे[2]। तपःसाधन से इन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त कर ली थी। यह उनका दावा भी था। बौद्ध ग्रन्थों में निगण्ठ की सर्वज्ञता की खूब हँसी उड़ाई गई है। आनन्द ने एक बार कहा था कि एक शास्ता सर्वज्ञ होने का दावा करते हैं, परन्तु किसी भी सूने घरों में जाते हैं, भिक्षा तो पाते ही नहीं, उल्टे कुक्कुरों से शरीर नुचवाते हैं और भयानक हाथी, घोड़े और बैल का सामना करते हैं। भला यह सर्वज्ञता किस प्रकार की ? कि वह स्त्री-पुरुषों के नाम गोत्र पूछते हैं, गाँव-नगर का नाम पूछते हैं और अपना रास्ता पूछते हैं[3]। स्पष्टतः इसका लक्ष्य निगण्ठ की सर्वज्ञता के दावे पर है।

इन छ तीर्थकारों में केवल निगण्ठ नामपुत्त के उपदेश बच रहे। जैन सम्प्रदाय के ये ही मान्य उपदेश हैं[4], परन्तु अन्य पाँचों तीर्थकरों के मत बुद्धधर्म के उदय होते ही कालकवलित हो गये। इन मतों में व्यक्ति तथा समाज की व्यवस्था न थी; इसीलिए जनता ने न तो उन्हें अपनाया, न विद्वानों ने उन्हें ग्राह्य ठहराया। फलतः वे कई शताब्दियों में ही अपनी ऐहिक लीला का संवरण कर ग्रन्थों के ही विषय बन गये।

---

१. दीघ-निकाय पृ० २१.।

२. मज्झिम निकाय १।२।४ (अनु० ५९)

३. मज्झिम निकाय २।३।६

४. महावीर के सिद्धान्तों के लिए द्रष्टव्य लेखक का भारतीय दर्शन (पृ० १५४–१७८)

चतुर्थ-परिच्छेद

बौद्ध दर्शन की ऐतिहासिक रूपरेखा

भगवान् बुद्ध का कार्य नितान्त व्यवस्थित तथा श्लाघनीय था। उन्होंने स्वयं प्रचार कर अपने नये धर्म का शंखनाद देश भर में फूंक दिया, परन्तु उनके प्रचार का देश बहुत ही सीमित था। कोशल तथा मगध के प्रान्तों में ही भगवान् अपने धर्म का उपदेश किया करते थे। धनी-मानी पुरुषों से उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। मगधनरेश बिम्बसार तथा अजातशत्रु उनके उपदेशों के अनुयायी थे। कोशलराज प्रसेनजित् को भी बौद्धधर्म में गहरी आस्था थी। वह बुद्ध का पक्का शिष्य था और उसकी भक्ति का परिचय त्रिपिटक के इस वाक्य से लग सकता है कि प्रसेनजित् विहार में प्रविष्ट होकर सिर से लेकर भगवान् के पैरों को मुख से चूमता था तथा हाथ से संवाहन करता था (बु० च० ४४०)। कौशाम्बी के राजा उदयन भी बौद्धसंघ का विशेष आदर करता था। उदयन तथा उसकी रानियाँ बौद्धसंघ को प्रचुर दान दिया करती थीं। एक बार का वर्णन है कि उदयन की रानियों ने आनन्द को ५०० चीवर दान में दिये। राजा को आश्चर्य हुआ कि इतने चीवरों को लेकर आनन्द क्या करेंगे। परन्तु जब आनन्द ने उनका उपयोग बतला दिया, तब राजा ने उतने और भी चीवर उन्हें दान में दिये। सुनते हैं कि उदयन के रनिवास में एक बार आग लग गई थी जिसमें पाँच सौ स्त्रियाँ जल मरी थीं। उदान (७।९) से पता चलता है कि उसमें से बहुत ही भगवान् बुद्ध की उपासिकायें थीं। मगध तथा कोशल के सेठों ने भी बौद्धधर्म के प्रचार में विशेष योगदान दिया। श्रावस्ती के सेठ 'अनाथ पिण्डक' का नाम बौद्धधर्म के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। बुद्ध के प्रति उसकी कितनी श्रद्धा थी, इस बात का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि उसने बुद्ध के निमित्त जेतवन को विहार बनाने के लिए पूरी जमीन पर सोने की मुहरें बिछा दी थीं। सच्ची बात यही है कि अर्थ के साहाय्य विना धर्म का प्रचार हो नहीं सकता। बौद्धधर्म का इतिहास इसका प्रधान निदर्शन है।

बुद्ध ने अपने कार्य को स्थायी बनाने के लिए 'संघ' की स्थापना की थी। इसकी रचना राजनीतिक 'संघ' (लोकतन्त्र की सभा) के अनुसार की गई थी।

शाक्य लोग गणतन्त्र के उपासक थे। बुद्ध भी प्रजातन्त्र के पक्षपाती थे। फलतः उन्होंने अपने 'संघ' को भी प्रजातन्त्र की शैली पर ही निर्मित किया। भिक्खुओं के पालन करने के निमित्त अनेक नियम थे और इन्हीं का संकलन 'विनयपिटक' में किया गया है। बुद्धधर्म के तीन रत्न हैं—बुद्ध, धर्म और संघ। इन्हीं तीनों का शरणापन्न व्यक्ति बौद्ध माना जाता है। संघ का परिपालन बड़े नियम के साथ किया जाता था। अपराधी भिक्षु को दण्ड देने का काम संघ ही करता था। संघ की इस सुव्यवस्था के कारण ही बौद्धधर्म की स्थायिता बहुत दिनों तक बनी रही।

बौद्धधर्म की शाखायें

बौद्धधर्म की दो प्रधान शाखायें हैं—(१) हीनयान तथा (२) महायान। इन नामों का निर्देश महायानियों ने किया। अपने आपको तो उन्होंने श्रेष्ठ बतलाकर अपने मार्ग को 'महान्' मान लिया और प्राचीन मतावलम्बियों को हीनयान के नाम से अभिहित किया। 'हीनयान' से अभिप्राय पाली त्रिपिटकों के आधार पर व्यवस्थित धर्म से है जिसका प्रचार आजकल लंका, स्याम, बरमा आदि भारत से दक्षिणी देशों में है। ये लोग अपने को 'थेरवादी' (स्थविरवादी) कहते हैं और यही नाम प्राचीन भी है। महायानियों का प्रभुत्व चीन, जापान, मंगोलिया, कोरिया आदि भारत से उत्तर के देशों में है। इन दोनों मतों के सैद्धान्तिक विभेद का सविस्तर वर्णन आगे किया जायगा। 'महायान' का उदय कब हुआ? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। कतिपय विद्वान् अश्वघोष को महायान के सिद्धान्तों के प्रवर्तन का श्रेय प्रदान करते हैं। चीनी भाषा में अश्वघोष की 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' नामक रचना आज भी विद्यमान है। पूर्वोक्त कथन का आधार यही ग्रन्थ है। परन्तु यह कथन ठीक नहीं। 'महायान-श्रद्धोत्पाद' के सिद्धान्त इतने विकसित तथा प्रौढ़ महायानी हैं कि उनकी कल्पना ईस्वी के प्रथम शतक में मानना उचित नहीं। तिब्बती परम्परा में अश्वघोष सर्वत्र 'सर्वास्तिवादी' माने गये हैं अर्थात् वे स्वयं हीनयानी थे। हीनयान समय के अनुसार अपने को बदल नहीं सका। इसीलिए 'महायान' अपने को समयानुकूल बनाकर आगे बढ़ गया। 'महायान' के ऊपर ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्तों का बड़ा प्रभाव पड़ा है, विशेषतः भगवद्गीता के कर्मयोग का। यह घटना विक्रम के तृतीय शतक में ऐतिहासिक रीति से मानी जा सकती है। नागार्जुन को हम

महायानी दार्शनिकों में आदिम मान सकते हैं, परन्तु उनसे भी पहिले महायान के समर्थक सूत्रग्रन्थ उपलब्ध थे।

महायान की ही विकसित शाखायें मन्त्रयान तथा वज्रयान हैं। इनमें मन्त्र तथा तन्त्र का साम्राज्य है। इसका विशेष प्रचार बंगाल, उड़ीसा तथा आसाम के प्रान्तों में हुआ। इन्हीं का प्रचार तिब्बत में हुआ। इस प्रकार बौद्धधर्म के इन यानों का समय—निर्देश इस प्रकार मोटे तौर से किया जा सकता है।

(१) हीनयान—विक्रमपूर्व ५००—२०० विक्रमी
(२) महायान—२०० वि०—८०० वि०
(३) वज्रयान—८०० वि०—१२०० वि०

बौद्ध संगीति

विकाश इस विश्व का प्रधान नियम है। उत्पत्ति के अनन्तर कोई भी वस्तु विकसित हुए बिना नहीं रहती। अंकुर विकसित होकर वृक्ष का रूप धारण करता है। कलियाँ फूल के रूप में विकसित होकर दर्शकों का मनोरञ्जन करती हैं। धर्म इस नियम का अपवाद नहीं है। नवीन परिस्थितियों में, आवश्यक सहायक सामग्री के सहारे, धर्म को विकसित होते विलम्ब नहीं लगता, धर्म का बीज अंकुरित होकर पल्लवित हो उठता है। बुद्धधर्म का विकाश हुआ और बड़े मनोरञ्जक ढंग का विकाश हुआ।

विक्रमपूर्व ४३६ में भगवान् गौतम बुद्ध का निर्वाण सम्पन्न हुआ, तब धर्म के मूल सिद्धान्तों के निर्णय के लिए उनके प्रधान शिष्यों की सहायता से मगध राज्य की राजधानी राजगृह में बौद्धों की प्रथम संगीति (सम्मेलन) निष्पन्न की गई। इसमें सुत्त तथा विनयपिटक का रूप निर्धारण

संगीति प्रथम

कर उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया। परन्तु इसके एक सौ

द्वितीय

वर्ष के भीतर ही विनय के कठोर नियमों को लेकर एक प्रबल विरोधी मतवाद खड़ा हो गया। इस विरोध का झंडा ऊँचा करनेवाले वज्जिदेश के भिक्षु थे जो वंज्जिपुत्तक, वज्जिपुत्तिक तथा वात्सीपुत्रीय के नाम से पुकारे जाते हैं। इन्हीं के विरोध की शान्ति के लिए वैशाली की द्वितीय संगीति ३२६ वि. पू० में की गई। परन्तु प्राचीन विनयों के कट्टर पक्षपाती भिक्षुओं के सामने इनकी दाल तनिक भी नहीं गली। इस दुर्दशा में

भिक्षुओं ने वैशाली से दूर हटकर कौशाम्बी (प्रयाग के पास 'कोसम') में दस हजार भिक्षुओं के साथ महासंघ के साथ अपनी संगीति अलग की। उसी दिन बौधसंघ में दो प्रधान भेद खड़े हो गए—(१) स्थविरवादी और (२) महासांघिक। विनय में किसी प्रकार के परिवर्तन न मानने वाले अपरिवर्तनवादी कट्टरपन्थी भिक्षु स्थविरवादी (पाली थेरवादी) कहलाये। विनयों में समय के परिवर्तन के साथ साथ परिवर्तनवादी संशोधक भिक्षुओं की मण्डली संख्या में अधिक होने से महासंघ के कारण **महासांघिक** कहलायी। इतने ही पर यदि मामला रुक जाता, तो कोई विशेष बात न होती। एक बार जब विरोधी को आश्रय दे दिया गया, तब तो छोटी सी छोटी बात के लिए आग्रही भिक्षुओं ने अपनी जमात अलग कायम की। फलतः सम्प्रदायों की संख्या बढ़ने लगी।

अशोक के समय (तृतीय शतक पू० वि०) से पहले ही १८ भिन्न भिन्न सम्प्रदाय खड़े हो गये। लोकप्रियता का यही मूल्य होता है। अब बुद्धधर्म नितान्त

तृतीय संगीति

लोकप्रिय बन गया। फलतः उसमें भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोग शामिल होने लगे जिन्हें बुद्ध के मूल नियमों का पालन नितान्त क्लेशकारक प्रतीत होने लगा। ये उदार थे तथा सिद्धान्तों में परिवर्तन के पक्षपाती थे। महाराज अशोकवर्धन को बुद्धधर्म का यह झमेला मूलधर्म के स्वरूप जानने के लिए बड़ा बखेड़ा जान पड़ा। अतः इन मतवादों के पारस्परिक कलह को दूर हटाने के लिए सम्राट् अशोक ने महास्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में तृतीय संगीति का आह्वान किया। यह संगीति बुद्धधर्म के इतिहास में नितान्त महत्त्वशालिनी मानी जाती है, क्योंकि इसी संगीति के नियमानुसार सम्राट् ने बुद्धधर्म के प्रचार के लिए भारत के बाहर भी भिक्षुओं को भेजा। इसी समय से बुद्धधर्म विश्वधर्म की पदवी पाने के लिए अग्रसर हुआ।

चतुर्थ संगीति कुषाणवंशीय महाराज कनिष्क के समय (प्रथम शताब्दी) में सम्पन्न हुई। इसके विषय में सिंहलदेशीय ग्रन्थों ने मौनावलम्बन ही कर रखा

चतुर्थ संगीति

है, परन्तु संगीति हुई अवश्य और इसके प्रमाणभूत तिब्बती, चीन तथा मंगोलियन लेखक हैं। कनिष्क को भी बौद्धधर्म के विषय में विरोधी मतों के अस्तित्व ने चक्कर में डाल दिया। उसने अपने गुरु 'पार्श्व' की सम्मति से भिक्खुओं की एक महती सभा बुल-

चाई। उसमें पाँच सौ भिक्षु सम्मिलित हुए थे और यह संगीति काश्मीर की राजधानी के पास कुण्डलवन विहार में हुई थी[1]। इसके अध्यक्ष थे वसुमित्र और उपाध्यक्ष थे महाकवि अश्वघोष जिसे कनिष्क पाटलिपुत्र से अपने साथ लाये थे। समग्र भिक्षु प्रायः एक ही सम्प्रदाय के थे और वह सम्प्रदाय था सर्वास्तिवाद। बड़े परिश्रम से इन लोगों ने बौद्धधर्म के विशिष्ट सिद्धान्तों पर अपने मत निश्चित किये, विरोधों का परिहार किया तथा त्रिपिटकों पर बड़ी भारी व्याख्या लिखी जो **'महाविभाषा'** के नाम से प्रसिद्ध है। चीनी भाषा में यह ग्रन्थ आज भी अपनी अद्वितीयता का परिचय दे रहा है। सुना जाता है कि संगीति की समाप्ति पर कनिष्क ने सब भाष्यों को ताम्रपट पर लिखवाया और उन्हें इस कार्य के लिए निर्मित विशिष्ट स्तूप के नीचे गड़वा दिया। सम्भव है कि ये ग्रन्थरत्न आज भी काश्मीर में कहीं जमीन के नीचे गड़े हों और कभी खुदाई में निकल आवें, परन्तु अभी तक इस स्तूप का पता नहीं चलता। अनन्तर कनिष्क ने काश्मीर के राज्य को संघ के जिम्मे सुपुर्द कर दिया और स्वयं पेशावर लौट गया। १०० ई० के आसपास इस संगीति का समय माना जा सकता है। इन्हीं संगीतियों के कारण बुद्धधर्म में सुव्यवस्था दीख पड़ती है। इनके अभाव में तो न जाने उसकी क्या दशा हुई रहती।

दार्शनिक विकास

बौद्धधर्म तथा दर्शन के इतिहास पर यदि हम एक विहङ्गम दृष्टि डालें, तो हमें अनेक ज्ञातव्य तथ्यों का परिचय प्राप्त होता है। विक्रमपूर्व षष्ठ शतक से लेकर वि० पू० तृतीय शतक तक **स्थविरवाद** की प्रधानता उपलब्ध होती है। महाराज अशोकवर्धन के समय बौद्धधर्म को पूर्ण रूप से राजाश्रय प्राप्त हुआ। राजा ने इसे अपना व्यक्तिगत धर्म ही नहीं बनाया, प्रत्युत इसे विश्वव्यापी धर्म बनाने के लिए उस ने अश्रान्त परिश्रम किया। इस कार्य में अशोक को पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई। अशोक ने थेरवाद को ही अपनाया और उसे ही बुद्ध का माननीय सिद्धान्त मानकर प्रचारित भी किया। विक्रम के आरम्भकाल तक यही स्थिति रही।

---

१. मंगोलदेशीय ग्रन्थकारों के अनुसार यह सभा काश्मीर के ही अन्तर्गत जालन्धर में हुई थी। (स्मिथ—अर्ली इण्डिया पृ० २६७-६९)

विक्रम के द्वितीय शतक में कुषाण नरेश कनिष्क के समय स्थिति बदलती है। स्थविरवाद के स्थान पर 'सर्वास्तिवाद' ही माननीय सिद्धान्त के रूप में गृहीत तथा प्रचारित होने लगता है। चतुर्थ संगीति के समय से सर्वास्तिवाद (या वैभाषिक) मत का प्रभुत्व देशव्यापी हो जाता है। कनिष्क ने इसे अपनाया तथा उत्तरी देशों में इसी के प्रचारक भेजकर इसका विस्तार किया। चीन देश में यह सर्वास्तिवाद इसी समय गया। स्मरण रखने की बात है कि चीन देश की भाषा में ही वैभाषिकों का विशाल साहित्य आज भी सुरक्षित है। मूलतः यह साहित्य संस्कृत में ही था, परन्तु अनादृत होने से संस्कृतमूल सर्वथा विलुप्त हो गया। पंचम शतक में भी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा कुमारगुप्त के राज्यकाल में, सर्वास्तिवाद ने खूब जोर पकड़ा। वसुबन्धु तथा स्थूलभद्र जैसे आचार्यों ने अपने नवीन पण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों से इसमें जीवनी शक्ति फूँक दी। कुछ दिनों तक यह मत अवश्य चमकता रहा, परन्तु यह चमक बुझते हुए दीपक के अन्तिम प्रकाश के समान ही प्रतीत हुई।

विक्रम के तृतीय शतक से बौद्धदार्शनिक जगत् में हमें नई स्फूर्ति के चिन्ह दिखलाई पड़ते हैं। सर्वास्तिवाद के एक छोर से हटकर हम सर्वशून्यत्ववाद के दूसरे छोर पर जा पहुँचते हैं और यह प्रस्थानमार्ग सौत्रान्तिकों के द्वारा आविष्कृत किया जाता है। इस शतक में हमें दो क्रान्तिकारी आचार्यों के दर्शन होते हैं—(१) आचार्य 'कुमारलात' का, जिन्होंने बाह्य अर्थ की सत्ता को प्रत्यक्षगम्य न मानकर अनुमानगम्य सिद्ध किया और दूसरे (२) आचार्य नागार्जुन का, जिन्होंने शून्य के सिद्धान्त को तार्किक रीति से प्रतिष्ठित किया। 'कुमारलात' सौत्रान्तिक मत के जन्मदाता हैं, तो 'नागार्जुन' माध्यमिक मत (शून्यवाद) के उद्‌भट प्रचारक हैं। अगली शताब्दियों में इन्हीं के मत की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है। कुमारलात का सिद्धान्त भारतीय बौद्धों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट न कर सका, परन्तु इनके एक शिष्य ने चीन देश में एक नवीन सम्प्रदाय की उद्भावना की। इस शिष्य का नाम था हरिवर्मा और इस सम्प्रदाय का नाम था 'सत्यसिद्धि-सम्प्रदाय'। हरिवर्मा के 'सत्यसिद्धिशास्त्र' नामक ग्रन्थ का चीनी अनुवाद (कुमारजीवकृत, ४०३ ई०) ही इस सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ है। अतः कुमारलात के क्रान्तिकारी होने में तनिक भी सन्देह नहीं। नागार्जुन की कीर्ति तो

दार्शनिक जगत् में एक प्रकार से अतुलनीय है। ये दार्शनिक तो थे ही, सिद्ध पुरुष भी थे। इनकी 'माध्यमिक कारिका' ने शून्यवाद को सदा के लिए दृढ़ तार्किक भित्ति पर खड़ा कर दिया। चतुर्थ—षष्ठ शतकों में इनके अनुयायियों में बड़े बड़े विद्वान् आचार्य हमें मिलते हैं।

विक्रम के पञ्चम शतक में बौद्ध सिद्धान्त सर्वशून्यत्व के एकान्तवाद से हट कर फिर पीछे की ओर जाता है, परन्तु वह बीच में टिक कर 'विज्ञान' को एकमात्र सत्ता स्वीकार कर लेता है। **विज्ञानवाद** के उदय का यही युग है। इस सिद्धान्त की उद्भावना तो की आचार्य मैत्रेयनाथ ने, पर उसे तर्क की दृढ़ नींव पर रखा आचार्य असंग और वसुबन्धु ने। वसुबन्धु के ही शिष्य आचार्य दिङ्नाग थे जिन्होंने 'प्रमाण समुच्चय' जैसा प्रौढ़ ग्रन्थ लिखकर बौद्ध न्याय का शिलान्यास रखा जिसे धर्मकीर्ति ने अपने 'प्रमाणवार्तिक' से मण्डित कर न्यायमन्दिर के ऊपर कलश रख दिया। गुप्तों का काल ब्राह्मण-साहित्य के ही उत्कर्ष का युग नहीं है, प्रत्युत बौद्ध-दर्शन की महती तथा चतुरस्र उन्नति का भी सुवर्ण युग है। पञ्चम शतक से लेकर अष्टम शतक तक शून्यवाद तथा विज्ञानवाद की उन्नति समान रूप से होती रही, पर शून्यवाद के सिद्धान्त को जनप्रिय तथा साधारणतया बोधगम्य न होने के कारण विज्ञानवाद ने अपना विशेष उत्कर्ष सम्पादन कर लिया। हर्षवर्धन के समय हमे नालन्दा विश्वविद्यालय में विज्ञानवाद का प्रकर्ष उपलब्ध होता है। धर्मकीर्ति हर्षकाल की ही विभूति थे। धर्मपाल नालन्दा विहार के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित होकर शून्यवाद तथा विज्ञानवाद दोनों मतों के प्रचार साधन में संलग्न थे।

विक्रम के अष्टम शतक में हम नालन्दा को ही बौद्ध दर्शन के केन्द्र रूप में पाते हैं। यहीं के आचार्यों के पास धर्म की शिक्षा लेने के लिए हम चीनी परिव्राजकों को आते हुए पाते हैं। ८००—१२०० ई० तक अर्थात् चार सौ वर्षों के इतिहास के लिए हमें नालन्दा तथा विक्रमशिला के इतिहास पर दृष्टिपात करना होगा। महायान का तान्त्रिक वज्रयान के रूप में परिवर्तन तथा विकास श्रीपर्वत (दक्षिण भारत) के पास ही सम्पन्न हुआ, पर उसका प्रचार पूर्वी भारत के विहारों के ही आचार्यों के द्वारा किया गया। तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रवेश इसी काल में हुआ। नालन्दा के ही वृद्ध आचार्य पद्मसंभव तथा शान्त रक्षित ने तिब्बत

के राजा थि-स्राङ्दे स्तान (७४३ ई०—७८९ ई०) के निमन्त्रण पर वहाँ जाना स्वीकार किया, अश्रान्त परिश्रम कर उन्होंने तिब्बत में बौद्धधर्म को प्रतिष्ठित किया। वज्रयान के प्रसिद्ध ८४ सिद्धों का आविर्भाव इन्हीं चार सौ वर्षों के भीतर हुआ। इस प्रकार कुछ ब्राह्मणों के उत्पीडन से और कुछ अपनी उदार नीति, विमल उपदेश तथा विश्वजनीन सन्देश के कारण बौद्धधर्म भारत के बाहर फैला, पूर्वी देशों पर इसने अपना प्रभुत्व जमा लिया और आज यह संसार भरमें सबसे अधिकसंख्यक मानवों का धर्म है। जगत् के इतिहास में इसका सांस्कृतिक मूल्य अनुपम है। इसने अन्धविश्वासियों को श्रद्धालु बनाया, ज्ञान तथा धर्म का प्रकाश देकर करोड़ों व्यक्तियों का इसने उद्धार का मार्ग बतलाया। सदाचार के अवलम्बन से मानव अपनी ही शक्ति से निर्वाण पा सकता है, यही बौद्धधर्म का भेरीनिनाद है।

पञ्चम-परिच्छेद

बुद्ध की धार्मिक शिक्षा

बुद्ध के व्यक्तित्व की परीक्षा करने पर यह बात स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है कि वे पूर्णतः बुद्धिवादी थे। इसका प्रधान कारण उस समय का कल्पना-प्रधान वातावरण था। वे किसी भी तथ्य को विश्वास की कच्ची नींव

बुद्धिवाद

पर रखना नहीं चाहते थे, प्रत्युत तर्कबुद्धि की कसौटी पर सब तत्त्वों को कसना उनकी शिक्षा का प्रधान उद्देश्य था। उन्होंने कालामों से उपदेश देते समय स्फुट शब्दों में कहा था कि किसी तथ्य को इसलिए मत मानों कि यह परम्परा से चला आता है, अथवा यह प्राचीनकाल में कहा गया था, अथवा यह धर्मग्रन्थ में कहा गया है, अथवा इसका उपदेष्टा गुरु तापस है, अथवा किसी वाद के लिए उसका ग्रहण करना समुचित है। इन कारणों से किसी भी तथ्य को ग्रहण मत करो, प्रत्युत इस कारण से ग्रहण करो कि वे धर्म कुशल (शुभप्रद) हैं तथा वे धर्म अनवद्य-अनिन्दनीय हैं, तथा ग्रहण करने पर उनका फल सुखद तथा हितप्रद होगा (अंगुत्तर निकाय)। भगवान् बुद्ध ने अपने अनुयायियों से कहा था कि जिस प्रकार चतुर पुरुष सोने को आग में गर्म करते हैं, उसे काटते हैं तथा कसौटी पर कसते हैं, इतनी परीक्षाओं से यदि वह खरा उतरता है, तभी उसे विशुद्ध मानते हैं। ठीक इसी तरह 'ये मेरे वचन हैं, अतः मान्य हैं' इस दृष्टि से इन्हें कभी न ग्रहण करो। उनकी स्वयं परीक्षा करो और खरी परीक्षा के बाद उसे मानो तथा उसके अनुसार आचरण करो—

> तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितः।
> परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्[1]॥

---

१. ज्ञानसार-समुच्चय (३१ वाँ श्लोक)। ज्ञानसार-समुच्चय आर्यदेव की रचना माना जाता है, परन्तु अभी तक इसका मूल संस्कृत उपलब्ध नहीं है। तिब्बती भाषा में अनुवाद है जिसे भारत के उपाध्याय कृष्णरव तथा तिब्बत के भिक्षु धर्मप्रज्ञ ने मिलकर संस्कृत से भाषान्तरित किया था। इस ग्रन्थ में केवल

बुद्ध ने तत्त्वानुसन्धान के प्रति अपने भावों को स्पष्टतः अभिव्यक्त किया है—बोधिसत्त्वको 'युक्तिशरण' होना चाहिए (अर्थात् युक्ति की सहायता से तथ्य का निर्णय करना चाहिए), 'पुद्गल-शरण न होना चाहिए—किसी भी पुरुष का आश्रय लेकर तथ्य को न ग्रहण करना चाहिए चाहे वह तथ्य स्थविर के द्वारा, तथागत के द्वारा, या संघ के द्वारा निर्णीत किया गया हो। युक्तिशरण होने से वह तत्त्वार्थ से विचलित नहीं होता और न वह दूसरों के विश्वास पर चलता है।

व्यावहारिकता

युक्तिवादी होने के अतिरिक्त बुद्ध नितान्त व्यावहारिक थे। केवल शुष्क तर्क के द्वारा दुरूह तत्त्वों की व्याख्या करना उनका उद्देश्य नहीं था। आध्यात्मिकता की बाढ़ उनके युग में बहुत ही अधिक थी। इन मतों के अनुयायी तथ्यों के विषय में नाना प्रकार की ऊटपटांग युक्तियों का प्रदर्शन कर अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझ बैठे थे, परन्तु बुद्ध के लिए यह आचरण नितान्त अनुचित था। जिस प्रकार वैद्य रोगी को आवश्यकता के अनुसार निदान और औषध बतला देता है, उसी प्रकार भवरोग के रोगी प्राणियों के लिए बुद्ध ने आवश्यक वस्तुएँ बतला दी थीं। अनावश्यक वस्तु के विषय में बारम्बार प्रश्न किये जाने पर भी वे सर्वथा मौन हो जाते थे। व्यर्थ की बातों की मीमांसा करने की अपेक्षा मौनावलम्बन श्रेयस्कर है। जब उनके उपदेशों में कभी कोई इन 'अतिप्रश्नों' के विषय में प्रश्न कर बैठता था, तब बुद्ध मौन हो जाया करते थे। यह जगत् नित्य है या अनित्य? यह लोक सान्त है या अनन्त? जीव तथा शरीर एक हैं या भिन्न? आदि प्रश्न इसी कोटि के थे। इन प्रश्नों को वे **अव्याकृत** (अनिर्वचनीय) कहा करते थे। आशय है कि इन प्रश्नों की मीमांसा नहीं हो सकती।

श्रावस्ती के जेतवन मे विहार के अवसर पर मालुंक्यपुत्र ने बुद्ध से लोक के शाश्वत-अशाश्वत, अन्तवान्-अनन्त होने तथा जीव-देह की भिन्नता-अभि-

---

३८ कारिकायें हैं जिनमें कुछ सुभाषित—संग्रह में उद्धृत हैं। उपर्युक्त कारिका तत्त्वसमासपंजिका (पृ० १२, ८७८ में) उद्धृत की गई है। हरिभद्र ने उपदेष्टा के प्रति ऐसा ही भाव अभिव्यक्त किया है :—

पक्षपातो न नो वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

नता के विषय में दस मेण्डक प्रश्नों को पूछा था। परन्तु बुद्ध

अव्याकृत प्रश्न ने 'अव्याकृत' बतला कर उसकी जिज्ञासा शान्त की[1]। इसी प्रकार पोट्ठपाद परिव्राजक ने जब ऐसे ही प्रश्न किए, तब बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में अपना अभिप्राय व्यक्त किया—'न यह अर्थयुक्त है, न धर्मयुक्त, न आदि ब्रह्मचर्य के लिए उपयुक्त, न निर्वेद के लिए, न विराग के लिए, न निरोध (क्लेश-नाश) के लिए, न उपशम के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न संबोधि (परमार्थ ज्ञान) के लिए और न निर्वाण के लिए है। इसीलिए मैंने इसे अव्याकृत कहा है तथा मैंने व्याकृत किया है दुःख के हेतु को, दुःख के निरोध को तथा दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपत् (मार्ग) को[2]। इस विषय को स्पष्ट रखने के लिए उन्होंने बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त उपस्थित किये हैं। उनका कहना था—भिक्षुओं, जैसे किसी आदमी को विषसे बुझा हुआ तीर लगा हो। उसके बन्धु बान्धव उसे तीर निकालने वाले वैद्य के पास ले जाँय। लेकिन वह कहे कि मैं तब तक तीर न निकलवाऊँगा, जब तक यह न जान लूँ कि जिस आदमी ने मुझे तीर मारा है, वह क्षत्रिय है, ब्राह्मण है, वैश्य है, या शूद्र है; जब तक यह न जान लूँ कि तीर मारनेवाले का अमुक नाम है, अमुक गोत्र है; अथवा वह लम्बा है, बड़ा है, छोटा है या मझले कद का है, तो हे भिक्षुओं, उस आदमी को इसका पता लगेगा हो नहीं और वह योंही मर जायेगा[3]। आशय है कि विषदिग्ध बाण से विद्ध व्यक्ति के लिए तीर मारने वाले पुरुष के रंग-रूप, नाम-गोत्र, आदि की जानकारी के लिए आग्रह करना तथा बिना इन्हें जाने अपनी दवा कराने से विमुख होना जिस तरह परले दर्जे की मूर्खता है, उसी तरह भव-रोग के रोगियों की दशा है। रोग के कारण वे बेचैन हैं, उन्हें उसकी चिकित्सा करनी चाहिए, भव-रोग के विषय में अनर्थक बातों का उधेड़बुन करना उनके लिए नितान्त अनावश्यक है।

आध्यात्मिक विषयों में बुद्ध के मौनावलम्बन का क्या रहस्य है? इसका कारण ऊपर बतलाया गया है कि ये विषय अव्याकृत हैं—शब्दतः इनका विचरण

---

१. द्रष्टव्य चूलमालुंक्यसुत्त (६३), मज्झिम निकाय (अनु०) पृ० २५१–५३

२. द्रष्टव्य पोट्ठपादसुत्त (११९), दीघनिकाय पृ० ७१।

३. दीघनिकाय पृ० २८।

नहीं हो सकता। बौद्ध ग्रन्थों के अनुशीलन से इसके अन्य कारण भी बतलाये जा सकते हैं। बुद्धधर्म मध्यम प्रतिपदा—मध्यम मार्ग—का प्रतिनिधि है, वह दो अन्तों को छोड़कर मध्य मार्ग पर चलना श्रेयस्कर मानता है। उन प्रश्नों का उत्तर यदि सत्तात्मक दिया जाय, तो यह होगा शाश्वतवाद (आत्मा को नित्य मानने वाले व्यक्तियों का मत) और यदि निषेधात्मक दिया जाय, तो[1] यह होगा उच्छेदवाद (आत्मा को नश्वर मानने वालों का मत)। बुद्ध को दोनों ही मत अमान्य हैं[2]। ऐसी दशा में उत्तर देने से असत्य का ही प्रतिपादन होता। यही समझकर बुद्ध ने अतिप्रश्नों के उत्तर के अवसर पर मौन ग्रहण किया होगा, यह कल्पना अनुचित नहीं प्रतीत होती।

बुद्ध के मौनावलम्बन का कारण

आध्यात्मिक तत्त्वों को लेकर प्राचीन विद्वानों ने बड़ी मीमांसा की है। उन्हीं के विषय में बुद्ध का मौन होना कम आश्चर्य की घटना नहीं है। धार्मिक जगत् में यह एक अचरजभरी बात है। इसकी मीमांसा आधुनिक तथा प्राचीन विद्वानों ने अपने अपने ढंग से भिन्न रूप से की है। प्रश्न यह है कि क्या बुद्ध ने इन तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त ही न किया था? क्या वे इन विषयों से नितान्त अनभिज्ञ थे? अथवा यदि वे अभिज्ञ थे, तो उन्होंने इनके स्पष्ट उत्तर देने में मौनभाव का आश्रय क्यों लिया? बोधिवृक्ष के नीचे तीव्र समाधि लगाने पर बुद्ध को सम्यक् संबोधि प्राप्त हुई थी। अतः उनके हृदय में इन आवश्यक विषयों का अज्ञान बना हुआ था, यह मानना विश्वासयोग्य प्रतीत नहीं होता। बुद्ध निःस्पृह पुरुष थे। उन्होंने जान-बूझकर शिष्यों को आकृष्ट करने के लिए अनजाने तत्त्वों का उपदेश दिया, इसे कोई भी विचारशील पुरुष मानने के लिए तैयार नहीं हो सकता। मरते समय उन्होंने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से स्पष्टतः स्वीकार किया था कि उन्होंने आन्तर तत्त्व तथा बाह्य तत्त्वों में बिना अन्तर किये (अनन्तरं अबाहिरं कत्वा) ही सत्य का उपदेश दिया है। अपने शिष्यों से उन्होंने सत्य के विषय

---

१. अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः॥
(माध्यमिक कारिका १५।१०)

२. शाश्वतोच्छेदनिर्मुक्तं तत्त्वं सौगतसम्मतम्॥ (अद्वय वज्रसंग्रह पृ० ६२)

में कोई बात छिपा नहीं रखी है। अतः उनके ऊपर अज्ञान या जान-बूझकर किसी बात को छिपा रखने का दोष लगाना सरासर मिथ्या है।

प्रश्न के चार प्रकार

बुद्ध के मौनावलम्बन की मीमांसा मिलिन्द प्रश्न में बड़े सुन्दर ढंग से की गई है। मिलिन्द को भी ऐसा ही सन्देह था जैसा हमने ऊपर निर्देश किया है। इसके उत्तर में नागसेन का कहना था—महाराज, भगवान् ने यथार्थ में आनन्द से कहा था कि बुद्ध बिना कुछ छिपाये धर्मोपदेश करते हैं और यह भी सच है कि मालुंक्यपुत्र के प्रश्न पर उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया था। किन्तु न तो यह अज्ञान के वश था और न छिपाने की इच्छा के कारण था। प्रश्न चार प्रकार के होते हैं :—

(१) **एकांशव्याकरणीय**—(जिनका उत्तर सीधे तौर से दिया जा सकता है) जैसे 'क्या प्राणी जो उत्पन्न हुआ है मरेगा ?' उत्तर हाँ।

(२) **विभज्य-व्याकरणीय**—(जिनका उत्तर विभक्त करके दिया जाता है) जैसे—'क्या मृत्यु के अनन्तर प्रत्येक प्राणी जन्म लेता है' ? उत्तर—क्लेश से विमुक्त प्राणी जन्म नहीं लेता और क्लेशयुक्त प्राणी जन्म लेता है।

(३) **प्रतिपृच्छाव्याकरणीय**—(जिनका उत्तर एक दूसरा प्रश्न पूछकर दिया जाता है)। जैसे—'क्या मनुष्य उत्तम है या अधम है ?' इस पर पूछना पड़ेगा कि किसके सम्बन्ध में ? यदि पशुओं के सम्बन्ध में यह प्रश्न है तो मनुष्य उनसे उत्तम है। यदि देवताओं के सम्बन्ध में यह प्रश्न है तो वह उनसे अधम है।

(४) **स्थापनीय**—वे प्रश्न जिनका उत्तर उन्हें बिल्कुल छोड़ देने से ही दिया जाता है। जैसे—क्या पञ्च-स्कन्ध तथा जीवित प्राणी (सत्त्व) एक ही हैं। इस प्रश्न को छोड़ देने में ही इसका उत्तर दिया जा सकता है, क्योंकि बुद्ध धर्म के अनुसार कोई सत्त्व नहीं है। मालुंक्यपुत्र के प्रश्न इसी चतुर्थ कोटि के थे। इसीलिए भगवान् बुद्ध ने उनका उत्तर शब्दतः नहीं दिया, प्रत्युत मौन का आयश्रण करके ही दिया[1]।

---

१. मिलिन्द प्रश्न (हिन्दी अनु॰ पृ॰ १७८—१८०)। इन चार प्रश्नों का निर्देश अभिधर्मकोश तथा लंकावतारसूत्र में इस प्रकार है—

वेद का मौनावलम्बन

अनक्षरतत्त्व के विषय में वैदिक ऋषियों ने जिस मौन मार्ग का अवलम्बन किया था, तथागत ने उसी का अनुगमन किया। जगत् तथा इसके मूल कारण के स्वरूप का निर्णय करना इतना दुरूह है कि उनके विषय में वैदिक ऋषियों ने मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर बतलाया है। 'केन उपनिषद' ने निर्विशेष ब्रह्म के विषय में स्पष्ट कहा है कि जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता, परन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है, उसे ही ब्रह्म जानो। जिस देशकाल से अवच्छिन्न वस्तु की लोक उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है (१।४)। उस निर्विशेष ब्रह्म तक नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, वाणी नहीं जाती,, मन नहीं जाता। अतः जिस प्रकार इस ब्रह्म का उपदेश शिष्य को करना चाहिए, यह हम नहीं जानते। वह विदित वस्तु से अन्य है तथा अविदित से परे है, ऐसा हमने पूर्व पुरुषों से सुना है जिन्होंने हमारे प्रति उसका व्याख्यान किया[1]। तैत्तिरीय उप० (२।४१) का स्पष्ट कथन है कि मन के साथ वचन वहाँ जाकर लौट आते हैं, वही वह परमतत्त्व है (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह) बृहदारण्यक में उस परमतत्त्व के लिए नेति, नेति (यह नहीं, यह नहीं) का प्रयोग उपलब्ध होता है। आचार्य शंकर ने शांकरभाष्य (३।२।१७) में 'वाष्कलि' ऋषि के विषय में एक प्राचीन उक्ति उद्धृत की है। वाष्कलि ऋषि बाध्व ऋषि के पास ब्रह्म के व्याख्यान के

एकांशेन विभागेन पृच्छातः स्थापनीयतः।
व्याकृतं मरणोत्पत्ती विशिष्टात्मान्यतादिवत् ॥
(अभि० कोश ५।२२)

चतुर्विधं व्याकरणमेकांशं परिपृच्छनम्।
विभज्यं स्थापनीयं च तीर्थवादनिवारणम् ॥
(लंका० सू० २।१७३)

१. न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजायनीमो यथैतदनुशिष्यात्।

अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे। (केन १।३)

निमित्त गए। ब्रह्म के विषय में पूछा। इस पर बाध्व बिल्कुल मौन रहे। दूसरी बार पूछा, फिर भी वही मौनभाव। तीसरी बार पूछा, फिर भी वही **मौनमुद्रा**। इस बार बाध्व ने कहा कि मैं बारबार आपके प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ? आप उसे समझ नहीं रहे हैं। यह आत्मा उपशान्त है[1]। शब्दतः उसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती। तूष्णींभाव के द्वारा सत्य की व्याख्या का रहस्य आचार्य शंकर के इस प्रसिद्ध पद्य में भी हमें उपलब्ध होता है—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्नसंशयाः॥

(दक्षिणामूर्तिस्तोत्र)

आश्चर्य की बात है कि वटवृक्ष के नीचे वृद्ध शिष्य है तथा गुरु का व्याख्यान मौन है और शिष्य का संशय छिन्न हो गया है!

अनक्षर तत्त्व

बौद्ध ग्रन्थों में इसी प्रकार के विचार अनेकत्र उपलब्ध होते हैं। महायान-विंशक (श्लोक १) में नागार्जुन ने परमतत्त्व को 'वाचाऽवाच्यम्' 'वचन के द्वारा अकथनीय' कहा है। बोधिचर्यावतार (पृ० ३६५) ने बुद्धप्रतिपादित धर्म को अनक्षर (अक्षरों के द्वारा अप्रतिपाद्य) बतलाया है—अनक्षरधर्म का श्रवण कैसे हो सकता है? उसका उपदेश कैसे हो सकता है? उस अनक्षर के ऊपर अनेक धर्मों का समारोप करके ही उसका श्रवण तथा उपदेश लोक में किया जाता है[2]।

अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।
श्रूयते देश्यते चापि समारोपादनक्षरः॥

इसी प्रकार लंकावतार सूत्र (पृ० १४३-१४४) में अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि बुद्ध ने कभी उपदेश ही नहीं दिया। अवचनं बुद्धवचनम्। जिस

---

१. ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा (शां० भा० ३।२।१७)

२. वेदान्त का भी यही कथन है कि ब्रह्म स्वयं निष्प्रपञ्च है परन्तु अध्यारोप तथा अपवाद के द्वारा उसका प्रपञ्चन (व्याख्यान) किया जाता है। इन दोनों का सहारा लिए बिना उसका व्याख्यान ही नहीं हो सकता। 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते॥'

रात्रि में वे पैदा हुए और जिस दिन उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया इन दोनों के बीच में उन्होंने किसी उपदेश का प्रकाशन नहीं किया। जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी मार्ग से नगर में प्रवेश कर वहाँ की विचित्रता देखता है वह मार्ग उसके द्वारा निर्मित नहीं होता, प्रत्युत वह पूर्व से ही उपलब्ध होता है। उसी प्रकार बुद्ध का मार्ग पूर्वनिर्मित है, उनके द्वारा उद्भावित नहीं होता। बुद्ध के द्वारा अधिगत तथ्य 'भूतता' अथवा 'तथता' (सत्यता) हैं जो सदा विद्यमान रहता है[1]।

आचार्य नागार्जुन ने अपने 'निरुपमस्तव' में भी इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की है—हे विभो, आपने एक भी अक्षर का उच्चारण नहीं किया है, परन्तु आपने विनेय जनों को धर्म की वर्षा कर सन्तुष्ट कर दिया है—

नोदाहृतं त्वया किञ्चिदेकमप्यक्षरं विभो।
कृत्स्नश्च विनेयजनो धर्मवर्षेण तर्पितः[2]॥ ७॥

आर्य असंग ने 'महायान सूत्रालंकार' (१२।२) में कहा है कि भगवान् बुद्ध ने किसी धर्म की देशना नहीं की। धर्म तो प्रत्यात्मवेद्य है—प्रत्येक प्राणी के अनुभव की वस्तु है। परन्तु युक्त-उचित रूप से विदित धर्मों के द्वारा समस्त जनता को बुद्धने अपनी ओर आकृष्ट किया है :—

धर्मो नैव च देशितो भगवता प्रत्यात्मवेद्यो यतः।
आकृष्टा जनता च युक्तविहितैर्धर्मैः स्वकीं धर्मताम्॥

इसी कारण माध्यमिकमत के उत्कृष्ट व्याख्याता आचार्य चन्द्रकीर्ति ने बड़े संक्षेप में तत्त्व की बात कही है कि आर्यों के लिए परमार्थ मौनरूप है। परमार्थो

---

१. एवमेव महामते यन्मया तैश्च तथागतैरधिगतं स्थितैवैषा धर्मता धर्मस्थितिता, धर्मनियामता, तथता, भूतता, सत्यता।

यस्यां च रात्र्यां धिगमो यस्यां च परिनिर्वृतः।
एतस्मिन्नन्तरे नास्ति मया किञ्चित् प्रकाशितम्॥

(लंकावतार पृ० १४४)

२. अद्वयवज्र ने तत्त्वरत्नावली में इसे उद्धृत किया है। (द्रष्टव्य अद्वयवज्र संग्रह पृ० २२, बड़ोदा)

हि आर्याणां तूष्णींभावः (माध्यमिक वृत्ति पृ० ५६)। लंकावतार का कहना है— न मौनैः तथागतैर्भाषितम् । मौना हि भगवन्तः तथागताः । तथागत (बुद्ध) सदा मौन थे । उन्होंने किसी बात का कथन नहीं किया ।

इन सब कथनों के अनुशीलन से किसी भी आलोचक को यह प्रतीत हो सकता है कि बुद्ध का किन्ही आध्यात्मिक तत्त्वों के व्याख्यान में मौनावलम्बन, उनके अज्ञान का सूचक नहीं है और न ज्ञात वस्तु के अप्रकटित रखने का भाव है, प्रत्युत परमार्थ के 'अनक्षर' होने के कारण उनका तूष्णींभाव नितान्त युक्तियुक्त है। इस विषय में उन्होंने प्राचीन ऋषियों के दृष्टान्त तथा परम्परा को ही अंगीकृत किया है।

षष्ठ परिच्छेद

आर्य सत्य

कर्तव्यशास्त्र की दृष्टि से बुद्ध ने चार सत्यों का पता लगाया है। इन्हीं सत्यों के सम्यक् ज्ञान के कारण उन्हें संबोधि प्राप्त हुई। इन सत्यों का नाम 'आर्य सत्य' है अर्थात् वह सत्य जिन्हें आर्य (अर्हत्) लोग ही भलीभाँति जान सकते हैं। सत्यों की संख्या अनन्त है, परन्तु अत्यधिक महत्त्वशाली होने के कारण ये सत्य सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। चन्द्रकीर्ति के कथनानुसार इन सत्यों को 'आर्य' कहने का अभिप्राय यह है कि आर्य जन-विद्वज्जन ही इन सत्यों के तह तक पहुँच सकते हैं। पामर जन जीते हैं, मरते हैं तथा दुःखमय जगत् का प्रतिक्षण अनुभव भी करते हैं, परन्तु इन सत्यों को खोज निकालने में वे कथमपि समर्थ नहीं होते। ऊनका डोरा हथेली पर रखने से किसी भी तरह की तकलीक नहीं पैदा करता, परन्तु आँख में पड़ते ही पीड़ा उत्पन्न करता है। पामर जन हथेली के समान हैं तथा आर्यजन आँख की तरह हैं[1]। आर्यों के हृदय में ही इन दुःखों से आघात पहुँचता है, परन्तु साधारण जन रात दिन उन्हीं में पचते मरते हैं, परन्तु फिर भी उनके हृदय में इनके रहस्य समझने की योग्यता नहीं होती।

आर्य सत्य चार हैं—

(१) दुःखम्—इस संसार का जीवन दुःख से परिपूर्ण है।

(२) समुदयः—इस दुःख का कारण विद्यमान है।

(३) निरोधः—इस दुःख से वास्तविक मुक्ति मिलती है।

(४) निरोधगामिनी प्रतिपद—दुःखों के नाश (निरोध) के लिए वस्तुतः मार्ग (प्रतिपद्) है जिसके अवलम्बन करने से जीव संसार में विद्यमान दुःख का

---

१. ऊर्णापक्ष्म यथैव हि करतलसंस्थं न विद्यते पुंभिः।
अक्षिगतं तु तदेव हि जनयत्यरतिं च पीडां च॥
करतलसदृशो बालो न वेत्ति संस्कारदुःखतापक्ष्म।
अक्षि सदृशस्तु विद्वान् तेनैवोद्वेजते गाढम्॥
(माध्यमिक कारिका वृत्ति पृ० ४७६)

सर्वथा तथा सर्वदा निरोध कर सकता है। कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध ने इन सत्यों का आविष्कार किया, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इन तथ्यों का उद्घाटन बहुत पहले ही भारतीय आध्यात्मिक वेत्ताओं ने कर दिया था। व्यास[१] तथा विज्ञानभिक्षु[२] का स्पष्ट कथन है कि अध्यात्मशास्त्र चिकित्साशास्त्र के समान चतुर्व्यूह है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगहेतु (कारण), आरोग्य (रोग का नाश) तथा भैषज्य (रोग को दूर करने की दवा) है, उसी भाँति दर्शनशास्त्र में संसार (दुःख), संसारहेतु (दुःख का कारण), मोक्ष (दुःख का नाश) तथा मोक्षोपाय, ये चार सत्य माने जाते हैं। जिस प्रकार वैद्य अपनी दवा के प्रयोग से रोगी के रोग का नाश कर देता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी भी उपाय बतलाकर संसार के दुःख नाश कर देता है। वैद्यक शास्त्र की इस समता के कारण बुद्ध महाभिषक्—वैद्यराज—बतलाये गये हैं। बौद्ध साहित्य में अनेक सूत्रग्रन्थ हैं जिनमें बुद्ध को इसी अभिधान से संकेत किया गया है[३]।

(क) दुःखम्

संसार का दिन-प्रतिदिन का अनुभव स्पष्टतः बतलाता है कि यहाँ सर्वत्र दुःख का राज्य है। जिधर दृष्टि डालिए, उधर ही दुःख दिखलाई पड़ता है। इस बात का अपलाप कथमपि नहीं हो सकता है। दुःख की व्याख्या करते समय तथागत का कथन है--

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं अरिय सच्चं। जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा मरणाम्पि दुक्खं, सोक-परिदेव-दोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो

---

१. यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं--रोगो, रोगहेतुः, आरोग्यं, भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्--तद् यथा संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति।
(व्यासभाष्य २।१५)

२. सांख्य प्रवचनभाष्य पृ० ६।

३. 'भैषज्य गुरु' नामक बुद्ध की उपासना चीन तथा जापान में सर्वत्र प्रसिद्ध है। इस उपासना का प्रतिपादक सूत्र है 'भैषज्यगुरु वैदूर्यप्रभराज सूत्र', जिसका अनुवाद चीनी तथा तिब्बती भाषा में उपलब्ध होता है। इसमें बुद्ध के १२ प्रणिधान (व्रत) का तथा धारिणी का वर्णन है। सौभाग्यवश इसका मूल संस्कृत भी अभी प्रकाशित हुआ है। (द्रष्टव्य Dutt—Gilgit Mss. Vol. I, 1940, Galcutta.)

दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि 'दुक्खं, संखित्तेन पञ्चूपादानक्खन्धापि दुक्खा ॥

हे भिक्षुगण, दुःख प्रथम आर्यसत्य है। जन्म भी दुःख है। वृद्धावस्था भी दुःख है। मरण भी दुःख है। शोक, परिदेवना, दौर्मनस्य (उदासीनता) उपायास (आयास, हैरानी) सब दुःख है। अप्रिय वस्तु के साथ समागम दुःख है। प्रिय के साथ वियोग भी दुःख है। ईप्सित वस्तु का न मिलना भी दुःख है। संक्षेप में कह सकते हैं कि राग के द्वारा उत्पन्न पाँचों स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) भी दुःख हैं। आशय है कि जगत् के प्रत्येक कार्य, प्रत्येक घटना में दुःख की सत्ता बनी हुई है। प्रियतमा जिस प्रिय के समागम को अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य मान कर नितान्त आनन्दमग्न रहती है, उस प्रियतम से भी एक न एक दिन वियोग होना आवश्यम्भावी है। जिस द्रव्य के लिए मानवमात्र इतना परिश्रम करता है, उसकी भी प्राप्ति नितान्त कष्टकारक है। अर्थ के उपार्जन में दुःख, रक्षण में दुःख तथा व्यय में भी दुःख है, तब अर्थको सुखकारक कैसे कहा जाय ? धम्मपद का कथन नितान्त युक्तियुक्त है कि यह संसार जलते हुए घर के समान है, तब इसमें हँसी क्या हो सकती है ? और आनन्द कौन सा मनाया जाय ?

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।

(धम्मपद; गाथा १४६)

यह संसार भव-ज्वाला से प्रदीप्त भवन के समान है, परन्तु मूढ़ जन इस स्वरूप को न जानकर ही तरह तरह के भोग विलास की सामग्री एकत्र करते हैं, परन्तु इससे क्या होता है ? देखते देखते बालू की भीत के समान विशाल सौख्य का प्रासाद पृथ्वी पर लोटने लगता है, उसके कण-कण छिन्न भिन्न होकर बिखर जाते हैं। परिश्रम तथा प्रयास से तैयार की गई भोग-सामग्री सुख न पैदाकर दुःख ही पैदा करती है। अतः इस संसार में प्रथम सत्य दुःख ही प्रतीत होता है। साधारण जन इसे प्रतिदिन अनुभव करते हैं, परन्तु उससे उद्विग्न नहीं होते। साधारण घटना समझकर उसके आगे अपना सिर झुका देते हैं, परन्तु बुद्ध का अनुभव नितान्त सच्चा है--उनका उद्वेग वास्तविक है। महर्षि पतञ्जलि ने स्पष्ट कहा है--दुःखमेव सर्वं विवेकिनः (योगसूत्र २।१५) विवेकी पुरुष की दृष्टि में यह समग्र संसार ही दुःख है। बुद्ध की भी यही दृष्टि थी।

(ख) दुःखसमुदयः

द्वितीय आर्य सत्य है—दुःखसमुदय। समुदय का अर्थ है—कारण। अतः दूसरा सत्य है—दुःख का कारण। बिना कारण के कार्य उत्पन्न नहीं होता। कार्य-कारण का नियम अच्छेद्य है। जब दुःख कार्य है, तब उसका कारण भी अवश्य ही होगा। दुःख का हेतु है—तृष्णा। भगवान् बुद्ध के शब्दों में[1]—

'इदं खो पन भिक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं। योयं तण्हा पोनब्भविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी सेयमीदं कामतण्हा, भवतण्हा विभवतण्हा'।

हे भिक्षुगण, दुःखसमुदय दूसरा आर्यसत्य है। दुःख का वास्तव हेतु तृष्णा है जो बारंबार प्राणियों को उत्पन्न करती है (पौनर्भविका), विषयों के राग से युक्त है तथा उन विषयों का अभिनन्दन करनेवाली है। यहाँ और वहाँ सर्वत्र अपनी तृप्ति खोजती रहती है। यह तृष्णा तीन प्रकार की है—कामतृष्णा; भव-तृष्णा तथा विभवतृष्णा। संक्षेप में दुःख-समुदय का यही स्वरूप है।

दुःख की उत्पत्ति का कारण है तृष्णा-प्यास-विषयों की प्यास। यदि विषयों के पाने की प्यास हमारे हृदय में न हो, तो हम इस संसार में न पड़े और न दुःख भोगें। तृष्णा सबसे बड़ा बन्धन है जो हमें संसार तथा संसार के जीवों से बाँधे हुए है। 'धीर विद्वान् पुरुष लोहे, लकड़ी तथा रस्सी के बन्धन को दृढ़ नहीं मानते। वस्तुतः दृढ़ बन्धन है—सारवान् पदार्थों में रक्त होना या मणि, कुण्डल, पुत्र तथा स्त्री में इच्छा का होना'। धम्मपद का यह कथन[2] बिलकुल ठीक है। मकड़ी जिस प्रकार अपने ही जाल बुनती है और अपने ही उसी में बँधी रहती है। संसार के जीवों की दशा ठीक ऐसी ही है[3]। वे लोग तृष्णा से नाना प्रकार के विषयों में राग उत्पन्न करते हैं और इन्हीं राग के बन्धन में, जो उनके ही

---

१. मज्झिमनिकाय—महाहत्थिपदोपमसुत्त।

२. न तं दलं बन्धनमाहु धीरा, यदायसं दारुजं पब्बजं च।
सारत्तरत्ता मणिकुंडलेसु, पुत्तसु दारेसु च या अपेक्खा॥
(धम्मपद, ३४५ गाथा)

३. ये रागरत्ता नु पतंति सीतं, सयं कतं मक्कटका व जालं।
(धम्मपद ३४७ गाथा)

उत्पन्न किये हुए हैं, अपने को बाँध कर दिनरात बन्धन का कष्ट उठाते हैं। यह तृष्णा तीन प्रकार की ऊपर बतलाई गई है--

(१) **कामतृष्णा**—जो तृष्णा नाना प्रकार के विषयों की कामना करती है।

(२) **भवतृष्णा**—भव = संसार या जन्म। इस संसार की सत्ता बनाये रखने वाली तृष्णा। इस संसार की स्थिति के कारण हमीं हैं। हमारी तृष्णा ही इस संसार को उत्पन्न किये हुए है। संसार के रहने पर ही हमारी सुखवासना चरितार्थ होती है। अतः इस संसार की तृष्णा भी तृष्णा का ही एक प्रकार है।

(३) **विभव तृष्णा**—'विभव' का अर्थ है उच्छेद, संसार का नाश। संसार के नाश की इच्छा उसी प्रकार दुःख उत्पन्न करती है, जिस प्रकार उसके शाश्वत होने की अभिलाषा। जो लोग संसार को नाशवान् समझते हैं, वे चार्वाकपन्थ पथिक बनकर ऋण लेकर भी घृत पीते हैं। जीवन को सुखमय बनाना ही उनका उद्देश्य होता है। वे इस चिन्ता से तनिक भी विचलित नहीं होते कि उन्हें ऋण चुकाना पड़ेगा। जब यह देह भस्म की ढेर बन जाती है, तब कौन किसे ऋण चुकाने आता है? संसार के उच्छेदवाद का यही चरम अवसान है जिसके ऊपर चार्वाकपन्थियों का यह मूलमन्त्र अवलम्बित है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

यही तृष्णा जगत् के समस्त विद्रोह तथा विरोध की जननी है। इसी के कारण राजा राजा से लड़ता है, क्षत्रिय क्षत्रिय से लड़ता है, ब्राह्मण ब्राह्मण से लड़ता है; माता पुत्र से लड़ती है और लड़का भी माता से लड़ता है आदि। समस्त पापकर्मों का निदान यही तृष्णा है[1]। चोर इसीलिए चोरी करता है; कामुक इसी के लिए परस्त्रीगमन करता है, धनी इसी के लिये गरीबों को चूसता है। तृष्णा-मूलक यह संसार है। तृष्णा ही दुःख का कारण है। इसी का समुच्छेद करना प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है।

(ग) दुःखनिरोधः

तृतीय आर्यसत्य का नाम 'दुःखनिरोध' है। 'निरोध' शब्द का अर्थ नाश या त्याग है। यह सत्य बतलाता है कि दुःख का नाश होता है। दुःख की सत्ता

1. मज्झिम निकाय--महादुक्खखन्धसुत्त।

बतलाकर ही बुद्ध की शिक्षा का अन्त नहीं होता, प्रत्युत उनका उपदेश है कि इस दुःख का अन्त भी है। बुद्ध ने भिक्षुओं के सामने इस सत्य की इस प्रकार व्याख्या की--

'इदं खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोधं अरियसच्चं। सो तस्सायेव तण्हाय असेस-विरागनिरोधो चागो पटिनिस्सागो मुत्ति अनालयो।'

अर्थात् दुःखनिरोध आर्यसत्य उस तृष्णा से अशेष-सम्पूर्ण वैराग्य का नाम है; उस तृष्णा का त्याग, प्रतिसर्ग, मुक्ति तथा अनालय (स्थान न देना) यही है।

बुद्धधर्म की महती विशेषता है कार्यकारण के अटूट सम्बन्ध की स्वीकृति। जगत् की घटनाओं में यह सम्बन्ध सर्वत्र अनुस्यूत है। ऐसी कोई भी घटना नहीं है जिसके भीतर यह नियम जागरूक न हो। दुःख के कारण का ऊपर विवरण दिया गया है। उस कारण को यदि नष्ट कर दिया जाय, तो कार्य आपसे आप स्वतः नष्ट हो जायगा। अतः कार्य कारण का सम्बन्ध ही इस सत्य की सत्ता का पर्याप्त प्रमाण है।

दुःखनिरोध की ही लोकप्रिय संज्ञा 'निर्वाण' है। तृष्णा के नाश कर देने से इसी जीवन में, जीवित काल में ही, पुरुष उस अवस्था पर पहुँच जाता है जिसे निर्वाण के नाम से पुकारते हैं। निर्वाण के विषय में बुद्धधर्म के सम्प्रदायों में बड़ा मतभेद है जिसकी चर्चा आगे की जायगी। यहाँ इतना ही समझना पर्याप्त होगा कि 'निर्वाण' जीवन्मुक्ति का ही बौद्ध संकेत है। 'अंगुत्तर निकाय' में निर्वाण-प्राप्त पुरुष की उपमा शैल से दी गई है। प्रचण्ड झंझावात पर्वत को स्थान से च्युत नहीं कर सकता, भयंकर आँधी के चलने पर भी पर्वत एकरस, अडिग, अच्युत बना रहता है। ठीक यही दशा निर्वाणप्राप्त व्यक्ति की है[1]। रूप, रस गन्धादि विषयों के थपेड़े उसके ऊपर लगातार पड़ते रहते हैं, परन्तु उसके शान्त

---

१. सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं रूपा, रसा, सद्दा, गन्धा, फस्सा च केवला॥
इट्ठा धम्मा अनिट्ठा च, न पवेधेन्ति तादिनो।
ठितं चित्तं विप्पमुत्तं वसं यस्सानुपस्सति॥
(अंगुत्तर निकाय ३।५२)

चित्त को किसी प्रकार भी क्षुब्ध नहीं करते। आस्रवों से विरहित होकर वह पुरुष अखण्ड शान्ति का अनुभव करता है।

(घ) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्

'प्रतिपद्' का अर्थ है--मार्ग। यही चतुर्थ आर्यसत्य है जो दुःखनिरोध तक पहुँचानेवाला मार्ग है। गन्तव्य स्थान यदि है, तो उसका मार्ग भी अवश्य होगा। निर्वाण प्रत्येक प्राणी का गन्तव्य स्थान है, तो उसके लिए मार्ग की कल्पना भी न्यायसंगत है। इस मार्ग का नाम 'अष्टांगिक मार्ग' है। आठ अंग ये हैं--

(१) सम्यग्दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प	प्रज्ञा
(३) सम्यक् वाचा (४) सम्यक कर्मान्त (५) सम्यग् आजीविका	शील
(६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि	समाधि

'अष्टांगिक मार्ग'--बौद्धधर्म की आचारमीमांसा का चरम साधन है। इस मार्ग पर चलने से प्रत्येक व्यक्ति अपने दुःखों का हठात् नाश कर देता है तथा निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इसीलिए यह समस्त मार्गों में श्रेष्ठ माना गया है--मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो (मार्गाणामष्टांगिकः श्रेष्ठः) (धम्मपद २०।१)। जेतवन के पाँच सहस्र भिक्षुओं को उपदेश देते समय भगवान् बुद्ध ने अपने श्रीमुख से इसी मार्ग को ज्ञान की विशुद्धि के लिए तथा मार को मूर्छित करने के लिए आश्रयणीय बतलाया है--

एसो व मग्गो नत्थ ञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतं हि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं॥

(धम्मपद २०।२)

बुद्धधर्म के अनुसार प्रज्ञा, शील और समाधि ये तीन मुख्य साधन माने जाते हैं। अष्टांगिक मार्ग इसी साधनत्रय का पल्लवित रूप है। बुद्धधर्म में आचार

की प्रधानता है। तथागत निर्वाण के लिए तत्त्वज्ञान के जटिल मार्ग पर चलने की शिक्षा कभी नहीं देते, प्रत्युत तत्त्वज्ञान के विषम प्रश्नों के उत्तर में वे मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर समझते हैं। आचार पर ही उनका प्रधान लक्ष्य है! यदि अष्टाङ्गिक मार्ग का सम्यक् पालन किया जाय, बिना किसी मीनमेख के इसका यथोचित आश्रय लिया जाय, तो शान्ति अवश्य प्राप्त होगी। गौतम के उपदेशों का यही सार है। मार्ग पर आरूढ़ होना एकदम आवश्यक है। केवल शब्दतः इस मार्ग का आश्रय कभी उचित फल देने में समर्थ नहीं हो सकता। इसीलिए भगवान् बुद्धदेव ने स्पष्ट शब्दों में पञ्चसहस्र भिक्षुओं के संघ के सामने डंके की चोट अपने सिद्धान्त का सिंहनाद किया--

तुम्हेहि किच्चं आतप्पं[1] अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति झायिनो मारबन्धना[2]॥

हे भिक्षुओं, उद्योग तुम्हें करना होगा। उपदेश के श्रवणमात्र से दुःखनिरोध कथमपि नहीं हो सकता। उसके निमित्त आवश्यकता है उद्योग की। तथागत का कार्य तो केवल उपदेश देना है। मार्ग बतलाना मेरा काम है और उस मार्ग पर चलना तुम्हारा कार्य है। उस मार्ग पर आरूढ़ होकर, ध्यान में रत होनेवाले व्यक्ति ही मार के बन्धन से मुक्त होते हैं, अन्य पुरुष नहीं। इससे बढ़कर उद्योग तथा स्वावलम्बन की शिक्षा दूसरी कौन सी हो सकती है?

मध्यम प्रतिपदा

इस आचारमार्ग के आठों अङ्गों में 'सम्यक्' (ठीक, साधु, शोभन) विशेषण दिया गया है। विचार करना है कि इस सम्यक्ता की कसौटी क्या है? किस दशा में वचन सम्यक् कहा जाता है अथवा किस अवस्था में दृष्टि सम्यक् मानी जाय। तथागत का कथन है कि अन्तों के मध्य में रहना ही 'सम्यक्ता' है। किसी भी वस्तु के दोनों अन्त उन्मार्ग की ओर ले जाने वाले होते हैं। अर्थात् किसी भी वस्तु में अत्यधिक तल्लीनता अथवा उससे अत्यधिक वैराग्य दोनों अनुचित हैं। उदाहरण के लिये अधिक भोजन करना भी दुःखदायी है और बिलकुल भोजन न करना भी दुःख का कारण है। अतः सत्य तो दोनों अन्तों के बीच

---

१. आतप्पं = समुद्योगः। २. धम्मपद--मग्गवग्ग २०।४।

में ही रहता है। इस शोभन मध्य को अधिक महत्त्व देने के कारण ही बुद्ध का मार्ग 'मध्यम प्रतिपदा' मध्यम मार्ग (बीच का रास्ता) कहा जाता है। 'मध्यम प्रतिपदा' का प्रतिपादन बुद्ध के ही शब्दों में इस प्रकार है—

'द्वे भिक्खवे अन्ता पब्बज्जितेन न सेवितब्बा। कतमे द्वे ? यो चायं कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो। यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो। एते खो भिक्खवे उभे अन्ते अनुपगम्य मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसंबुद्धा चक्खुकरणी जाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बाणं संवत्तति'।

[हे भिक्षगण, संसार को परित्याग कर निवृत्तिमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति (प्रव्रजित) को चाहिए कि दोनों अन्तों का सेवन न करे। कौन से दो अन्त ? एक अन्त है—काम्य वस्तुओं में भोग की इच्छा से सदा लगा रहना। यहविषयानुयोग हीन, ग्राम्य, आध्यात्मिकता से पृथक् ले जाने वाला, अनार्य तथा अनर्थ उत्पन्न करने वाला है। दूसरा अन्त है—शरीर को कष्ट देना। यह भी दुःख, अनार्य तथा हानि उत्पन्न करने वाला है। इन दोनों अन्तों के सेवन करने से मानव भवचक्र से कभी उद्धार नहीं पा सकता। उसके उद्धार का रास्ता इन अन्तों को छोड़कर बीच का मार्ग है। बुद्ध ने इसी का प्रतिपादन किया है। यह मार्ग नेत्र उन्मीलन करने वाला, ज्ञान उत्पन्न करने वाला है। यह चित्त को शान्तिप्रदान करता है, सम्यक् ज्ञान पैदा करता है तथा निर्वाण उत्पन्न करता है। इसी मार्ग का सेवन प्रत्येक प्रव्रजित के लिए हितकर है]

इस मध्यम मार्ग का प्रकाशन बुद्ध के जीवन का चरम रहस्य है। गौतम ने अपने जीवन की कसौटी पर दोनों अन्तों को कसकर देखा कि वे सारहीन हैं—चरम शान्ति के देने में नितान्त असमर्थ हैं। वे महलों में पले थे। उस समय के समस्त राजकीय सुख उन्हें प्राप्त थे। उनके पिता ने उनके चित्त को विषय-वागुरा में बाँधने के लिए उनके सौख्य में किसी वस्तु की त्रुटि न होने दी। परन्तु बुद्ध ने इस वैषयिक जीवन को भी चरम शान्ति के देने में अयोग्य पाया। तदनन्तर वे हठयोग की कठिन साधना में मनोयोग-पूर्वक डट गये। उन्होंने अपने शरीर को सुखा कर काँटा बना दिया। दुष्कर योगसाधना के कारण उनका शरीर हड्डियों का एक सूखा ढाँचा ही रह गया। परन्तु इस मार्ग में भी शान्ति न मिली।

तब ये इस सत्य पर पहुँचे कि परमसुख पाने के लिए न तो विषयों की सेवा समर्थ है और न कठिन साधना के द्वारा शरीर को कष्ट पहुँचाना। परिव्राजक न तो विषयों की एकाङ्गी कामना में ही आसक्त हो और न शरीर को कष्ट पहुँचाने में निरत हो; प्रत्युत शील, समाधि और प्रज्ञा के सम्पादन में चित्त लगाकर अनुपम शान्ति की उपलब्धि करे। इस प्रकार 'मध्यम मार्ग' बुद्ध की सच्ची स्वानुभूति पर आश्रित है।

मध्यम प्रतिपदा आठों अङ्गों में लगती है। दृष्टि के लिए भी दो अन्त हैं—एक है शाश्वत दृष्टि और दूसरी है उच्छेद दृष्टि। जो पुरुष शरीर से भिन्न, अपरिणामी, नित्य आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं वे 'शाश्वत दृष्टि' रखते हैं। जो पुरुष शरीर को आत्मा से अभिन्न मानकर शरीरपात के साथ आत्मा का नाश बतलाते हैं वे 'उच्छेद दृष्टि' में रमते हैं। ये दोनों दृष्टियाँ एकाङ्गिनी होने से हानिकारक हैं। सम्यक् दृष्टि तो दोनों के बीच की दृष्टि है। दुःख न तो शाश्वत होने से अजेय है और न आत्महत्या कर उसका अन्त किया जा सकता है। दुःख को नित्य मानकर उस पर विजय करने से भगनेवाला आलसी पुरुष उसी प्रकार निन्दनीय है, जिस प्रकार आत्महत्या कर दुःखों का अन्त माननेवाला कायर पुरुष गर्हणीय है। उचित मार्ग दुःखों के कारणभूत तृष्णा को भलीभाँति समझकर उसका नाश करना है। तृष्णा का उदय अविद्या के कारण है। अविद्या ही समग्र दुःखों की जननी है। उस अविद्या को विद्या के द्वारा नाश करने से चरम उपशम की प्राप्ति होती है। भगवान् बुद्ध भी 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' के औपनिषद सिद्धान्त के ही अनुयायी हैं। परन्तु यह ज्ञान केवल कोरा बकवाद न होना चाहिये। शाब्दिक ज्ञान से शान्ति का उदय नहीं होता। ज्ञान को आचार मार्ग के अवलम्बन से पुष्ट करना होता है। आचाररूप में परिवर्तित ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। जिस ज्ञानी का जीवन आचार की दृढ़ भित्ति पर अवलम्बित नहीं है, वह कितना भी डींग हाँके, वह अध्यात्म मार्ग पर केवल बालक है जो अपने को धोखा देता है और संसार को भी धोखे में डालता है।

अष्टांगिक मार्ग

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानाञ्च चक्खुमा॥ (धम्मपद २०।१)

सब मार्गों में श्रेष्ठ अष्टांगिक मार्ग[1] का सामान्य स्वरूप अभी तक बतलाया गया है। अब उसके विशिष्ट रूप का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है :—

(१) **सम्यक् दृष्टि**—'दृष्टि' का अर्थ ज्ञान है। सत्कार्य के लिए ज्ञान की भित्ति आवश्यक होती है। आचार और विचार का परस्पर सम्बन्ध नितान्त घनिष्ठ होता है। विचार की भित्ति पर आचार खड़ा होता है। इसीलिए इस आचारमार्ग में सम्यक्‌दृष्टि पहला अङ्ग मानी गई है। जो व्यक्ति अकुशल को तथा अकुशलमूल को जानता है, कुशल को और कुशलमूलको जानता है, वही सम्यक्‌दृष्टि से सम्पन्न माना जाता है। कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म दो प्रकार के होते हैं—कुशल (भले) और अकुशल (बुरे)। इन दोनों को भली-भाँति जानना 'सम्यक्‌दृष्टि' कहलाता है। 'मज्झिम निकाय' में इन कर्मों का विवरण इस प्रकार है[2]—

	अकुशल	कुशल
कायकर्म	(१) प्राणातिपात (हिंसा)	(१) अ--हिंसा
	(२) अदत्तादान (चोरी)	(२) अ-चौर्य
	(३) मिथ्याचार (व्यभिचार)	(३) अ-व्यभिचार
वाचिक कर्म	(४) मृषावचन (झूठ)	(४) अ-मृषावचन
	(५) पिशुनवचन (चुगली)	(५) अ-पिशुनवचन
	(६) परुषवचन (कटुवचन)	(६) अ-कटुवचन
	(७) संप्रलाप (बकवाद)	(७) अ-संप्रलाप
मानसकर्म	(८) अभिध्या (लोभ)	(८) अ-लोभ
	(९) व्यापाद (प्रतिहिंसा)	(९) अ-प्रतिहिंसा
	(१०) मिथ्यादृष्टि (झूठी धारणा)	(१०) अ-मिथ्यादृष्टि

---

१. निर्वाणगामी मार्गों में अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है। लोक में जितने सत्य हैं उनमें आर्यसत्य श्रेष्ठ है। सब धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में चक्षुष्मान् ज्ञानी-बुद्ध-श्रेष्ठ है।

२. सम्मादिट्ठि सुत्त।

अकुशल का मूल है लोभ, दोष तथा मोह। इनसे विपरीत कुशल का मूल है—अलोभ, अदोष तथा अमोह। इन कर्मों का सम्यक् ज्ञान रखना आवश्यक है। साथ ही साथ आर्यसत्यों का—दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध तथा दुःख-निरोध मार्ग को भलीभाँति जानना भी सम्यक् दृष्टि है।

(२) **सम्यक्-संकल्प**—सम्यक् निश्चय। सम्यक् ज्ञान होने पर ही सम्यक् निश्चय होता है निश्चय किन बातों का? निष्कामना का, अद्रोह का तथा अहिंसा का। कामना ही समग्र दुःखों की उत्पादिका है। अतः प्रत्येक पुरुष को इन बातों का दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि वह विषय की कामना न करेगा, प्राणियों से द्रोह न करेगा और किसी भी जीव हिंसा न करेगा।

(३) **सम्यक्-वचन**—ठीक भाषण। असत्य, पिशुन वचन, कटुवचन तथा बकवाद—इन सबको छोड़ देना नितान्त आवश्यक है। सत्य से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है[1]। जिन वचनों से दूसरों के हृदय को चोट पहुँचे, जो वचन कटु हो, दूसरों की निन्दा हो, व्यर्थ का बकवाद हो, उन्हें कभी नहीं कहना चाहिए। वैर की शान्ति कटुवचनों से नहीं होती, प्रत्युत 'अवैर से ही होती है—

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥ (धम्मपद १।५)

व्यर्थ के पदों से युक्त सहस्रों काम भी निष्फल होते हैं। एक सार्थक पद ही श्रेष्ठ होता है जिसे सुनकर शान्ति उत्पन्न होती है। शान्ति का उत्पन्न करना ही वाक्यप्रयोग का प्रधान लक्ष्य है। जिस पद से इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती, उसका प्रयोग नितान्त अयुक्त है—

सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता।
एकं अत्थपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति॥ (धम्मपद ८।१)

(४) **सम्यक् कर्मान्त**—हिन्दू धर्म के समान ही बुद्धधर्म में कर्म सिद्धान्त

---

१. असत्य भाषण नरक में ले जाता है। धम्मपद का कथन है कि असत्य-वादी नरक में जाते हैं और वह भी मनुष्य, जो किसी काम करके भी 'नहीं किया' कहता है। दोनों प्रकार के नीचे कर्म करने वाले मनुष्य मर कर समान होते हैं—

अभूतवादी निरयं उपेति यो वापि कत्वा 'न करोमी' ति चाह।
उभोपि ते पेच्च समा भवन्ति निहीनकम्मा मनुजा परत्थ॥

को समधिक महत्त्व दिया जाता है। मनुष्य की सद्गति या दुर्गति का कारण उसका कर्म ही होता है। कर्म के ही कारण जीव इस लोक में सुख या दुःख भोगता है तथा परलोक में भी स्वर्ग या नरक का गामी बनता है। 'हिंसा चोरी व्यभिचार आदि निन्दनीय कर्मों का सर्वथा तथा सर्वदा परित्याग अपेक्षित है। पाँच कर्मों का अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है। इन्हीं की संज्ञा है—पञ्चशील। **पंचशील ये हैं**—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सुरा-मैरेय आदि मादक पदार्थों का असेवन। इन कर्मों का अनुष्ठान सबके लिए विहित है। इनका सम्पादन तो करना चाहिए, परन्तु इनका परित्याग करनेवाला व्यक्ति धम्मपद के शब्दों में 'मूलं खनति अत्तनो = अपनी ही जड़ खोदता है'[१]। आत्मविजय अपने ऊपर विजय पाना ही मानव की अनन्तशान्ति का चरम साधन है। आत्मदमन इन कर्मों का विधान चाहता है। 'आत्मा ही अपना नाथ-स्वामी है। अपने को छोड़कर अपना स्वामी दूसरा नहीं। अपने को दमन कर लेने पर ही दुर्लभ नाथ-(निर्वाण) को जीव पाता है'[२]। भिक्षुओं के लिए तो आत्म-दमन के नियमों में बड़ी कड़ाई है। इन सार्वजनीन कर्मों के अतिरिक्त उन्हें पाँच कर्म—अपराह्णभोजन, माला-धारण, संगीत, सुवर्ण, तथा अमूल्य शय्या का त्याग और भी कर्तव्य हैं। इन्हें ही 'दशशील' कहते हैं। भिक्षुओं के निवृत्ति प्रधान जीवन को आदर्श बनाने के लिए बुद्ध ने अन्य कर्मों को भी आवश्यक बतलाया है जिनका उल्लेख 'विनयपिटक' में किया गया है।

---

१. यो पाणमतिपातेति मुसावादं च भासति।
लोके अदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति॥
सुरामेरयपानं च यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तनो॥ १८-१२।१३

२. अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं। —(धम्मपद १२।४)

यह आत्मविजय का सिद्धान्त वैदिकधर्म का मूल मन्त्र है—(गीता)

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ४॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ५॥

(५) **सम्यक् आजीव**[1] = ठीक जीविका। झूठी जीविका को छोड़कर सच्ची जीविका के द्वारा शरीर का पोषण करना। विना जीविका के जीवन धारण करना असम्भव है। मानवमात्र को शरीर रक्षण के लिए कोई न कोई जीविका ग्रहण करनी ही पड़ती है, परन्तु यह जीविका सच्ची होनी चाहिए जिससे दूसरे प्राणियों को न तो किसी प्रकार का क्लेश पहुंचे और न उनकी हिंसा का अवसर आवे। समाज व्यक्तियों के समुदाय से बनता है। यदि व्यक्ति पारस्परिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपनी जीविका अर्जन करने में लगे, तो समाज का वास्तविक मंगल होता है।' उस समय के व्यापारों में बुद्ध ने पाँच जीविकाओं को हिंसाप्रवण होने से अयोग्य ठहराया है[2]—(१) सत्य वणिज्जा (शस्त्र = हथियार का व्यापार), (२) सत्तवणिज्जा (प्राणी का व्यापार), (३) मंसवणिज्जा (मांस का व्यापार), (४) मज्जवणिज्जा (मद्य-शराब का रोजगार), (५) विसवणिज्जा (विष का व्यापार)। लक्खणसुत्त ३ में बुद्ध ने इन जीविकाओं को गर्हणीय बतलाया है—तराजू की ठगी, कंस = (बटखरे) की ठगी, मान की (नाप की) ठगी, रिश्वत, वंचना, कृतघ्नता, साचियोग (कुटिलता), छेदन, बध, बन्धन, डाका, लूटपाट की जीविका।

(६) **सम्यक् व्यायाम** = ठीक प्रयत्न, शोभन उद्योग। सत्कर्मों के करने की भावना करने के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए। इन्द्रियों पर संयम, बुरी भावनाओं को रोकने और अच्छी भावनाओं के उत्पादन का प्रयत्न, उत्पन्न, अच्छी भावनाओं के कायम रखने का प्रयत्न—ये सम्यक् व्यायाम हैं। बिना प्रयत्न किये चंचल चित्त से शोभन भावनायें दूर भगती जाती हैं और बुरी भावनायें घर जमाया करती हैं। अतः यह उद्योग आवश्यक है।

(७) **सम्यक् स्मृति**—इस अंग का विस्तृत वर्णन दीघनिकाय के 'महा सति पट्ठान' सुत्त (२।९) में किया गया है। स्मृतिप्रस्थान चार है—(१) कायानुपश्यना, (२) वेदनानुपश्यना, (३) चित्तानुपश्यना तथा (४) धर्मानुपश्यना। काय, वेदना, चित्त तथा धर्म के वास्तव स्वरूप को जानना तथा उसकी स्मृति सदा

---

१. जीविका के लिए आजीव का प्रयोग कालिदास ने भी किया हैं—भट्टा अह कीलिशो मे आजीवे=भर्तः अथ कीदृशो मे आजीवः। शाकुन्तल षष्ठ अंक का प्रवेशक।

२. अंगुत्तर निकाय, ५। ३. दीघनिकाय पृ० २६९।

बनाये रखना नितान्त आवश्यक होता है। काय मलमूत्र, केश तथा नख आदि पदार्थों का समुच्चयमात्र है। शरीर को इन रूपों में देखने वाला पुरुष 'काये कायानुपश्यी' कहा जाता है। वेदना तीन तरह की होती है—सुख, दुःख, न सुख न दुःख। वेदना के इस स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति 'वेदना में वेदनानुपश्यी' कहलाता है। चित्त की नाना अवस्थायें होती हैं—कभी वह सराग होता है, कभी विराग, कभी सद्वेष और कभी वीतद्वेष; कभी समोह तथा कभी वीतमोह। चित्त की इन विभिन्न अवस्थाओं में उसकी जैसीं गति होती है उसे जाननेवाला पुरुष 'चित्त में चित्तानुपश्यी' होता है। धर्म भी नाना प्रकार के हैं (१) नीवरण—कामच्छन्द (कामुकता), व्यापाद (द्रोह), स्त्यान-मृद्ध (शरीर-मन की अलसता), औद्धत्य-कौकृत्य (उद्वेग-खेद) तथा चिकित्सा (संशय) स्कन्ध, (३) आयतन (४) बोध्यंग; (५) आर्य चतुःसत्य। इनके स्वरूप को ठीक-ठीक जानकर उनको उसी रूप में जानने वाला पुरुष 'धर्म में धर्मानुपश्यी' कहलाता है। सम्यक् समाधि के निमित्त इस सम्यक् स्मृति की विशेष आवश्यकता है। काय तथा वेदना का जैसा स्वरूप है उसका स्मरण सदा बनाये रखने से उनमें आसक्ति उत्पन्न नहीं होती। चित्त अनासक्त होकर वैराग्य की ओर बढ़ता है तथा एकाग्र होने की योग्यता सम्पादन करता है।

(८) **सम्यक् समाधि**— आर्य सत्यों की समीक्षा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बुद्ध का मार्ग उपनिषत्प्रतिपादित मार्ग से भिन्न नहीं है। उपनिषदों का सिद्धान्त है—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः (ज्ञान के विना मुक्ति नहीं मिलती)। यह सिद्धान्त बुद्ध को भी सर्वथा मान्य था, परन्तु शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसे धारण करने की योग्यता शरीर में पैदा नहीं होती[१]। ज्ञान के उदय के लिए शरीर की शुद्धि नितान्त आवश्यक है। इसीलिए बुद्ध ने शील और समाधि के द्वारा क्रमशः कायशुद्धि और चित्त-शुद्धि पर विशेष जोर दिया है।

बुद्धधर्म के तीन महनीय तत्त्व हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा। अष्टाङ्गिक मार्ग के प्रतीक ये तीनों ही हैं। शील से तात्पर्य सात्त्विक कार्यों से है। बुद्ध के दोनों प्रकार के शिष्य थे—गृहत्यागी प्रव्रजित भिक्षु तथा गृहसेवी गृहस्थ। कतिपय कर्म इन उभय प्रकार के बुद्धानुयायियों के लिए समभावेन मान्य हैं जैसे

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य-(दीर्घनिकाय, हिन्दी अनुवाद पृ० १९०-१९८)

अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा मद्य का निषेध। ये 'पंचशील' कहलाते हैं और इनका अनुष्ठान प्रत्येक बौद्ध के लिए विहित है। भिक्षुओं के लिए अन्य पाँच शीलों की भी व्यवस्था है—जैसे अपराह्णभोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण-रजत तथा महार्घ शय्या—इन पाँचों वस्तुओं का परित्याग। पूर्वशीलों से मिला कर इन्हें ही 'दश शील' (दश सत्कर्म) कहते हैं। गृहस्थ के लिए अपने पिता माता, आचार्य, पत्नी, मित्र, सेवक तथा श्रमण-ब्राह्मणों का सत्कार प्रतिदिन करना चाहिए। बुरे कर्मों के अनुष्ठान से सम्पत्ति का नाश अवश्यम्भावी होता है। नशा का सेवन, चौरस्ते की सैर, समाज (नाच गाना) का सेवन, जूआ खेलना, दुष्ट मित्रों की संगति तथा आलस्य में फँसना—ये छओ सम्पत्ति के नाश के कारण हैं। बुद्ध ने गृहस्थों के लिए भी इनका निषेध आवश्यक बतलाया है[१]।

शील तथा समाधि का फल है प्रज्ञा का उदय। भवचक्र के मूल में 'अविद्या' विद्यमान है। जब तक प्रज्ञा का उदय नहीं होता, तब तक अविद्या का नाश नहीं हो सकता। साधक का प्रधान लक्ष्य इसी प्रज्ञा की उपलब्धि में होता है। प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है[२]—(१) श्रुतमयी—आप्त प्रमाणों से उत्पन्न निश्चय, (२) चिन्तामयी—युक्ति से उत्पन्न निश्चय तथा (३) भावनामयी—समाधिजन्य निश्चय। श्रुत-चिन्ता प्रज्ञा से सम्पन्न शीलवान् पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है। प्रज्ञावान् व्यक्ति नाना प्रकार की ऋद्धियाँ ही नहीं पाता प्रत्युत प्राणियों के पूर्वजन्म का ज्ञान, परचित्त ज्ञान, दिव्यश्रोत्र, दिव्यचक्षु तथा दुःखक्षय ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है[३]। उसका चित्त कामास्रव (भोग की इच्छा), भवास्रव (जन्मने की इच्छा) तथा अविद्यास्रव (अज्ञानमल) से सदा के लिए विमुक्त हो जाता है। साधक निर्वाण प्राप्त कर अर्हत् की महनीय उच्च पदवी को पा लेता है। धम्मपद ने बुद्धशासन के रहस्य को तीन ही शब्दों में समझाया है—

(१) सब पापों का न करना, (२) पुण्य का संचय तथा (३) अपने चित्त की परिशुद्धि—सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।

स-चित्त-परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥ (धम्मपद १४।५)

---

१. द्रष्टव्य दीर्घनिकाय, सिगालो वाद सुत्त (३१) पृष्ठ २७१-२७६।

२. अभिधर्मकोश ६।५ ३. द्रष्टव्य दीघनिकाय (सामञ्ञ फल सुत्त) पृ० ३०-३१

सप्तम परिच्छेद
बुद्ध के दार्शनिक विचार
(क) प्रतीत्य समुत्पाद

बुद्ध ने आचार मार्ग के उपदेश देने में ही अपने को सर्वदा व्यस्त रखा। आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा न तो उन्होंने स्वयं की और न अपने अनुयायियों को ही इन बातों के अनुसन्धान के लिए उत्साहित किया। परन्तु उनके उपदेशों की दार्शनिक भित्ति है जिस पर प्रतिष्ठित होकर वे ढाई हजार वर्षों से मानवसमाज का मंगल करते चले आ रहे हैं। 'प्रतीत्य समुत्पाद' ऐसा ही माननीय सिद्धान्त है। बौद्धदर्शन का यह आधार पीठ है। 'प्रतीत्य समुत्पाद' का अर्थ है 'सापेक्ष कारणतावाद।' प्रतीत्य (प्रति + इ गतौ + ल्यप्) किसी वस्तु को प्राप्ति होने पर, समुत्पाद = अन्य वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति[1]। बुद्ध ने इतना ही कहा—अस्मिन् सति इदं भवति = इस चीज के होने पर यह चीज होती है अर्थात् जगत् के वस्तुओं या घटनाओं में सर्वत्र यह कार्यकारण का नियम जागरूक है[2]। एक वस्तु के रहने पर दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है। वस्तु की उत्पत्ति विना किसी कारण के नहीं होती। कार्यकारण का यह महत्त्वपूर्ण नियम बुद्ध की अपनी खोज है। उन्होंने अपने समय के दार्शनिक के मतों की समीक्षा की। तब उन्हें पता चला कि कुछ लोग 'नियतिवादी' हैं—उनके अनुसार जगत् के समस्त कार्य—बुरे या भले—भाग्य के अधीन हैं। भाग्य जिधर मुड़ती है उधर ही घटनापरम्परा झुकती है। कुछ लोग 'ईश्वरेच्छा' को ही महत्त्व देकर जगत् के कार्यों के लिए ईश्वर की मनमानी इच्छा को कारण बतलाते थे। परन्तु अन्य लोग 'यदृच्छा' के महत्त्व के मानने वाले थे। उनकी सम्मति में यह विश्व इसी यदृच्छा (मनमाना अवसर) के वश में होकर नाना प्रकार का रूप धारण करता रहता है। परन्तु बुद्ध का युक्ति-

---

१. प्रतीत्यशब्दो ल्यबन्तः प्राप्तावपेक्षायां वर्तते। पदि प्रादुर्भावे इति सत्पाद शब्दः प्रादुर्भावेऽर्थे वर्तते। ततश्च हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः।

२. अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादयमुत्पद्यते इति इदं प्रत्ययार्थः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः। (माध्यमिक वृत्ति पृ० ९)

प्रवण हृदय इन मीमांसाओं को मानने के लिए तैयार न था। ये विभिन्न मत त्रुटिपूर्ण होने से इनकी बुद्धि में बेतरह खटकते थे। यदि इन मतों का अङ्गीकार किया जाय, तो कोई भी व्यक्ति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। वह कृपण या तो भाग्य के पंजे में फँसकर या ईश्वर के वश में होकर अथवा यदृच्छा के बल पर अनिच्छया अनेक कार्यों का सम्पादन करता रहता है। अपने कार्यों के लिए दूसरों पर अवलम्बित होने के कारण उसकी उत्तरदायिता क्योंकर युक्तियुक्त मानी जा सकती है ? इस दुरवस्था से वाध्य होकर भगवान् बुद्ध ने इस कार्यकारण के अटल नियम की व्यवस्था की।

यह नियम अटल है, अमिट है। देश, काल या विषय—इन तीनों के विषय में यह नियम जागरूक है। इस जगत् (कामधातु) के ही जीव इस नियम के वशीभूत नहीं हैं, बल्कि रूपधातु के देवता आदि प्राणी भी इस नियम के आगे अपना मस्तक झुकाते हैं। भूत, वर्तमान तथा भविष्य—इन तीनों कालों में यह नियम लागू है। बौद्धों के अनुसार कारणता का यह चक्र अनन्त तथा अनादि है। इसी लिए वे लोग इस जगत् का कोई भी मूल कारण मानकर इसका आरम्भ मानने के लिए तैयार नहीं हैं। यह नियम सब विषयों पर चलता है। इसके अपवाद केवल 'असंस्कृत धर्म' हैं जो नित्य तथा अनुत्पन्न माने जाते हैं। समस्त 'संस्कृत' धर्म, चाहे वे रूप, चित्त, चैतसिक या चित्तविप्रयुक्त हों, हेतु प्रत्ययों के कारण उत्पन्न होते हैं। बौद्ध लोग और भी आगे वढ़ते हैं। स्वयं बुद्ध भी इस कार्यकारण नियम के वशवर्ती हैं। तीनों कालों के बुद्ध न तो इस महान् नियम के परिवर्तन करने में समर्थ हुए हैं और न भविष्य में समर्थ होंगे। बुद्धधर्म की यह महती विशेषता है। अन्य धर्मों में भी यह नियम थोड़े या अधिक अंश में विद्यमान है, परन्तु अनेक उच्चतम शक्तियों के आगे इसका प्रभाव तनिक भी नहीं रहता। अन्य धर्मों में ईश्वर इस नियम के प्रभाव से परे बतलाया जाता है, परन्तु इस धर्म में स्वयं बुद्ध भी इस नियम से उसी प्रकार वद्ध हैं तथा पराधीन हैं जिस प्रकार साधारण व्यक्ति।

एक बात ध्यान देने योग्य है। बुद्धधर्म के समस्त सम्प्रदायों का यह मन्तव्य है कि एक ही कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, प्रत्येक धर्म कम से कम दो कारणों के परस्पर मिलन का फल है। सम्भवतः इस नियम की

व्यवस्था ईश्वरवाद के खण्डन के लिए आरम्भ में की गई थी, परन्तु आगे चलकर यह सिद्धान्त दृढ़ हो गया कि बाह्य उपकरणों की सहायता कार्योत्पत्ति के निमित्त कारण को सर्वदा वाञ्छनीय है। अतः यह कथन ठीक नहीं है कि प्रत्येक कारण कार्यको अवश्यमेव उत्पन्न करेगा, क्योंकि अनेक कारण अनुकूल उपकरण के अभाव में फलावस्था को प्राप्त ही नहीं करते। इसी लिए हेतु तथा बाह्य अनुकूल उपकरण के परस्पर सहयोग से ही बुद्धमत में कार्य का उदय माना जाता है।

कारणवाद

पाली निकायों में कारणकार्य के सम्बन्ध का विशेष अनुसन्धान उपलब्ध नहीं होता। केवल इतना ही मिलता हैं कि इसके होने पर यह वस्तु उत्पन्न होती है (अस्मिन् सति इदं भवति)। इस प्रसङ्ग में हेतु और पच्चय (प्रत्यय) शब्दों का प्रयोग एक साथ समभावेन किया गया है। कारणवाद की मीमांसा के लिए इन दोनों (हेतु-प्रत्यय) महत्त्व-पूर्ण शब्दों के अर्थ की समीक्षा नितान्त आवश्यक है। स्थविरवाद के अनुसार 'हेतु' का प्रयोग बड़े ही सीमित अर्थ में किया गया है। लोभ, दोष तथा मोह के द्वारा चित्त की विकृति के लिए हेतु का प्रयोग निकायों में मिलता है। इसी लिए विज्ञान की इन अवस्थाओं को 'सहेतुक' कहते हैं।

कारण वाचक शब्द

अलोभ, अद्वेष तथा अमोह—ये तीनों कुशल-हेतु है। 'प्रत्यय' का प्रयोग कार्यकारण सम्बन्ध के किसी भी रूप के द्योतनार्थ किया जाता है अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ जो सम्बन्ध धारण करती है उसे 'प्रत्यय' के द्वारा सूचित करते हैं। अभिधम्म के अन्तिम ग्रन्थ 'पट्ठान' का विषय ही २४ प्रकार के 'प्रत्ययों' का विवरण प्रस्तुत करना है।

हेतु-प्रत्यय स्थविरवादमें

सर्वास्तिवादी तथा योगाचार में इन शब्दों के अर्थ भिन्न हैं। 'हेतु' का अर्थ है मुख्य कारण, 'प्रत्यय' का अर्थ है तदनुकूल कारणसामग्री[1]। 'हेतु' मुख्य

---

१. हेतुमन्यं प्रति अयते गच्छतीति इतरसहकारिभिर्मिलितो हेतुः प्रत्ययः। कल्पतरु (२।२।१९)। विशेष के लिए द्रष्टव्य (भामती—२।२।१९)

हेतु-प्रत्यय महायान में

कारण होता है तथा 'प्रत्यय' गौण कारण होता है। उदाहरण के निमित्त हम देख सकते हैं कि पृथ्वी में रोपने पर बीज पनपता है। पृथ्वी, सूर्य, वर्षा आदि की सहायता से वह बढ़कर वृक्ष बन जाता है। यहाँ बीज हेतु तथा पृथ्वी, सूर्य आदि 'प्रत्यय' है, क्योंकि सूरज की गरमी और जमीन की नमी न रहने पर बीज कथमपि अङ्कुर नहीं बन सकता, न वह बढ़कर वृक्ष हो सकता है। वृक्ष फल कहलाता है। स्थविरवाद में प्रत्ययों की संख्या २४ है, परन्तु सर्वास्तिवादियों के मतानुसार हेतु ६ होते हैं, प्रत्यय ४ तथा फल ५।

मानव व्यक्ति के विषय में इस नियम का प्रदर्शन निकायों में स्पष्ट भावेन किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश अङ्ग हैं जिसमें एक दूसरे के कारण उत्पन्न होता है। इसे 'भवचक्र' के नाम से पुकारते हैं। इस चक्र के कारण इस संसार की सत्ता प्रमाणित होती है। इन अङ्गों की संज्ञा 'निदान' भी है। इनके नाम क्रम से इस प्रकार हैं—

भवचक्र

(१) अविद्या (२) संस्कार (३) विज्ञान (४) नामरूप (५) षडायतन—६ इन्द्रियाँ (६) स्पर्श (७) वेदना (८) तृष्णा (९) उपादान (राग) (१०) भव (११) जाति (जन्म) (१२) जरा—मरण (बुढ़ापा तथा मृत्यु)।

इन द्वादश निदानों की व्याख्या में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में पर्याप्त मतभेद है। हीनयानी सम्प्रदायों में आश्चर्यजनक एकता है। इस प्रसङ्ग में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का उपयोग कर द्वादश निदान तीन जन्मों से सम्बद्ध माने जाते हैं। प्रथम दो निदानों का सम्बन्ध अतीत जन्म से है, उसके अनन्तर आठ निदानों (३-१०) का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है तथा अन्तिम दो (११,१२) भविष्य जीवन से सम्बद्ध हैं। इसी कारण वसुबन्धु ने इसे 'त्रिकाण्डात्मक' बतलाया है[1]।

कारण शृङ्खला अतीत जन्म

(१) अविद्या—पूर्वजन्म की वह दशा जिसमें अज्ञान, मोह तथा लोभ के वश में होकर प्राणी क्लेशबद्ध रहता है।

---

१. स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गस्त्रिकाण्डकः।
पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणाः॥ (अभि० कोश ३।२०)

(२) **संस्कार**—पूर्वजन्म की वह दशा जिसमें अविद्या के कारण प्राणी भला या बुरा कर्म करता है[1]।

वर्तमान जीवन

(३) **विज्ञान**—इस जीवन की वह दशा जब प्राणी माता के गर्भ में प्रवेश करता है और चैतन्य प्राप्त करता है—गर्भ का क्षण!

(४) **नामरूप**—गर्भ में भ्रूण का कलल या बुद्बुद आदि अवस्था है[2]। 'नाम रूप' से अभिप्राय भ्रूण के मानसिक तथा शारीरिक अवस्था है जब वह गर्भ में चार सप्ताह बिता चुकता है।

(५) **षडायतन**—'आयतन' = इन्द्रिय। उस अवस्था का सूचक है जब भ्रूण माता के उदर से बाहर आता है, उसके अंग-प्रत्यंग बिल्कुल तैयार हो जाते हैं, परन्तु अभी तक वह उन्हें प्रयुक्त नहीं करता।

(६) **स्पर्श**—शैशव की वह दशा जब शिशु बाह्य जगत् के पदार्थों के साथ सम्पर्क में आता है। वह अपनी इन्द्रियों के प्रयोग से बाहरी जगत् को समझने का उद्योग करता है, परन्तु उसका इस समय का ज्ञान धुँधला रहता है।

(७) **वेदना**—सुख, दुःख, न सुख और न दुःख। ये वेदना के तीन प्रकार हैं। शिशु की वह दशा जब वह पाँच छः वर्षों के अनन्तर सुख दुःख की भावना से परिचित होता है। 'स्पर्श' में बाह्य जगत् का ज्ञान (धुँधला ही सही) उत्पन्न

---

१. संस्कार के अर्थ में बड़ा मतभेद है। निकायों के अनुसार ऊपर का अर्थ है, परन्तु चन्द्रकीर्ति ने इससे द्रोह, मोह तथा राग का अर्थ किया है (माध्य० वृत्ति पृ० ५६३)। गोविन्दानन्द ने शांकरभाष्य टीका (२।२।१९) में इसी अर्थ को ग्रहण किया है।

२. 'नामरूप' की व्याख्या में पर्याप्त मतभेद है। यह शब्द उपनिषदों से ही लिया गया है, परन्तु बुद्ध ने इसके अर्थ को परिवर्तित कर प्रयोग किया है। 'रूप' से अभिप्राय 'शरीर' से है औ 'नाम' से तात्पर्य मन से है। अतः नामरूप दृश्यमान शरीर तथा मन से संवलित संस्थान विशेष के लिए प्रयुक्त होता है। ब्राह्मण आचार्यों ने भी इसकी अन्य प्रकार व्याख्या की है। द्रष्टव्य ब्र० सू० २।२।१९ पर भामती तथा कल्पतरु। विज्ञानाच्चत्वारो रूपिण उपादानस्कन्धाः तन्नाम। तान्युपादाय रूपमभिनिर्वर्तते। तदैकध्यमभिसंक्षिप्य नामरूपं निरुच्यते शरीरस्यैव कललबुद्बुदाद्यवस्था' (भामती २।२।१९)

होता है और वेदना में अन्तर्जगत् का ज्ञान जाग्रत होता है। दस वर्ष तक बालक के शरीर-मन की प्रवृत्तियाँ बढ़ती है, परन्तु अभी तक उसे विषय सुखों का ज्ञान नहीं रहता।

(८) **तृष्णा**—वेदना होने पर इस सुख को मुझे पुनः प्राप्त करना चाहिए—इस प्रकार के निश्चय का नाम तृष्णा है[1]।

(९) **उपादान**—शालिस्तम्बसूत्र के अनुसार उपादान का अर्थ है तृष्णा-वैपुल्य—तृष्णा की बहुलता। युवक की बीस या तीस की अवस्था में विषय की कामना प्रबलतर ही उठती है, कामना के वश में होकर मनुष्य अपनी प्रबल इच्छाओं की परिपूर्ति के लिए उद्योग करता है। उपादान (= आसक्ति) अनेक प्रकार के होते हैं जिनमें तीन मुख्य हैं—कामोपादान = स्त्री में आसक्ति, शीलोपादान = व्रतों में आसक्ति; आत्मोपादान = आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति। आत्मोपादान सब से बढ़कर प्रबल तथा प्रभावशाली होता है।

(१०) **भव**[2]—वह अवस्था जब आसक्ति के वश में होकर मनुष्य नाना प्रकार के भले-बुरे कर्मों का अनुष्ठान करता है। इन्हीं कर्मों के कारण मनुष्य को नया जन्म मिलता है। नवीन जन्म का कारण इस वर्तमान जीवन में सम्पादित कार्यकलाप ही होता है। पूर्वजन्म के 'संस्कार' के समान ही 'भव' होता है। दोनों में पर्याप्त सादृश्य है।

भविष्य जन्म

(११) **जाति** = जन्म। भविष्य जन्म में मनुष्य की दशा, जब वह माता के गर्भ में आता है और अपने दुष्कृत या सुकृत के फलों को भोगने की योग्यता पाता है।

---

१. वेदनायां सत्यां कर्तव्यमेतत् सुखं मयेत्यध्यवसानं तृष्णा भवति।—भामती

२. भव का यह अर्थ मान्य आचार्यों के अनुसार है। वसुबन्धु का कथन है—यद् भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद् भवः—अभिधर्म कोश ३।२४ अर्थात् भविष्य जन्म को उत्पन्न करने वाला कर्म। चन्द्रकीर्ति की व्याख्या एतदनुकूल ही है—पुनर्भवजनकं कर्म समुत्थापयति कायेन वाचा मनसा च—माध्यमिक वृत्ति पृ० ५६५। वाचस्पति की भी व्याख्या एतद्रूप ही है—भवत्यस्मात् जन्मेति भवो धर्माधर्मौ। —भामती २।२।१९

(१२) **जरामरण**—भविष्य जन्म में मनुष्य की दशा जब वह वृद्धता को पाकर मरण प्राप्त करता है। उत्पन्न स्कन्धों के परिपाक का नाम 'जरा' है और उनके नाश का नाम 'मरण' है। ये दोनों अन्तिम निदान 'विज्ञान' से लेकर 'भव' तक (३-१०) निदानों को अपने में सन्निविष्ट करते हैं।

इस शृङ्खला में पूर्व कारणरूप हैं तथा पर कार्य रूप। जरामरण की उत्पत्ति जाति से होती है। यदि जीव का जन्म ही न होता, तो जरामरण का अवसर ही नहीं आता। यह जाति भव-कर्मों का परिणाम रूप है। इस प्रकार मानव व्यक्ति की सत्ता के लिए 'अविद्या' ही मूल कारण है—प्रथम निदान है। हीनयानियों के अनुसार इन निदानों का कार्य-कारण की दृष्टि से ऐसा वर्गीकरण करना उचित है—

(क) पूर्व का कारण और वर्तमान का कार्य

१. पूर्व का कारण— (१) अविद्या तथा (२) संस्कार
२. वर्तमान का कार्य— (३) विज्ञान, (४) नामरूप
(५) षडायतन, (६) स्पर्श, (७) वेदना।

(ख) वर्तमान का कारण और भविष्य का कार्य

१. वर्तमान का कारण— (८) तृष्णा, ९ उपादान
(१०) भव
२. भविष्य का कार्य— (११) जाति, (१२) जरामरण

यह समूचा विवरण स्थविरवादी तथा सर्वास्तिवादी के सामान्य मन्तव्यों के अनुकूल है। महायान मत के अनुसार इसमें पार्थक्य है। ध्यान देने की बात है

महायानी व्याख्या

कि माध्यमिकों ने परमार्थ सत्य की दृष्टि से 'प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त को मान्य नहीं ठहराया है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि (सांवृतिक सत्य) से इसे उपादेय माना है। योगाचार मत की व्याख्या ही महायान के तात्पर्य को जानने के लिए एकमात्र साधन है। योगाचार मतवादी आचार्यों ने इस तथ्य के व्याख्यान में दो नई बातों का उल्लेख किया है।

(१) पहली बात यह है कि उनकी दृष्टि में द्वादश निदानों का सम्बन्ध केवल दो जन्म के साथ है, तीन जन्मों के साथ नहीं (जैसा हीनयानी मानते

आये थे)। इनमें केवल दो काण्ड हैं—पहले से लेकर १० तक, तथा ११ और १२, जिनमें प्रथम दश का सम्बन्ध एक जन्म से है, तो दूसरा का दूसरे जीवन के साथ। उदाहरणार्थ यदि प्रथम दश निदानों का सम्बन्ध पूर्व जन्म से है, तो ११ और १२ निदान का इस जन्म से। अथवा प्रथम दश का सम्बन्ध इस वर्तमान जीवन से है, तो अन्तिम दो निदानों का भविष्यजीवन से।

दो जन्म से सम्बन्ध

(२) दूसरी बात निदानों के चार विभेदों के विषय को लेकर है। योगाचार की मूल कल्पना है कि यह जगत् 'आलय विज्ञान' में विद्यमान बीजों का ही विकास या विस्तृतीकरण है। इसी कल्पना के अनुरोध से उन लोगों ने नवीन चार भेदों का वर्णन किया है। भौतिक जगत् की सृष्टि के लिए यह आवश्यक है कि कोई कारण शक्ति मानी जाय जो प्रत्येक धर्म के बीज का उत्पादन करे परन्तु उत्पत्ति के अनन्तर भी ये बीज 'आलय विज्ञान' में शान्त रूप से रहेंगे जब तक किसी उद्बोधक कारण की सत्ता न मानी जाय। जैसे एक वृक्ष से वृक्षान्तर की उत्पत्ति होने के लिए बीज का होना अनिवार्य है और यह बीज भी वृक्ष के उत्पादन में समर्थ नहीं होगा जब तक पृथ्वी, वायु, सूर्य की सहायता पाकर वह अंकुरित न हो। इसी दृष्टान्त को दृष्टि में रखकर योगाचार ने निदानों के चार निम्न प्रकार माने हैं:—

निदानों के चार प्रभेद

वर्तमान	१. बीज-उत्पादक शक्ति	= अविद्या, संस्कार
	२. बीज	= विज्ञान—वेदना
	३. बीजोत्पादन सामग्री	= तृष्णा, उपादान तथा भव
भविष्य—	४. व्यक्त कार्य	= जाति, जरामरण

निदानों की समीक्षा में योगाचार का मत पर्याप्त प्रमाण के ऊपर अवलम्बित है। यह 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन की आधार-शिला है। इसीलिए दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त का विवेचन बड़ी ऊहापोह के साथ किया है[१]।

१. द्रष्टव्य Macgovern—Manual of Buddhist Philosophy pp. 163–180.

(ख) अनात्मवाद

भगवान् बुद्ध पक्के अनात्मवादी थे। अपने उपदेशों में उन्होंने आत्मवाद के अनुयायियों की कड़ी आलोचना की है। यह अनात्मवाद बुद्धधर्म की दार्शनिक भित्ति है जिसपर समग्र आचार और विचार अपने आश्रय के निमित्त अवलम्बित है। आत्मवाद का सुगत ने खण्डन बड़े अभिनिवेश के साथ किया है। उनके खण्डन का बीज यह है कि समग्र आत्मवादी पुरुष आत्मा के स्वरूप को बिना जाने उसके मंगल के लिए नाना प्रकार के सत्कर्म तथा दुष्कर्म किया करते हैं। इस सिद्धान्त के द्योतक दृष्टान्त बड़े मार्के के हैं। बुद्ध का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति देशकी सबसे सुन्दर स्त्री (जनपद कल्याणी) से प्रेम करता हो, परन्तु न तो उसके गुणों से परिचित हो, न उसके रूप रंग से, न उसका कद ही जाने कि वह बड़ी है, छोटी है या मझोली है और न उसके नाम-गोत्र से ही अभिज्ञ हो। ऐसे पुरुष का आचरण लोक में सर्वथा उपहास्यास्पद होता है। उसी प्रकार आत्मा के गुण और धर्म को बिना जाने, उसके परलोक में सुख प्राप्ति की कामना से जो व्यक्ति यज्ञ याग करता है, वह भी उसी प्रकार गर्हणीय होता है। महल की स्थिति से परिचय बिना पाये ही जो व्यक्ति चौरास्ते के ऊपर उस पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ तैयार करे, भला उससे बढ़कर कोई मूर्ख हो सकता है? सत्ताहीन पदार्थ की प्राप्ति का उद्योग परम मूर्खता का सूचक है। उसी प्रकार असत् आत्मा के मंगल के लिए नाना प्रकार के कर्मों का सम्पादन है[1]। आत्मा की सत्ता को बुद्ध बड़ी ही तुच्छ बुद्धि से देखते थे—'जो यह मेरा आत्मा अनुभव कर्ता, अनुभव का विषय है, और तहाँ-तहाँ अपने बुरे कर्मों के विषयको अनुभव करता है, यह मेरा आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है, अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा—'हे भिक्षुओं, यह भावना बिलकुल बाल धर्म है' (अयं भिक्खवे, केवलो परिपूरो बाल धम्मो[2])। बुद्ध के इस उपदेश से आत्मभाव के प्रति उनकी अवहेलना स्पष्ट है। वे नित्य, ध्रुव आत्मा के अस्तित्व के मानने से सन्तत पराङ्मुख हैं।

बुद्ध के इस अनात्मवाद के भीतर कौन सा रहस्य है? भारतीय चिरन्तन परम्परा के अनेक अंश में पक्षपाती होने पर भी उन्होंने इस उपनिषत्प्रतिपादित

---

१. दीघनिकाय (हिन्दी अनुवाद) पृ० ७३ २. (मज्झिमनिकाय) १।१।२

नैरात्म्य-वाद का कारण

आत्मतत्त्व को तुच्छ दृष्टि से क्यों तिरस्कृत कर दिया ? इस प्रश्न का अनुसन्धान बड़ा ही रोचक है। इस विचित्र संसार के दुःखमय जीवन का कारण तृष्णा या काम है। काम वह समुद्र है जिसके अन्त का पता नहीं और जिसके भीतर जगत् के समस्त पदार्थ समा जाते हैं[1]। अथर्ववेद ने कामसूक्त में (९।१।२) काम के प्रभाव का विशद वर्णन किया है। 'काम ही सबसे पहले उत्पन्न हुआ; इसके रहस्य को न तो देवताओं ने पाया, न पितरों ने, न मर्त्यों ने। इसी लिए काम, तुम सबसे बड़े हो, महान् हो'[2]। काम अग्नि-रूप है। जिस प्रकार अग्नि समग्र पदार्थों को अपना ज्वाला से जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार काम प्राणियों के हृदय को जलाता है[3]। बुद्धधर्म में यही काम 'मार' के नाम से प्रसिद्ध है। सुगत के जीवन में 'मारविजय' को इसीलिए प्रसिद्धि प्राप्त है कि उन्होंने अपने ज्ञान के बल पर अज्ञेय 'काम' को जीत लिया था। इस 'काम' का विजय वैदिक ऋषियों को उसी प्रकार अभीष्ट है जिस प्रकार बुद्ध को।

उपनिषदों का कहना है कि आत्मा की कामना के लिए सब प्रिय होता है। (आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति) जगत् में सबसे प्यारी वस्तु यही आत्मा है जिसके लिए प्राणी विषय के सुखों की कामना किया करता है। हमारी स्त्री पुत्रादिको के ऊपर आसक्ति इसी स्वार्थ के ऊपर अवलम्बित है। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश देते हुए आत्मा को ही सब कामनाओं का केन्द्रबिन्दु बतलाया है। दारा दारा के लिए प्यारी नहीं है, आत्मा के काम से ही वह प्यारी बनती है। समग्र पदार्थों की यही दशा है। बुद्ध ने उपनिषत् से इस सिद्धान्त को ग्रहण किया, परन्तु इस काम के अनारम्भ के लिए एक नवीन ही मार्ग की शिक्षा दी। उनकी विचारधारा का प्रवाह नये रूप से प्रवाहित हुआ— आत्मा का अस्तित्व मानना ही सब अनर्थों का मूल है। आत्मा के रहने पर ही

---

१. समुद्र इव हि कामः, नहि कामस्यान्तोऽस्ति। (तैत्ति० ब्रा० २।२।५।६)

२. कामो जज्ञे प्रथमं नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम
नम इत्कृणोमि (९।१।२।१९)

३. यो देवो (अग्निः) विश्वात् यं तु काममाहुः। (अथर्व ३।२।१।४)

'अहंकार'—अहंभाव का उदय होता है। इस आत्मा को सुख पहुँचाने के लिए ही जीव नाना प्रकार से इस शरीर को सुख देता है और सुख-प्राप्ति के उपायों को ढूँढता है। काम का उदय इसी राग के परम आश्रय आत्मा के अस्तित्व पर अवलम्बित है। अतः इस आत्मा का निषेध करना ही काम-विजय का सबसे सुगम मार्ग है। राग की वस्तु के अभाव में राग ही किस पर किया जायगा? उदान में पुत्रशोक से विह्वल विशाखा को बुद्ध का यही उपदेश था कि इस ससार में जितने शोक, सन्ताप, नाना प्रकार के क्लेश उत्पन्न होते हैं वे प्रिय वस्तु के लिए ही होते हैं। प्रिय के अभाव में शोकादि का भी अभाव अवश्यमेव होता है[1]।

भगवान् बुद्ध के इसी उपदेश की प्रतिध्वनि कालान्तर में बौद्ध आचार्यों के ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। नागार्जुन का कहना है कि जो आत्मा को देखता है, उसी पुरुष का 'अहं' के लिए सदा स्नेह बना रहता है। स्नेह से सुखों के के लिए तृष्णा पैदा होती है; तृष्णा दोषों को ढक लेती है। गुणदर्शी पुरुष 'विषय मेरे हैं' इस विचार से विषयों के साधनों को ग्रहण करता है। तृष्णा से उपादान का जन्म होता है। अतः जब तक आत्माभिनिवेश है, तब तक यह संसार है। आत्मा के रहने पर ही 'पर' (दूसरे) का ज्ञान होता है। स्व और पर के विभाग से रागद्वेष की उत्पत्ति होती है। स्व के लिए राग और पर के लिए द्वेष। और रागद्वेष के कारण ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। अतः समस्त दोषों की उत्पत्ति का निदान आत्मदृष्टि है। बिना इसको हटाये दोषों का निराकरण असम्भव है[2]।

---

१. ये केचि सोका परिदेवितं वा दुक्खा च लोकस्मिं अनेकरूपा।
पिअं पटिच्चेव भवन्ति एते पिये असन्ते न भवंति एते॥ (उदान ८।८)

२. यः पश्यत्यात्मानं तस्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनमुपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत्तु ससारः॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबन्धात् सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥
(नागार्जुनस्य, बोधिचर्यावतारपंजिका पृ० ४१२, गुणरत्न पृ० १९२; अभिसमयालंकारालोक (पृ० ६,७) में उद्धृत अन्तिम कारिका।)

स्तोत्रकार (मातृचेट ?) बुद्ध के नैरात्म्यवाद को प्रशंसा का पात्र बतलाते हैं[1]—जब तक मन में अहंकार है तब तक आवागमन की परम्परा (जन्म प्रबन्ध) शान्त नहीं होती। आत्मदृष्टि की सत्ता में हृदय से अहंकार नहीं हटता। हे बुद्ध, आप से बढ़कर कोई भी नैरात्म्यवादी उपदेशक नहीं है और न आपके मार्ग को छोड़कर शान्ति देनेवाला दूसरा मार्ग ही है। बुद्धधर्म के शान्तिदायी होने का मुख्य कारण नैरात्म्यवाद की स्वीकृति है। चन्द्रकीर्ति के मत में भी सत्कायदृष्टि (आत्म दृष्टि) के रहने पर ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। इस बात की समीक्षा कर तथा आत्मा को इस दृष्टि का विषय मानकर योगी आत्मा का निषेध करता है[2]। अतः आत्मा का यह निषेध काम के निराकरण के लिए किया गया है।

अनात्मवाद की ही दूसरी संज्ञा **'पुद्गल नैरात्म्य'** तथा **'सत्काय दृष्टि'**[3] है। सत्कायदृष्टि को ही आत्मग्राह, आत्माभिनिवेश तथा आत्मवाद भी कहते हैं।

---

१. साहंकारे मनसि न शमं याति जन्मप्रबन्धो
नाहंकारश्चलति हृदयात् आत्मदृष्टौ च सत्याम्।
नान्यः शास्ता जगति भवतो नास्ति नैरात्म्यवादी
नान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्ति मार्गः॥
(तत्त्वसंग्रहपंजिका पृ० ९०५)

२. सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान् क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन्।
आत्मानमस्या विषयं च बुद्ध्वा योगी करोत्यात्मनिषेधमेव॥
(माध्यमकावतार ६।१२३; मा० वृ० में उद्धृत पृ० ३४०)

३. 'सत्काय दृष्टि' पाली में 'सक्काय दिट्ठि' है। 'सत्काय' की भिन्न २ व्युत्पत्ति के कारण इस शब्द की व्याख्या कई प्रकार से की जाती है। 'सत्काय' दो प्रकार से बनता है—१. सत् + काय तथा २. स्व + काय। पहिली व्याख्या में सत् के दो अर्थ हैं—(क) वर्तमान, अस् धातु से तथा (ख) नश्वर (सद से)। अतः वर्तमान देह में या नश्वर देह में आत्मा तथा आत्मीय का भाव रखना। पं० विधुशेखर भट्टाचार्य का कहना है कि तिब्बती तथा चीनी अनुवादकों ने सत् का नश्वर अर्थ ही ग्रहण किया है। दूसरी व्याख्या के लिए नागार्जुन का प्रमाण है उन्होंने माध्यमिक कारिका (२३।६) में 'स्वकाय दृष्टि' का प्रयोग किया है। चन्द्रकीर्ति की

'सर्वं अनात्म'—यही बुद्धधर्म का प्रधान मान्य सिद्धान्त है। इसका अर्थ यह है कि जगत् के समस्त पदार्थ स्वरूपशून्य हैं, वे कतिपय धर्मों के समुच्चय-मात्र हैं, उनका स्वयं स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत नहीं होती। 'अनात्म' शब्द में नञ् का अर्थ 'प्रसज्य प्रतिषेध' नहीं है, प्रत्युत 'पर्युदास' है। अनात्म शब्द यही नहीं द्योतित करता है कि आत्मा का अभाव है, बल्कि आत्मा के अभाव के साथ साथ अन्य पदार्थों की सत्ता बतलाता है। आत्मा को छोड़कर सर्व वस्तुओं की सत्ता या अस्तित्व है।

'अनात्म' का अर्थ

'सर्ववस्तु' की दूसरी संज्ञा 'धर्म' है। **'धर्म'** का इस विलक्षण अर्थ में प्रयोग हम बुद्धधर्म में ही पाते हैं। **धर्म** का अर्थ है अत्यन्त सूक्ष्म, प्रकृति तथा मन के अन्तिम तत्त्व जिनका पुनः पृथक्करण नहीं किया जा सकता। यह जगत् इन्हीं नाना धर्मों के घात-प्रतिघात से सम्पन्न हुआ है। बौद्ध 'धर्म' सांख्यों के 'गुण' के समान है। दोनों अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है। अन्तर इतना ही है कि तीनों गुणों (सत्त्व, रज, तम) की सत्ता के साथ साथ सांख्य गुणत्रय की साम्यावस्थारूपिणी 'प्रकृति' मानता है। बौद्ध दार्शनिक अवयववादी हैं। नैयायिकों के सदृश अवयवसे पृथक् अवयवी की सत्ता वे स्वीकार नहीं करते। न्याय दृष्टि में घट परमाणुपुञ्ज के अतिरिक्त एक नवीन पदार्थ है। अर्थात् अवयवी घट अवयवरूप परमाणुओं से पृथक् सत्ता रखता है, परन्तु बौद्धों की दृष्टि में परमाणु का समुच्चय ही घट है, अवयव से भिन्न अवयवी नामक कोई पदार्थ होता ही नहीं। जगत् के अत्यन्त सूक्ष्मतम पदार्थों की ही संज्ञा 'धर्म' है। इनकी सत्ता सर्वथा माननीय है; परन्तु इन्हें छोड़ देने पर वस्तुओं का स्वरूपभूत अवयवी पदार्थ कोई विद्यमान रहता है, यह बात बौद्ध लोग मानने के लिए तैयार नहीं हैं। 'अनात्म' कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म की सत्ता है, परन्तु उनसे अतिरिक्त आत्मा की सत्ता नहीं है। अतः 'नैरात्म्य' की ही संज्ञा 'धर्मता' है। अभिधर्मकोश की व्याख्या 'स्फुटार्था' में

'धर्म'

व्याख्या है—स्वकाये दृष्टिः आत्मात्मीयदृष्टिः। दोनों व्याख्याओं का तात्पर्य प्रायः एकसमान है। पञ्चस्कन्धात्मक शरीर में आत्मा तथा आत्मीय दृष्टि (अहंकार और ममकार) रखना सत्काय दृष्टि है। द्रष्टव्य V. Bhattacharya: Basic Conception of Buddhism (पृ० ७७-७८ की पादटिप्पणी)

यशोमित्र के इस महत्त्वशाली कथन का—प्रवचनधर्मता पुनरत्र नैरात्म्यं बुद्धानुशासने वा—यही अभिप्राय है।

पुद्गल, जीव, आत्मा, सत्ता—ये सब शब्द एक दूसरे के समानार्थक हैं। बुद्धमत में इन शब्दों के द्वारा अभिहित पदार्थ कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं हैं। आत्मा केवल नाम है; परस्परसम्बद्ध अनेक धर्मों का एक सामान्य नामकरण आत्मा या पुद्गल है। बुद्धधर्म के व्यावहारिक रूप से आत्मा का निषेध नहीं किया है, प्रत्युत पारमार्थिकरूप से ही। अर्थात् लोकव्यवहार के लिए आत्मा की सत्ता है जो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—पञ्चस्कन्धों का समुदायमात्र है, परन्तु इनके अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतन्त्र परमार्थभूत पदार्थ नहीं है। आत्मा के लिए बौद्ध लोग 'सन्तान' शब्द का प्रयोग करते हैं जो अन्य सिद्धान्तों से उनकी विशिष्टता बतलाता है। आत्मा सन्तानरूप है, परन्तु किनका? मानसिक तथा भौतिक, आभ्यन्तर तथा बाह्य, इन्द्रिय तथा इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थों का। १८ धातु (इन्द्रिय, इन्द्रिय-विषय तथा तद्सम्बद्ध विज्ञान) पररूपर मिलकर इस 'सन्तान' को उत्पन्न करते हैं और ये उपकरण 'प्राप्ति' नामक संस्कार के द्वारा परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। 'प्रतीत्य समुतपाद' वादी बुद्ध ने एक क्षण के लिए भी आत्मा की पारमार्थिक सत्ता के सिद्धान्त को प्रश्रय नहीं दिया[१]।

आत्मा की व्यावहारिक सत्ता

पञ्चस्कन्ध

बुद्ध ने आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का तो निषेध कर दिया, परन्तु वे मन और मानसिक वृत्तियों की सत्ता सर्वथा स्वीकार करते हैं। आत्मा का पता भी तो हमें मानसिक व्यापारों से ही चलता है। स्कन्ध का अर्थ है समुदाय इनका अपलाप

---

१. अवान्तर काल में 'वात्सीपुत्रीय' या 'साम्मितीय' नामक बौद्ध सम्प्रदाय (निकाय) ने पञ्चस्कन्धों के संघात से अतिरिक्त एक नित्य परमार्थ रूप में पुद्गल की सत्ता मानी है। इनके मत का विस्तृत खण्डन वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश के अन्तिम 'स्थान' (अध्याय) में बड़ी युक्ति से किया है। वात्सीपुत्रियों का यह एकदेशीय सिद्धान्त बौद्ध जनता के मस्तिष्क को अपनी ओर आकृष्ट न कर सका। (द्रष्टव्य Dr Schervatsky—The Soul Theory of the Buddhists.)

कथमपि नहीं हो सकता। आत्मा पाँच स्कन्धों का संघातमात्र है। स्कन्धों के नाम हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। जिसे हम व्यक्ति के नाम से पुकारते हैं, वह इन्हीं पाँच स्कन्धों का समुच्चयमात्र है। इन स्कन्धों की व्याख्या में बौद्ध-ग्रन्थों में पर्याप्त मतभेद है। वस्तुतः प्रत्येक जीव 'नामरूपात्मक' है। 'रूप' से अभिप्राय शरीर के भौतिक भाग से है और 'नाम' से तात्पर्य मानसिक प्रवृत्तियों से है। शरीर और मन के परस्पर संयोग से ही मानव व्यक्ति की स्थिति है। 'नाम' को चार भागों में बाँटा गया है--विज्ञान, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार।

(१) **रूपस्कन्ध**—'रूप' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गई है। 'रूप्यन्ते एभिर्विषयाः' अर्थात् जिनके द्वारा विषयों का रूपण किया जाय अर्थात् इन्द्रियाँ। दूसरी व्याख्या है—रूप्यन्ते इति रूपाणि अर्थात् विषय। इस प्रकार रूपस्कन्ध विषयों के साथ सम्बद्ध इन्द्रियों तथा शरीर का वाचक है।

(२) **विज्ञानस्कन्ध**—'अहं--मैं' इत्याकारक ज्ञान तथा इन्द्रियों से जन्य रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का ज्ञान--ये दोनों प्रवाहापन्न ज्ञान 'विज्ञान स्कन्ध' के द्वारा वाच्य हैं। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं का ज्ञान तथा आभ्यन्तर 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान--दोनों का ग्रहण इस स्कन्ध के द्वारा होता है[1]।

(३) **वेदनास्कन्ध**—प्रिय वस्तु के स्पर्श से सुख, अप्रिय के स्पर्श से दुःख तथा प्रिय-अप्रिय दोनों से भिन्न वस्तु के स्पर्श से न सुख और न दुःख की जो चित्त की विशेष अवस्था होती है वही वेदना स्कन्ध है। बाह्य वस्तु के ज्ञान होने पर उसके संसर्ग वा चित्त पर प्रभाव पड़ता है वही 'वेदना' है। वस्तु की भिन्नता के कारण वह तीन प्रकार की होती है—सुख, दुःख, न सुख न दुःख।

(४) इन सुख-दुःखात्मक वेदना के आधार पर हम उन वस्तुओं के यथार्थ ग्रहण में अब समर्थ होते हैं और उनके गुणों के आचार पर उनका नामकरण करते हैं। यही है **संज्ञास्कन्ध**। विज्ञान और संज्ञा में वही अन्तर है जो नैयायिकों के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष के बीच है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में हम वस्तुओं के विषय में इतना ही जानते हैं—यत्किञ्चिदिदम्—कुछ

---

१. विज्ञानस्कन्धोऽहमित्याकारो रूपादिविषय इन्द्रियजन्यो वा दण्डायमानः—भामती (२।२।१८) अहमित्याकारमालय-विज्ञानमिन्द्रियादिजन्यं च ज्ञानमेतद् द्वयं दण्डायमानं प्रवाहापन्नं विज्ञानस्कन्ध इत्यर्थः (कल्पतरु)

अस्फुट वस्तु है। परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष में हम उसे नाम, जाति आदि से संयुक्त करते हैं कि यह गाय है, वह श्वेतवर्ण की है तथा घास चरती है। यह दूसरा ज्ञान बौद्धों का 'संज्ञा स्कन्ध' है[१]।

(५) **संस्कार स्कन्ध**—इस स्कन्ध के अन्तर्गत अनेक मानसिक प्रवृत्तियों का समावेश किया जाता है, परन्तु प्रधानतया राग, द्वेष का। वस्तु की संज्ञा से परिचय मिलते ही उसके प्रति हमारी इच्छा या द्वेष का उदय होता है। रागादिक क्लेश, मदमानादि उपक्लेश तथा धर्म, अधर्म–ये सब इस स्कन्ध के अन्तर्गत हैं।

वस्तुतत्त्व की जानकारी के लिये यही क्रम उपयुक्त है, परन्तु बौद्धग्रन्थों में सर्वत्र 'विज्ञान स्कन्ध' को द्वितीयस्थान न देकर पंचम स्थान दिया गया है। इसकी उपयुक्तता वसुवन्धु ने अभिधर्मकोश में नाना कारणों से बतलाई है। उदाहरणार्थ, उनकी दृष्टि में यह क्रम स्थूलता को लक्ष्यकर निर्धारित है। स्थूल वस्तुओं का प्रथम निर्देश है। शरीर दृष्टिगोचर होने से स्थूलतम है। मानस व्यापारों में वेदना स्थूल है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सुख-दुःख की भावना को झट समझ लेता है। 'नाम' की स्थूलता इससे घटकर है। 'संस्कार' विज्ञान की अपेक्षा स्थूल है क्योंकि घृणा, श्रद्धा आदि प्रवृत्तिओं का समझना उतना कठिन नहीं है। 'विज्ञान' वस्तु के सूक्ष्मरूप का ज्ञान चाहता है। अतः उसे सूक्ष्म होने से अन्त में रखना उचित ही है[२]।

आत्मा के विषय में नागसेन

'मिलिन्द प्रश्न' में भदन्त नागसेन ने यवनराज मिलिन्द (इतिहास प्रसिद्ध 'मिनैण्डर' द्वितीय शतक ई० पू०) ने 'आत्मा' के बुद्धसम्मत सिद्धान्त को बड़े ही रोचक ढंग से समझाया है। मिलिन्द ने पूछा—आपके ब्रह्मचारी आपको 'नागसेन' नाम से पुकारे हैं, तो यह 'नागसेन' क्या है ? भन्ते क्या ये केश नागसेन हैं ?

---

१. संज्ञास्कन्धः सविकल्पप्रत्ययः संज्ञासंसर्गयोग्य प्रतिभासः यथा डित्थः कुण्डली गौरो ब्राह्मणो गच्छतीत्येवंजातीयकः—भामती । 'सविकल्पकप्रत्ययः' इत्यनेन विज्ञानस्कन्धो निर्विकल्प इति भेदः स्कन्धयोर्ध्वनितः (कल्पतरु)

२. अन्य कारणों के लिए द्रष्टव्य Macgovern: Manual of Buddhist Philosophy पृ० ९३-९४। यहाँ अभिधर्मकोष का आवश्यक अंश चीनी भाषा से अनूदित है।

नहीं, महाराज !

तो रोयें नागसेन हैं ?

नहीं महाराज !

ये नख, दाँत, चमड़ा, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा, वक्क, हृदय, यकृत्, क्लोम, प्लीहा, फुस्फुस, आँत, पतली आँत, पेट, पाखाना, पित्त, कफ, पीब, लोहू, पसीना, मेद, आँसू, चर्बी, लार, नेटा, लासिका दिमाग नागसेन हैं ?

नहीं, महाराज !

भन्ते, तब क्या आपका रूप नागसेन है ?...वेदनायें नागसेन हैं ; संज्ञा..., संस्कार विज्ञान...नागसेन हैं ?

नहीं, महाराज !

भन्ते, तो क्या रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सभी एक साथ नागसेन हैं ?

नहीं, महाराज !

तो क्या इन रूपादिकों से भिन्न कोई नागसेन हैं ?

नहीं, महाराज !

भन्ते, मैं आपसे पूछते पूछते थक गया, किन्तु 'नागसेन' क्या है ? इनका पता नहीं चलता। तो 'नागसेन' क्या शब्दमात्र है ? आखिर 'नाग सेन' है कौन ? आप झूठ बोलते हैं कि नागसेन कोई नहीं हैं।

तब आयुष्मान् नागसेन ने राजा मिलिन्द से कहा—महाराज, आप क्षत्रिय बहुत ही सुकुमार हैं। इस दोपहरिये की तपी और गर्म बालू और कंकड़ी से भरी भूमि पर पैदल आये हैं या किसी सवारी पर ?

भन्ते, मैं पैदल नहीं आया, रथ पर आया।

महाराज, यदि आप रथ पर आये तो मुझे बतावें कि आपका रथ कहाँ है ? क्या ईषा (दण्ड) रथ है ?

नहीं भन्ते।

क्या अक्ष (धुरे) रथ हैं ?

नहीं भन्ते।

क्या चक्के रथ हैं ?

नहीं भन्ते।

क्या रथ का पञ्जर···रथ की रस्सियाँ···लगाम···चाबुक रथ है।

नहीं भन्ते।

महाराज क्या ईषा अक्ष आदि सब एक साथ रथ हैं?

नहीं भन्ते।

महाराज, क्या ईषा आदि से परे कहीं रथ है?

नही भन्ते।

महाराज, मैं आप से पूछते पूछते थक गया, परन्तु पता नहीं चला कि रथ कहाँ है? क्या रथ केवल शब्दमात्र है? आखिर यह रथ क्या है? महाराज, आप झूठ बोलते हैं कि रथ नहीं है। महाराज सारे जम्बूद्वीप के आप सबसे बड़े राजा है। भला किसके डर से आप झूठ बोलते हैं !!!

× × ×

तब राजा मिलिन्द ने आयुष्मान् नागसेन से कहा—भन्ते, मैं झूठ नहीं बोलता। ईषा आदि रथ के अवयवों के आधार पर केवल व्यवहार के लिए 'रथ' ऐसा सब नाम कहा जाता है।

महाराज, बहुत ठीक। आपने जान लिया कि रथ क्या है? इसी तरह मेरे केश इत्यादि के आधार पर केवल व्यवहार के लिए[1] 'नागसेन' ऐसा एक नाम कह जाता है। परन्तु परमार्थ में, 'नागसेन' ऐसा कोई पुरुष विद्यमान नहीं है।

आत्म-विषयक बौद्धमत का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। दृष्टान्त भी नितान्त रोचक है।

पुनर्जन्म

अब प्रश्न यह है कि आत्मा के अनित्य संघातमात्र होने से पुनर्जन्म किस का होता है? बुद्ध पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते हैं। जीव जिस प्रकार का कर्म करता है, उसी के अनुसार वह नवीन जन्म ग्रहण करता है। वैदिक मत में यही मत मान्य है, परन्तु आत्मा को नित्य शाश्वत मानने के कारण वहाँ किसी प्रकार की भी विप्रतिपत्ति नहीं है, परन्तु बौद्धमत आत्मा के अस्तित्व को ही अस्वीकार

१. मिलिन्द प्रश्न (हिन्दी अनुवाद) पृ० ३१-३४।

करता है। तब पुनर्जन्म किसका होता है ? जिसने कर्म किया, वह अतीत में लीन हो जाता है और जो जन्मता है, उसने वे कर्म ही नहीं किये जिसके फल भोगने के लिए नये जन्म की जरूरत पड़ती[२]।

दीपशिखा का दृष्टान्त

राजा मिलिन्द का यही प्रश्न था कि जो उत्पन्न होता है, वह वही व्यक्ति है या दूसरा। नागसेन का उत्तर है—न वही है और न दूसरा। और इस सिद्धान्त को उन्हों ने 'दीपशिखा' के दृष्टान्त से अभिव्यक्त किया है। जो मनुष्य रात के समय दीपक जलाता है, क्या वह रात भर वही दीया जलता है ? साधारण रीति से यही प्रतीत होता है कि वह रातभर एकही दीया जलाता है, परन्तु वस्तु स्थिति तो बतलाती है कि रात के पहले पहर की दीपशिखा दूसरी थी, दूसरे और तीसरे पहर की दीपशीखा उससे भिन्न थी। फिर भी रात भर एक दीपक जलता रहता है। दीपक एक है, परन्तु उसकी शिखा (टेम) प्रतिक्षण परिवर्तन-शील है। आत्मा के विषय में भी ठीक यही दशा चरितार्थ होती है। 'किसी वस्तु के अस्तित्व के सिलसिले में एक अवस्था उत्पन्न होती है और एक लय होती है। और इस तरह प्रवाह जारी रहता है। प्रवाह की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता, क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उठ खड़ी होती है। इसी कारण पुनर्जन्म के समय न वही जीव रहता है और न दूसरा ही हो जाता है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है।'

दूध की बनी चीजों का दृष्टान्त

दूध की बनी हुई चीजों को ध्यान से देखने पर पूर्वोक्त सिद्धान्त ही पुष्ट प्रतीत होता है। दूध दुहे जाने पर कुछ समय के बाद जमकर दही हो जाता है, दही से मक्खन और मक्खन से घी बनाया जाता है। इस पर प्रश्न है कि जो दूध था वही दही, जो दही, वही मक्खन, जो मक्खन, वही घी। उत्तर स्पष्ट है—ये चीजें दूध नहीं है, दूध के विकार हैं—दूध से बनी हुई हैं। प्रवाह भी इसी प्रकार जारी रहता है। पुनर्जन्म के समय जन्म लेनेवाला जीव न तो वही है और न उससे भिन्न है। सच तो यह है कि विज्ञान की लड़ी प्रतिक्षण बदलती

१. विशेष द्रष्टव्य मिलिन्द—प्रश्न पृ० ४९।

हुई नित्य सी दीखती है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम उठ खड़ा होता है[1]। प्रतिक्षण में कर्म नष्ट होते चले जाते हैं, परन्तु उनकी वासना अगले क्षण में अनुस्यूत रूप से प्रवाहित होती है। इसलिए अनित्यता को मानते हुए भी बौद्धों ने पुनर्जन्म को तर्कयुक्त माना है।

(ग) अनीश्वरवाद

बुद्ध प्रथम कोटि के अनीश्वरवादी थे। उनके मत में ईश्वर की सत्ता मानने के लिए हमारे पास कोई भी उपयुक्त तर्क नहीं है। अपने उपदेशों में उन्होंने अपनी अनीश्वरवादी भावना को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया है जिसे पढ़कर प्रतीत होता है कि वे अनजाने और अनसुने ईश्वर के भरोसे अपने अनुयायियों को छोड़कर उन्हें अकर्मण्य तथा अनात्मविश्वासी बनाना नहीं चाहते थे।

पाथिकसुत्त (दीघ निकाय ३।१) में बुद्ध ने ईश्वर के कर्तृत्व का बड़ा उपहास किया है। केवट्टसुत्त (११) ने ईश्वर को भी अन्य देवताओं के तुल्य एक सामान्य देवता बतलाया है जो इन महाभूतों के निरोध के विषय में उन्हीं देवताओं के समान ही अज्ञानी है। इस प्रसङ्ग में बुद्ध का उपहास बड़ा मार्मिक तथा सूक्ष्म है। प्रसङ्ग यह बतलाया गया है कि एक बार भिक्षुसंघ के एक भिक्षु के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि ये चार महाभूत—पृथ्वीधातु, जलधातु, तेजोधातु, वायुधातु—कहाँ जाकर बिल्कुल निरुद्ध हो जाते हैं। समाहितचित्त होने पर देवलोकगामी मार्ग उसके सामने प्रकट हुए। वह भिक्षु वहाँ गया जहाँ चातुर्महाराजिक देवता निवास करते हैं। वहाँ जाकर इन महाभूतों के एकान्त निरोध के विषय में पूछा। उन्होंने अपनी अज्ञानता प्रकट की और उस भिक्षु को अपने से बढ़कर चार महाराजा नामक देवताओं के पास भेजा। वहाँ जाकर भी उसे वही नैराश्यपूर्ण उत्तर मिला। वहाँ से वह क्रमशः त्रायस्त्रिंश, शक्र, याम, सुयाम, तुषित, संतुषित, निर्माणरति, सुनिर्म्मित, परनिर्मित वशवर्ती, वशवर्ती, ब्रह्मकायिक नामक देवताओं के पास गया, जो क्रमशः प्रभाव तथा माहात्म्य में अधिक बतलाये गये। ब्रह्मकायिक देवता ने उसे कहा कि हे भिक्षु हमसे बहुत बढ़-चढ़कर ब्रह्मा हैं। वे महाब्रह्मा, विजयी, अपराजित, परार्थद्रष्टा, वशी, ईश्वर, कर्ता, निर्माता, श्रेष्ठ और सभी हुए

ईश्वर का उपहास

१. मिलिन्द प्रश्न (हिन्दी अनुवाद) पृ० ४९-५०।

तथा होनेवाले पदार्थों के पिता हैं। वही इस प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं। उनका स्थान हमलोग नहीं जानते, पर लोग कहते हैं कि बहुत आलोक और प्रभा के प्रकट होने पर ब्रह्मा प्रकट होते हैं। महाब्रह्मा प्रकट हुए और उन्होंने अहम्मन्यता-भरे शब्दों में अपने को ब्रह्मा तथा ईश्वर बतलाया, परन्तु उक्त प्रश्न पूछने पर जो उन्होंने उत्तर दिया वह नितान्त उपाहासास्पद था। उन्होंने कहा हे भिक्षु, ब्रह्मलोक के देवता मुझे ऐसा समझते हैं कि ब्रह्मा से कुछ अज्ञात नहीं है, अदृष्ट, अविदित, असाक्षात्कृत नहीं है; परन्तु मैं स्वयं ही नहीं जानता कि ये महाभूत कहाँ निरुद्ध होते हैं। तुमने बड़ी गलती की कि भगवान् बुद्ध को छोड़कर इस प्रश्न के उत्तर के लिए मेरे पास आये। देवता लोग मुझे सर्वज्ञ बतलाते हैं, परन्तु मुझ में सर्वज्ञता नहीं है। तब उस भिक्षु को बुद्ध ने उपदेश दिया कि जहाँ अनिदर्शन (उत्पत्ति-स्थिति-लय से विरहित), अनन्त और अत्यन्त प्रभायुक्त निर्वाण है, वहीं चारों महाभूतों का बिल्कुल निरोध होता है।

इस प्रसङ्ग को देखकर बुद्ध की भावना का परिचय मिलता है। वे ईश्वर को इस जगत् का न तो कर्ता मानते हैं और न उन्हें सर्वज्ञ मानने के लिए तैयार हैं। यदि किसी को ईश्वर की सत्ता में श्रद्धा है, तो श्रद्धा बनी रहे। परन्तु ईश्वर को सर्वज्ञ मानना नितान्त युक्तिविहीन है। वे अपना अज्ञान अपने मुँह स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हैं।

तेविज्ज सुत्त (दी० नि० १३) में बुद्ध ने इस प्रश्न की पुनः समीक्षा की है। उन्होंने वेद-रचयिता ऋषियों तथा ब्राह्मणों को अनभिज्ञ बतलाकर उनके द्वारा उद्भावित मार्गों को भी अप्रामाणिक बतलाया है। ब्राह्मणों में पाँचों नीवरण (कामच्छन्द आदि बन्धन) पाये जाते हैं। अतः उनका सिद्धान्त दूषित है। जब वे ईश्वर (ब्रह्मा) को न तो जानते और न देखते हैं, तब उनकी सलोकता प्राप्त करने वाले मार्ग का उपदेश क्यों कर माना जाय? त्रैविद्य ब्राह्मणों का कथन तो 'अन्धवेणी' के समान है[1]। जैसे अन्धों की पाँत एक दूसरे से जुड़ी हो, आगे वाला भी नहीं देखता, बीचवाला भी नहीं देखता, पीछे वाला भी नहीं देखता। उनके कथन में विश्वास करना अज्ञातगुणा किसी जनपद-कल्याणी की कामना के समान गर्हणीय है। जो धर्म ब्राह्मण बनाने वाले हैं उन धर्मों को छोड़ कर

१. द्रष्टव्य दीघनिकाय (हि० अ०) पृ० ८८-८९।

अन्य धर्मों से युक्त पुरुष कितना भी देवता या ईश्वर की स्तुति करे उसकी स्तुति सफल नहीं होती। क्या किसी काकपेया जलपूर्ण नदी के इस तीर पर खड़ा होनेवाला पुरुष अपरतीर को बुलावे, तो क्या अपरतीर इधर चला आवेगा? नहीं, कथमपि नहीं। इसी कारण त्रैविद्य ब्राह्मणों के द्वारा ईश्वर-तत्त्व उपदिष्ट हुआ है, अतएव वह माननीय है तथा प्रामाणिक है, इस सिद्धान्त को बुद्ध मानने के लिए कथमपि तत्पर नहीं हैं। बुद्ध बुद्धिवादी व्यक्ति थे। जो कल्पना बुद्ध की कसौटी पर नहीं कसी जा सकती है, उसे वे मानने को सर्वथा पराङ्मुख थे।

(घ) अभौतिकवाद

बुद्ध के इन विचारों को पढ़कर लोगों के मन में भावना उठ सकती है कि बुद्ध भौतिकवादी थे, जड़ प्रकृति के ही उपासक थे। इस संसार से अतिरिक्त किसी अन्य लोक की सत्ता नहीं मानते थे। परन्तु यह कल्पना अयथार्थ है। बुद्ध अनात्मवादी तथा अनीश्वरवादी होने पर भी भौतिकवादी न थे। जब उनके जीवन में भौतिकवादियों से उनकी या उनके शिष्यों की भेंट हुई, तब उन्होंने सदा जोरदार शब्दों में उनके मत का खण्डन किया।

पायासिराजञ्ञ सुत्त (दी० नि० २।१०) के अध्ययन से बुद्धमत के अभौतिकवादी होने का नितान्त स्पष्ट प्रमाण मिलता है। पायासी राजन्य बुद्ध का ही समकालीन था। वह कोशलराज प्रसेनजित् के द्वारा प्रदत्त 'सेतव्या' नामक नगरी का स्वामी था। उसकी यह मिथ्या दृष्टि थी—यह लोक भी नहीं है, परलोक भी नहीं है; जीव मर कर पैदा नहीं होते, अच्छे और बुरे कर्मों का कोई भी फल नहीं होता। पायासी सचमुच चार्वाक मत का अनुयायी था। अपने मत की पुष्टि में उसकी तीन युक्तियाँ थीं[1]—(१) मरे हुए व्यक्ति लौटकर कभी परलोक के समाचार सुनाने के लिए नहीं आते। (२) धर्मात्मा आस्तिकों को भी मरने की इच्छा नहीं होती। यदि इस लोक में पुण्यसंभार का फल स्वर्ग तथा आनन्द प्राप्त करना है तो क्यों धर्मात्मा पुरुष अपनी मृत्यु की कामना नहीं करता? (३) मृतक शरीर से जीव के जाने का कोई भी चिह्न नहीं मिलता। मरते समय उसकी देह से जीव को निकलते हुए किसी ने नहीं देखा; जीव के निकल जाने से शरीर हलका नहीं हो जाता, प्रत्युत वह पहिले से भी भारी बन बैठता है। इस तर्क

१. दीघनिकाय (हि० अ०) पृ० २००–२०६।

के बल पर वह अनेक दार्शनिक को चुनौती देता फिरता था। एक बार उसे गौतम के शिष्य (श्रावक) श्रवण कुमार काश्यप से उसी नगर में भेंट हुई। काश्यप ने उसकी युक्तियों को बड़ी ही सुन्दरता से खण्डन कर परलोक की सत्ता, पुण्यापुण्य-कर्मों का फल तथा जीव को शरीर से भिन्नता का प्रतिपादन किया। बुद्ध का यही मत है। बुद्ध समझते थे कि भौतिकवाद का अवलम्बन उनके ब्रह्मचर्य तथा समाधि के लिए नितान्त प्रतिबन्धक है। एक अवसर पर इसीलिए उन्होंने कहा[1]—'वही जीव है, वही शरीर है' = दोनों एक हैं, ऐसा मत होने पर ब्रह्मचर्य वास नहीं हो सकता। 'जीव दूसरा है' 'शरीर दूसरा है' ऐसा मत होने पर भी ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता'।

इस साभिप्राय कथन का तात्पर्य यह है कि भौतिकवादी और आत्मवादी के लिए ब्रह्मचर्य-वास—साधु जीवन-की युक्तिमत्ता ठीक नहीं उतरती। साधुजीवन बिताने की इच्छा तभी मनुष्य करता है जब उसे परलोक में शोभन फल पाने का दृढ़ निश्चय होता है। परन्तु भौतिकवादी परलोक को मानता ही नहीं। अतः उसके लिए साधुजीवन व्यर्थ है। आत्मा को नित्य, शाश्वत मानने वाले व्यक्ति के लिए भी यह व्यर्थ है, क्योंकि शाश्वत आत्मा में साधु जीवन के अनुष्ठान से किसी प्रकार का संशोधन नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में अनात्मवादी बुद्ध भौतिकवाद के पक्के विरोधी थे तथा आस्तिकवाद के कट्टर समर्थक थे। उनकी आचार शिक्षा की यही दार्शनिक भित्ति है। इस प्रकार हीनयान के दार्शनिक तत्त्वों के अनुशीलन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसे चार सिद्धान्त मान्य थे—(क) प्रतीत्य समुत्पाद, (ख) अनात्मवाद, (ग) अनीश्वरवाद तथा (घ) अभौतिकवाद। ये तथ्य बौद्ध धर्म के प्रतिष्ठा-पीठ हैं।

---

१. अंगुत्तर निकाय ३।

द्वितीय खण्ड

(धार्मिक विकाश)

आलम्बनमहत्त्वं च प्रतिपत्तेर्द्वयोस्तथा ।
ज्ञानस्य वीर्यारम्भस्य उपाये कौशलस्य च ॥
उदागममहत्त्वञ्च महत्त्वं बुद्धकर्मणः ।
एतन्महत्त्वयोगाद्धि महायानं निरुच्यते ॥

(असंग—महायान सूत्रालंकार १९।५९-६०)

अष्टम परिच्छेद

(क) निकाय तथा उनके मत

अष्टादश निकाय

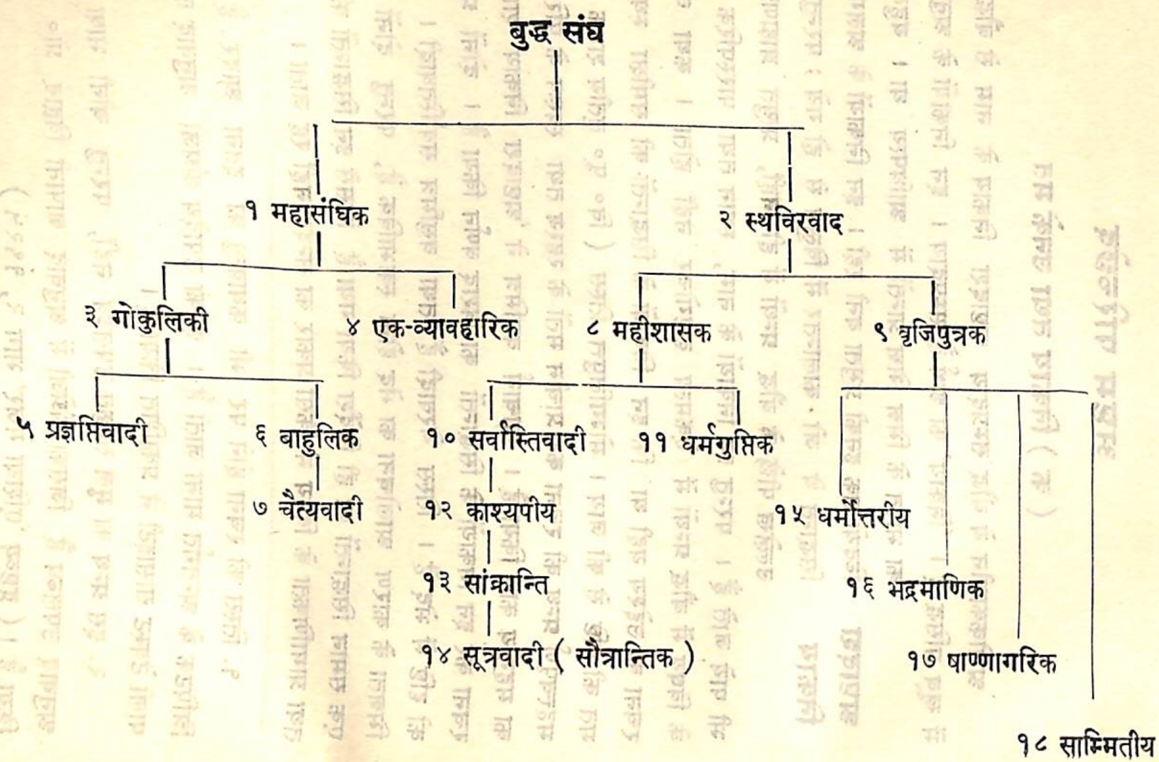
अशोककालीन ये बौद्ध सम्प्रदाय अष्टादश निकाय के नाम से बौद्ध ग्रन्थों में खूब प्रसिद्ध हैं। 'निकाय' का अर्थ है सम्प्रदाय। इन निकायों के अनुयायियों का भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों में आधिपत्य था। बहुत शताब्दियों तक इनकी प्रभुता बनी रही। इन निकायों के अलग अलग सिद्धान्त थे जो कालान्तर में विलुप्त से हो गये; परन्तु उनके उल्लेख पीछे के बौद्ध ग्रन्थों में ही नहीं, प्रत्युत ब्राह्मणग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। परन्तु इन निकायों के नाम, स्थान तथा पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में बौद्ध ग्रन्थों में ऐकमत्य दृष्टिगोचर नहीं होता। कथा वत्थु[1] की रचना का उद्देश्य यही था कि इन निकायों के सिद्धान्तों की समीक्षा स्थविरवादी मत की दृष्टि से की जाय। मोग्गलिपुत्त तिस्स (वि० पू० तृतीय शतक) ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना कर प्राचीन मतों के रहस्य तथा स्वरूप के परिचय देने का महनीय कार्य किया है। आचार्य वसुमित्र ने 'अष्टादश निकाय शास्त्र'[2] की रचना कर इन निकायों के सिद्धान्तों का विशद वर्णन किया है। दोनों ग्रन्थकारों की दृष्टि में भेद है। तिस्स थेरवादी हैं तथा वसुमित्र सर्वास्तिवादी। दृष्टि की भिन्नता के कारण आलोचना का भेद होना स्वाभाविक है, परन्तु दोनों में प्रायः एक समान सिद्धान्तों का ही निर्देश किया गया है जिससे इन सिद्धान्तों की ख्याति तथा प्रामाणिकता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

---

१. तिस्स की रचना होने पर भी कथावत्थु का इतना आदर है कि वह त्रिपिटक के अन्तर्गत माना जाती है। इसका उपादेय अंग्रेजी अनुवाद लण्डन की पाली टेक्स्ट सोसाइटी ने प्रकाशित किया है।

२. इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत उपलब्ध नहीं, परन्तु चीनी भाषा में इसका अनुवाद उपलब्ध है जिसका अंग्रेजी में अनुवाद जापानी विद्वान् प्रो० मसूदा ने किया है। (द्रष्टव्य 'एशिया मेजर' भाग २, १९२५)

'कथावत्थु' की अट्ठकथा के अनुसार इन अष्टादश निकायों का विभाजन इस प्रकार से था—



चीन भाषा में अनुवादित भदन्त वसुमित्र-प्रणीत 'अष्टादश निकाय' ग्रन्थ के अनुसार यह अठारह शाखाभेद इस प्रकार है :—

- बुद्ध-धर्म
  - १ स्थविरवादी
    - २ हैमवत
    - ३ वात्सीपुत्रीय
    - ४ धर्मोत्तरीय
    - ५ भद्रयाणीय
    - ६ सम्मितीय
    - ७ षाण्णागरिक
    - ८ सर्वास्तिवादी
      - ९ महीशासक
        - १० धर्मगुप्त
      - ११ काश्यपीय
      - १२ सौत्रान्तिक
  - १३ महासंघिक
    - १४ शि. चि. लुन (प्रज्ञप्तिवादी ?)
      - १५ चैतीय
    - १६ लोकोत्तरवादी
    - १७ एक व्यावहारिक
    - १८ गोकुलिक

इन अष्टादश निकायों की उत्पत्ति अशोक से पहिले ही हो चुकी थी। पर उनके बाद इस साम्प्रदायिक मतभेद का प्रवाह रुका नहीं, प्रत्युत बौद्ध धर्म के विपुल प्रसार के साथ-साथ विभिन्न सिद्धान्तों की कल्पना के कारण नवीन सम्प्रदायों की उत्पत्ति तथा पुष्टि होती ही रही। 'कथावत्थु' में इन अवान्तर तथा अपेक्षाकृत नवीन मतों के भी सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ चैत्यवादी सम्प्रदाय से आन्ध्र-भृत्य राजाओं के राज्य में विस्तार पानेवाले 'अन्धक' सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। आन्ध्रभृत्यों की राजधानी धान्यकटक (जिला गुन्टूर का 'धरणीकोट' नगर) इस सम्प्रदाय का केन्द्रस्थल था। इसी अन्धक सम्प्रदाय से ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में चार अन्य सम्प्रदायों का जन्म हुआ— **पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, राजगिरिक तथा सिद्धार्थक।** धान्यकटक का प्रधान स्तूप ही महाचैत्य के नाम से प्रसिद्ध था। इसी कारण वहाँ का सम्प्रदाय 'चैत्यवादी' कहलाया। 'राजगिरिक' तथा 'सिद्धार्थक' नामकरण के कारण का पता नहीं चलता, परन्तु 'पूर्वशैलीय' तथा 'अपरशैलीय' सम्प्रदाय धान्यकटक के पूर्व तथा पश्चिम में होनेवाले दो पर्वतों के ऊपर स्थित विहारों के कारण इन नामों से अभिहित हुये हैं। इसका पता हमें भोटियाग्रन्थों से चलता है। राजगिरिक भी अन्धक सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त थे परन्तु आन्ध्र देश में इनका केन्द्र 'राजगिरि' कहाँ था? यह नहीं कहा जा सकता। 'कथावत्थु' में इनके एगारह सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है जिनमें से आठ इनके तथा सिद्धार्थकों के एक समान हैं। अतः इन दोनों का आपस में सम्बन्ध रखना अनुमानसिद्ध है। सिद्धार्थक के नामकरण का तो पता नहीं चलता, परन्तु इनके सिद्धान्तों की समानता बतलाती है कि या तो एक दूसरे से निकला था या दोनों का उद्गम स्थान एक ही था। ये चारो ही अन्धक निकाय आन्ध्रसम्राटों के समय में बहुत ही उन्नत दशा में थे। आन्ध्र राजा तथा उनकी रानियाँ बौद्धधर्म में विशेष अनुराग रखती थीं, इसी कारण आन्ध्रदेश अनेक शताब्दियों तक बौद्ध धर्म का क्रीड़ा-स्थल रहा है।

अन्धक सम्प्रदाय की उपशाखायें

इन्हीं 'अन्धक निकायों' का परिनिष्ठित विकसित रूप 'महायान' है। महासंघिकों ने जिस सिद्धान्तों को लेकर अपना सम्प्रदाय स्थविरवादियों से पृथक् किया

महायान के विशिष्ट सिद्धान्त

उन्हीं सिद्धान्तों का अन्तिम विकास महायान सम्प्रदाय में हुआ। यान का अर्थ है मार्ग और महा का अर्थ है बड़ा। अतः महायान का अर्थ हुआ बड़ा या श्रेष्ठ अथवा प्रशस्त मार्ग। इस मत के अनुयायियों का कहना है कि जीव को चरम लक्ष्य तक पहुचाने में यही मार्ग सबसे अधिक सहायक है। स्थविरवाद अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुँचाता। इसीलिये उसे 'हीनयान' संज्ञा दी गयी। हीनयान से महायान की विशेषता अनेक विषयों में स्पष्ट है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण इस मत के अनुयायी अपने को महायानी—अर्थात् प्रशस्त मार्गवाला-कहते थेः—

(१) **बोधिसत्त्व की कल्पना**—हीनयान मत के अनुसार अर्हत् पद की प्राप्ति ही भिक्षु का परम लक्ष्य है। निर्वाण प्राप्त कर लेने पर भिक्षु क्लेशों से रहित होकर आत्म-प्रतिष्ठित हो जाता है। वह जगत् का उपकार कर नहीं सकता। परन्तु बोधिसत्त्व महामैत्री और करुणा से सम्पन्न होता है। उसके जीवन का लक्ष्य ही जगत् के प्रत्येक प्राणी को क्लेश से मुक्त करना तथा निर्वाण में प्रतिष्ठित कराना होता है।

(२) **त्रिकाय की कल्पना**—धर्मकाय, संभोगकाय और निर्माणकाय-ये तीनों काय महायान को मान्य हैं। हीनयान में बुद्ध का निर्माण काय ही अभीष्ट है। वे लोग धर्मकाय की भी कल्पना किसी प्रकार मानते थे। परन्तु हीनयानी धर्मकाय से महायानी धर्मकाय में विशेष अन्तर है।

(३) **दशभूमि की कल्पना**—हीनयान के अनुसार अर्हत् पद की प्राप्ति तक केवल चार भूमियाँ हैं—(१) स्रोतापन्न (२) सकृदागामी (३) अनागामी तथा (४) अर्हत्। परन्तु महायान के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति तक दशभूमियाँ होती हैं। ये सोपान की तरह हैं। एक के पार करने पर साधक दूसरे में प्रवेश करता है।

(४) **निर्वाण की कल्पना**—हीनयानी निर्वाण में क्लेशावरण का ही अपनयन होता है, परन्तु महायानी निर्वाण में ज्ञेयावरण का भी अपसारण होता है। एक दुःखाभाव रूप है, तो दूसरा आनन्द रूप है।

(५) **भक्ति की कल्पना**—हीनयान मार्ग बिल्कुल ज्ञानप्रधान मार्ग है। है। बुद्ध के अष्टाङ्गिक मार्ग पर चलना ही उसका चरम लक्ष्य है। परन्तु महा-

यान में भक्ति का पर्याप्त स्थान है। बुद्ध साधारण मानव न होकर लोकोत्तर पुरुष थे। उनकी भक्ति करने से ही मानव इस दुःखवहुल संसार से पार जा सकता है। भक्ति को प्रश्रय देने के कारण ही महायान के समय में बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण होने लगा। अतः महायान के कारण बौद्धकला—चित्रकला तथा मूर्तिकला—की विशेष उन्नति हुई। गुप्तकाल में बौद्धकला के विकास का यही प्रधान कारण है।

इन्हीं उपर्युक्त महायान सम्प्रदाय की विशेषताओं का विस्तृत विवेचन आगे चलकर किया जायेगा।

(ख) निकायों के मत

(१) महासंघिक का मत

अष्टादश निकायों के मतों के उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नही। केवल दो प्रधान मतों का विवरण यहाँ दिया जाता है। मूल बौद्धसंघ से अलग होनेवाला यही पहला सम्प्रदाय था। वैशाली की द्वितीय संगीति (सभा) के समय में ही ये लोग अलग हो गये और कौशाम्बी में जाकर दश सहस्र भिक्षुओं के संघ के साथ अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करने के लिये इन्होंने अलग सभा की। स्थविरवादी कट्टरपन्थी थे परन्तु महासंघिक विनय के कठिन नियमों में संशोधन कर साधारण लोगों के लिये अनुकूल बनाने के पक्ष में थे। इनके विनयविषयक सिद्धान्तों के विषय में हमें कुछ भी नहीं कहना है। आजकल की दृष्टि से उनका संशोधन विशेष महत्त्व का नहीं प्रतीत होता; परन्तु उनका बुद्ध और धर्म विषयक सिद्धान्त पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। तिष्य तथा वसुमित्र दोनों ने इन सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन किया है। यहाँ इनके कतिपय प्रसिद्ध सिद्धान्तों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा।

महासंघिकों का यह सर्वमान्य सिद्धान्त था कि बुद्ध मनुष्य नहीं थे अपि तु लोकोत्तर थे। उनका शरीर अनास्रव (विशुद्ध, दोष रहित) धर्मों से रचित था। अतः वे निद्रा-स्वप्न इन दोनों भावों से विमुक्त थे। वे अपरिमित रूपकाय को धारण कर सकते थे अर्थात् उनमें इतनी शक्ति थी कि वे अपनी इच्छानुसार अगणित भौतिक शरीरों को एक साथ ही धारण कर सकते थे। उनका बल अपरिमित था

(१) बुद्ध की लोकोत्तरता

तथा उनकी आयु भी असंख्य थी। वे अवान्तर बातें बुद्ध के लोकोत्तर होने से स्वतः सिद्ध हैं।

२—बुद्ध ने जिन सूत्रों का उपदेश दिया है वे स्वतः परिपूर्ण हैं। बुद्ध ने धर्म को छोड़कर अन्य किसी बात का उपदेश दिया ही नहीं। अतएव उनकी शिक्षा परमार्थ सत्य के विषय में है; व्यावहारिक सत्य के विषय में नहीं। परमार्थ सत्य शब्दों के द्वारा अवर्णनीय है। पाली त्रिपिटकों में दी गयीं शिक्षायें व्यावहारिक सत्य के विषय में हैं, परमार्थ के विषय में नहीं।

३—बुद्ध की अलौकिक शक्तियों की इयत्ता नहीं। वे जितनी चाहें उतनी शक्तियाँ एक साथ प्रकट कर सकते हैं।

४—अन्धकों कहना है कि बुद्ध और अर्हत् दोनों एक कोटि में नहीं रक्खे जा सकते। दोनों में दस प्रकार के 'बल' होते हैं[1]। अन्तर इतना ही है कि बुद्ध 'सर्वाकारज्ञ' हैं अर्थात् उनका ज्ञान प्रत्येक वस्तु के विषय में विस्तृत व्यापक तथा परिपूर्ण होता है परन्तु अर्हत् का ज्ञान एकाङ्गी और अपूर्ण होता है।

(२) बोधिसत्व की कल्पना

बोधिसत्त्व संसार के प्राणियों को धर्म का उपदेश करने के लिये स्वतः अपनी स्वतन्त्र इच्छा से जन्म ग्रहण करते हैं। जातकों की कथाओं में इस सिद्धान्त का पर्याप्त परिचय मिलता है तथा महायान के प्रमुख आचार्य शान्तिदेव 'शिक्षा-समुच्चय' तथा 'धर्मचर्यावतार' में इसका भली-भाँति वर्णन किया है। बोधिसत्त्वों को मातृ-गर्भ में भ्रूण के नाना-वस्थाओं को पार करने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्युत वे स्वेत हस्ती के रूप में माता के गर्भ में प्रवेश करते हैं और उसी

---

१. दस प्रकार के बल से समन्वित होने के कारण ही बुद्ध का नाम **'दशबल'** है। दशबलों के नाम ये हैं—

(१) स्थानास्थानं वेत्ति (२) सर्वत्र गामिनीं च प्रतिपदं वेत्ति। (३) नानाधातुकं लोकं विन्दति (४) अधिमुक्तिनानात्वं वेत्ति। (५) परपुरुषचरितकुशलानि वेत्ति (६) कर्मबलं प्रति जानन्ति शुभाशुभम् (७) क्लेश व्यवदानं वेत्ति, ध्यानसमापत्तिं वेत्ति (८) पूर्वनिवासं वेत्ति (९) परिशुद्धदिव्यनयना भवन्ति। (१०) सर्वक्लेश विनाशं प्राप्नोन्ति। महावस्तु पृ० १५९-१६०। ये ही दशबल इसी रूप में कथावत्थु और मज्झिम निकाय में भी उपलब्ध हैं।

रात को दाहिने तरफ से निकलकर जन्म ग्रहण कर लेते हैं। बोधिसत्त्व की यह कल्पना नितान्त नवीन है। परन्तु स्थविरवादी इसमें तनिक भी विश्वास नहीं करते[1]।

अर्हत् के स्वरूप लेकर भी महासंघिकों ने पर्याप्त आलोचना की है। थेरवादियों के अनुसार अर्हत् ही प्रत्येक व्यक्ति का महनीय आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिये हर साधक को सर्वथा प्रयत्नशील होना चाहिये। परन्तु यह

(३) अर्हत् का स्वरूप

सिद्धान्त नवीन मतवालों को पसन्द नहीं था। इनके अनुसार (क) अर्हत दूसरों के द्वारा लुभाया जा सकता है। (ख) अर्हत् होने पर भी उसमें अज्ञान रहता है। (ग) अर्हत् होने पर भी उसे संशय और संदेह होते हैं (घ) अर्हत् दूसरों की सहायता से ज्ञान प्राप्त करता है। अर्हत् विषयक इन विचारों का खण्डन थेरवादी तिस्स ने 'कथावत्थु' में किया है।

(४) स्रोतापन्न

स्रोतापन्न साधक अपने मार्ग से च्युत होकर पराङ्मुख होता है परन्तु अर्हत् कभी अपने मार्ग से च्युत नहीं होता। एक बार अर्हत् पद की प्राप्ति होने पर वह सदा ही पदस्थ (स्थिर) रहता है। वह कभी भी अपदस्थ नहीं हो सकता।

(५) इन्द्रिय

इन्द्रियों का रूप केवल भौतिक है। वे केवल मांसरूप हैं। नेत्र इन्द्रिय न तो विषयों को देखती है और न श्रोत्र इन्द्रिय विषयों को सुनती है। इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करती ही नहीं। यह सिद्धान्त वसुमित्र के ग्रन्थ के आधार पर है परन्तु 'कथावत्थु' में ता महासंघिकों की इन्द्रियविषयक कल्पना ठीक इससे विपरीत दी गयी है।

६ असंस्कृत धर्म

सर्वास्तिवादियों (जो स्थविरवादियों की ही उपशाखा हैं) के अनुसार असंस्कृत धर्म तीन हैं (क) आकाश (ख) प्रतिसंख्यानिरोध (ग) अप्रतिसंख्यानिरोध। परन्तु महासंघिकों के अनुसार इनकी संख्या ९ है। तीन तो यही हैं, चार आरूप्य हैं—(१) आकाशानन्त्यायतन। (२) विज्ञानानन्त्यायतन। (३) अकिञ्चिनायतन (४) नैवसंज्ञानासंज्ञायतन तथा दो धर्म अन्य भी हैं[2]।

---

१. कथावत्थु ४।८, १२।५, १३।४।

२. महासंघिक मत के सिद्धान्त के लिये देखिये—

(२) सम्मितीय सम्प्रदाय

सम्मितीयों का प्रसिद्ध नाम वात्सीपुत्रीय है। यह थेरवाद की ही उपशाखा है जो कि अशोक से पूर्व में ही मूल शाखा से अलग हो गयी थी। हर्षवर्धन के समय में इस सम्प्रदाय की विशेष प्रधानता थी। इसका पता तत्कालीन चीनी यात्रियों के विवरणों से मिलता है। इस सम्प्रदाय की प्रधानता पश्चिम में सिन्ध प्रान्त में तथा पूर्व में बङ्गाल में थी। इनके अपने विशिष्ट सिद्धान्त थे परन्तु इनके पुद्गल के सिद्धान्त ने अन्य सिद्धान्तों को दवा दिया था। ब्राह्मण दार्शनिकों (विशेषकर उद्योतकर और वाचस्पति) ने सम्मितीयों के पुद्गलवाद का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। इस सिद्धान्त की महत्ता का परिचय इसी बात से लग सकता है कि वसुबन्धु ने अपने अभिधर्मकोष के अन्तिम परिच्छेद में 'पुद्गलवाद' का विस्तृत खण्डन किया है तथा तिष्य ने 'कथावत्थु' में खण्डन करने के लिये सर्व प्रथम इसी मत को लिया है।

नामकरण

सम्मितीयों ने लोकानुभव की परीक्षा कर यह परिणाम निकाला है कि इस शरीर में 'अहं' इस प्रकार की एकाकार प्रतीति लक्षित होती है जो क्षणिक न होकर चिरस्थायी है। यह प्रतीति पञ्च स्कन्धों के सहारे उत्पन्न नहीं की जा सकती। कोई भी पुरुष केवल एक ही व्यक्ति के रूप में कार्य करता है या सोचता है, पाँच विभिन्न वस्तुओं के रूप में नहीं। मनुष्य के गुण (जैसे स्रोतापन्नत्व) भिन्न-भिन्न जन्मों में भी एक ही रूप से अनुस्यूत रहते हैं। इन घटनाओं से हमें बाध्य होकर मानना पड़ता है कि पञ्च-स्कन्धों के अतिरिक्त एक नवीन मानस व्यापार विद्यमान है जो अहंभाव का आश्रय है तथा एक जन्म से दूसरे जन्म में कर्मों के प्रवाह को अविच्छिन्न रूप से बनाये रहता है। स्कन्धों के परिवर्तन के साथ ही साथ मानस व्यापार भी बदलता रहता है। अतः इन पंचस्कन्धों के द्वारा ही अतीत जन्म तथा उसके घटनाओं की स्मृति की व्याख्या भली-भाँति नहीं हो सकती। अतः बाध्य होकर सम्मितीयों ने एक छठें (षष्ठ) मानस व्यापार की सत्ता अङ्गीकार की। इसी मानस व्यापार का नाम 'पुद्गल' है। यह पुद्गल स्कन्धों के साथ ही रहता है। अतः निर्वाण में

पुद्गलवाद

डा० दत्त—(इ० हि० क्वा० भाग १३ पृ० ५४९–५८०)
(इ० हि० क्वा० भाग १४ पृ० ११०–११३)

जब स्कन्धों का निरोध हो जाता है तब पुद्गल का भी उपशम अवश्यंभावी है। यह पुद्गल न तो संस्कृत कहा जा सकता है और न असंस्कृत। पुद्गल स्कन्धों के समान क्षणिक नहीं है। अतएव उसमें संस्कृत धर्मों का गुण विद्यमान नहीं रहता। पुद्गल निर्वाण के समान न तो अपरिवर्तनीय है और न नित्यस्थायी है। इसलिए उसको असंस्कृत भी नहीं कह सकते। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वसुमित्र ने इन शब्दों में किया है—

(१) पुद्गल न तो स्कन्ध ही है और न स्कन्ध से भिन्न है। स्कन्धों, आयतनों तथा धातुओं के समुदाय के लिये पुद्गल शब्द का व्यवहार किया जाता है।

(२) धर्म पुद्गल को छोड़ करके जन्मान्तर ग्रहण नहीं कर सकते। जब वे जन्मान्तर ग्रहण करते हैं तो पुद्गल के साथ ही करते हैं[1]।

वसुमित्र ने पुद्गलवाद के अतिरिक्त अन्य कई सिद्धान्तों का वर्णन किया है[2]। वे नीचे दिये जाते हैं। (क) पञ्चविज्ञान न तो राग उत्पन्न करते हैं और न विराग। (ख) विराग उत्पन्न करने के लिये साधक को संयोजनों को छोड़ना पड़ता है। दर्शन मार्ग में रहने पर संयोजनों का नाश नहीं होता, प्रत्युत भावना-मार्ग में पहुंचने पर इन संयोजनों का नाश अवश्यंभावी है[3]।

अन्य सिद्धान्त

१. थेरवादी और सर्वास्तिवादी दोनों ने बड़े विस्तार तथा गम्भीरता के साथ इस मत का खण्डन किया है। द्रष्टव्य-चेरबास्की-सोल थ्योरी आफ बुद्धिष्ट्स (पिटर्सबर्ग १९१८); कथावत्थु का प्रथम परिच्छेद। यह पुद्गल सम्मितीयों का विशिष्ट मत था परन्तु भद्रयानिक, धर्मगुप्त तथा संक्रान्तिवादी सम्प्रदाय के अनुयायी लोग भी इस व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि यह व्यक्ति अनिर्वचनीय रूप है। न तो पञ्चस्कन्धों के साथ इसका तदात्म्य है और न भेद।

२. सम्मितीयों के सिद्धान्त के लिये द्रष्टव्य
(डा० पुसें-इन्साइक्लोपिडिया आफ रिलिजन एन्ड एथिक्स भाग ११ पृ० १६८-६९ तथा (इ० हि० क्वा० भाग १५ पृ० ९०-१००)

३. अष्टादश निकायों में महत्त्वपूर्ण होने के कारण केवल दो ही निकायों का वर्णन दिया गया है। अन्य निकायों के वर्णन के लिये देखिये—
(कथावत्थु के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृ० ११-२७ पाली टेक्स्ट सोसाइटी)

नवम परिच्छेद

महायान सूत्र

(सामान्य इतिहास)

महायान सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट त्रिपिटक नहीं है और यह हो भी नहीं सकता, क्योंकि महायान किसी एक सम्प्रदाय का नाम नहीं है। इसके अन्तर्गत अनेक संप्रदाय हैं जिनके दार्शनिक सिद्धान्तों में अनेकतः पार्थक्य है। ह्वेनसांग ने अपने ग्रन्थ में बोधिसत्त्वपिटक का नामोल्लेख किया है और महायान के अनुसार विनयपिटक और अभिधम्म पिटक का भी निर्देश किया है। परन्तु यह कल्पित नाम प्रतीत होता है। यह किसी एक विशेष त्रिपिटक का नाम नहीं। नेपाल में नव ग्रन्थ विशेष आदर तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं। इन्हें नवधर्म के नाम से पुकारते हैं। यहाँ धर्म से अभिप्राय धर्मपर्याय (धार्मिक ग्रन्थों) से है। इन ग्रन्थों के नाम हैं—(१) अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता। (२) सद्धर्म पुण्डरीक (३) ललित विस्तर (४) लंकावतार सूत्र (५) सुवर्णप्रभास (६) गण्डव्यूह (७) तथागत गुह्यक अथवा तथागत गुणज्ञान (८) समाधिराज।(९) दशभूमिक अथवा दशभूमेश्वर। इन्हें 'वैपुल्यसूत्र' कहते हैं जो महायान सूत्रों की सामान्य संज्ञा है। ये ग्रन्थ एक संप्रदाय के नहीं हैं और न एक समय की ही रचनाएं हैं। सामान्य रूप से इनमें महायान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। एतावता नेपाल में इन ग्रन्थों के प्रति महती आस्था है। महायान के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादक अनेक सूत्र इन ग्रन्थों से अतिरिक्त भी हैं। इन सूत्रों में से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जायेगा। इन्हीं सूत्रों के सिद्धान्तों को ग्रहण कर पिछले दार्शनिकों ने अपने प्रामाणिक ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। अतः इन सूत्रों की परम्परा से परिचय पाना बौद्ध-दर्शन के जानकारी के लिये नितान्त आवश्यक है।

(१) सद्धर्म-पुण्डरीक

भक्तिप्रवण महायान के विविध आकार के परिचय के निमित्त इस सूत्र का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। ग्रन्थ का नामकरण विशेष सार्थक है। पुण्डरीक (श्वेतकमल) पवित्रता तथा पूर्णता का प्रतीक माना जाता है। जिस प्रकार

मलिन पंक से उत्पन्न होने पर भी कमल मलिनता से स्पृष्ट नहीं होता, उसी प्रकार बुद्ध जगत् में उत्पन्न होकर भी इसके प्रपंच तथा क्लेश से सर्वथा अस्पृष्ट हैं। इस महत्त्वशाली सूत्र का मूल संस्कृत रूप प्रकाशित है[1] जिसमें गद्य के साथ अनेक गाथायें संस्कृत में दी गई हैं। सूत्र काफी बड़ा है। इसमें २७ अध्याय या 'परिवर्त' हैं।

चीनी भाषा में इसके छ अनुवाद किये गये थे जिनके आज केवल तीन ही अनुवाद उपलब्ध होते हैं। इसका मूलरूप प्रथम शताब्दी में संकलित किया गया था, क्योंकि नागार्जुन (द्वितीय शतक) ने इसे अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। चीनी में प्रथम अनुवाद (अनुपलब्ध) २५५ ई० में किया गया था। उपलब्ध अनुवाद तीन हैं—धर्मरक्ष (२८६ ई०), कुमारजीव (४०० ई० के आस पास), ज्ञानगुप्त तथा धर्मगुप्त (६०१ ई०)। इन अनुवादों की तुलना करने पर ग्रन्थ के आन्तरिक रूप का परिचय भली-भाँति चलता है। नञ्जियो का कथन है कि इसी सूत्र के समान एक अन्य ग्रन्थ भी है—'सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र शास्त्र' (वसुबन्धुरचित) जिसका दो बार चीनी भाषा में अनुवाद किया गया। बोधिरुचि (५०८ ई०) तथा इसी समय के पास रत्नमति ने इस वसुबन्धु के ग्रन्थ का चीनी में अनुवाद किया। 'सद्धर्म पुण्डरीक' के एक अंश का मंगोलियन भाषा में अनुवाद भी उपलब्ध है जिससे उत्तरी चीन में भी इस ग्रन्थ के विशेष प्रभाव का परिचय चलता है[2]।

चीन तथा जापान के बौद्धों में यह सदा से धार्मिक शिक्षा के लिए प्रधान ग्रन्थ माना गया है। इस ग्रन्थ के ऊपर इन देशों में अनेक टीकायें तथा व्याख्यायें समय समय पर लिखी गईं[3]। पूर्वोक्त अनुवादों में कुमारजीवका अनुवाद नितान्त लोकप्रिय है। इत्सिंग के कथनानुसार यह ग्रन्थ उनके गुरु हुई-सी को बड़ा प्यारा

---

१. डा० कर्न तथा नञ्जिओ का संस्करण, (लेनिनग्राड, १९०८) बुद्ध-ग्रन्थावली सं० १०; बुर्नाफ का फ्रेंच अनुवाद पेरिस १८५२; कर्न का अंग्रेजी अनुवाद Sacred Book of East भाग २१, १८८४।

२. बुद्धग्रन्थावली (संख्या १४, १९११) में मूल और जर्मन टिप्पणियों के साथ प्रकाशित। डा० नञ्जियो ने सद्धर्मपुण्डरीक का विशुद्ध संस्करण जापान से प्रकाशित किया है जिसमें अनेक नवीन हस्तलिखित प्रतियों का आधार लिया गया है।

३. द्रष्टव्य नञ्जिओ की प्रस्तावना पृ० ३।

था। साठ साल के दीर्घजीवन में वे प्रतिदिन इसका पारायण किया करते थे। १२५२ ई० में निचिरेन के द्वारा स्थापित 'होक्के-शू' सम्प्रदाय का यही सर्वमान्य ग्रन्थ है। चीन तथा जापान के 'तेनदई' सम्प्रदाय इसी ग्रन्थ को अपना आधार मानते हैं। पूर्वी तुर्किस्तान में भी इसकी मान्यता कम न थी। वहां से उपलब्ध अंशों के पाठ नेपाल की प्रतियों से कहीं अधिक विश्वसनीय तथा विशुद्ध हैं।

इस ग्रन्थ में नाना प्रकार की कहानियों के द्वारा महायान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। जिस महायान का रूप इसमें दृष्टिगोचर होता है वह उसका अवान्तरकालीन प्रौढ़ लोकप्रिय रूप है जिसमें मूर्तिपूजा, बुद्धपूजा, स्तूपपूजा आदि नाना पूजाओं का विपुल विधान मान्य है। 'भित्ति पर बुद्ध की मूर्ति बनाकर यदि एक फूल से भी उसकी पूजा की जाय, तो विक्षिप्तचित्त मूढ़ पुरुष भी करोड़ों बुद्धों का साक्षात् दर्शन कर लेता है[1]।' बुद्ध अवतारी पुरुष थे। उनकी करोड़ों बोधिसत्त्व पूजा किया करते हैं और वे भी मानवों के कल्याणार्थ मुक्ति का उपदेश देते हैं। 'नमोऽस्तु बुद्धाय' इस मन्त्र के उच्चारण मात्र से मूढ़ पुरुष भी उत्तम अग्रबोधि प्राप्त कर लेता है (२।९६)। 'पुण्डरीक' का प्रभाव बौद्धकला पर भी विशेष रूप से पड़ा है।

(२) प्रज्ञापारमिता सूत्र

महायान के सिद्धान्तसूत्रों में प्रज्ञापारमिता सूत्रों का स्थान विशिष्ट है। अन्य सूत्र बुद्ध तथा बोधिसत्त्व के वर्णन तथा प्रशंसा से ओतप्रोत हैं, परन्तु प्रज्ञापारमिता सूत्रों का विषय दार्शनिक सिद्धान्त है।

पारमिताओं की संख्या ६ है[2]— दान, शील, धैर्य, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। इन छओं का वर्णन इन सूत्रों में उपलब्ध होता है, पर प्रज्ञा की पूर्णता का विवरण विशेष है। 'प्रज्ञापारमिता' का अर्थ—सबसे उच्च ज्ञान। यह ज्ञान 'शून्यता' के विषय में हैं। संसार के धर्म (पदार्थ) प्रतिबिम्बमात्र हैं, उनकी वास्तव सत्ता नहीं

---

१. पुष्पेण चैकेन पि पूजयित्वा आलेख भित्तौ सुगतानबिम्बम्।
विक्षिप्तचित्ता पि च पूजयित्वा अनुपूर्व द्रक्ष्यन्ति च बुद्धकोटयः॥ (२।९४)

२. स्थविरवाद के अनुसार ये १० हैं—

दानं सीलं च नेक्खमं पञ्ञा-विरियं च पञ्चमं
खन्ति सच्चमधिरागं मेत्तुपेक्खाति ये दस।

है। इसी शून्यता का ज्ञान प्रज्ञा का महान् उत्कर्ष है। इन सूत्रों को प्राचीन मानना उचित है, इन सिद्धान्तों की व्याख्या नागार्जुन के ग्रंथों में मिलती है। १७९ ई० में एक प्रज्ञापारमिता सूत्र का अनुवाद चीनी भाषा में किया गया था, अतः इनकी प्राचीनता मान्य है।

प्रज्ञापारमिता सूत्रों के अनेक संस्करण चीनी, तिब्बती तथा संस्कृत में उपलब्ध होते हैं। नेपाल की परम्परा के अनुसार मूल प्रज्ञापारमिता सवालक्ष 'श्लोकों'[1] का था जिसका संक्षेप एक लाख, २५ हजार, १० तथा ८ हजार श्लोकों में कालान्तर में किया गया था। दूसरी परम्परा बतलाती है कि मूल सूत्र ८ हजार श्लोकों का ही था। उसी में नई नई कहानियों तथा वर्णनों जोड़कर इसका विस्तृत रूप प्रस्तुत किया गया। यही परम्परा ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय तथा माननीय है। चीनी तथा तिब्बती सम्प्रदाय में अनेक संस्करण मिलते हैं। संस्कृत में उपलब्ध प्रज्ञापारमिता सूत्रों के संस्करण ये हैं—प्रज्ञापारमिता एक लाख श्लोकों की[2] (शतसाहस्रिका) २५ हजार श्लोकों की (पञ्चविंशति[3] साहस्रिका), ८ हजार श्लोकों की (अष्टसाहस्रिका)[4], २½ हजार श्लोकों की (सार्धद्विसाहस्रिका), ७ सौ श्लोकों की (सप्तशतिका), वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता[5], अल्पाक्षरी

१. ये ग्रन्थ गद्य में ही हैं; केवल ग्रन्थ-परिमाण के लिए ३२ अक्षरों के 'श्लोक' में गणना करने की चाल है।

२. संस्करण विब्लओथिका इंडिका (कलकत्ता) में प्रतापचन्द्र घोष द्वारा, १९०२–१४, परन्तु अपूर्ण। चींनी तथा खोटान की भाषाओं में इसके अनुवाद मध्य एशिया में उपलब्ध हुए हैं। (द्रष्टव्य Hoernle–Ms. Remains.)

३. कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज (नं० २८) में डा० एन. दत्त के द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १९३६। यह ग्रन्थ प्रज्ञापारमिता तथा मैत्रेयनाथकृत 'अभिसमयालंकार कारिका' के परस्पर सम्बन्ध को भलीभाँति प्रकट करता है।

४. बिबिलिओथिका एंडिका, कलकत्ता (१८८८) में डा० राजेन्द्र लाल मित्र के द्वारा सम्पादित। शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय में इसके उद्धरण मिलते हैं (द्रष्टव्य पृष्ठ ३६९)।

५. मैक्समूलर के द्वारा सम्पादित तथा अनुवादित Sacred Books of East भाग ४९ द्वितीय खण्ड। इस ग्रन्थ के संस्कृत तथा खोटानी अनुवाद के समग्र

प्रज्ञापारमिता, प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र[1]।

इन विविध संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन से यही प्रतीत होता है कि अष्टसाहस्रिका ही मूल ग्रन्थ है जिसने अनेक अंशो के जोड़ने से बृहदाकार धारण कर लिया तथा अनेक अंशों को छोड़ कर लघुकाय बन गया। इस ग्रंथ का प्रभाव माध्यमिक तथा योगाचार के आचार्यों पर बहुत अधिक रहा है। नागार्जुन ने शून्यता के तत्त्व को यहीं से ग्रहण किया है। उन्हें इस तत्त्वका उद्भावक मानना ऐतिहासिक भूल है। नागार्जुन, असंग तथा वसुबन्धु ने इन प्रज्ञापारमिताओं पर लम्बी चौड़ी व्याख्यायें लिखी हैं जो मूलसंस्कृत में उपलब्ध न होने पर भी चीनी तथा तिब्बती अनुवादों में सर्वथा सुरक्षित हैं।

'प्रज्ञापारमिता' शब्द के चार भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। दिङ्नाग ने इन अर्थों को 'प्रज्ञापारमिता पिण्डार्थ' की पहिली कारिका में दिया है—

प्रज्ञापारमिता ज्ञानमद्वयं स तथागतः।
साध्यतादर्थ्ययोगेन ताच्छब्द्यं ग्रन्थमार्गयोः॥

दिङ्नाग का यह ग्रन्थ अभी तिब्बती अनुवाद में ही उपलब्ध है। परन्तु इस कारिका को आचार्य हरिभद्र ने अपने 'अभिसमयालंकारालोक' नामक अभिसमय की टीका में उद्धृत किया है। इसके अनुसार प्रज्ञापारमिता अद्वैत ज्ञान तथा बुद्ध के धर्मकाय का सूचक है। यही कारण है कि बौद्धधर्म के परमतत्त्व के प्रतिपादक होने के कारण इन सूत्रों पर बौद्धों की महती आस्था है। इसको वे लोग बड़ी पवित्रता तथा पावनता की दृष्टि से देखते हैं और बौद्ध देशों के प्रत्येक मन्दिर में इस सूत्र की पोथियाँ रखीं जाती हैं, पूजी जाती हैं तथा विपुल श्रद्धा की भाजन हैं।

(३) गण्डव्यूह सूत्र

चीनी तथा तिब्बती त्रिपिटकों में 'बुद्धावतंसक' सूत्रों का उल्लेख महायान के सूत्रों की सूची में उपलब्ध होता है। इस सूत्र को आधार मान कर चीनमें

अंश मध्यएशिया से डा० स्टाइन को प्राप्त हुए हैं तथा अनुवाद के साथ सम्पादित भी किये गये हैं। (Hoernle–Ms. Remains पृ० १७६-१९५ तथा २१४-२८८)

१. इसका भी सम्पादन तथा अनुवाद वज्रच्छेदिका के साथ डा० मैक्समूलर ने किया है—(द्रष्टव्य S. B. E. भाग ४९, २ खण्ड) तिब्बती अनुवाद का भी अंग्रेजी अनुवाद उपलब्ध है।

'अवतंसक' मत की उत्पत्ति ५५७ ई० से ५८९ ई० के मध्य में हुई। जापान में 'केगन' सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ यही सूत्र है। यह सूत्र मूल सस्कृत में उपलब्ध नहीं होता, परन्तु 'गण्डव्यूह महायान सूत्र'[1] इस अवतंसकसूत्र से सम्बद्ध प्रतीत होता है क्योंकि इस सूत्र के चीनदेशीय अनुवाद के साथ इसकी समानता पर्याप्त रूप से है। सुधन नामक एक युवक परमतत्त्व की प्राप्ति के निमित्त देश-विदेश घूमता है, नाना प्रकार के लोगों से शिक्षा पाता है, परन्तु अन्ततः मञ्जुश्री के अनुग्रह से वह परमार्थ को प्राप्त करने में समर्थ होता है। शिक्षासमुच्चय में इस सूत्र से अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं। इस सूत्र के अन्त में 'भद्रचारी प्रणिधान गाथा' नामक ६२ दोधक वृत्तों में एक मनोरम स्तुति उपलब्ध होती है जिसमें महायान के सिद्धान्तों के अनुसार बुद्ध की अभिराम स्तुति की गई है।

(४) दशभूमिक सूत्र

इस सूत्र को दशभूमिक या दशभूमेश्वर के नाम से पुकारते हैं। यह अवतंशक का ही एक अंश है। परन्तु प्रायः स्वतन्त्र रूप से अधिकतर उपलब्ध होता है। इस सूत्र का विषय बुद्धत्व तक पहुँचने के लिए दशभूमियों का क्रमिक वर्णन है। बोधिसत्व वज्रगर्भ ने इस दशभूमियों का विस्तृत वर्णन किया है। ग्रन्थ गद्य में है और प्रथम परिच्छेद में संस्कृतमयी गाथाएँ भी हैं। यह विषय महायान मत में अपना विशेष स्थान रखता है। इसी विषय को लेकर आचार्यों ने भी नए नए ग्रन्थों की रचना की है।

चीनी भाषा में इसके चार अनुवाद मिलते हैं जिनमें सबसे प्राचीन अनुवाद धर्मरक्ष का २९७ ई० में किया हुआ है। इसके अतिरिक्त कुमार जीव (४०६ ई०) बोधिरुचि (५००-५१६) और शीलधर्म (७८९ ई०) ने चीनी भाषा में किया है। नागार्जुन ने इसके एक अंश पर 'दशभूमिक विभाषा शास्त्र' नामक व्याख्या लिखी थी जिसका भी चीनी अनुवाद कुमारजीव ने किया है। इसमें केवल आरम्भिक दो भूमियों का ही वर्णन है[2]।

---

१. इस सूत्र का प्रकाशन तथा सम्पादन डा० सुजुकी ने नागराक्षरों में जापान से १९३४ ई० में किया है। इधर बड़ोदा से भी G. O. S. में यह ग्रन्थ निकल रहा है।

२. जान रादेर ने इसके मूल संस्कृत का संपादन तथा सप्तम भूमि वाले परिच्छेद का अंग्रेजी में अनुवाद किया हैं, हालैण्ड १९२६।

(५) रत्नकूट

चीनी त्रिपिटक तथा तिब्बती कंजूर का 'रत्नकूट' एक विशेष अंश है। इसमें ४९ सूत्रों का संग्रह है जिनमें सुखावती व्यूह, अक्षोभ्य व्यूह, मञ्जुश्री बुद्धक्षेत्र-गुण व्यूह, काश्यप परिवर्त तथा 'परिपृच्छा' नामक अनेक ग्रन्थों का विशेष कर समुच्चय है। संस्कृत में भी रत्नकूट अवश्य होगा। परन्तु आजकल वह उपलब्ध नहीं है। रत्नकूट के ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से संस्कृत में भी यत्र तत्र उपलब्ध हैं। 'काश्यप परिवर्त' के मूल संस्कृत के कुछ अंश खोटान के पास उपलब्ध हुए हैं और प्रकाशित हुए हैं। इसका सबसे पहला अनुवाद १७८ ई०–१८४ ई० तक चीनी भाषा में हुआ था। इस ग्रन्थ में बोधिसत्व के स्वरूप का वर्णन तथा शून्यता का प्रतिपादन अनेक कथानकों के रूप में किया गया है। बुद्ध के प्रधान शिष्य-काश्यप—इस सूत्र के प्रवचनकर्ता हैं। इसीलिए इसका नाम 'काश्यप परिवर्त' है।

रत्नकूट में सम्मिलित परिपृच्छाओं में 'राष्ट्रपाल परिपृच्छा'[1] या राष्ट्रपरिपाल सूत्र अन्यतम हैं। इस सूत्र के दो भाग हैं। पहले भाग में बुद्ध ने बोधिसत्व के गुणों के विषय में राष्ट्रपाल के द्वारा किए गए प्रश्नों का उत्तर दिया है। दूसरे भाग में कुमार पुण्यरश्मि के चरित्र का वर्णन किया गया है।

(६) समाधिराज सूत्र

इसका दूसरा नाम 'चन्द्रप्रदीप' सूत्र है। इस ग्रन्थ में चन्द्रप्रदीप (चन्द्रप्रभ) तथा बुद्ध का कथनोपकथन है जिसमें समाधि के द्वारा प्रज्ञा के प्राप्त करने का उपाय बतलाया गया है। इस ग्रन्थ का एक अल्प अंश पहले प्रकाशित हुआ था। इधर काश्मीर के उत्तर में गिलगित प्रान्त के एक स्तूप के नीचे से यह ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है तथा काश्मीर नरेश की उदारता से कलकत्ते से प्रकाशित हुआ है[2]।

यह सूत्र अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिक वृत्ति में तथा शान्तिदेव ने शिक्षासमुच्चय में इस ग्रन्थ से उद्धरण दिए हैं।

---

१. इसका संस्कृत लेनिनग्राड के बुद्ध-ग्रन्थावली नं० २ में डा० फिनों के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है, १९०१।

२. गिलगित मैनसक्रिप्ट—भाग २; कलकत्ता १९४०।

इस ग्रन्थ में कनिष्क के समय में होनेवाली बौद्धसंगीति का उल्लेख है तथा १४८ ई० में इसका पहला चीनी अनुवाद प्रस्तुत किया गया था। इससे प्रतीत होता है कि प्रथम शताब्दी के अन्त में अथवा द्वितीय के आरम्भ में इस ग्रन्थ का संकलन किया गया।

इसकी भाषा गाथा है जिसमें संस्कृत और प्राकृत का मिश्रण है। विषय वही है शून्यता। संसार के पदार्थ वस्तुतः एक ही हैं तथा समरूप हैं, यद्यपि वे अज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में भिन्न-भिन्न तथा नाना प्रतीत होते हैं। सर्वधर्म-स्वभाव-समता का ज्ञान ही भव-प्रपंच से प्राणियों का उद्धार कर सकता है। इस सूत्र में षट् पारमिताओं में शील और दान को विशेष महत्त्व न देकर क्षान्ति पारमिता को ही सर्वमान्य ठहराया गया है। इसके अभ्यास से प्राणियों को सर्व-धर्मों की समता का ज्ञान उत्पन्न होता है जो इन्हें बुद्ध के स्पृहणीय पद पर प्रतिष्ठित कर देती है। ग्रन्थ में १६ परिवर्त (परिच्छेद) हैं। इसका मूलरूप संक्षिप्त था जैसा कि इसके प्रथम चीनी अनुवाद से पता चलता है। परन्तु धीरे-धीरे ग्रन्थ की कलेवरवृद्धि होने लगी और यह उपलब्ध सूत्र इसी परिवर्धित रूप में है।

(७) सुखावती व्यूह

जिस प्रकार 'सद्धर्म पुण्डरीक' में शाक्य मुनि तथा 'कारण्ड व्यूह' में अव-लोकितेश्वर की प्रचुर प्रशंसा उपलब्ध होती हैं, उसी प्रकार 'सुखावती व्यूह' में 'अभिताभ' बुद्ध के सद्गुणों का विशिष्ट आलंकारिक वर्णन है। संस्कृत में इसके दो संस्करण मिलते हैं। एक बड़ा और दूसरा छोटा। दोनों में पर्याप्त अन्तर है। परन्तु दोनों अमिताभ बुद्ध के सुखमय स्वर्ग का वर्णन समभाव से करते हैं। जो भक्त अमिताभ के गुणों के कीर्तन में अपना समय बिताते हैं, मरण-काल में अमिताभ के रूप और गुण का स्मरण करते हैं वे मृत्यु के अनन्तर इस आनन्द-मय लोक में उत्पन्न होकर विहार करते हैं। इसी विषय पर इस सूत्र का विशेष जोर है। सुखावती की कल्पना महायान के मत में स्वर्ग की कल्पना है। यह वह आनन्दमय लोक है जहाँ लाखों रत्न के वृक्ष उगते हैं, सोने के कमल खिलते हैं, नदियों में स्वच्छ जल का प्रवाह कलकल ध्वनि करता हुआ सदा बहता है। वहाँ अखण्ड प्रकाश है। वहाँ पर उत्पन्न होनेवाले जीव अलौकिक सद्गुणों से भूषित

रहते हैं और जिस सुख की वे कल्पना करते हैं उसकी प्राप्ति उन्हें उसी क्षण में हो जाती है। इस प्रकार महायानीय स्वर्ग की विशिष्ट कल्पना इस व्यूह का प्रधान लक्ष्य है।

सुखावती व्यूह की बृहती[1] के १२ अनुवाद चीनी भाषा में किए गये थे जिनमें ५ अनुवाद आजकल उपलब्ध हैं। सबसे पहला अनुवाद १४७-१८६ ई० के बीच का है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस व्यूह की रचना द्वितीय शताब्दी के आरम्भ में हो चुकी थी। लघ्वी के तीन अनुवाद चीनी भाषा में उपलब्ध हैं– कुमारजीव का (४०२ ई०), गुणभद्र का (४२०-४८० ई०) तथा हुेनसांग का (६५० ई० के लगभग)। इसी व्यूह से संबद्ध एक तीसरा भी सूत्र है जिसका नाम है अमितायुर्ध्यानसूत्र, जिसमें अमितायु बुद्ध के ध्यान का विशेष वर्णन है। इसका संस्कृत मूल नहीं मिलता। चीनी अनुवाद ही उपलब्ध है। चीन और जापान के बौद्धों में इस व्यूह की मान्यता है। वहाँ के बौद्धों के हृदय में बुद्ध के प्रति श्रद्धा जमाने में इस व्यूह में बड़ा भारी काम किया है। अभिताम को जापानी में **'अमिद'** कहते हैं। इन दोनों देशों के बौद्धों का दृढ़ विश्वास है कि अमिद की उपासना, ध्यान तथा जप से सुखावती की प्राप्ति अवश्य होगी। जापान में विशेषतः 'जोदोशू' तथा 'सिनशू' संप्रदाय के भक्तों की यह दृढ़ धारणा है। इस प्रकार सुखावती व्यूह का प्रभाव तथा महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही अधिक है।

(८) सुवर्णप्रभास सूत्र

महायान सूत्रों में यह नितान्त प्रसिद्ध है। सौभाग्यवश इसका मूल संस्कृत भी उपलब्ध है और जापानी विद्वान् नञ्जिओ ने नागराक्षरों में छापकर प्रकाशित किया है[2]। इसके विपुल प्रभाव तथा ख्याति की सूचना चीन तथा तिब्बत में किये गये अनेक अनुवादों से भलीभाँति मिलती है। चीन-भाषा में इस सूत्र का अनुवाद ५ बार किया गया था, जिनमें तीन अनुवाद आज भी उपलब्ध हैं—

---

१. इसके दोनों संस्करण मैक्समूलर यथा नञ्जीओ के संपादकत्व में आक्सफोर्ड से १८८३ में प्रकाशित हुए हैं। मैक्समूलर ने 'Saered Book of the East' के भाग ४९ में इनका अनुवाद भी निकाला है।

२. नञ्जिओं का नागरी संस्करण क्यो तो (जापान) से १९३१ ई० में प्रकाशित हुआ है।

(१) धर्मरक्ष (४१२-४२६ ई०) का अनुवाद सबसे प्राचीन है। इसमें केवल १८ परिच्छेद हैं। यह अनुवाद बहुत ही सरल तथा सुगम माना जाता है। (२) परमार्थ (५४८ ई०) का अनुवाद २२ परिच्छेदों में है, परन्तु यह नष्ट हो गया हैं। (३) यशोगुप्त (षष्ठ शतक) का २२ परिच्छेदों में ; यह अनुवाद भी उपलब्ध नहीं है। (४) पाओ क्यूई (५९७ ई०) कृत अनुवाद, प्राचीन अनुवादों का नवीन संस्करण दो नये परिच्छेदों के साथ किया गया है। (५) इत्सिंग (७३० ई०) का अनुवाद ३१ परिच्छेदों में है। यह अनुवाद उस ग्रन्थ का है जिसे इत्सिंग भारत से अपने साथ चीन ले गये थे। तिब्बत में भी इस सूत्र की प्रसिद्धि पर्याप्त मात्रा में थी, तभी तो वहाँ भिन्न-भिन्न शताब्दियों में रचित तीन अनुवाद आज भी उपलब्ध होते हैं। मंगोलिया देश की भाषा में भी इत्सिंग के चीनी अनुवाद से इस ग्रन्थ का अनुवाद किया गया है[1]। पूर्वी तुर्किस्तान से मूल ग्रन्थ के अनेक अंश यत्र तत्र उपलब्ध हुए हैं। इस प्रकार 'सुवर्ण प्रभास' ने अपनी प्रभा से अनेक देशों को आलोकित किया था, इसमें सन्देह नहीं है।

मूल ग्रन्थ में २१ परिच्छेद हैं जिनका नाम 'परिवर्त' है। आरम्भ के ६ परिच्छेद महायान सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने से अत्यन्त महत्वशाली है। इनमें तथागत के आयुः परिमाण, पाप-देशना, शून्यता का विस्तृत वर्णन

विवरण

है। पिछले परिच्छेदों में तथागत की पूजा अर्चा करने वाले देवी-देवताओं के विमल फल मिलने की मनोरञ्जक कहानी लिखी है। चीनी अनुवादों से तुलना करने पर स्पष्ट है कि इसका मूल रूप बहुत ही छोटा था और पीछे अनेक कथानकों को सम्मिलित कर देने से धीरे धीरे बढ़ता गया है। धर्मरक्ष का अनुवाद इस मूल संस्कृत से भलीभाँति मिलता है।

इस सूत्र का उद्देश्य महायान के धार्मिक सिद्धान्तों का सरल भाषा में प्रतिपादन है। दर्शन के गूढ़तर तथ्यों का विवरण उद्देश्य नहीं है। इस सूत्र पर सद्धर्म पुण्डरीक तथा प्रज्ञापारमिता सूत्रों का व्यापक प्रभाव पड़ा है। इसका परिचय भाषा तथा भाव दोनों की तुलना से चलता है। इस सूत्र का गौरव जापान में

---

१. यह अनुवाद लेनिन ग्राड (रूस) की बुद्ध ग्रन्थावली (ग्र० सं० १७) में प्रकाशित हुआ है।

प्राचीन काल से आज तक अक्षुण्ण रीति से माना जाता है। ५८७ ई० में जापान के नरेश 'शोकोतू' ने इस सूत्र की प्रतिष्ठा के लिए एक विशिष्ट मन्दिर की स्थापना की। पिछले शताब्दियों में जापान के प्रत्येक प्रान्तीय मन्दिर में इस सूत्र की प्रतियाँ रखी गईं। आज कल जापानी बौद्धधर्म के रूप निर्धारण में इस सूत्र का भी बड़ा हाथ है[१]।

(६) लंकावतार सूत्र

यह ग्रन्थ विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला मौलिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का बहुत ही बढ़िया विशुद्ध संस्करण अनेक वर्षों के परिश्रम के अनन्तर जापान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर नञ्जिओ ने प्रकाशित किया है[२]। ग्रन्थ में दस परिच्छेद हैं। पहले परिच्छेद में ग्रन्थ के नाम-करण तथा लिखने के कारण का निर्देश है। ग्रन्थ के अनुसार इन शिक्षाओं को भगवान् बुद्ध ने लंका में जाकर रावण को दिया था। लंका में अवतीर्ण होने के कारण ही इस ग्रन्थ का नाम लंकावतार सूत्र है। दूसरे परिच्छेद से लेकर नवम परिच्छेद तक विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का विवेचन है। इनमें दूसरा और तीसरा परिच्छेद बड़े महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थ के अन्त में जो प्रकरण है उसका नाम है 'सगाथकम्' जिसमें ८८४ गाथायें सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए दी गई हैं। मैत्रेय नाथ ने इन्हीं सूत्रों से विज्ञान के सिद्धान्त को ग्रहण कर अपने ग्रन्थों में पल्लवित तथा प्रतिष्ठित किया है।

इस ग्रन्थ के तीन चीनी अनुवाद मिलते हैं—(१) **गुणभद्र** का अनुवाद सबसे प्राचीन है। ये मध्य भारत के रहने वाले विद्वान् बौद्ध भिक्षु थे जिन्होंने लंका जाकर ४४३ ई० में इस ग्रन्थ का अनुवाद किया। इस अनुवाद में प्रथम, नवम तथा दशम परिच्छेद नहीं मिलते जिससे प्रतीत होता है कि इनकी रचना उस समय तक नहीं हुई थी। (२) **बोधिरुचि**—इन्होंने ५१३ ई० में इसका अनुवाद चीनी भाषा में किया। (३) **शिक्षानन्द**—इन्होंने ७००–७०४ ई० के भीतर चीनी भाषा में अनुवाद किया। प्रकाशित संस्कृत मूल इसी अनुवाद से मिलता है। इन अनुवादों में पहले अनुवाद पर जापानी और चीनी भाषा में अनेक टीकाएँ हैं।

---

१. द्रष्टव्य इस ग्रन्थ की प्रस्तावना पृ० ८।

२. लंकावतार सूत्र–कीओटो (जापान), १९२३ ई०

दशम परिच्छेद

त्रिविध यान

बौद्धग्रन्थों के अनुसार यान (निर्वाण की प्राप्ति के मार्ग) तीन हैं—श्रावक-यान, प्रत्येक-बुद्धयान तथा बोधिसत्त्वयान। प्रत्येक यान में बोधि की कल्पना भी

सामान्य रूप

एक दूसरे से नितान्त विलक्षण है—श्रावकबोधि, प्रत्येक बुद्धबोधि, तथा सम्यक् सबोधि। 'श्रावकयान' हीनयान का ही दूसरा नाम है। गुरु के पास जाकर धर्म सीखनेवाला व्यक्ति 'श्रावक' कहलाता है। वह स्वयं अप्रतिबुद्ध है, परन्तु निर्वाण पाने की इच्छा उसमें बलवती है। अतः वह किसी योग्य 'कल्याणमित्र' के पास जाकर धर्म की शिक्षा ग्रहण करता है। श्रावक का चरम लक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति है। 'प्रत्येकबुद्ध' की कल्पना बड़ी विलक्षण है। जिस व्यक्ति को बिना गुरूपदेश के ही प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाता है, प्राचीन संस्कार के कारण जिसकी प्रातिभ चक्षु स्वतः उन्मीलित हो जाती है वह साधक 'प्रत्येकबुद्ध' की संज्ञा प्राप्त करता है। वह बुद्ध तो बन जाता है, परन्तु उसमें दूसरों के उद्धार करने की शक्ति नहीं रहती। वह इस द्वन्द्वमय जगत् से अलग हटकर किसी निर्जन स्थान में एकान्तवास करता है और विमुक्ति—सुख का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। 'बोधिसत्त्व' अपने ही क्लेश का नाश नहीं चाहता, प्रत्युत वह समस्त प्राणियों के क्लेश का नाश करना चाहता है और इस परोपकार के लिए वह बुद्धत्व पद को प्राप्त करने का अभिलाषी होता है। इन तीनों यानों के स्वरूप से परिचय पाना बुद्धधर्म के विकाश को समझने के लिए नितान्त आवश्यक है।

(१) श्रावक यान

बौद्धधर्म में प्राणियों की दो श्रेणियाँ बतलायी गयी हैं—(१) पृथक्जन तथा (२) आर्य। जो प्राणी संसार के प्रपञ्च में फँसकर अज्ञानवश अपना जीवन यापन

श्रावक की चार भूमियाँ

कर रहा है उसे **'पृथक्जन'** कहते हैं। परन्तु जब साधक प्रपञ्च से हटकर गुरुस्थानीय बुद्ध से निकलने वाले ज्ञान की रश्मियों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तथा निर्वाणगामी मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है तब उसे **'आर्य'** कहते हैं। प्रत्येक आर्य का चरम लक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति है। वहाँ तक

पहुँचने के लिये इन चार भूमियों को पार करना पड़ता है—(१) स्रोतापन्न भूमि (२) सकृदागामी भूमि (३) अनागामी भूमि तथा (४) अर्हत् भूमि। प्रत्येक भूमि में दो दशायें होती हैं—(१) मार्गावस्था तथा (२) फलावस्था।

श्रावक की निर्वाण प्राप्ति के लिए चार अवस्थाओं का विधान दिया गया है—(१) स्रोतापन्न (स्रोत आपन्न), (२) सकदागामी (सकृदागामी) (३) अनागामी तथा (४) अरहत्त (अर्हत्)। 'स्रोतआपन्न' शब्द का अर्थ है

(१) स्रोतापन्न धारा में पड़ने वाला। जब साधक का चित्त प्रपञ्च से एकदम हटकर निर्वाण के मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है, जहाँ से गिरने की संभावना तनिक भी नहीं रहती, तब उसे 'स्रोत आपन्न' कहते हैं। व्यासभाष्य के शब्दों में चित्तनदी उभयतो वाहिनी है[1]—वह दोनों ओर बहा करती है—पाप की ओर भी बहती है और कल्याण की ओर भी बहती है। अतः पाप की ओर से हटकर कल्याणगामी प्रवाह में चित्त को डाल देना जिससे वह निरन्तर निर्वाण की ओर अग्रसर होता चला जाय, साधना की प्रथम अवस्था है। अतः स्रोत आपन्न को पीछे हटने का भय नहीं रहता, वह सदा कल्याण की ओर बढ़ता चला जाता है। इन तीन संयोजनों (बन्धनों) के क्षय होने पर यह शुभ दशा प्राप्त होती है[2]—(१) सत्कायदृष्टि, (२) विचिकित्सा, (३) शीलव्रत-परामर्श। इस देश में नित्य आत्मा की स्थिति मानना एक प्रकार का बन्धन ही है, क्योंकि इसी भावना से प्रभावित होकर प्राणी नाना प्रकार के हिंसोत्पादक कर्मों में प्रवृत्त होता है। अतः सत्कायदृष्टि का दूरीकरण नितान्त आवश्यक है। 'विचिकित्सा' का अर्थ है सन्देह तथा 'शीलव्रत परामर्श' से अभिप्राय व्रत, उपवास आदि में आसक्ति से है। इनके वश में होनेवाला साधक कभी निर्वाण की ओर अभिमुख नहीं होता। अतः इन बन्धनों के तोड़ देने पर साधक पतित न होनेवाली संबोधि की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ता है। इसके चार अंग होते हैं[3]—(१) बुद्धानुस्मृति—साधक बुध में अत्यन्त श्रद्धा से युक्त होता है। (२) धर्मानुस्मृति—भगवान् का धर्म स्वाख्यात (सुन्दर व्याख्यात) है, इसी शरीर में फल देनेवाला (सांदृष्टिक),

---

१. चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय च वहति पापाय च (व्यासभाष्य १।१२)

२. महालिसुत्त (दीघनिकाय पृ० ५७–५८) ३. दीघनिकाय पृ० २८८

सद्यः फलप्रद (अकालिक) है। अतः उसमें श्रद्धा रखता है। (३) संघानुस्मृति–बुद्ध के शिष्यसंघ का न्यायपारायणता से तथा सुमार्ग पर आरूढ़ होने से संघ में विश्वास रखता है। (४) अखण्ड, अनिन्दित, समाधिगामी कमनीय शीलों से युक्त होता है।

स्रोतापन्न भूमि की प्रथम **अवस्था को गोत्रभू** कहते हैं। अब कामक्षय होने के कारण साधक कामधातु (वासनामय जगत्) से सम्बन्ध विच्छेद कर 'रूप धातु' की ओर अग्रसर होता है। उस समय उसका नवीन जन्म होता है। पूर्व कथित तीनों संयोजनों के नष्ट हो जाने के कारण साधक को निर्वाण प्राप्ति के लिये सात जन्म से अधिक जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रहती।

(२) सकृदागामी—का अर्थ एक बार आने वाला। स्रोतापन्न भिक्षु काम राग (इन्द्रिय लिप्सा) तथा प्रतिघ (दूसरे के प्रति अनिष्ट करने की भावना) नामक दो बन्धनों को दुर्बल मात्र बनाकर मुक्तिमार्ग में आगे बढ़ता है। इस भूमि में 'आस्रवक्षय' (क्लेशों का नाश) करना प्रधान काम रहता है। सकृदागामी भिक्षु संसार में एक ही बार आता है।

(३) अनागामी—का अर्थ फिर न जन्म लेनेवाला है। ऊपर के दोनों बन्धनों को काट देने पर भिक्षु अनागामी बनता है। वह न तो संसार में जन्म लेता है और न किसी दिव्य लोक में जन्म लेता है।

(४) अर्हत्—इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये भिक्षु को बाकी बचे हुये इन पाँच बन्धनों का तोड़ना अत्यन्त आवश्यक होता है—(१) रूपराग, (२) अरूपराग (३) मान (४) औद्धत्त्य और (५) अविद्या। इन बन्धनों के छेदन करते ही सब क्लेश दूर हो जाते हैं। समस्त दुःख—स्कन्ध का अन्त हो जाता है। संसार में साधक को निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। तृष्णा के क्षीण हो जाने के कारण साधक इस जगत् में रहता हुआ भी कमल-पत्र के समान संसार से अलिप्त रहता है। वह चरम शान्ति का अनुभव करता है। व्यक्तिगत निर्वाण पदकी प्राप्ति अर्हत् का प्रधान ध्येय है। इसी अर्हत् पद की उपलब्धि श्रावक यान का चरम लक्ष्य है।

(२) प्रत्येक-बुद्ध यान

इस यान का आदर्श 'प्रत्येक बुद्ध' हैं। अतः स्फूर्ति से ही जिसे सब तत्त्व

परिस्फुरित हो जाते हैं, जिसे तत्त्वशिक्षा के लिए किसी भी गुरु के लिए परतन्त्र होना नहीं पड़ता, वही 'प्रत्येक बुद्ध' के नाम से अभिहित होता है। प्रत्येक बुद्ध का पद अर्हत् तथा बोधिसत्त्व के बीच का है। अर्हत् से उसमें यह विलक्षणता है कि वह प्रातिभ चक्षु के बल पर ज्ञान का सम्पादक है और **बोधिसत्त्व** से यह कमी है कि वह अपना कल्याण साधन कर लेने पर भी अभी दूसरों के दुःख को दूर करने में समर्थ नहीं होता। इस साधक के द्वारा प्राप्त ज्ञान का नाम 'प्रत्येकबुद्ध' बोधि है जो सम्यक् सम्बोधि—परम ज्ञान—से हीन कोटि की मानी जाती है।

(३) बोधिसत्त्व—यान

इस यान की विशिष्टता पूर्व यानों से अनेक अंश में विलक्षण है। यह यान 'बोधिसत्त्व' के आदर्श को प्राणियों के सामने उपस्थित करता है। बोधिसत्त्वयान को ही महायान कहते हैं। बोधिसत्त्व की कल्पना इतनी उदात्त, उदार तथा उपादेय है कि केवल इसी कल्पना के कारण महायानधर्म जगत् के धर्मों में महनीय तथा माननीय स्थान पाने का अधिकारी है। **बोधिसत्त्व**[1] का शाब्दिक अर्थ है बोधि (ज्ञान) प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति। इसकी प्राप्ति के लिए विशिष्ट साधना आवश्यक होती है। उसके विवरण देने से पहले हीनयान और महायान के लक्ष्यों में जो महान् अन्तर विद्यमान रहता है उसे भली भाँति समझ लेना बहुत जरूरी है।

हीनयान का अन्तिम लक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति है, परन्तु महायान का उद्देश्य बुद्धत्व की उपलब्धि है। अर्हत् केवल अपने ही क्लेशों से मुक्ति पाकर अपने को सफल समझ बैठता है, उसे इस बात की तनिक भी

बोधिसत्त्व का आदर्श

चिन्ता नहीं रहती कि इस विशाल विश्व में हजारों नहीं, करोड़ों प्राणी नाना प्रकार के क्लेशों में पड़कर अपने अनमोल जीवन को व्यर्थ बिताते हैं। अर्हत् केवल शुष्क ज्ञानी है जिसने अपनी प्रज्ञा के बल पर रागादि क्लेशों का प्रहाण कर लिया है। परन्तु महायान का लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। बोधिपाक्षिक धर्मों में प्रज्ञा से बढ़कर **महाकरुणा** का स्थान है। बुद्ध वही प्राणी बन सकता है जिसमें **प्रज्ञा** के साथ **महाकरुणा**

---

१. बोधौ ज्ञाने सत्त्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्वः। (बोधि० पंजिका पृ० ४२१)

का भाव विद्यमान रहता है। '**आर्यगयाशीर्ष**' में एक प्रश्न है[१] कि हे मञ्जुश्री, बोधिसत्त्वों की चर्चा का आरम्भ क्या है और उसका अधिष्ठान अर्थात् आलम्बन क्या है? मञ्जुश्री का उत्तर है कि हे देवपुत्र! बोधिसत्त्वों की चर्या महाकरुणापुरःसर होती है। महाकरुणा ही उसका आरम्भ है तथा दुःखित प्राणी ही इस करुणा के अवलम्बन (पात्र) हैं। **आर्यधर्मसंगीति** में इसीलिए बोधिकारक धर्मों में महाकरुणा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। इस ग्रन्थ का कहना है कि बोधिसत्त्व को केवल एक ही धर्म स्वायत्त करना चाहिए और वह धर्म है महाकरुणा। यह करुणा जिस मार्ग से जाती है उसी मार्ग से अन्य समस्त बोधिकारक धर्म चलते हैं[२]। महाकरुणा ही बोधिसत्त्व को बुद्ध बनाने में प्रधान कारण होती है। वह विचारता है कि जब मुझे और दूसरों को भय तथा दुःख समान रूप से अप्रिय लगते हैं, तब मुझ में कौन सी विशेषता है कि मैं अपनी ही रक्षा करूँ और दूसरी की न करूँ। आचार्य शान्तिदेव का यह कथन नितान्त सत्य है[३]—

यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम्।
तदात्मनः को विशेषो यत् तं रक्षामि नेतरम्॥

बोधिसत्त्व के जीवन का उद्देश्य जगत् का परममंगल साधना होता है। उसका स्वार्थ इतना विस्तृत रहता है कि उसके 'स्व' की परिधि के भीतर जगत् के समस्त प्राणी आ जाते हैं। विश्व में पिपीलिका से लेकर हस्ती पर्यन्त जब तक एक भी प्राणी दुःख का अनुभव करता है, तब तक वह अपनी मुक्ति नहीं चाहता। उसका हृदय करुणा से इतना आर्द्र होता है कि वह दुःखी प्राणियों के दुःख की

---

१. किमारम्भा मंजुश्री बोधिसत्वानां चर्या, किमधिष्ठाना? मञ्जुश्रीराह—महाकरुणारम्भा देवपुत्र बोधिसत्त्वानां चर्या, सत्त्वाधिष्ठानेति विस्तरः।

(बोधिचर्यावतारपंजिका पृ० ४८७)

२. एक एव हि धर्मो बोधिसत्त्वेन स्वराधितः कर्तव्यः सुप्रतिविद्धः। तस्य करतल=गताः सर्वे बुद्धधर्मा भवन्ति। भगवन् येन बोधिसत्त्वस्य महाकरुणा गच्छति तेन सर्वबुद्धधर्माः गच्छन्ति। (बोधिचर्या० पृ० ४८६)

३. शिक्षासमुच्चय पृ० २।

तनिक भी आँच से पिघल उठता है। बोधिसत्त्व की कामना को शान्तिदेव ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है[1]—

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥

सौगतमार्ग के अनुष्ठान से जिस पुण्यसंभारका मैंने अर्जन किया है, उसके फल में मेरी यही कामना है कि प्रत्येक प्राणी के दुःख शान्त हो जायँ।

मुक्त पुरुषों के हृदय में जो आनन्द का समुद्र हिलोरे मारने लगता है, वही मेरे जीवन को सुखी बनाने के लिए पर्याप्त है। रसहीन सूखे मोक्ष को लेकर मुझे क्या करना है? बोधिसत्त्व की प्रशंसा शब्दों के द्वारा नहीं हो सकती। लोक का यह नियम हैं कि उपकार के बदले में प्रत्युपकार करने वाले व्यक्ति की भी प्रशंसा होती है, परन्तु उस बोधिसत्त्व के लिए क्या कहा जाय? जो बिना किसी प्रकार की अभ्यर्थना के ही विश्व के कल्याण—साधन में दत्तचित्त रहता है[2]।

हीनयान तथा महायान का आदर्शभेद

इस प्रकार अर्हत् तथा बोधिसत्त्व के लक्ष्य में आकाश-पाताल का अन्तर है। हीनयान तथा महायान के इन आदर्शों की तुलना करते समय अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा-पारमिता (एकादश परिवर्त) का कथन है कि हीनयान के अनुयायी का विचार होता है कि मैं एक आत्मा का दमन करूँ; एक आत्मा को शम की उपलब्धि कराऊँ, एक आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति कराऊँ। उसकी सारी चेष्टा इसी लक्ष्य के लिए होती है। परन्तु बोधिसत्त्व की शिक्षा अन्य प्रकार की होती है। वह अपने को परमार्थसत्य में स्थापित करना चाहता है। पर साथ ही साथ सब प्राणियों को भी परमार्थसत्य में स्थापित करना चाहता है। अपने ही परिनिर्वाण के लिए उद्योग नहीं करता, प्रत्युत अप्रमेय प्राणियों के परिनिर्वाण के लिए

---

१. बोधिचर्या० पृ० ७७ (तृतीय परिच्छेद)।
२. कृते यः प्रतिकुर्वीत सोऽपि तावत् प्रशस्यते।
अव्यापारितसाधुस्तु बोधिसत्त्वः किमुच्यताम्॥
(बोधिचर्या० १।३१)

उद्योग करता है। इस प्रकार दोनों में लक्ष्यभेद इतना स्पष्ट है कि उसमें गलती करने के लिए थोड़ा भी स्थान नहीं है।

बुद्ध गुरुतत्त्व के प्रतीक हैं। गुरु के प्रतिनिधि होने से उनका नाम है—शास्ता (अर्थात् मार्गदर्शक गुरु)। गुरु के लिए प्रज्ञा के उदय के साथ साथ महाकरुणा का उदय भी नितान्त आवश्यक है। जब तक करुणा का आविर्भाव नहीं होता, तब तक अन्य पुरुषों को उपदेश देकर मुक्तिलाभ कराने की प्रवृत्ति का जन्म ही नहीं होता। उस व्यक्ति की स्वार्थपारायणता कितनी अधिक है जो स्वयं निर्वाण पाकर समचित्तता का अनुभव करता है, उसके चारों ओर कोटि कोटि प्राणी नाना प्रकार के क्लेशों को सहते हुए त्राहि त्राहि का आर्तनाद कर रहे हों, परन्तु वह स्वयं शिलाखण्ड की तरह अडिग बैठा हुआ मौनावलम्बन किये हो। अतः गुरुभाव की प्राप्ति के लिए 'महाकरुणा' की महती आवश्यकता है। महायान में इसी बुद्धत्व पद की उपलब्धि चरम लक्ष्य है।

बुद्धतत्त्व

(ख) बोधिचर्या

महायान ग्रन्थों में बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए यत्नवान् व्यक्ति को 'बोधिसत्त्व' कहते हैं। अनेक जन्म में निरन्तर साधना करने का अन्तिम परिणाम बुद्धपद की प्राप्ति होता है। शाक्यमुनि ने एक ही जन्म में बुद्धपद को पा नहीं लिया, प्रत्युत 'जातकों' से जैसे पता चलता है अनेक जन्मों में सद्गुणों की पारमिता पाकर ही इस महनीय स्थान को पाया। महायान के ग्रन्थों में बुद्धपद की प्राप्ति के लिए एक विशिष्ट साधना का उपदेश मिलता है जिसका नाम है **बोधिचर्या**। बोधिचर्या का आरम्भ बोधिचित्त-ग्रहण से होता है।

(१) बोधि-चित्त

मानव अपनी परिस्थितियों का दास है। वह भवसागर की दुःखोर्मियों का प्रहार सहता हुआ इधर से उधर मारा मारा फिरता है। उसकी बुद्धि स्वतः पापोन्मुखी बनी रहती है। परन्तु किसी पुण्य के बल पर कभी-कभी उसका चित्त भवजाल से मुक्ति पाने का भी इच्छुक बनता है। वह कल्याण **बोधिचित्त** है। 'बोधि' का अर्थ है ज्ञान। अतः बोधि-चित्त के ग्रहण से तात्पर्य है—समग्र जीवों के समुद्धरणार्थ बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सम्यक् संबोधि में चित्त का प्रतिष्ठित होना 'बोधिचित्त का ग्रहण'

करना है। बोधिचित्त ही सर्व अर्थ-साधन की योग्यता रखता है। भवजाल से मुक्ति पाने वाले जीवों के लिए बोधिचित्त का आश्रय नितान्त अपेक्षणीय है[१]। ज्ञान में चित्त को प्रतिष्ठित करना महायानी साधना का प्रथम सोपान है।

(२) द्विविध भेद

बोधिचित्त दो प्रकार का होता है—बोधिप्रणिधिचित्त और बोधिप्रस्थानचित्त। प्रणिधि का अर्थ है ध्यान और प्रस्थान का अर्थ वास्तविक चलना। सर्व-जगत्-परित्राणाय बुद्धो भवेयमिति प्रथमतरं प्रार्थनाकारा कल्पना प्रणिधि-चित्तम् अर्थात् मैं सब जगत् के परित्राण के लिए बुद्ध बनूं—यह भावना जब प्रार्थना रूप में उदय लेती है तब **बोधिप्रणिधि-चित्त** का जन्म होता है। यह पूर्वावस्था है। जब साधक व्रत ग्रहण कर मार्ग में अग्रसर होता है और शुभ कार्य में व्यापृत होता है, तब **बोधि प्रस्थान चित्त** का उत्पाद होता है[२]। इन दोनों में पार्थक्य वही है जो गमन की इच्छा करने वाले और गमन करने वाले के बीच में होता है। इन दोनों दशाओं का मिलना कठिन होता है। 'आर्यगण्डव्यूह' का यह कथन यथार्थ है[३] कि जो पुरुष अनुत्तर सम्यक् संबोधि में चित्त लगाते हैं वे दुर्लभ हैं और उनसे भी दुर्लभतर वे व्यक्ति होते हैं जो अनुत्तर सम्यक् संबोधि की ओर प्रस्थान करते हैं। यह समस्त दुःखों की औषधि है और जगदानन्द का बीज है।

(३) अनुत्तर पूजा

इस बोधिचित्त के उत्पाद के लिए सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान बतलाया गया है। इस पूजा के सात अंग ये हैं[४]—बन्दन, पूजन, पापदेशना, पुण्यानु-

---

१. भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपि सत्त्वव्यसनानि हर्तुकामैः।
बहु सौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम्॥
(बोधिचर्या० १।८)

२. द्रष्टव्य शान्तिदेव—बोधिचर्या० पृ० २४, शिक्षासमुच्चय पृ० ८।

३. बोधिचर्या पृ० २४।

४. 'धर्मसंग्रह' के अनुसार इन अंगों में 'याचना' के स्थान पर बोधिचित्तोत्पाद की गणना है। पंजिकाकार प्रज्ञाकरमति के अनुसार इस पूजा का 'शरणगमन' भी एक अंग है। अतः सप्ताङ्ग न होकर यह पूजा अष्टाङ्ग है।

पूजा के सप्त अंग

मोदन, बुद्धाध्येषण, बुद्धयाचना तथा बोधिपरिणामना। अनुत्तर पूजा मानसिक होती है। प्रथमतः जगत् के कल्याण साधन के लिए त्रिरत्न के शरण में जाना चाहिए। शरणापन्न हुए बिना ऐसी मंगल कामना की भावना उदय नहीं होती। अनन्तर नाना प्रकार के मानस उपचारों से बुद्धों की तथा बोधिसत्त्वों को (१) **वन्दना** तथा (२) **अर्चना** का अनुष्ठान किया जाता है। साधक बुद्ध को लक्षित कर अपने जाने या अनजाने, किये गये या अनुमोदित समस्त पापों का प्रत्याख्यान करता है = (३) **पापदेशना**[1]। 'देशना' का अर्थ प्रकटीकरण है। अतः पश्चात्ताप पूर्वक अपने पापों को प्रकट करना पापदेशना कहलाता है[2]। पापदेशना का फल यह है कि पश्चात्ताप के द्वारा प्राचीन पापों का शोधन हो जाता है तथा आगे चलकर नये पापों से रक्षा करने लिए बुद्ध से प्रार्थना भी की जाती है। इसके अनन्तर साधक सब प्राणियों के लौकिक शुभकर्म का अनुमोदन करता है और सब जीवों के सर्वदुःख—निर्मोक्ष का अनुमोदन करता है। इसे (४) **पुण्यानुमोदन** कहते है। समग्र सत्त्वों की सेवा करने का वह निश्चय करता है। साधक शुभ भावना को प्रश्रय देता है और अंजलि बाँधकर सब दिशाओं में स्थित बुद्धों से प्रार्थना करता है कि जीवों की दुःख-निवृत्ति के लिए वे उसे धर्म का उपदेश करें जिससे वह जीवों के लिए भद्रघट, चिन्तामणि, कामधेनु तथा कल्पवृक्ष बन जाय। इसका नाम है (५) **बुद्धाध्येषणा** (अध्येषणा = याचना) तब साधक कृतकृत्य बोधिसत्त्वों से प्रार्थना करता है कि वह इस संसार में जीवों की स्थिति सदा बनी रहे, वह परिनिर्वाण को प्राप्त न करे जिससे वह सदा मानवों के कल्याण के साधन में व्याप्त रहे। इसका नाम है (६) **बुद्धयाचना**। अनन्तर वह प्रार्थना करता है

---

१. अनादिमति संसारे जन्मन्यत्रैव वा पुनः।
यन्मया पशुना पापं कृतं कारितमेव वा॥ २८॥
यच्चानुमोदितं किञ्चिदात्मघाताय मोहतः।
तदत्ययं देशयामि पश्चात्तापेन तापितः॥ २९॥
(बोधिचर्या० द्वितीय परि०)

२. ईसाईधर्म में मृत्युकाल में Confession (कनफेशन) की जो प्रथा है उसका भी तात्पर्य इसी पश्चात्ताप के द्वारा पापशोधन से है।

कि इस अनुत्तरपूजा के फलरूप में जो सुकृत मुझे प्राप्त हुए हैं, उसके द्वारा मैं समस्त प्राणियों के दुःखों के प्रशमन में कारण बनूँ। यह है (७) **बोधिपरिणामना।** इस पूजा से बोधिचित्त का उदय अवश्य हो जाता है।

(ग) पारमिताग्रहण

महायानी साधक के लिए बोधिचित्त ग्रहण करने के उपरान्त पारमिताओं का सेवन आवश्यक चर्या है। 'पारमिता' शब्द का अर्थ है पूर्णत्व। इसका पाली रूप 'पारमी' है। जातक की निदान कथा में वर्णित है कि बुद्धत्व की आकांक्षा रखने वाले सुमेध नामक ब्राह्मण के अश्रान्त परिश्रम करने पर दश पारमितायें प्रकट हुई जिनका नाम निर्देश इस प्रकार है—दान, शील, नैष्कर्म्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान (दृढ़ निश्चय), मैत्री (हित अहित में समभाव रखना) तथा उपेक्षा (सुख दुःख में एकसमान रहना)। इन्हीं पारमिताओं के द्वारा शाक्यमुनि ने ५५० विविध जन्म लेकर सम्यक् संबोधि की लोकोत्तर सम्पत्ति प्राप्त की। यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य जन्म में ही पारमिता का अनुष्ठान सम्भव हो। जातकों का प्रमाण स्पष्ट है कि शाक्यमुनि ने तिर्यक् योनि में भी जन्म लेकर पारमिता का अनुशीलन किया। बिना पारमिता के अभ्यास के कोई भी बोधिसत्त्व बुद्ध की मान्य पदवी को कथमपि प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए पारमिता का अनुशीलन इतना आवश्यक है।

किसी गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के लिए जिस प्रकार पथिक को संबल की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार बोधिमार्ग पर आरूढ़ साधक को 'संभार' की अपेक्षा रहती है। संभार दो प्रकार के होते हैं—**पुण्यसंभार और ज्ञानसंभार।** पुण्यसंभार के अन्तर्गत उन शोभन गुणों की गणना है जिनके अनुष्ठान से अकलुषित प्रज्ञा का उदय होता है। ज्ञानसंभार प्रज्ञा का अधिवचन है। प्रज्ञापारमिता का उदय ही बुद्धत्व की उत्पत्ति का एकमात्र कारण होता है, परन्तु उसके निमित्त पुण्यसंभार की सम्पत्ति का उत्पाद एकान्त आवश्यक है। महायानी ग्रन्थों में पारमिताओं की संख्या ६ ही मानी गई है। षट् पारमितायें ये हैं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। इन षट्पारमिताओं में प्रज्ञा पारमिता का प्राधान्य है। प्रज्ञापारमिता यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। इसी की दूसरी संज्ञा है 'भूततथता'। बिना प्रज्ञा के पुनर्भव का अन्त नहीं होता। इसी पारमिता की उत्पत्ति के लिए अन्य

पारमिताओं की शिक्षा दी जाती है। अतः दान, शील, क्षान्ति, वीर्य तथा ध्यान—इन पाँच पारमिताओं का अन्तर्भाव 'पुण्यसंभार' के भीतर किया जाता है। प्रज्ञा के द्वारा परिशोधित किये जाने पर ही दान शील आदि पूर्णता को प्राप्त करते हैं और 'पारमिता' का उपदेश प्राप्त करते हैं। प्रज्ञारहित होने पर ये पारमितायें लौकिक कहलाती हैं, बुद्धत्व की प्राप्ति में साहाय्य नहीं देतीं। अतः षट् पारमिता का पुंखानुपुंख अनुशीलन महायान साधना का मुख्य अंग है।

(१) दान-पारमिता

सब जीवों के लिए सब वस्तुओं का दान देना तथा दानफल का परित्याग करना 'दानपारमिता' है। दान के अनन्तर यदि फल की आकाङ्क्षा बनी रहती है, तो वह कर्म बन्धनकारक होता है, अपूर्ण रहता है। अतः दान की पूर्णता के निमित्त दान के फल का परित्याग एकान्त आवश्यक है। सांसारिक दुःख का मूल सर्व-परिग्रह है। अतः 'अपरिग्रह' के द्वारा भवदुःख से विमुक्ति मिलती है। दान के अभ्यास का यही तात्पर्य है। इस पारमिता की शिक्षा से साधक किसी वस्तु में ममत्व नहीं रखता, सब सत्त्वों को पुत्रतुल्य देखता है और अपने को सबका पुत्र समझता है। बोधिसत्त्व के लिए चार बातें कुत्सित हैं—शाठ्य, मात्सर्य, ईर्ष्या-पैशुन्य और संसार में लीनचित्तता। जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसको वह वस्तु विना शोक किये, बिना फल की आकाङ्क्षा के, दे देनी चाहिए। तभी इस 'पारमिता' की शिक्षा पूरी समझनी चाहिए।

(२) शील-पारमिता

शील का अर्थ है प्राणातिपाप आदि समग्र गर्हित कर्मों से चित्त की विरति। चित्त की विरति ही शील है। दानपारमिता में आत्मभाव के परित्याग की शिक्षा दी गई है जिससे जगत् के प्राणी उसका उपभोग कर सकें। परन्तु यदि आत्मभाव की रक्षा न होगी, तो दूसरे उसका उपभोग किस प्रकार करेंगे? इसीलिए 'वीरदत्त-परिपृच्छा'[१] का कथन है कि साधक को शकट के समान धर्मबुद्धि से, भार के उद्वहन के लिए ही, इस देह की रक्षा करनी चाहिए। इसके साथ साथ चित्त की रक्षा भी नितान्त आवश्यक है। चित्त इतना विषयोन्मुख है कि यदि सावधानता से उसकी

---

१. शकटमिव भारोद्वहनार्थं केवलं धर्मबुद्धिना वोढव्यमिति।
(शिक्षासमुच्चय पृ० ३४)

रक्षा न की जायगी, तो कभी शान्ति नहीं आ सकती। शत्रुप्रभृति जो बाह्यभाव हैं, उनका निवारण करना शक्य नहीं। अतः चित्त के निवारण से ही कार्यसिद्धि होती है। शान्तिदेव का यह कथन बहुत युक्तियुक्त है[1]—

भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति।
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी॥

पैर की रक्षा के लिए कण्टक का शोधन आवश्यक है। इसके लिए पृथिवी को चाम से ढक देना चाहिए। परन्तु इतना चाम कहाँ मिलेगा? यदि मिले भी तो क्या उससे पृथ्वी ढाँकी जा सकती है? अपने पैर को जूते के चाम से ढक लेने पर समग्र मेदिनी चर्म से आवृत हो जाती है। चित्तनिवारण में यही कारण है। खेतों को काट गिराने की अपेक्षा सस्य के प्रलोभन से इधर-उधर भटकने वाली गाय को ही बाँध रखना सरल उपाय होता है। विषयों के अनन्त होने से उनका निवारण कल्पनाकोटि में नहीं आता। अतः अपने चित्त का निवारण ही सरल तथा सुगम उपाय है।

चित्त की रक्षा के लिए 'स्मृति' तथा 'संप्रजन्य' की रक्षा आवश्यक है। **'स्मृति'** का अर्थ है विहित तथा प्रतिषिद्ध का स्मरण[2]। स्मृति उस द्वारपाल की तरह है जो अकुशल को घुसने के लिए अवकाश नहीं देती। **'संप्रजन्य'** का अभिप्राय है—प्रत्यवेक्षण। काय और चित्त की अवस्था का प्रत्यवेक्षण करना[3]। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते हर समय काय और चित्त का निरीक्षण अभीष्ट है। शम के ही प्रभाव से चित्त समाहित होता है और समाहित चित्त होने से ही यथाभूत दर्शन होता है। चित्त के अधीन सर्वधर्म हैं और धर्म के अधीन बोधि है। चित्तपरिशोध के लिए ही शीलपारमिता का अभ्यास आवश्यक होता।

इस पारमिता का उपयोग द्वेष के प्रशमन के लिए किया जाता है। द्वेष के

---

१. बोधिचर्या ५।१३

२. विहितप्रतिषिद्धयोर्यथायोगं स्मरणं स्मृतिः। (बोधिचर्या० पृ० १०८)

३. एतदेव समासेन संप्रजन्यस्य लक्षणम्।
यत्कायचित्तावस्थायाः प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः॥
(बोधिचर्या० ५।१०८)

(३) क्षान्ति पारमिता समान दूसरा पाप नहीं, और क्षान्ति के समान कोई तप नहीं। इस पारमिता की शिक्षा ग्रहण करने का प्रकार शान्तिदेव ने इस कारिका में लिखा है[1]—

क्षमेत श्रुतमेषेत संश्रयेत वनं ततः।
समाधानाय युज्येत भावयेदशुभादिकम् ॥

मनुष्य में क्षान्ति होनी चाहिए। क्षमाहीन व्यक्ति को श्रुत के ग्रहण में जो खेद उत्पन्न होता है उसके सहन करने की शक्ति न होने से उसका वीर्य नष्ट होता है। अखिन्न होकर श्रुत (ज्ञान) की इच्छा करनी चाहिए। ज्ञानी को वन का आश्रय लेना चाहिए। वन में भी बिना चित्त—समाधान के विक्षेप का प्रशमन नहीं होता। इसलिए समाधि करे। समाहितचित्त होने पर भी बिना क्लेशशोधन के कोई फल नहीं होती। अतः अशुभ आदि की भावना करे।

क्षान्ति तीन प्रकार की है—(१) दुःखाधिवासना क्षान्ति; (२) परापकारमर्षण-क्षान्ति तथा (३) धर्मनिध्यान-क्षान्ति। प्रथम प्रकार की क्षान्ति वह है जिसमें अत्यन्त अनिष्ट का आगम होने पर भी दौर्मनस्य न हो। दौर्मनस्य के प्रतिपक्षरूप 'मुदिता' का यत्नपूर्व अभ्यास करना चाहिए।

क्षान्ति के प्रकार परापकारमर्षण का अर्थ है दूसरे के किये हुए अपकार को सहन करना और उसका प्रत्यपकार न करना। द्वेष के रहस्य समझाते समय शान्तिदेव की यह उक्ति कितनी सुन्दर है[2]—

मुख्यं दण्डादिकं हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते।
द्वेषेण प्रेरितः सोऽपि द्वेषे द्वेषोऽस्तु मे वरम् ॥

दण्ड के द्वारा ताडित किये जाने पर मनुष्य मारने वाले के ऊपर कोप करता है। यह तो ठीक नहीं जान पड़ता। यदि प्रेरक पर कोप करना है तो द्वेष के ऊपर कोप करना चाहिए, क्योंकि द्वेष की प्रेरणा से ही वह किसी के मारने के लिए तत्पर होता है। अतः द्वेष से द्वेष करना चाहिए। अतः द्वेष को जीतने के लिए क्षान्ति का उपयोग आवश्यक है। तृतीय प्रकार की क्षान्ति का जन्म धर्मों के

१. शिक्षासमुच्चय (कारिका २०)।
२. बोधिचर्या० ६।४१।

स्वभाव पर ध्यान देने से होता है। जब जगत् के समस्त धर्म क्षणिक तथा निःसार हैं, तब किस के ऊपर क्रोध किया जाय? किससे द्वेष किया जाय? क्षमा ही जीवन का मूलमन्त्र है।

(४) वीर्य पारमिता

वीर्य का अर्थ है उत्साह। जो क्षमी है वह वीर्य लाभ कर सकता है। वीर्य में बोधि प्रतिष्ठित है। जैसे वायु के बिना गति नहीं है, उसी प्रकार वीर्य के बिना पुण्य नहीं है। कुशल कर्म में उत्साह का होना ही वीर्य का होना है। इसके विपक्ष में आलस्य, कुत्सित कर्म में प्रेम, विषाद और आत्म-अवज्ञा हैं। संसार-दुःख के तीव्र अनुभव के बिना कुशल कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती साधक को अपने चित्त में कभी विषाद को स्थान न देना चाहिए। उसे यह चिन्ता न करनी चाहिए कि मनुष्य अपरिमित पुण्य-ज्ञान के बल से दुष्कर कर्मों का अनुष्ठान कर कहीं असंख्य कल्पों में बुद्धत्व को प्राप्त होता है। मैं साधारण व्यक्ति किस प्रकार बुद्धत्व को प्राप्त कर सकूँगा क्योंकि तथागत का यह सत्य कथन है कि जिसमें पुरुषार्थ है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है। जिन बुद्धों ने उत्साहवश दुर्लभ अनुत्तर बोधि को प्राप्त किया है वे भी संसार सागर के आवर्त में घूमते हुए मशक, मक्षिका, और क्रिमि के योनि में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार चित्त में उत्साह का भाव भरकर निर्वाण-मार्ग में अग्रसर होना चाहिए। सत्त्व की अर्थ-सिद्धि के लिए बोधिसत्त्व के पास एक बल-व्यूह है जिसमें छन्द, स्थाम, रति और मुक्ति की गणना की गई है। छन्द का अर्थ है—कुशल कर्मों में अभिलाषा। स्थाम का अर्थ है—आरब्ध कार्यों में दृढ़ता। रति—सत्-कर्म में आसक्ति का नाम है। मुक्ति का अर्थ है—उत्सर्ग या त्याग। यह बल-व्यूह वीर्य संपादन करने में चतुरंगिणी सेना का काम करता है। इसके द्वारा आलस्य आदि शत्रुओं को दूर भगाकर वीर्य के बढ़ाने में प्रयत्न करना चाहिए। इन गुणों के अतिरिक्त बोधिसत्त्व को निपुणता, आत्मवश-वर्तिता, परात्मसमता और परात्मपरिवर्तन का संपादन करना चाहिए। जैसे रूई वायु की गति से संचालित होती है उसी प्रकार बोधिसत्त्व उत्साह के द्वारा संचालित होता है और अभ्यास-परायण होने से ऋद्धि को प्राप्त करता है[1]।

इस प्रकार वीर्य की वृद्धि कर साधक को समाधि में चित्त स्थापित करना

---

१. द्रष्टव्य—बोधिचर्या का सप्तम परिच्छेद।

(५) ध्यान पारमिता चाहिए[1] क्योंकि विक्षिप्त-चित्त पुरुष वीर्यवान् होता हुआ भी क्लेशों को अपने चंगुल से हटा नहीं सकता। इसके लिए तथागत ने दो साधनों का निर्देश किया है—शमथ तथा विपश्यना। विपश्यना का अर्थ है ज्ञान और शमथ का अर्थ है चित्त की एकाग्रतारूपी समाधि। शमथ के बाद विपश्यना का जन्म होता है और शमथ (समाधि) का जन्म संसार में आसक्ति को छोड़ देने से होता है[2]। बिना अरति हुए समाधि प्रतिष्ठित नहीं होती। आसक्ति से जो अनर्थ होते हैं उससे कौन नहीं परिचित है? इसलिए महायानी साधक को जन-संवास से दूर हटकर जंगल में जाकर निवास करना चाहिए। और वहाँ एकान्तवास करते हुए साधक को जगत् की अनित्यता के ऊपर अपने चित्त को समाहित करना चाहिए। उसे यह भावना करनी चाहिए कि प्रिय का समागम सदा विघ्नकारक होता है। जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है। तब जीवन के कतिपय क्षण के लिए ही प्रिय-वस्तुओं के जमघट लगाने से लाभ क्या[3]? परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो कौन किसकी संगति करता है। जिस प्रकार राह चलते हुए पथिकों का एक स्थान में मिलन होता है और फिर वियोग होता है उसी प्रकार संसार-रूपी मार्ग पर चलते हुए जाति भाइयों का, प्रिय-मित्रों का क्षणिक समागम हुआ करता है[4]। इस प्रकार बोधिसत्त्व को संसार की प्रिय वस्तुओं से अपने चित्त को हटाकर, एकान्तवास का सेवन कर अनर्थकारी कामों के निवारण के लिए चित्त की एकाग्रता तथा दमन का अभ्यास करना चाहिए।

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—बोधिचर्या (अष्टम परिच्छेद)।

२. शमथेन विपश्यनासुयुक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या॥
(बोधिचर्या ७।४)

३. एक उत्पद्यते जन्तुर्म्रियते चैक एव हि।
नान्यस्य तद्व्यथाभागः किं प्रियैर्विघ्नकारकैः॥
(बोधिचर्या ७।३३)

४. अध्वानं प्रतिपन्नस्य यथावासपरिग्रहः।
तथा भवाध्वगस्यापि जन्मावासपरिग्रहः॥ (बोधिचर्या ७।४४)

चित्त की एकाग्रता से प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि जिसका चित्त समाहित है उसी को यथाभूत सत्य का परिज्ञान होता है। द्वादश निदानों में अविद्या ही मूल स्थान है। इस अनवरत परिणामशाली दुःखमय प्रपंच का मूल कारण यही अविद्या है। इस अविद्या को दूर करने का एकमात्र उपाय है—प्रज्ञा। अब तक वर्णित पाँचों पारमितायें इस पारमिता की परिकरमात्र है। भव-दुःख के उन्मूलन में प्रज्ञा-पारमिता की ही प्रधानता है। इस प्रज्ञा का दूसरा नाम है विपश्यना, अपरोक्ष ज्ञान। इस ज्ञान के उत्पन्न करने में समाधि की महिमा है।

(६) प्रज्ञा-पारमिता

प्रज्ञा-पारमिता का अर्थ है सब धर्मों की निस्सारता का ज्ञान। अथवा सर्व-धर्मशून्यता। शून्यता में प्रतिष्ठित होनेवाला व्यक्ति ही प्रज्ञापारमिता (पूर्ण ज्ञान या सर्वज्ञता) को प्राप्त कर लेता है। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावों की उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः होती है, न उभयतः होती है, न अहेतुतः होती है, तभी प्रज्ञापारमिता का उदय होता है। उस समय साधक के लिए किसी प्रकार का व्यवहार शेष नहीं रह जाता। उस समय यह परमार्थ स्वतः भासित होने लगता है कि यह दृश्यमान वस्तु-समूह माया के सदृश है। स्वप्न और प्रतिबिम्ब की करह अलीक और मिथ्या है। जगत् की सत्ता केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। जगत् का जो स्वरूप हमारे इन्द्रियगोचर होता है वह उसका मायिक (साम्वृतिक) स्वरूप है। वास्तव में सब शून्य ही शून्य है। यही ज्ञान आर्य-ज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान का जब उदय होता है। तब अविद्या की निवृत्ति होती है। अविद्या के निरोध होने से संस्कारों का निरोध होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व कारण के निरोध होने से उत्तरोत्तर कार्य का निरोध हो जाता है और अन्त में दुःख का निरोध संपन्न होता है। इस प्रकार प्रज्ञापारमिता के उदय होने पर संसार की निवृत्ति और निर्वाण की प्राप्ति होती है। संवृत्ति = संसार = समस्त दोषों का आकर। निवृत्ति = निर्वाण = समस्त गुणों का भण्डार है। इस प्रज्ञापारमिता की कल्पना पूजनीया देवता के रूप में पारमिता सूत्रों में की गई है। 'प्रज्ञा-पारमिता–सूत्र' ने प्रज्ञा का मनोरम वर्णन इस प्रकार किया है :—

सर्वेषामपि वीराणां परार्थनियतात्मनाम्।
याधिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला॥ १६ ॥

बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः ॥ १७ ॥

इन पारमितायों की शिक्षा से बोधिसत्व की साधना सफल हो जाती है। वह बुद्धत्व की प्राप्ति कर सब सत्त्वों के उद्धार के महनीय कार्य में संलग्न हो जाता है। उसके जीवन का प्रत्येक क्षण प्राणियों के कल्याण तथा मंगल के साधन में व्यय होता है। उसमें स्वार्थ का तनिक भी गन्ध नहीं रहता। महायान की साधना का यहीं पर्यवासन है। यह साधना कितनी उदात्त तथा मंगलकारिणी है, इसे अब अधिक बतलाना व्यर्थ है। बुद्धधर्म के विपुल प्रचार तथा प्रसार में बोधिसत्त्व का यह महान् आदर्श कितना सफल तथा सहायक था, इसे इतिहास-वेत्ताओं के सामने विशेष बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

एकादश परिच्छेद

(क) त्रिकाय

महायान और हीनयान के पारस्परिक भेद इसी त्रिकाय के सिद्धान्त को लेकर हैं। हीनयान निकायों में स्थविरवादियों ने त्रिकाय के सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं लिखा है। क्योंकि उनकी दृष्टि में बुद्ध शरीर धारण करनेवाले एक साधारण मानव थे तथा साधारण मनुष्यों की भाँति ही वे समस्त मानवीय दुर्बलताओं के भाजन थे। स्थविरवादियों ने कभी-कभी बुद्ध को धार्मिक नियमों का समुच्चय बतलाया, परन्तु यह केवल संकेत मात्र था जिसके गूढ़ तात्पर्य की ओर उन्होंने अपनी दृष्टि कभी नहीं डाली। इन संकेतों को सर्वास्तिवादियों ने और महायानियों ने ग्रहण किया और अपने विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। सर्वास्तिवादियों का भी इस विषय में धारणा विशेष महत्व की नहीं है। महासंघिकों ने इस विषय में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने ही तथागत तीनों कायों—निर्माण-काय, संभोगकाय और धर्मकाय—की आध्यात्मिक रीति से ठीक-ठीक विवेचना प्रस्तुत की। 'त्रिकाय' महायान-सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त समझा जाता है।

त्रिकाय का विकास

त्रिकाय की कल्पना का विकास अनेक शताब्दियों में धीरे-धीरे होता रहा। आरम्भिक महायान के अनुसार (जिसके सिद्धान्त अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में उपलब्ध होते हैं) काय दो ही थे। (क) **रूप** (निर्माण) **काय**—जिसके अन्तर्गत सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों का अन्तर्भाव है। यह काय प्रत्येक प्राणी के लिए है। (ख) **धर्मकाय**—इसका प्रयोग दो अर्थ में होता था। (१) बुद्ध के निर्माण करनेवाले समस्त धर्मों से बना हुआ शरीर। (२) परमार्थ (तथता), जो इस जगत् का मूल सिद्धान्त है।

विज्ञानवादियों ने इस द्विविधकाय की कल्पना को त्रिविध बना दिया। उन्होंने स्थूल रूपकाय को सूक्ष्म रूपकाय से अलग कर दिया। पहिले का नाम रक्खा 'निर्माणकाय' और दूसरे का 'संभोगकाय'। लंकावतारसूत्र में यह 'संभोगकाय' निष्यन्द बुद्ध या धर्मतानिष्यन्द बुद्ध (धर्म से उत्पन्न होनेवाले बुद्ध) नाम दिया गया है। असंग ने सूत्रालंकार में 'निष्यन्द बुद्ध' के लिए संभोगकाय तथा

धर्मकाय के लिए 'स्वाभाविक काय' का प्रयोग किया है। इस प्रकार कार्यों का नामकरण भी कई शताब्दियों के भीतर धीरे-धीरे होता रहा।

स्थविरवादी कल्पना

निकायों के अध्ययन से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि वे बुद्ध को वस्तुतः इस भूतल पर आकर धर्म प्रचार करने वाला व्यक्तिमात्र समझते थे। बुद्ध की यह मानवकल्पना इन शब्दों में प्रकट की गयी है।

'भगवा अर्हं सम्मा सम्बुद्ध विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिषधम्मसारथी सत्ता देवमनुस्सानं सत्था बुद्धो भगवा'।

(दीघनिकाय भाग १ पृ० ८७-८८)।

अर्थात् भगवान् अर्हत् सम्यक् ज्ञान सम्पन्न, विद्या और आचरण से युक्त, सद्गति को प्राप्त करनेवाले लोकज्ञाता, श्रेष्ठ, मनुष्यों के नायक, देवता और मनुष्यों को उपदेशक ज्ञानसम्पन्न तथा भगवान् थे। इसका स्पष्ट अर्थ है कि बुद्ध मानव थे परन्तु मानवों में अत्यन्त ज्ञान सम्पन्न तथा धर्मोपदेशक थे। त्रिपिटक में अनेक जगहों पर बुद्ध की अमानवीय कल्पना का भी संकेत है। मृत्यु के समय से कुछ पहिले बुद्ध ने आनन्द से कहा था कि मेरी मृत्यु के अनन्तर जिस धर्म और विनय का मैंने उपदेश दिया है वही तुम्हारे लिये शिक्षा का काम करेगा। धर्मकाय की कल्पना यहीं से आरम्भ होती है परन्तु धर्मकाय का अर्थ बौद्ध धार्मिक नियमों का समुदायमात्र है अन्य कुछ नहीं। इस प्रकार थेरवादियों में यही द्विविध कल्पना बनी रही।

हीनयान का यह सम्प्रदाय थेरवादियों से काय की कल्पना में कुछ पृथक् था।

सर्वास्तिवादी कल्पना

ललितविस्तर में बुद्ध के जीवनचरित से संबद्ध अनेक अलौकिक कथायें दी गई हैं। बुद्ध की कल्पना नितान्त स्पष्ट है। वे अमानवीय गुणों से युक्त एक मानव व्यक्तिमात्र हैं। लोकानुवर्तन के लिये ही बुद्ध इस जगत् में उत्पन्न होते हैं। यदि वे एक ही लोक में निवास करते और वहीं पर मुक्तिप्राप्त कर लिये रहते तो यह लोक का अनुवर्तन कथमपि नहीं सिद्ध हो सकता था। इतनी कल्पना होने पर भी धर्मकाय की दार्शनिक कल्पना यहाँ नहीं दीख पड़ती। आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश में धर्मकाय की कल्पना को अधिक विकसित किया है। धर्मकाय का प्रयोग उन्होंने

दो अर्थों में किया है:—(१) क्षय-ज्ञान (दुःख के नाश का ज्ञान) अनुत्पाद ज्ञान आदि उन धर्मों के लिये धर्मकाय शब्द का व्यवहार किया गया है जिनके सम्पादन करने से मनुष्य स्वयं बुद्ध बन जाता है (बोधिपक्षीय धर्म)। (२) भगवान् बुद्ध का विशुद्ध व्यक्तित्व—यही धर्मकाय का नया अर्थ है जिसे वसुबन्धु ने दिया। इस प्रकार धर्मकाय की मूर्त कल्पना को अमूर्त रूप देना वसुबन्धु का कार्य है। इसी प्रकार जब कोई भिक्षु बुद्ध की शरण में जाता है तो क्या वह बुद्ध के शरीर के शरण में जाता है। वसुबन्धु का उत्तर है कि नहीं, वह उन गुणों की शरण में जाता है जिनके आश्रय भगवान् बुद्ध हैं।

सत्यसिद्धि सम्प्रदाय की काय-कल्पना

सत्य सिद्धि सम्प्रदाय धर्मकाय का प्रयोग बुद्ध के उस शरीर के लिये करता है जो शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति तथा विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन से पवित्र और विशुद्ध हो जाता है। बुद्ध भी अर्हत् हैं परन्तु इस मत के संस्थापक हरिवर्मा की दृष्टि में अर्हत् तथा बुद्ध के शरीर में महान् अन्तर है। अर्हत् में तो केवल पाँच सद्गुण रहते हैं परन्तु बुद्ध के धर्मकाय में दस प्रकार के बल (दश बल), चार प्रकार की योग्यता (वैशारद्य) तथा तीन प्रकार की स्मृतियाँ रहती हैं।

महायानी कल्पना

हीनयान के अनुसार काय की यही कल्पना है। महायान की कल्पना इससे नितान्त भिन्न, प्रौढ़ तथा आध्यात्मिक है। इसी का वर्णन यहाँ संक्षेप में किया जावेगा :—

(१) निर्माण काय

भगवान् बुद्ध ने यह शरीर दूसरे के उपकार के यिये ही धारण किया था। यही शरीर माता और पिता से उत्पन्न हुआ था। चेतन प्राणियों के धर्म इसी शरीर से संबद्ध हैं। शाक्यमुनि ने मुनि के रूप में इसी निर्माण काम को धारण किया था। असंग ने इस काय की विशेषता वतलाते हुये कहा है कि शिल्प, जन्म, अभिसंबोधि (ज्ञान), निर्वाण की शिक्षा देकर जगत् के कल्याण के लिये ही बुद्ध ने इस शरीर को धारण किया था। इस निर्माणकाय का अन्त नहीं। परार्थ की सिद्धि जिन जिन शरीरों के द्वारा सम्पन्न की जा सकती है, उन सब शरीरों को बुद्ध ने इसी निर्माण काय के द्वारा धारण किया[1]।

---

१. शिल्प-जन्म-महाबोधि-सदा-निर्वाण-दर्शनैः।
बुद्धनिर्मागकायोऽयं महामायो विमोचने ॥ (महायान सूत्रालंकार ९।६४)

'विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि' के अनुसार निर्माणकाय श्रावक, प्रत्येक बुद्ध पृथक् जन तथा भूमि में न स्थित होने वाले बोधिसत्त्वों के निमित्त हैं। 'सिद्धि' के चीनी भाषा में लिखित टीकाओं ने बुद्ध के नवीन रूप धारण करने के प्रकारों का खूब वर्णन किया है। वे कभी कभी ब्रह्मा का रूप धारण कर बोलते थे और कभी-कभी शारीपुत्र या सुभूति के द्वारा धर्मोपदेश करते थे। इसीलिये इन शिष्यों के द्वारा दिये गये उपदेश बुद्ध के ही उपदेश माने जाते हैं। बुद्ध जैसा चाहते वैसा रूप धारण कर सकते थे; जो विचार चाहें कर सकते थे; आकाश से शब्द उत्पन्न कर सकते थे। यह सब कार्य 'निर्माणकाय' के द्वारा निष्पन्न किया जाता था।

लंकावतार सूत्र में निर्माणकाय और धर्मकाय का सम्बन्ध विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि के अनुरूप ही दिखलाया गया है। इस ग्रन्थ का कहना है कि निर्मित बुद्ध (निर्माण काय) कर्मों से उत्पन्न नहीं होते[1]। तथागत न तो इन बुद्धों में वर्तमान हैं और न उनके बाहर। तथागत निर्माण काय को उत्पन्न कर तथागत के जितने कृत्य हैं उनका सम्पादन करते हैं। बुद्ध इसी शरीर के द्वारा दान, शील, ध्यान, समाधि, चित्त, प्रज्ञा ज्ञान, स्कन्ध आदि का उपदेश करते हैं[2]।

इस प्रकार निर्माणकाय का कार्य परोपकार-साधन करना है। इस काय की संख्या का अन्त नहीं। जिस ऐतिहासिक शाक्य मुनि से हम परिचित हैं वे भी तथागत के निर्माणकाय ही थे।

(२) संभोग काय

यह संभोग-काय निर्माण-काय की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म है। अभी बतलाया गया है कि श्रावक आदि निर्माण-काय को धारण करते थे। सूक्ष्म शरीर को केवल बोधिसत्त्व ही धारण कर सकते हैं। संभोग-काय दो प्रकार का माना जाता है— (१) परसंभोग-काय और (२) स्वसंभोगकाय। स्वसंभोगकाय केवल बुद्ध का अपना विशिष्ट शरीर है। परसंभोग-काय बोधिसत्त्वों का काय है। इसी काय के द्वारा बुद्ध ने महायान सूत्रों का उपदेश गृद्धकूट पर्वत पर दिया था या सुखावती व्यूह में दिया। महायान धर्म का उपदेश इसी शरीर के द्वारा किया गया। पञ्चविंशति-साहस्रिका के अनुसार संभोग काय अत्यन्त भास्वर शरीर है जिसके एक एक

---

१. लंकावतार सूत्र पृ० २२४। २. वही—पृ० ५७।

छिद्र से प्रकाश की अनन्त और असंख्य धारायें निकलकर जगत् को आप्लावित किया करती हैं। जब इस शरीर से उपदेश देने के लिये जिह्वा बाहर निकलती है, तब उससे असंख्य प्रभा की ज्वालायें चारों ओर फैलती हैं। इसी प्रकार का विचित्र वर्णन अन्य प्रज्ञापारमिताओं में भी मिलता है। लंकावतारसूत्र में इसी का नाम 'निष्यन्द बुद्ध' रक्खा है। इस शरीर का कार्य वस्तुतत्त्व से अनभिज्ञ होनेवाले लोगों के सामने परिकल्पित और परतन्त्र रूप का उपदेश करना है। 'सुवर्णप्रभाससूत्र' के कथनानुसार 'संभोगकाय' बुद्ध का सूक्ष्म शरीर है। इसमें महापुरुष के समस्त लक्षण विद्यमान रहते हैं। इसी शरीर को धारण कर बुद्ध-भगवान् योग्य शिष्यों के सामने धर्म के गूढ़ तत्त्वों का उपदेश दिया करते हैं। विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि में संभोगकाय के दो भेद कर दिये गये हैं:—परसंभोग काय और स्वसंभोग काय। इनमें पहिला बोधिसत्त्वों का शरीर है और दूसरा स्वयं बुद्ध भगवान् का। अमेयता, अनन्तता, और प्रकाश की दृष्टि से इन दोनों प्रकारों में किसी प्रकार का भेद नहीं है। अन्तर है तो इस बात में है कि परसंभोग काय में महापुरूष के लक्षण विद्यमान रहते हैं तथा उसका चित्त सत्य नहीं होता। स्वसंभोग काय में महापुरुष के लक्षण नहीं रहते परन्तु इसका चित्त नितान्त सत्य है। इस चित्त में चार गुण विद्यमान रहते हैं—आदर्श ज्ञान (दर्पण के समान विमला ज्ञान), समता-ज्ञान (प्रत्येक वस्तु सम हैं, इस विषय का ज्ञान), प्रत्यवेक्षणा ज्ञान (वस्तुओं के पारस्परिक भेद का ज्ञान), कृत्यानुष्ठान ज्ञान (कर्तव्यों का ज्ञान)।

इस प्रकार संभोगकाय बोधिसत्त्वों का सूक्ष्म शरीर है जिसके द्वारा धर्म का उपदेश दिया जाया है। इस भूतल पर सबसे पवित्र स्थान गृद्धकूट है जहाँ संभोग काय उत्पन्न होकर धर्मोपदेश करता है[1]।

---

१. महायान सम्प्रदाय में दो नय माने जाते हैं (१) पारमिता नय और (२) मन्त्र नय। बुद्ध ने पारमिता नय का उपदेश संभोगकाय से गृद्धकूट पर्वत पर किया और मन्त्र नय का उपदेश श्री पर्वत पर किया। गृद्धकूट और श्रीपर्वत भौगोलिक नाम हैं जिनकी सत्ता आज भी विद्यमान है, परन्तु तान्त्रिक रहस्य-वेत्ताओं का कहना है कि ये पीठस्थान हैं जिनकी सत्ता इसी शरीर में है। ये कोई-भौगोलिक स्थान नहीं हैं।

(३) धर्म-काय

बुद्ध का यही वास्तविक परमार्थभूत शरीर है। यह काय शब्दतः अनिर्वचनीय है। महायान सूत्रालंकार तथा 'सिद्धि' में इसका नाम स्वाभाविक काय या स्वभाव काय बतलाया गया है। यह अनन्त और अपरिमेय तथा सर्वत्र व्यापक है। संभोगकाय तथा निर्माणकाय का यही आधार है। असंग का कथन है :—

'समः सूक्ष्मश्च तच्छिष्टः कायः स्वाभाविको मतः।
संभोग-विभुता-हेतुर्यथेष्टं भोगदर्शने"[1]॥

आशय है कि धर्मकाय सब बुद्धोंके लिये एक रूप होता है। दुर्ज्ञेय होने से यह अत्यन्त सूक्ष्म होता है। निर्माण काय तथा संभोग काय से संबद्ध रहता है। संभोग और विभुत्व का कारण होता है तथा इसी के कारण से संभोग काय अपना संभोग सिद्ध कर सकता है। यह महापुरुष के लक्षणों से हीन, निष्प्रपञ्च, नित्य, सत्य तथा अनन्त गुणों से युक्त होता है। बुद्धों के संभोग काय भिन्न-भिन्न होते हैं परन्तु धर्मकाय एक ही होता है। शब्दतः इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह तो स्वयं वेद्य है (प्रत्यात्मवेद्य)। जिस प्रकार सूर्य को कभी न देखने वाला अन्धा सूर्य का वर्णन कभी नहीं कर सकता इसी प्रकार धर्मकाय का वर्णन शब्दों के द्वारा कथमपि नहीं किया जा सकता।

धर्मकाय का यह तत्त्व प्रज्ञा पारमिताओं के आधार पर ही निश्चित किया गया है। शून्यवाद के प्रकरण में हम दिखलायेगें कि शून्यता की कल्पना अभावात्मक नहीं है। उसी प्रकार धर्मकाय की भावात्मक कल्पना महायान सूत्रों को मान्य है। माध्यमिकों को भी धर्मकाय का यह स्वरूप स्वीकृत है। आचार्य नागार्जुन ने माध्यमिककारिका के २२ वें प्रकरण में तथागत की कड़ी परीक्षा की है। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि यदि भव-सन्तति स्वीकृत की जाय तभी तथागत की सत्ता स्वीकृत की जा सकती है। क्योंकि तथागत भव-सन्तति के चरम अवसान के प्रतीक हैं। भवसन्तति (सत्ता का परम्परा) वस्तुतः सिद्ध नहीं होती। अतः तथागत की कल्पना प्रमाण-सिद्ध नहीं है। चन्द्रकीर्ति ने नागार्जुन के कथन को प्रमाणों से सिद्ध किया है। वज्रच्छेदिका सूत्र का वचन है कि जो मनुष्य रूप के

---

१. महायानसूत्रालंकार ९।६२।

द्वारा मेरा दर्शन करना चाहता है या शब्द के द्वारा मुझे जानना चाहता है वह मुझे जान नहीं सकता, क्योंकि—

धर्मतो बुद्धा द्रष्टव्या, धर्मकाया हि नायकाः।
धर्मता चाप्यविज्ञेया, न सा शक्या विजानितुम्[1] ॥

अर्थात् बुद्ध को धर्मता के रूप से अनुभव करना चाहिये क्योंकि वे मनुष्यों के नायक ठहरें ; उनका वास्तवित शरीर धर्मकाय है। लेकिन यह धर्मता अविज्ञेय है। उसी प्रकार तथागत भी अविज्ञेय ही हैं। तथागत का जो स्वभाव है वही स्वभाव इस जगत् का है। तथागत स्वयं स्वभावहीन हैं। उसी प्रकार यह जगत् भी निःस्वभाव है। जिसे साधारण पुरुष तथागत के नाम से पुकारते हैं वे वस्तुतः क्या हैं? वे अनास्रव, कुशल धर्मों के प्रतिबिम्ब रूप हैं। न उनमें तथता है और न वे तथागत हैं[2]। इतनी व्याख्या के बाद नागार्जुन इस सिद्धान्त पर पहुंचते हैं कि जगत् के मूल में एक ही परमार्थ है जो वास्तविक है। उसीका नाम तथागतकाय या धर्मकाय है।

योगाचार मत में धर्मकाय की कल्पना नितान्त महत्त्वपूर्ण है। लंकावतारसूत्र के अनुसार बुद्ध का धर्मकाय (धर्मता बुद्ध) बिना किसी आधार का होता है। इन्द्रियों के व्यापार, सिद्धि, चिह्न सबसे यह पृथक् रहता है। त्रिंशिका के अनुसार धर्मकाय आलय विज्ञान का आश्रय होता है। यही धर्मकाय वस्तुओं का सच्चा रूप है। यही तथता, धर्मधातु, तथा तथागतगर्भ के नाम से प्रसिद्ध है[3]।

बौद्धों के इस त्रिकाय सिद्धान्त की ब्राह्मण दर्शन के सिद्धान्त से तुलना की जा सकती है। धर्मकाय वेदान्त के ब्रह्म का प्रतिनिधि है तथा संभोगकाय ईश्वर

---

१. माध्यमिकवृत्ति पृ० ४४८।

२. तथागतो हि प्रतिबिम्बभूतः कुशलस्य धर्मस्य अनास्रवस्य।
नैवात्र तथता न तथागतोऽस्ति, बिम्बञ्च संदृश्यति सर्वलोके ॥
(माध्यमिक वृत्ति पृ० ४४८)

३. स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुने ॥
(त्रिंशिका, श्लोक ३०, पृ० ४३)

बौद्ध तथा ब्राह्मण कल्पना का समन्वय

तत्त्व का निदर्शक है। जिस प्रकार जगत् को ज्ञानोपदेश करने के लिये प्रपञ्चातीत ब्रह्म ईश्वर की मूर्ति धारण करता है, उसी प्रकार धर्मकाय धर्मोपदेश करने के लिये संभोगकाय का रूप धारण करता है। धर्मकाय वस्तुतः एक ही रूप है। प्रत्येकबुद्ध का संभोगकाय भिन्न-भिन्न हुआ करता है परन्तु सब बुद्धों का धर्मकाय एक, अभिन्न तथा सम होता है। निर्माणकाय की तुलना अवतार-विग्रह से की जा सकती है। जिस प्रकार भगवान् भक्तों के मनोरथ को सिद्ध करने के लिये अवतार धारण करते हैं उसी प्रकार हिर्माणकाय के द्वारा भी जगत् के उद्धार का कार्य भगवान् बुद्ध सम्पन्न किया करते हैं। इस प्रकार दोनों धर्मों की काय-कल्पना में वस्तुतः साम्य हैं।

(ख) दशभूमियां

महायान की एक अन्य विशिष्टता दशभूमि की कल्पना में है। यह तो निश्चित बात है कि आध्यात्मिक उन्नति एक दिन के अध्यवसाय का फल नहीं है। आध्यात्मिकता की चोटी पर चढ़ना अश्रान्त परिश्रम, असीम उत्साह तथा अदम्य प्रयास का फल है। साधक की उन्नति का पता उसके भीतर होनेवाले परिवर्तन से लगता है। हीनयान के अनुसार अर्हत् पद की प्राप्ति तक चार भूमियाँ हैं जिनका नाम (१) स्रोतापन्न (२) सकृदागामी (३) अनागामी (४) अर्हत् है। महायान के अनुसार बुद्धत्त्व या निर्वाण की प्राप्ति के लिए दश भूमियां मानी जाती हैं। ये भूमियाँ सोपान की तरह हैं। एक भूमि के पार कर लेने पर बोधिसत्त्व अगली भूमि में पदार्पण करता है और धीरे-धीरे आध्यात्मिक विकाश को प्राप्त कर बुद्धत्व पद पर आरूढ़ होता है। असंग ने 'दशभूमि शास्त्र' में इस विषय का बड़ा ही सांगोपाङ्ग वर्णन किया है। साधना के रहस्य जाननेवाले विद्वानों के लिए इस ग्रन्थ का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है।

दशभूमियों के नाम तथा संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :—

(१) **मुदिता**—प्राचीन जन्म में शोभन कर्म के संपादन करने से बोधिसत्त्व के हृदय में पहले पहल सम्बोधि के प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। इसी का नाम है बोधिचित्त का उत्पाद। इस प्रकार बोधिसत्त्व पृथक् जन (साधारण मनुष्य) की कोटि से निकल कर तथागत के कुटुम्ब में प्रवेश करता है। बुद्ध और बोधिसत्त्वों के गौरवपूर्णकार्यों को स्मरण कर उसका हृदय आनन्द

से खिल जाता है। उसके हृदय में महाकरुणा का उदय होता है और वह दश महाप्रणिधान (व्रत) से संपादन का संकल्प करता है कि—(१) प्रत्येक देश में और सब तरह से बुद्ध की पूजा करना, (२) जहाँ कहीं और जब कहीं बुद्ध उत्पन्न हो तब उनकी शिक्षाओं का पालन करना, (३) तुषित स्वर्ग को छोड़कर इस भूतल पर आने तथा निर्वाण प्राप्त करने तक समस्त क्षेत्रों में बुद्ध के उदय का निरीक्षण करना, (४) सब भूमियाँ तथा सब प्रकार की पारमिता प्राप्त करने के लिए ज्ञान प्राप्त करना, (५) जगत् के समस्त प्राणियों को सर्वज्ञ बनाना, (६) जगत् में विद्यमान समस्त भेदों का अवलोकन करना, (७) समग्र प्राणियों को उनके अनुसार आनन्दित करना, (८) बोधिसत्त्वों के हृदयों में एक प्रकार की भावना उत्पन्न करना, (९) बोधिसत्त्व की चर्या का संपादन करना, (१०) सम्बोधि को प्राप्त करना। इस भूमि को विशुद्ध करने के लिए श्रद्धा, दया, मैत्री, दान, शास्त्र-ज्ञान, लोक-ज्ञान, नम्रता, दृढ़ता तथा सहनशीलता—इन दश गुणों की बड़ी आवश्यकता होती है।

(२) **विमला**—इस भूमि में काय, वचन, मन के दस प्रकार के पापों (दोषों) को साधक दूर करता है। दश पारमिताओं में से केवल शील का सर्वतोभावेन अभ्यास किया जाता है।

(३) **प्रभाकरी**—इस तृतीय भूमि में साधक जगत् के समस्त संस्कृत पदार्थों को अनित्य देखता है। वह आठ प्रकार की समाधि, चार ब्रह्मविहार तथा सिद्धियों को प्राप्त करता है। काम-वासना, देह-तृष्णा क्षीण हो जाती है और उसका स्वभाव निर्मल होने लगता है। वह विशेषकर धैर्य पारमिता का अभ्यास करता है।

(४) **अर्चिष्मती**—इस भूमि में साधक बोध्यङ्गों तथा अष्टाङ्गिक मार्ग का अभ्यास करता है। उसका चित्त दया तथा मैत्रीभाव से स्निग्ध हो जाता है। संशय छिन्न हो जाते हैं। जगत् से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और साधक वीर्यपारमिता का अभ्यास विशेष रूप से करता है।

(५) **सुदुर्जया**—चित्त की समता और विचारों की विशुद्धता (चित्ताशय विशुद्ध समता) के उत्पन्न करने से साधक चतुर्थ भूमि से पञ्चम भूमि में प्रवेश करता है। प्राणियों के ऊपर दया के विचार से वह नाना प्रकार के लौकिक विद्याओं का अभ्यास करता है। इस भूमि में साधक जगत् को छोड़ बैठता है और उपदेशक बन जाता है। ध्यानपारमिता का अभ्यास इस भूमि की विशेषता है।

(६) **अभिमुक्ति**—दश प्रकार की समता से यह भूमि प्राप्त होती है।

जगत् के समस्त पदार्थों को शून्य जानता है। और प्राणियों पर दया के लिए जगत् के शून्य पदार्थों को भी सत्य ही समझता है। अज्ञान में पड़े रहने वाले प्राणियों के ऊपर वह दया का भाव रखता है। यहाँ तक की भूमियों की हीनयान के चार भूमियों के साथ तुलना की जा सकती है। सप्तम भूमि से शून्यता की उपलब्धि का प्रयत्न आरम्भ होता है। प्रज्ञा पारमिता का अभ्यास इस भूमि की विशेषता है।

(७) **दूरंगमा**—इस भूमि में साधक का मार्ग विशेष रूप से उन्नत होना प्रारम्भ करता है। वह दस प्रकार के उपायों के ज्ञान (उपाय कौशल्य ज्ञान) का सम्पादन यहीं से आरम्भ करता है। जिस प्रकार से चतुर नाविक समुद्र के ऊपर अपनी नाव निर्भयता से खेता है उसी प्रकार सप्तम भूमि में बोधिसत्व सर्वज्ञता के समुद्र में प्रवेश करता है। वह सर्वज्ञ हो जाता है परन्तु निर्वाण की प्राप्ति दूर रहती है।

(८) **अचला**—इस भूमि में साधक वस्तुओं को अच्छी तरह से निःस्वभाव जानता है। वह देह, वचन और मन के आनन्दों से तनिक प्रभावित नहीं होता। जिस प्रकार स्वप्न से जगा हुआ मनुष्य स्वप्न के ज्ञान को अनित्य समझता है, उसी प्रकार अचला-भूमि का साधक जगत् के समस्त प्रपञ्चों को मायिक, भ्रान्त तथा असत्य मानता है।

(९) **साधमती**—इस अवस्था में साधक मनुष्यों के उद्धार के लिए नए नए उपायों का अवलम्बन करता है, धर्म का उपदेश देता है और बोधिसत्व के चार प्रकार के विषय-पर्यालोचन (पटिसंभिदा या प्रतिसंवित्) का अभ्यास करता है। ये चार प्रकार की प्रतिसंवित् हैं-शब्दों के अर्थ का विवेचन, धम्म का विवेचन, व्याकरण की विश्लेषण पद्धति तथा विषय के शीघ्र प्रतिपादन की शक्ति (प्रतिभान)।

(१०) **धर्ममेघ**—इसी का दूसरा नाम अभिषेक है। इस अवस्था में बोधिसत्त्व सब प्रकार की समाधियों को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार से राजा अपने पुत्र को युवराज पद पर अभिषेक करता है उसी प्रकार साधक बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। बोधिसत्त्व भूमियों का यही चरम पर्यवसान है[1]।

---

१. विशेष के लिए (द्रष्टव्य—N. Dutt—Mahayana Buddhism Pp. 238–289)

द्वादश परिच्छेद

निर्वाण

निर्वाण के विषय में हीनयान और महायान की कल्पनाएँ परस्पर में नितान्त भिन्न हैं। यह विषय बौद्ध दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बौद्धधर्म का प्रत्येक सम्प्रदाय निर्वाण के विषय में विशिष्ट मत रखता है। निर्वाण भावरूप है या अभावरूप, इस विषय को लेकर बौद्ध-दर्शन में पर्याप्त मीमांसा की गई है। यहाँ पर इस महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन संक्षेप में किया जा रहा है।

(क) हीनयान

हीनयान मतानुयायी अपने को तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित मानता है—(१) **दुःख-दुःखता**—अर्थात् भौतिक और मानसिक कारणों से उत्पन्न होने वाला

निर्वाण का सामान्य रूप

क्लेश। (२) **संस्कार-दुःखता**—उत्पत्ति विनाशशाली जगत् के वस्तुओं से उत्पन्न होने वाला क्लेश। (३) **विपरिणाम-दुःखता**—सुख को दुःख रूप में परिणत होने से उत्पन्न क्लेश। मनुष्य को इन क्लेशों से कभी भी छुटकारा नहीं है, चाहे वह कामधातु, रूपधातु अथवा अरूपधातु में जीवन व्यतीत करता हो। इस दुःख से छुटकारा पाने का उपाय बुद्ध ने स्वयं बतलाया है—आर्य सत्य, सांसारिक पदार्थों की अनित्यता तथा अनातम तत्त्व का ज्ञान। अष्टाङ्गिक मार्ग के अनुशीलन से तथा जगत् के पदार्थों में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, इस ज्ञान को परिनिष्ठित रूप देने पर साधक ऊपर निर्दिष्ट क्लेशों से सदा के लिए मुक्ति पा लेता है। फिर ये क्लेश उसे किसी प्रकार पीड़ित करने के लिए या संसार में बद्ध करने के लिए कथमपि समर्थ नहीं होते। अतः आर्य सत्य के ज्ञान से, सदाचार के अनुष्ठान से, हीनयान सम्प्रदाय में कोई भी साधक क्लेशों से निवृति पा लेता है। यही निर्वाण है।

हीनयान के विविध संप्रदायों में इस विषय को लेकर पर्याप्त मतभेद दीख पड़ता है। निकायों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि निर्वाण क्लेशाभाव रूप है।

निर्वाण = निरोध

जब क्लेश के आवरण का सर्वथा परिहार हो जाता है तब निर्वाण की अवस्था का जन्म होता है। इसे सुख रूप भी बतलाया गया है। परन्तु अधिकतर बौद्ध निकाय निर्वाण को अभावात्मक ही मानता है। मिलिन्द प्रश्न में निर्वाण के विषय में बड़ी सूक्ष्म विवेचना की गई है। इसका स्पष्ट कथन है कि निरोध हो जाना ही निर्वाण है। संसार के सभी अज्ञानी जीव इन्द्रियों और विषयों के उपभोग में लगे रहने के कारण नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं। परन्तु ज्ञानी आर्य श्रावक इन्द्रियों और विषयों के उपभोग में न कभी लगा रहता है और न उससे आनन्द ही लेता है। फलतः उसकी तृष्णा निरोध हो जाता है। तृष्णा के निरोध के साथ उपादान का तथा भव का निरोध उत्पन्न होता है। पुनर्जन्म के बन्द होते ही सभी दुःख रुक जाते हैं। इस प्रकार तृष्णादिक क्लेशों का निरोध हो जाना ही निर्वाण है। नागसेन की सम्मति में निर्वाण के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है। जिस प्रकार जलती हुई आग की लपट बुझ जाने पर दिखलाई नहीं जा सकती उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद वह व्यक्ति दिखलाया नहीं जा सकता[1] क्योंकि उसके व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। अतः निर्वाण के अनन्तर व्यक्तित्व की सत्ता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

निर्वाण की निर्भयता

संसार में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं की विशेषता है कि कुछ तो कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं, कुछ हेतु के कारण और कुछ ऋतु के कारण। परन्तु निर्वाण ही आकाश के साथ ऐसा पदार्थ है जो न तो कर्म के कारण, न हेतु के कारण और न ऋतु के कारण उत्पन्न होता है। वह तो हेतु से रहित त्रिकालातीत, इन्द्रियातीत अनिर्वचनीय पदार्थ है जिसे विशुद्ध ज्ञान के द्वारा अर्हत् जान सकता है। निर्वाण के साक्षात्कार करने के उपाय हैं परन्तु उसे उत्पन्न करने का कोई उपाय नहीं है। साक्षात् करना तथा उत्पन्न करना दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं। जिस प्रकार कोई भी मनुष्य अपनी प्राकृतिक शक्ति के बल पर हिमालय तक जा सकता है, परन्तु वह लाखों कोशिश करे वह हिमालय को इस स्थान पर नहीं ला सकता। कोई भी मनुष्य साधारण शक्ति के सहारे भी नाव पर चढ़कर समुद्र के इस पार

---

1. मिलिन्द प्रश्न पृ० ९२।

से उस पार तक जा सकता है परन्तु अश्रान्त परिश्रम करने पर भी उस पार को इस पार नहीं ला सकता। ठीक यही दशा निर्वाण की है। उसके साक्षात्कार करने का मार्ग बतलाया जा सकता है परन्तु उसके उत्पादक हेतु को कोई भी नहीं दिखला सकता[1]। इसका कारण यह है कि निर्वाण निर्गुण है। उसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य इन तीनों काल से परे है। अदृश्य होने पर भी, इन्द्रियों के द्वारा गोचर न किये जाने पर भी, उसकी सत्ता है। अर्हत् पद को प्राप्त कर भिक्षु विशुद्ध, ऋजु तथा आवरणों तथा संसारिक कर्मों से रहित मन के द्वारा निर्वाण को देखता है। अतः उसकी सत्ता के विषय में किसी प्रकार का अपलाप नहीं किया जा सकता परन्तु निर्गुण होने से वह उत्पाद-रहित है। उपाय होने से उसका साक्षात्कार अवश्य होता है परन्तु वह स्वयं अनिर्वचनीय पदार्थ है।

नागसेन ने निर्वाण की अवस्था के विषय में भी खूब विचार किया है[2]। महाराज मिलिन्द की सम्मति में निर्वाण में दुःख कुछ न कुछ अवश्य ही रहता है क्योंकि निर्वाण की खोज करनेवाले लोग नाना प्रकार के संयमों से अपने शरीर, मन तथा इन्द्रियों को तप्त किया करते हैं। संसार से नाता तोड़कर इन्द्रियों तथा मन की वासनाओं को मारकर बन्द कर देते हैं जिससे शरीर को भी कष्ट होता है तथा मन को भी। इसी युक्ति के सहारे मिलिन्द की राय में निर्वाण भी दुःख से सना हुआ है। इसके उत्तर में नागसेन की स्पष्ट सम्मति है कि निर्वाण में दुःख का लेश भी नहीं रहता। वह तो सुख ही सुख है। राज्य की प्राप्ति होने में नाना प्रकार के क्लेशों को सहना पड़ता है परन्तु स्वयं राज्य-प्राप्ति क्लेशरूप नहीं है। इसी प्रकार तपस्या, ममता-त्याग, इन्द्रिय-जय आदि निर्वाण के उपाय में क्लेश है स्वयं निर्वाण में कहाँ? वह तो महासमुद्र के समान अनन्त है। कमल के समान क्लेशों से अलिप्त है। जल के समान सभी क्लेशों की गर्मी को शान्त कर देता है तथा कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा की प्यास को दूर कर देता है। वह आकाश के समान दश गुणों से युक्त रहता है। न पैदा होता है,

निर्वाण की सुखरूपता

१. मिलिन्द प्रश्न पृ० ३२९–३३३।

२. मिलिन्द प्रश्न पृ० ३८४–४०३।

न पुराना होता है; न मरता है और न आवागमन को प्राप्त करता है। वह दुर्ज्ञेय, स्वच्छन्द तथा अनन्त है। अच्छे राह पर चलकर संसार के सभी संस्कारों को अनित्य, दुःख तथा अनात्म रूप से देखते हुए कोई भी व्यक्ति प्रज्ञा से निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है। उसके लिए किसी दिशा का निर्देश नहीं किया जा सकता। महाकवि अश्वघोष का कहना है कि बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में; न किसी दिशा में, न किसी विदिशा में प्रत्युत स्नेह (तेल) के क्षय होने से वह केवल शान्ति को प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष न तो कहीं जाता है, न पृथ्वी पर, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न किसी विदिशा में। केवल क्लेश के क्षय हो जाने पर शान्ति प्राप्त कर लेता है:—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्[1]॥

निर्वाण की यही सामान्य कल्पना है। ज्ञान के उदय होने से जब अविद्या के पाश स्वतः छिन्न भिन्न हो जाते हैं उस समय अर्हत् की अवस्था का नाम निर्वाण है। यही चरम लक्ष्य है जिसके लिये भगवान् तथागत ने अपने धर्म की शिक्षा दी है। निर्वाण इसी लोक में प्राप्त होता है। वेदान्त में जीवन्मुक्त पुरुष की जो कल्पना है वही कल्पना निर्वाण-प्राप्त अर्हत् की है। परन्तु निर्वाण के स्वरूप के विवेचन में हीनयान तथा महायान धर्म के अनुयायियों में पर्याप्त मतभेद है। सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि हीनयान निर्वाण को दुःख का अभावमात्र मानता है और महायान उसे आनन्दरूप बतलाता है।

स्थविरवादी मत में निर्वाण की कल्पना

परन्तु हीनयान के सम्प्रदायों के भीतर भी भिन्न भिन्न मत हैं। थेरवादियों की दृष्टि में निर्वाण मानसिक तथा भौतिक जीवन का चरम निरोध है। निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है। 'निर्वाण' शब्द ही का अर्थ है बुझ जाना। जिस प्रकार दीपक तब तक जलता रहा है जब तक उसमें बत्ती और तेल विद्यमान रहता है। परन्तु उनके नाश होते ही दीपक स्वतः

१. अश्वघोष—सौन्दरनन्द १६।२८,२९.

शान्त हो जाता है, उसी प्रकार तृष्णा आदि क्लेशों के विराम हो जाने पर जब यह भौतिक जीवन अपने चरम अवसान पर पहुँच जाता है तब यह निर्वाण कहलाता है। वैभाषिकों का मत इस विषय में स्थविरवादियों के समान ही है। वे भी निर्वाण को अभावात्मक मानते हैं।

निर्वाण प्रतिसंख्या-निरोध है अर्थात् विशुद्ध प्रज्ञा के सहारे सांसारिक सास्रव धर्मों तथा संस्कारों का जब अन्त हो जाता है तब वही निर्वाण कहलाता है[1]।

वैभाषिक मत में निर्वाण

निर्वाण नित्य, असंस्कृत धर्म, स्वतन्त्र सत्ता (भाव = वस्तु) पृथक् भूत सत्य पदार्थ (द्रव्य सत्) है[2]। निर्वाण अचेतन अवस्था का सूचक है अथवा चेतन अवस्था का? इस प्रश्न के विषय में वैभाषिकों में ऐकमत्य नहीं दीख पड़ता। तिब्बती परम्परा से ज्ञात होता है कि कुछ वैभाषिक लोग निर्वाण की प्राप्ति के अवसर पर उस चेतना का सर्वथा निरोध मानते थे जो क्लेशोत्पादक (सास्रव) संस्कारों के द्वारा प्रभावित होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि आस्रवों से किसी प्रकार भी प्रभावित न होने वाली कोई चेतना अवश्य है जो निर्वाण की प्राप्ति होने के बाद भी विद्यमान रहती है। वैभाषिकों का यह एकाङ्गी मत था। इस मत के माननेवाले कौन थे? यह कहना बहुत ही कठिन है। वैभाषिकों का सामान्य मत यही है कि यह अभावात्मक है। संघभद्र की 'तर्क ज्वाला' के अध्ययन से प्रतीत होता है कि मध्यभारत में वैभाषिकों का एक ऐसा सम्प्रदाय था जो 'तथता' नामक चतुर्थ असंस्कृत धर्म मानता था। यह तथता वैशेषिकों के अभाव पदार्थ के समान था। निर्वाण की कल्पना के लिए ही अभाव के चारों भेद प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव की कल्पना की गयी थी। यह 'तथता' महायान में परमार्थ सत्य के लिए प्रयुक्त 'तथता' शब्द से नितान्त भिन्न है। इस प्रकार वैभाषिकों के मत में निर्वाण क्लेशाभाव रूप माना जाता है। परन्तु अभाव होने पर भी यह सत्तात्मक पदार्थ है। वैभाषिक लोग भी

---

१. प्रतिसंख्यानमनास्रवा एव प्रज्ञा गृह्यते तेन प्रज्ञाविशेषेण प्राप्यो निरोधः इति प्रतिसंख्या-निरोधः। (यशोमित्र—अभिधर्मकोश व्याख्या पृ० १६)

२. द्रव्यं सत् प्रतिसंख्यानिरोधः—सत्यचतुष्टय-निर्देश-निर्दिष्टत्वात् मार्गसत्यवत् इति वैभाषिकाः। (वही पृ० १७)

वैशेषिकों के समान 'अभाव' को पदार्थ मानते थे। भाव पदार्थों के समान अभाव भी स्वतन्त्र पदार्थ था।

ये लोग निर्वाण को विशुद्ध ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होनेवाल भौतिक जीवन का चरम निरोध मानते थे। इस अवस्था में भौतिक सत्ता किसी प्रकार विद्यमान नहीं रहती। इसलिये यह उस सत्ता का अभाव माना गया है।

सौत्रान्तिक मत में निर्वाण

परन्तु वैभाषिकों से इनका मत इस विषय में भिन्न है। वैभाषिक लोग तो निर्वाण को स्वतः सत्तावान् पदार्थ और वस्तु नहीं मानते। निर्वाण की प्राप्ति के अनन्तर सूक्ष्म चेतना विद्यमान रहती है जो चरम शान्ति में डूबी रहती है। भोट देश की परम्परा से पता चलता है कि सौत्रान्तिकों की एक उपशाखा ऐसी थी जो निर्वाण को भौतिक सत्ता तथा चेतना का उपशम मानती थी। उसकी दृष्टि में निर्वाण प्राप्त होने वाले अर्हत् को भौतिक सत्ता का ही सर्वथा निरोध नहीं हो जाता, किन्तु चेतना का भी विनाश हो जाता है। इस उपशाखा के अनुसार निर्वाण के अनन्तर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। न तो कुछ जीवन शेष रहता है और न कोई चेतना ही बाकी रह जाती है। इस प्रकार यह निर्वाण नितान्त अभावात्मक है।

निर्वाण की हीनयानी कल्पना ब्राह्मण दार्शनिकों में न्यायवैशेषिक की मुक्ति की कल्पना से बिल्कुल मिलती है। गौतम के शब्दों में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग (मुक्ति) कहते हैं[1]। अत्यन्त का अर्थ है चरम

नैयायिकों की मुक्ति से तुलना

अवसान। अर्थात् जिससे उपात्त वर्तमान जन्म का परिहार हो जाय तथा भविष्य में अन्य जन्म की उत्पत्ति न हो। गृहीत जन्म का नाश तो होना ही चाहिए, परन्तु भविष्य जन्म की अनुत्पत्ति भी उतनी ही आवश्यक है। इन दोनों के सिद्ध होने पर आत्मा दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति पा लेता है। जब तक वासना आदि आत्मगुणों का उच्छेद नहीं होता, तब तक दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए आत्मा के नवों विशेष गुणों का—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार का—मूलोच्छेद हो जाता है। मुक्त दशा में आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है और अखिल विशेष गुणों से विरहित

१. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। (न्याय सूत्र १।१।२२)

रहता है। वह छः प्रकार की ऊर्मियों से भी रहित हो जाता है। ऊर्मि का अर्थ है क्लेश। भूख, प्यास प्राण के, लोभ, मोह चित्त के; शीत, आतप शरीर के; क्लेश दायक होने से ये छओं 'ऊर्मि' कहे जाते हैं। मुक्त आत्मा इन छओं ऊर्मियों के प्रभाव को पार कर लेता है और सुख, दुःख आदि सांसारिक बन्धनों से विमुक्त हो जाता है। उस अवस्था में दुःख के समान सुख का भी अभाव आत्मा में रहता है। जयन्तभट्ट[1] ने बड़े विस्तार के साथ भाववादी वेदान्तियों के मत का खण्डन कर मुक्ति के अभाव पक्ष को पुष्ट किया है। मुक्ति में सुख न मानने का प्रधान कारण यह है कि सुख के साथ राग का सम्बन्ध सदा लगा रहता है। और यह राग है बन्धन का कारण। ऐसी अवस्था में मोक्ष को सुखात्मक मानने में बन्धन की निवृत्ति कथमपि नहीं हो सकती। इसलिये नैयायिक लोग मुक्ति को दुःख का अभाव रूप ही मानते हैं।

इसी अभावात्मक मोक्ष की कल्पना के कारण नैयायिकों की 'वेदान्ती श्रीहर्ष' ने बड़ी दिल्लगी उड़ायी है। उनका कहना है कि जिस सूत्रकार ने सचेता प्राणियों के लिये ज्ञान, सुख आदि से विरहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य बतलाकर उपदेश किया है उसका 'गोतम' नाम शब्दतः ही यथार्थ नहीं है अपितु अर्थतः भी है। वह केवल गौ न होकर गोतम (अतिशयेन गौः इति गोतमः—पक्का बैल) है[2]। इस विवेचन से स्पष्ट है कि नैयायिक मुक्ति और हीनयानी निर्वाण की कल्पना एक ही है।

(ख) महायान में निर्वाण की कल्पना

गत पृष्ठों में हीनयान के अनुसार निर्वाण का स्वरूप बतलाया गया है। परन्तु महायान इस मुक्ति को वास्तविक रूप में निर्वाण मानने के लिये तैयार नहीं है। उसकी सम्मति में इस निर्वाण से केवल क्लेशावरण का ही क्षय होता है। ज्ञेयावरण की सत्ता बनी ही रहती है। हीनयान की दृष्टि में राग-द्वेष की सत्ता पञ्चस्कन्ध के रूप से या उससे भिन्न प्रकार से आत्मा की सत्ता मानने के

---

१. न्याय मञ्जरी भाग २ पृ० ७५–८१ (चौखम्भा संस्करण)।

२. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेत्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥
(नैषधचरित १७।७५)

ऊपर निर्भर है। आत्मा की सत्ता रहने पर ही मनुष्य के हृदय में यज्ञ यागादिक में हिंसा करने की प्रवृत्ति होती है[1]। परलोक में आत्मा को सुख पहुँचाने के लिये ही मनुष्य नाना प्रकार के अकुशल कर्मों का सम्पादन करता है। इसलिये समस्त क्लेश और दोष इसी आत्म-दृष्टि (सत्काय दृष्टि) के विषम परिणाम हैं। अतः आत्मा का निषेध करना क्लेश-नाश का परम उपाय है। इसी को कहते हैं—पुद्गल नैरात्म्य। हीनयान इसी नैरात्म्य को मानता है। परन्तु इस नैरात्म्य के ज्ञान से केवल क्लेशावरण का ही क्षय होता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरे आवरण की भी सत्ता है, जिसको 'ज्ञेयावरण' कहते हैं। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में इन दोनों अवरणों का भेद बड़ी सुन्दरता से दिखलाया गया है। नैरात्म्य दो प्रकार का है—(क) पुद्गल-नैरात्म्य और (ख) धर्म-नैरात्म्य। रागादिक क्लेश आत्मदृष्टि से उत्पन्न होते हैं। अतः पुद्गल-नैरात्म्य के ज्ञान से प्राणी सब क्लेशों को छोड़ देता है।

जगत् के पदार्थों के अभाव या शून्यता के ज्ञान से सच्चे ज्ञान के ऊपर पड़ा हुआ आवरण आप से आप दूर हो जाता है। और सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिये इन दोनों आवरणों (क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण) का दूर होना नितान्त आवश्यक है। क्लेश मोक्ष की प्राप्ति के लिये आवरण का काम करते हैं—मुक्ति को रोकते हैं। अतः इस आवरण को दूर हटाने से मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञेयावरण सब ज्ञेय पदार्थों के ऊपर ज्ञान की प्रवृत्ति को रोकता है—अतः इस आवरण के दूर हो जाने पर सब वस्तुओं में अप्रतिहत ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जिससे सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है[2]।

---

१. सत्कायदृष्टि प्रभवानशेषान्, क्लेशाँश्च दोषाँश्च धिया विपश्यन्।
आत्मानमस्या विषयञ्च बुद्ध्वा, योगी करोत्यात्मनिषेधमेव॥
(चन्द्रकीर्ति—माध्यमकावतार ६।१२०; माध्यमिक वृत्ति पृ० ३४०)

२. पुद्गलधर्मनैरात्म्य—प्रतिपादनं पुनः क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणार्थम्। तथा ह्यात्मदृष्टिप्रभावा रागादयः क्लेशाः पुद्गलनैरात्म्यावबोधश्च सत्कायदृष्टेः प्रतिपक्षत्वात् तत्प्रहाणाय प्रवर्तमानः सर्वक्लेशान् प्रजहाति। धर्मनैरात्म्यज्ञानादपि ज्ञेयावरणप्रतिपक्षत्वात् ज्ञेयावरणं प्रहीयते। क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणमपि मोक्षसर्वज्ञत्वाधिगमार्थम्। क्लेशा हि मोक्षप्राप्तेरावरणमिति। अतस्तेषु प्रहीणेषु मोक्षोऽधिगम्यते। ज्ञेयावरण-

आवरणों का यह द्विविध भेद दार्शनिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। महायान के अनुसार हीनयानी निर्वाण में केवल पहिले आवरण (अर्थात् क्लेशावरण) का ही अपनयन होता है। परन्तु शून्यता के ज्ञान होने से दूसरे प्रकार के आवरण का भी नाश होता है। जब तक इस दूसरे आवरण का क्षय नहीं होता, तबतक वास्तव निर्वाण हो नहीं सकता। परन्तु हीनयानी लोग इस भेद को मानने के लिये तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अर्हतों का ज्ञान अनावरण हो जाता है परन्तु महायान की यह कल्पना नितान्त मौलिक है। हीनयान के अनुसार अर्हत् पद की प्राप्ति ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। परन्तु महायान के अनुसार बुद्धत्व प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की भिन्नता के कारण ही निर्वाण की कल्पना में भी भेद है।

नागार्जुन का मत

नागार्जुन ने निर्वाण की बड़ी विशद परीक्षा माध्यमिक कारिका के पचीसवें परिच्छेद में की है। उनके अनुसार निर्वाण की कल्पना यह है कि निर्वाण न तो छोड़ा जा सकता है और न प्राप्त किया जा सकता है। यह न तो उच्छिन्न होनेवाला पदार्थ है और न शाश्वत पदार्थ है। न तो यह निरुद्ध है और न यह उत्पन्न है। उत्पत्ति होने पर ही किसी वस्तु का निरोध होता है। यह दोनों से भिन्न है:—

अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते॥

इस कारिका की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति का कथन है कि राग के समान निर्वाण का प्रहाण (त्याग) नहीं हो सकता और न सात्त्विक जीवन के फल के समान इस की प्राप्ति ही संभव है। हीनयानियों के निर्वाण के समान यह नित्य नहीं है। यह स्वभाव से ही उत्पत्ति और विनाश रहित है और इसका लक्षण शब्दतः निर्वचनीय नहीं है। जब तक कल्पना का साम्राज्य बना हुआ है तब तक निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। महायानियों के अनुसार निर्वाण और संसार में कुछ भी भेद नहीं है। कल्पना जाल के क्षय होने का नाम ही निर्वाण है।

मपि सर्वस्मिन् ज्ञेये ज्ञानप्रवृत्तिप्रतिबन्धभूतं अक्लिष्टज्ञानम्। तस्मिन् प्रहीणे सर्वाकारे ज्ञेयेऽसक्तमप्रतिहतं च ज्ञानं प्रवर्तत इत्यतः सर्वज्ञत्वमधिगम्यते॥

(स्थिरमति—त्रिंशिका विज्ञप्तिभाष्य, पृ० १५)

नागार्जुन ने निर्वाण को भाव पदार्थ मानने वाले तथा अभाव पदार्थ मानने वाले दार्शनिकों के मत की आलोचना की है। उसके मत में निर्वाण भाव तथा अभाव दोनों से अतिरिक्त पदार्थ है। यह अनिर्वचनीय है। यह परम तत्त्व है। इसी का नाम **भूतकोटि** या **धर्म-धातु** है।

दोनों मतों में निर्वाण का सामान्य स्वरूप

हीनयान तथा महायान के ग्रन्थों के अनुशीलन से निर्वाणविषयक सामान्य कल्पना इस प्रकार है:—

(१) यह शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता (निष्प्रपञ्च)। यह असंस्कृत धर्म है, अतः न तो इसकी उत्पत्ति है, न विनाश है और न परिवर्तन है।

(२) इसकी अनुभूति अपने ही अन्दर स्वतः की जा सकती है। इसी को योगाचारी लोग 'प्रत्यात्मवेद्य' कहते हैं और हीनयानी लोग 'पच्चत्तं वेदितब्बं' शब्द के द्वारा कहते हैं।

(३) यह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के बुद्धों के लिये एक है और सम है।

(४) मार्ग के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

(५) निर्वाण में व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है।

(६) दोनों मत वाले बुद्ध के ज्ञान तथा शक्ति को लोकोत्तर, अर्हत् के ज्ञान से बहुत ही उन्नत, मानते हैं। महायानी लोग अर्हत् के निर्वाण को निम्नकोटि का तथा असिद्धावस्था का सूचक मानते हैं। इस बात को हीनयानी लोग भी मानते हैं।

निर्वाण की कल्पना में पार्थक्य

हीनयान	महायान
(१) निर्वाण सत्य, नित्य, दुःखाभाव तथा पवित्र है।	(१) महायान इसको स्वीकार करता हैं, केवल दुःखाभाव न मानकर इसे सुखरूप मानता है। वस्तुतः माध्यमिक और योगाचार नित्य-अनित्य सुख और असुख की कल्पना इसमें नहीं मानते क्योंकि उनकी दृष्टि में निर्वाण अनिर्वचनीय है।
(२) निर्वाण प्राप्त करने की वस्तु है—प्राप्तम्।	(२) निर्वाण अप्राप्त है।
(३) निर्वाण भिक्षुओं के ध्यान और ज्ञान के लिये आरम्भण (आलम्बन) है	(३) ज्ञाता—ज्ञेय, विषयी और विषय, निर्वाण और भिक्षु के किसी प्रकार का अन्तर नहीं हैं।
(४) निर्वाण लोकोत्तर दशा है। प्राणीमात्र के लिए सबसे उन्नत दशा यही है जिसकी कल्पना की जा सकती है।	(४) लोकोत्तर से बढ़कर भी एक दशा होती है जिसे लंकावतार सूत्र में 'लोकोत्तरतम' कहा गया है। यही निर्वाण है जिसमें सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। योगाचार के मत में हीनयानी लोग केवल विमुक्तिकाय (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं और महायानी लोग धर्मकाय और सर्वज्ञत्व को प्राप्त करते हैं।
(५) निर्वाण के केवल दो रूप हैं (क) सोपधिशेष (ख) निरुपधिशेष या प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्या निरोध।	(५) योगाचार के अनुसार निर्वाण के दो भेद और होते हैं। (क) प्रकृतिशुद्ध निर्वाण और (ख) अप्रतिष्ठित निर्वाण[1]।

१. सूत्रालंकार (पृ० १२६—२७) के अनुसार श्रावक और प्रत्येकबुद्ध

(६) हीनयान निर्वाण और संसार की धर्मसमता नहीं मानता।	(६) माध्यमिकों के अनुसार निर्वाण ही निराकार परमार्थ भूत है। यही एकमात्र सत्ता है। अन्य पदार्थ केवल चित्त के विकल्पमात्र हैं। अतः इस प्रकार निर्वाण और संसार में धर्मसमता रहती है। इन दोनों का सम्बन्ध समुद्र और लहरी के समान है।
(७) हीनयान जगत् के पदार्थों की भी सत्ता मानता है। जगत् उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार निर्वाण।	(७) माध्यमिक और योगाचार दोनों की सम्मति में निर्वाण अद्वैत है। अर्थात् उसमें ज्ञाता—ज्ञेय, विषय—विषयी, विधि—निषेध का द्वैत किसी प्रकार भी विद्यमान नहीं रहता। यही एक तत्त्व है। जगत् का प्रपञ्च मायिक तथा मिथ्या है।
(८) हीनयान को यह द्विविध आवरण की कल्पना मान्य नहीं है।	(८) महायान में निर्वाण की प्राप्ति को रोकने वाले दो प्रकार के

मैत्री से हीन होने से अपना चित्त निर्वाण की प्राप्ति ही में लगाते हैं। परन्तु बोधिसत्त्व मैत्री से युक्त होने के कारण निर्वाण में अपना चित्त कभी नहीं लगाता। इसीलिये उसकी सत्ता अप्रतिष्ठित निर्वाण में मानी जाती है। यह निर्वाण बुद्धों के द्वारा ही प्राप्य है। यह अर्हत् से बढ़कर अवस्था है। 'विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि' के अनुसार इस दशा में बुद्ध संसार एवं निर्वाण दोनों कल्पना से बहुत ऊँचे रहते हैं।

आविष्टानां कृपया न तिष्ठति मनः शमे कृपालूनाम्।
कुत एव लोकसौख्ये स्वजीविते वा भवेत् स्नेहः॥

निःस्नेहानां श्रावक-प्रत्येकबुद्धानां सर्वदुःखोपशमे निर्वाणे प्रतिष्ठितं मनः। बोधिसत्त्वानां तु करुणाविष्टत्वात् निर्वाणेऽपि मनः न प्रतिष्ठितम्। (असंग—सूत्रालंकार पृ० १२६—२७)

उसकी सम्मति में क्लेशावरण के अनन्तर अर्हत् का ज्ञान आवरणहीन रहता है।

आवारण माने गये हैं—क्लेशावरण तथा ज्ञयावरण। उनकी सम्मति में हीनयानी केवल क्लेशावरण से मुक्त हो सकता है। और वे ही स्वयं दोनों आवरणों से मुक्त हो सकते हैं।[1]

निर्वाण का परिनिष्ठित रूप

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हीनयान मत में जब भिक्षु अर्हत् की दशा प्राप्त कर लेता है तब उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। साधारणतया प्राणी पूर्व कर्मों के कारण उत्पन्न होनेवाले धर्मों का संघातमात्र है। वह अनन्त काल में इस भ्रान्ति में पड़ा हुआ है कि उसके भीतर आत्मा नामक कोई चेतन पदार्थ है। अष्टाङ्गिक मार्ग के सेवन करने से प्रत्येक व्यक्ति को वस्तुओं की अनित्यता का अनुभव हो जाता है। जिन स्कन्धों से उसका शरीर बना हुआ है वे स्कन्ध विशिष्ट रूप से उसी के ही नहीं हैं। जगत् के प्रत्येक प्राणी उन्हीं स्कन्धों से बने हुए हैं। इस विषय का जब उसे अच्छी तरह से ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है। निर्वाण वह मानसिक दशा है जिसमें भिक्षु जगत् के अनन्त प्राणियों के साथ अपना विभेद नहीं कर सकता। उसके व्यक्तित्व का लोप हो जाता है तथा सब प्राणियों के एकत्व की भावना उसके हृदय में जाग्रत् हो जाती है। साधारण रीति से हीनयानी कल्पना यही है। इससे नितान्त भिन्न महायानी लोग धर्मों की सत्ता मानते ही नहीं। वे लोग केवल धर्मकाय या धर्म-धातु को ही एक सत्य मानते हैं। बुद्ध को छोड़कर जितने प्राणी है वे सब कल्पना-जाल में पड़े हुये हैं। पुत्र और धन को रखने वाला व्यक्ति उसी प्रकार भ्रान्ति में पड़ा हुआ है जिस प्रकार सुख और शान्ति के सूचक निर्वाण को पानेवाला हीनयानी अर्हत्। दोनों असत्य में सत्य की भावना कर कल्पना के प्रपंच में पड़े हुए हैं। हीनयान मत में निर्वाण ही एक परम सत्ता है। उसे छोड़कर

---

१. हीनयानी निर्वाण का वर्णन कथावत्थु, विशुद्धिमग्ग तथा अभिधर्मकोश के अनुसार है तथा महायानी वर्णन माध्यमिक वृत्ति तथा लंकावतारसूत्र के अनुसार है। इन दोनों मतों के विशेष विवरण के लिये देखिये—Dutta-Aspects of Mahayan Buddhism PP. 198-220.

जगत् के समस्त पदार्थ कल्पनाप्रसूत हैं। जिस क्षण में प्राणी इस बात का अनुभव करने लगता है कि वही सत्य है, संसार निर्वाण से पृथक् नहीं है (अर्थात् दोनों एक हो हैं) उस क्षण में वह बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। इसके लिये केवल अपने आत्मत्व की भावना को ही दूर करने से काम नहीं चलेगा; प्रत्युत जिस किसी वस्तु को वह देखता है वह पदार्थ भी आत्मशून्य है, इसका भी ज्ञान परमावश्यक है। जब इस ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब महायानी कल्पना के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

ऊपर निर्दिष्ट निर्वाण की द्विविध कल्पना सांख्य तथा वेदान्त की मुक्ति के साथ तुलनीय है। इन दोनों ब्राह्मण दर्शनों की मुक्ति में महान् अन्तर है।

निर्वाण की सांख्य और वेदान्त की मुक्ति से तुलना

सांख्य द्वैतवादी है और वेदान्त अद्वैतवादी। सांख्य की दृष्टि में प्रकृति और पुरुष को एक मानने से अज्ञान उत्पन्न होता है और वेदान्त की दृष्टि में एक तत्त्व को नाना समझने में अज्ञान है। सांख्य की प्रक्रिया के अनुसार समाधि के द्वारा बाह्य जगत् के पदार्थों पर ध्यान लगाने से सब विषय धीरे-धीरे छूट जाते हैं तथा अस्मिता में उनका अवसान हो जाता है। अस्मिता विषय और विषय के परस्पर मिश्रण का सूचक है। 'अस्मि' में दो अंश हैं—अस् + मि। अस् = सत्व या प्रकृति तथा मि = उत्तम पुरुष = चेतन। अस्मि पुरुष नहीं हो सकता क्योंकि उसमें सत्त्व का अंश नहीं है। अस्मि प्रकृति भी नहीं है क्योंकि जड़ होने से वह 'मि' अर्थात् चेतन पुरुष नहीं हो सकती। इसीलिये 'अस्मि' प्रकृति तथा पुरुष का, विषयी तथा विषय का, मिश्रण है। समाधिप्रज्ञा के बल पर हम इस अंश तक पहुँचते हैं। अब यहाँ से पुरुष को प्रकृति से पृथक् हटाने का प्रयत्न होता है। विवेकख्याति ही सांख्य का चरम लक्ष्य है। प्रकृति तथा पुरुष के पृथक्त्व के ज्ञान को **विवेकख्याति** कहते हैं। योगसूत्र के अनुसार इसकी सात भूमियाँ हैं। पुरुष धीरे-धीरे इन भूमियों से होकर सत्त्व से पृथक् होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। सत्त्व तो स्वयं अन्धकारमय है। पुरुष के प्रतिबिम्ब के पड़ने के कारण ही वह दीख पड़ता है। विवेकख्याति होने पर जब पुरुष का प्रतिबिम्ब हट जाता है तब सत्त्व जड़ अन्धकारमय हो जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति का सर्वथा विनाश हो जाता है। इस

मुक्ति की कल्पना में प्रकृति अवश्य रहती है परन्तु पुरुष से उसका किसी प्रकार से सम्बन्ध नहीं रहता।

वेदान्त में मुक्ति की कल्पना

वेदान्त में मुक्ति की कल्पना इससे बढ़कर है। उसमें प्रकृति या माया का कोई भी स्थान नहीं है। माया बिल्कुल असत्य पदार्थ है। ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ है। इसका जब ज्ञान हो जाता है तब प्रकृति या माया की सत्ता कथमपि रहती ही नहीं। ब्रह्म ही केवल एक सत्ता रहता है। उस समय ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का भान होता है। वेदान्त की मुक्ति आनन्दमयी है। वह नैयायिक मुक्ति तथा सांख्य मुक्ति के समान आनन्द-विरहित नहीं है। इस प्रकार सांख्य मत में क्लेशावरण का ही क्षय होता है परन्तु वेदान्त में ज्ञेयावरण का भी लोप हो जाता है। अतः हीनयानी निर्वाण सांख्य की मुक्ति के समान है और महायानी निर्वाण वेदान्त की मुक्ति का प्रतीक है। आशा है कि इस तुलना से बौद्ध-निर्वाण का द्विविध स्वरूप पाठकों की समझ में अच्छी तरह से आ जायेगा[1]।

---

१. बौद्ध निर्वाण के विस्तृत तथा प्रामाणिक प्रतिपादन के लिये देखिए—
(a) Dr. Obermiller–Nirvana according to Tibetan Tradition. I. H. Q. Vol 10/No 2/PP. 211-257,
(b) Dutta-Aspects of Mahayan Buddhism. PP 129-204
(c) बलदेव उपाध्याय–भारतीय दर्शन पृ० २१७–२७।
(d) Dr. Poussin-Lectures on Nirvana.
(e) Dr. Stcherbatsky–Central Conception of Nirvana.

तृतीय खण्ड

(बौद्ध दार्शनिक-सम्प्रदाय)

अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणोच्यते,
प्रत्यक्षो नहि बाह्यवस्तु-विभवः सौत्रान्तिकैराश्रितः ।
योगचारमतानुगैरभिमता साकार-बुद्धिः परा
मन्यन्ते वत मध्यमाः कृतधियः स्वस्थां परां संविदम् ॥

त्रयोदश परिच्छेद

बौद्ध-दर्शन का विकास

बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक रूप की आलोचना करते समय हमने देखा है कि बुद्ध ने तत्त्वों के ऊहापेह को अनिर्वचनीय तथा अव्याकृत बतलाकर अपने शिष्यों को इन व्यर्थ बकवादों से सदा रोका। उनके जीवनकाल में तत्त्वज्ञान के विवेचन के प्रति उनके शिष्यों की यही धारणा बनी रही। परन्तु उनके निर्वाण के अनन्तर उनके साक्षात् शिष्यों की ज्यों-ज्यों कमी होती गयी, त्यों-त्यों उनके इस उपदेश का मूल्य भी कम होता गया। कालान्तर में वही हुआ जिसके विरुद्ध वे उपदेश दिया करते थे। बौद्ध पण्डितों ने तथागत के उपदेशों का गाढ़ अध्ययन कर विद्वत्ता-पूर्ण सूक्ष्म सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकाला। इस प्रकार तिरस्कृत तत्त्वज्ञान ने अपने तिरस्कार का बदला खूब चुकाया। धर्म एक कोने में पड़ा रह गया और तत्त्वज्ञान की विजय-वैजयन्ती चारों ओर फहराने लगी।

बुद्ध दर्शन के विभिन्न १८ सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय पहिले दिया जा चुका है। पर ब्राह्मण तथा जैन दार्शनिकों ने इन भेदों पर दृष्टिपात न कर बौद्ध दर्शन को प्रधानतया चार सम्प्रदायों में बाँटा। इन चारों सम्प्रदायों के नाम विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त के साथ इस प्रकार हैं—

(१) वैभाषिक—बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद
(२) सौत्रान्तिक—बाह्यार्थानुमेयवाद
(३) योगाचार—विज्ञानवाद
(४) माध्यमिक—शून्यवाद

यह श्रेणीविभाग 'सत्ता' के महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर किया गया है। सत्ता की मीमांसा करनेवाले दर्शनों के चार ही प्रकार हो सकते हैं। व्यवहार के आधार पर ही परमार्थ का निरूपण किया जाता है। स्थूल पदार्थ से सूक्ष्म पदार्थ की विवेचना की ओर बढ़ने में पहिला मत उन दार्शनिकों का है जो बाह्य तथा अभ्यन्तर समस्त धर्मों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। जगत् में बाह्य वस्तु का अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। जिन वस्तुओं को लेकर हमारा जीवन है उनकी सत्यता स्वयं स्फुट है। इस प्रकार बाह्यार्थ को प्रत्यक्ष

रूपेण सत्य मानने वाले बौद्धों का पहिला सम्प्रदाय है जो 'वैभाषिक' कहलाता है। इसके आगे कुछ दार्शनिक और आगे बढ़ते हैं। उनका कहना यह है कि बाह्य वस्तु का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। जब समग्र पदार्थ क्षणिक हैं, तब किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नील, पीत आदिक चित्र चित्त के पट पर खींच जाते हैं। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिविम्ब को देखकर विम्ब की सत्ता का हम अनुमान करते हैं, उसी प्रकार चित्त-पट के इन प्रतिबिम्बों से हमें प्रतीत होता है कि बाह्य अर्थ की भी सत्ता अवश्य है। अतः बाह्य अर्थ की सत्ता अनुमान के ऊपर अवलम्बित है। यह बौद्धों का दूसरा सम्प्रदाय है जिसे 'सौत्रान्तिक' कहते हैं।

तीसरा मत बाह्य अर्थ की सत्ता मानता ही नहीं। सौत्रान्तिकों के द्वारा कल्पित प्रतिबिम्ब के द्वारा बिम्बसत्ता का अनुमान उन्हें अभीष्ट नहीं है। उनकी दृष्टि में बाह्य भौतिक जगत् नितान्त मिथ्या है। चित्त ही एकमात्र सत्ता है जिसके नाना प्रकार के आभास को हम जगत् के नाम से पुकारते हैं। चित्त ही को 'विज्ञान' कहते हैं। यह मत विज्ञानवादी बौद्धों का है।

सत्ता-विषयक चौथा मत वह होगा जो इस चित्त की भी स्वतन्त्र सत्ता न मानें। जिस प्रकार बाह्यार्थ असत् है, उसी प्रकार विज्ञान भी असत् है। शून्य ही परमार्थ है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। शून्य की सत्ता पारमार्थिक है। इस मत के अनुयायी शून्यवादी या माध्यमिक कहे जाते हैं। स्थूल के सूक्ष्म तत्त्व की ओर बढ़ने पर ये चार ही श्रेणियाँ हो सकती हैं।

इन मतों के सिद्धान्तों का एकत्र वर्णन इस प्रकार है :—

> 'मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत् ;
> योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
> अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
> प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ॥'

इन चारों सम्प्रदायों में वैभाषिक का सम्बन्ध हीनयान से है तथा अन्तिम तीन मतों का सम्बन्ध महायान से है। अद्वयवज्र के अनुसार यही मत युक्तियुक्त प्रतीत होता है। नैषधकार श्रीहर्ष ने भी इन तीन मतों का एक साथ उल्लेख कर इनकी परस्पर समानता की ओर संकेत किया है। ये तीनों सत्ता के विषय में विभिन्न मत रखने पर भी महायान के सामान्य मत को स्वीकार करते हैं।

तत्त्वसमीक्षा की दृष्टि से वैभाषिक एक छोर पर आता है, तो योगाचार-माध्यमिक दूसरी छोर पर टिके हुए हैं। सौत्रान्तिक का मत इन दोनों के बीच का है। क्योंकि कतिपय अंश में वह सर्वास्तिवाद का समर्थक है, परन्तु अन्य सिद्धान्तों में वह योगाचार की ओर झुकता है। निर्वाण के महत्त्वपूर्ण विषय पर इन मतों की विशेषता इस प्रकार प्रदर्शित की जा सकती है—

वैभाषिक तथा प्राचीन मत	संसार सत्य, निर्वाण सत्य।
माध्यमिक	संसार असत्य; निर्वाण असत्य।
सौत्रान्तिक	संसार सत्य; निर्वाण असत्य।
योगाचार	संसार असत्य; निर्वाण सत्य।

बौद्ध दर्शनों का यही तार्किक विकाश है।

ऐतिहासिक विकास

इन दर्शनों का ऐतिहासिक विकास कम रोचक नहीं है। विक्रम के पूर्व पंचम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक लगभग १५०० सौ वर्ष बौद्ध-दर्शन के उदय और अभ्युदय का महत्त्वपूर्ण समय है। इस दीर्घकाल में बौद्धाचार्य, बौद्धधर्म के तीन बार प्रवर्तन स्वीकार करते हैं जिसे वे 'त्रिचक्रप्रवर्तन' के नाम से पुकारते हैं। प्रत्येक विभाग लगभग ५०० वर्षों का माना जा सकता है। पहिले कालविभाग में प्रधान सिद्धान्त पुद्गल-नैरात्म्य (आत्मा का निषेध) था। बाह्य आयतन या विषय की सत्ता का निषेध माना जाता था। यह जगत् शक्तियों का मूल सत्ताविहीन, एक क्षणिक, परिणाम या सन्तानमात्र है। यही तथ्य सर्वत्र प्रतिपादित किया जाता था। आचार की दृष्टि से व्यक्तिगत निर्वाण ही जीवन का लक्ष्य था। अर्हत् पद की प्राप्ति ही मानवमात्र के लिये चरम कर्तव्य स्वीकृत की गई थी। इस स्वरूप का परिचय हमें वैभाषिक मत में मिलता है।

दूसरा काल-विभाग विक्रम की प्रथम शताब्दी से लेकर पंचम शताब्दी तक है जब 'पुद्गल नैरात्म्य' के स्थान पर 'धर्म-नैरात्म्य' सर्वमान्य सिद्धान्त था। व्यक्तिगत कल्याण के स्थान पर सर्वजनीन विश्वकल्याण की भावना विराजने लगी। शून्यवाद के उदय का यही युग है। इस मत के अनुसार जगत् की सत्ता का एकदम तिरस्कार न कर उसे आभास रूप माना गया। आर्य सत्य की जगह द्विविध सत्यता (सांवृतिक तथा पारमार्थिक) की कल्पना ने विशेष महत्त्व प्राप्त किया। वैभाषिकों के 'बहुत्ववाद' के स्थान पर 'अद्वैत वाद' (शून्याद्वैत) के

सिद्धान्त को आश्रय दिया गया। सत्यता का निर्णय सिद्धों का प्रातिभचक्षु ही कर सकता है, इस मान्यता के कारण तर्क बुद्धि की कड़ी आलोचना कर रहस्यवाद की ओर विद्वानों का अधिक झुकाव हुआ। अर्हत् के संकीर्ण आदर्श ने पलटा खाया और बोधिसत्व के उदार भाव ने विश्व के प्राणियों के सामने मैत्री तथा करुणा का मंगलमय आदर्श उपस्थित किया। मानव बुद्ध के स्थान पर लोकोत्तर बुद्ध का स्थान हुआ।

तीसरे विकास का समय विक्रम की पंचम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक है। तर्कविद्या की उन्नति इस युग की महती विशेषता थी। सर्वशून्यता का सिद्धान्त दोषमय माना गया और उसके स्थान पर विज्ञान की सत्यता मानी गयी। समग्र जगत् चित्त या विज्ञान का परिणाम माना गया। 'विषयीगत प्रत्ययवाद' का सिद्धान्त विद्वज्ज्जन मान्य हुआ। इस दर्शन की विलक्षण कल्पना आलय-विज्ञान की थी। विज्ञानवाद के उदय का यही समय है। इस मत के अन्तिम आचार्य असंग और वसुबन्धु को यह कल्पना मान्य थी परन्तु दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि ने आलय-विज्ञान को आत्मा का ही निगूढ रूप बतलाकर अपने ग्रन्थों में उसका खण्डन किया है।

इस विकास के वाद बौद्ध दर्शन में नवीन कल्पना का अभाव दृष्टिगोचर होने लगा। पुरानी कल्पना ही नवीन रूप धारण करने लगी। इस युग के अनन्तर बौद्धतत्त्वज्ञान की अपेक्षा बौद्ध धर्म ने विशेष उन्नति की। तान्त्रिक बौद्ध धर्म के अभ्युदय का समय यही है। परन्तु इस धर्म के बीज मूल बौद्धधर्म में सामान्य रूप से और योगाचार मत में विशेष रूप से अन्तर्निहित थे। अतः वज्रयान (तान्त्रिक बौद्धधर्म) को हम यदि योगाचार और शून्यवाद के परस्पर मिलन से उत्पन्न होने वाला धर्म मानें तो यह अनुचित न होगा। एक बात विशेष ध्यान देने के योग्य यह है कि इन चारों सम्प्रदायों का सम्बन्ध विशिष्ट आचार्यों से है, शून्यवाद का उदय न तो नागार्जुन से हुआ और न विज्ञानवाद का मैत्रेयनाथ से। यह मत इन आचार्यों के समय से नितान्त प्राचीन है। शून्यवाद का प्रतिपादन 'प्रज्ञा पारमिता' सूत्र में पाया जाता है और विज्ञानवाद का मूल 'लंकावतार सूत्र' में उपलब्ध होता है। पूर्वोक्त आचार्यों ने इन मतों की युक्तियों के सहारे प्रमाणित और पुष्ट किया। इन आचार्यों का यही काम है और वैभाषिकों के अनन्तर शून्यवाद का उदय हुआ और शून्यवाद के अनन्तर विज्ञानवाद का प्रादुर्भाव हुआ।

(बौद्ध-दर्शन का ऐतिहासिक विकास[1])

समय विभाग	प्रथम विक्रमपूर्व ५००-१ विक्रमी	मध्यम विक्रमी १-५००	अन्तिम विक्रमी ५००-१०००
मुख्य सिद्धान्त	बहुत्ववाद (पुद्गल-शून्यता) गरम मत नरम मत	अद्वैतवाद (सर्वधर्म-शून्यता) गरम मत नरम मत	प्रत्ययवाद (बाह्यार्थ-शून्यता) गरम मत नरम मत
सम्प्रदाय	सर्वास्तिवादी वात्सीपुत्रीय	प्रासंगिक स्वातन्त्रिक माध्यमिक	आगमानुसारी न्यायवादी
आचार्य	कात्यायनीपुत्र संघभद्र	नागार्जुन तथा आर्यदेव; भव्य	असंग तथा वसुबन्धु; दिङ्नाग तथा धर्मकीति

१. इसके लिये देखिये डा० चेरवास्की—बुधिस्ट लाजिक; भाग प्रथम पृ० १४

चतुर्दश परिच्छेद

वैभाषिक मत

(ऐतिहासिक विवरण)

इस सम्प्रदाय की 'वैभाषिक' संज्ञा विक्रम के प्रथम शतक के अनन्तर प्राप्त हुई, परन्तु यह सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीनकाल में विद्यमान था। उस समय इसका प्राचीन नाम 'सर्वास्तिवाद' था जिसके द्वारा यह चीन देश

नामकरण

तथा भारतवर्ष में सर्वत्र विख्यात था। शङ्कराचार्य[1] ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य (२।२।१८) में तथा वाचस्पतिमिश्र[2] ने इस भाष्य की भामती में वैभाषिकों को सर्वास्तिवादी ही कहा है। इस मत के अनुसार जगत् की समस्त वस्तु चाहे वह बाहरी या भीतरी, भूत तथा भौतिक, चित्त तथा चैत्तिक हो—वस्तुतः विद्यमान हैं, उनकी सत्ता में किसी प्रकार का संशय नहीं है। इसी कारण इस का नाम 'सर्वास्तिवाद' पड़ा। कनिष्क के समय में (विक्रम की द्वितीय शताब्दी में) बौद्ध भिक्षुओं की जो चतुर्थ संगीति हुई थी उसने इस सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थ आर्यकात्यायनीपुत्र रचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' के ऊपर एक विपुलकाय प्रामाणिक टीका का निर्माण किया जो 'विभाषा' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी ग्रन्थ को सर्वापेक्षा अधिक मान्यता प्रदान करने के कारण द्वितीय शतक के अनन्तर इस सम्प्रदाय को 'वैभाषिक' के नाम से पुकारने लगे। यशोमित्र ने अभिधर्मकोश की 'स्फुटार्था' नामक व्याख्या में इस शब्द की यही व्याख्या की है[3]।

द्वितीय संगीति के समय में 'सर्वास्तिवाद' अपने प्रिय सिद्धान्तों के रक्षण के निमित्त 'स्थविर वाद' से पृथक् हो गया। अशोक के समय में (तृतीय शताब्दी)

---

१. तत्र ते सर्वास्तिवादिनो बाह्यमन्तरं च वस्तु अभ्युपगच्छन्ति भूतं च भौतिकं च चित्तं च चैत्तं च। (शाङ्करभाष्य २।२।१८)

२. यद्यपि वैभाषिकसौत्रान्तिकयोरवान्तरमतभेदोऽस्ति तथापि सर्वास्तितायामस्ति सम्प्रतिपत्तिरित्येकीकृत्य उपन्यस्तः। (भामती २।२।१८)

३. विभाषया दिव्यन्ति चरन्ति वा वैभाषिकाः। विभाषां वा वदन्ति वैभाषिकाः। उक्थादि प्रक्षेपात् ठक्; पृ० १२ ॥

इसका प्रधान केन्द्र मथुरा था। शाणवास नामक प्रसिद्ध बौद्धाचार्य के प्रधान शिष्य उपगुप्त मथुरा के किसी वैश्य कुल में उत्पन्न हुए थे। सर्वास्तिवादी लोग इन्हीं उपगुप्त को महाराज अशोकवर्धन का गुरु मानते हैं, परन्तु स्थविरवादी लोग मौद्गलिपुत्र 'तिष्य' को वह गौरवपूर्ण पद प्रदान करते हैं। तृतीय संगीति के अनन्तर मौद्गलिपुत्र तिष्य ने उस समय प्रचलित, स्थविरवाद के विरोधी, सम्प्रदायों के निराकरण के निमित्त 'कथावत्थु' नामक प्रसिद्ध प्रकरण-ग्रन्थ लिखा। इसमें निराकृत मतों में सर्वास्तिवाद भी अन्यतम है। अतः इससे प्रकट होता है कि विक्रमपूर्व तृतीय शतक में भी सर्वास्तिवाद की पर्याप्त प्रसिद्धि थी। अशोक के अनन्तर यह मत गंगा–यमुना के प्रदेश को छोड़ कर भारत के बिल्कुल उत्तरीय भाग—गान्धार तथा काश्मीर में—जाकर रहने लगा। इसकी प्रधानता इस भूखण्ड में विशेष रूप से सिद्ध होती है। यह प्रसिद्ध है कि महाराज अशोक स्थविरवाद के ही पृष्टपोषक थे और इस मत के प्रचार के लिए उन्होंने काश्मीर गान्धार में माध्यमिम स्थविर को भेजा, परन्तु इस देश में सर्वास्तिवाद की अक्षुण्णता बनी रही। कनिष्क (प्रथम शताब्दी) के पहले ही सर्वास्तिवादियों के दो प्रधान भेद उपलब्ध होते हैं—गन्धार शास्त्रिणः तथा काश्मीर—शास्त्रिणः। इनमें वसुबन्धु ने अपना अभिधर्मकोश काश्मीर के वैभाषिक मत के अनुसार ही लिखा था[1], परन्तु यशोमित्र के कथनानुसार स्पष्ट है कि काश्मीर के बाहर भी वैभाषिकों की स्थिति थी[2]। महाविभाषा में भी इन दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अतः ऐतिहासिक पर्यालोचना से हम कह सकते हैं कि कनिष्क के पहले दो सम्प्रदाय थे—गन्धार के सर्वास्तिवादी तथा काश्मीर के सर्वास्तिवादी, परन्तु चतुर्थ संगीति

---

१. काश्मीरवैभाषिकनीतिसिद्धः प्रायो मयायं कथितोऽभिधर्मः।

(अभि० कोष० ८।४०)

२. किमेष एव शास्त्राभिधर्मो ज्ञानप्रस्थानादिलक्षणो देशितोऽत इदमुच्यते काश्मीर—वैभाषिकनीति—सिद्ध इति विस्तरः। काश्मीरे भवाः काश्मीराः। विभाषया दिव्यन्तीति वैभाषिका इति व्याख्यातमेतत्। सन्ति काश्मीरा न वैभाषिकाः, सन्ति वैभाषिकाः न काश्मीरा। तेषां नीत्या सिद्धोऽभिधर्मः, स मया प्रायेण देशितः॥

(स्फुटार्था)

के अनन्तर दोनों में एक प्रकार का समन्वय स्थापित कर दिया गया और वह 'काश्मीर वैभाषिक' नाम से ही प्रसिद्ध हुआ।

वैभाषिक मत का बहुल प्रचारक सम्राट् कनिष्क से हुआ। उसकी ही आज्ञा से आचार्य पार्श्व ने कश्मीर में पाँच सौ वीतराग भिक्षुओं की महती सभा सम्पन्न की जिसके अध्यक्ष वसुमित्र थे तथा प्रधान सहायक कवि-दार्शनिक-शिरोमणि अश्वघोष थे। इसी संगीति में ज्ञानप्रस्थान की महती टीका 'महाविभाषा' की रचना की गई। उसी समय से कनिष्क ने अपने धर्म-प्रचारक भेजकर भारत के बाहर उत्तरी प्रदेश—चीन, जापान में इस मत का विपुल प्रचार किया। सम्राट् कनिष्क धर्म-प्रचार में दूसरा अशोक था। चीनदेश में तभी से 'वैभाषिक' मत की प्रधानता है। चीनी परिव्राजकों के लेख से इस मत के विपुल प्रचार तथा प्रसार का हमें परिचय मिलता है। फाहियान (३९९-४१४ ई०) ने इसकी पाटलिपुत्र और चीन में स्थिति अपने समय में बतलाई है। युन् च्वाङ्ग के समय (६४० ई०) में यह मत भारत के बाहर काशगर, उद्यान, आदि स्थानों में तथा भारत के भीतर मतिपुर, कन्नौज, राजगृह में पश्चिम फारस तक फैला हुआ था। इत्चिङ्ग (६७१-६९२ ई०) स्वयं वैभाषिक था। उसके समय में इस सम्प्रदाय का बहुत ही अधिक प्रचार दीख पड़ता है। भारत में मगध इसका अड्डा था, परन्तु लाट (गुजरात), सिन्ध, तथा पूर्वी भारत में भी इसका प्रचार था। भारत के बाहर सुमात्रा, जावा (विशेषतः), चम्पा (अल्पशः), चीन के पूर्वी प्रान्त तथा मध्यएशिया में इस मत के अनुयायी अपनी प्रधानता बनाये हुए थे। इस तरह सर्वास्तिवाद का विपुल प्रचार इस मत के अनुयायियों के दीर्घकालीन अध्यवसाय का विशेष परिणाम प्रतीत होता है। संगति के प्रस्तावानुसार पूरे त्रिपिटकों पर विभाषायें लिखी गईं जिनका क्रमशः नाम था—उपदेश सूत्र (सूत्र पर), विनय विभाषाशास्त्र तथा अभिधर्म विभाषा शास्त्र। इस प्रकार सर्वास्तिवाद का उदय तृतीय शतक वि० पू० में सम्पन्न हुआ तथा अभ्युदय १४ शताब्दियों तक भारत तथा भारत के बाहर वर्तमान था।

विस्तार

साहित्य

सर्वास्तिवादियों का साहित्य संस्कृत भाषा में था और वह बहुत ही विशाल था। दुःख की बात है कि यह विराट् मूल साहित्य कालकवलित हो गया है।

इसकी सत्ता का पता आज कल चीन भाषा तथा तिब्बती भाषा में किये गये अनुवादों से ही चलता है। इसके परिचय देने के लिए हम जापानी विद्वान् डा० ताकाकुसु के नितान्त आभारी हैं।

द्वितीय संगीतिमें सर्वास्तिवाद और स्थविरवाद का विवाद-विषय 'अभिधर्म' था और उसी में पार्थक्य दीख पड़ता है। सूत्र तथा विनय पिटक में दोनों मतों में विशेष साम्य है। ग्रन्थों के विषय तथा वर्गी-करण में कहीं कहीं विभेद अवश्य वर्तमान है, परन्तु सामान्य रीति से हम निःसन्देह कह सकते हैं कि दोनों मतों के सूत्र तथा विनय एक समान ही हैं। सर्वास्तिवाद का सूत्र—

(क) सुत्त

ग्रन्थ वैभाषिक		ग्रन्थ स्थविरवाद
दीर्घागम	=	दीघनिकाय
मध्यमागम	=	मज्झिमनिकाय
संयुक्तागम	=	संजुत्त ,,
अंगोत्तरागम	=	अंगुत्तर ,,
क्षुद्रकागम	=	खुद्दक ,,

सर्वास्तिवाद सूत्रों को 'आगम' कहते हैं तथा थेरवादी सूत्रों को 'निकाय'। साधारणतया सर्वास्तिवादियों के चार ही आगम माने गये हैं, परन्तु पाँचवे आगम के भी कतिपय ग्रन्थों की सत्ता निःसन्दिग्ध सिद्ध हो चुकी है। दीघनिकाय में ३४ सूत्र हैं, परन्तु दीर्घागम में केवल ३० सूत्र। इन सूत्रों में २७ सूत्र दोनों ग्रन्थों में एक समान हीं उपलब्ध होते हैं, यद्यपि निवेशक्रम नितान्त भिन्न है। शेष सात सूत्रों में तीन सूत्र 'मध्यमागम' में उपलब्ध होते हैं, परन्तु चार सूत्रों का अभी तक पता नहीं चलता। इन आगमों का अनुवाद चीनी भाषा में भिन्न २ शताब्दियों में किया गया। बुद्धयश ने (४१२ ई०–४१३ ई०) पूरे दीर्घागम का अनुवाद चीनी भाषा में किया तथा गौतम संघदेव ने (३७७ ई०–३९८ई०) समग्र मध्यमागम का। इन ग्रन्थों का उद्धरण वसुबन्धु के ग्रन्थों में मिलना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इन आगमों का सम्बन्ध वैभाषिक सम्प्रदाय के ही साथ था।

(ख) विनय

सर्वास्तिवादियों का अपना विशिष्ट विनयपिटक अवश्य विद्यमान था जिसका तिब्बती अनुवाद आज भी उपलब्ध है। दोनों विनयों की तुलना इस प्रकार है—

सर्वास्तिवादी	थेरवादी
(१) विनय वस्तु	महावग्ग (पाली विनयपिटक)
(२) प्रातिमोक्ष सूत्र }	पातिमोक्ख ,,
(३) विनय विभाग }	सुत्तविभंग ,,
(४) विनय क्षुद्रक वस्तु	चुल्ल वग्ग ,,
(५) विनय उत्तर ग्रन्थ	परिवार ,,

यह तिब्बती विनय सर्वास्तिवादियों का ही निःसन्देह रूप से है, इसका एक प्रमाण यह भी है कि तिब्बती ग्रन्थ के मुख पृष्ठ पर शारीपुत्र तथा राहुल से युक्त भगवान् बुद्ध की प्रतिमा बनी है। राहुल शारीपुत्र के शिष्य हैं और चीन देश में राहुल ही सर्वास्तिवाद के उद्भावक माने जाते हैं[1]। इतना ही नहीं, तिब्बती अनुवादक पण्डित काश्मीर देश के निवासी थे। यह देश वैभाषिकों का प्रधान केन्द्र था। अतः अनुवादक के वैभाषिक होने से उनके द्वारा अनुवादित मूल ग्रन्थों का वैभाषिक होना स्वतः सिद्ध होता है।

सर्वास्तिवादियों के विभिन्न सम्प्रदायों के विनय में पर्याप्त भिन्नता दीख पड़ती है। मथुरा के सर्वास्तिवादियों में विनय वस्तु के अतिरिक्त ८० अध्यायों में विभक्त जातक तथा अवदान का एक विराट् संग्रह भी विनय में सम्मिलित था। परन्तु काश्मीरक सर्वास्तिवादियों ने जातक के कथानकों को अपने विनय में स्थान नहीं दिया। उनका विनय दस अध्यायों में विभक्त था जिस पर ८० अध्यायों की विशालकाय विभाषा विद्यमान थी। आख्यानों के विषय में यह द्विविध प्रवृत्ति ध्यान देने योग्य है[2]।

(ग) अभिधर्म

सर्वास्तिवादियों का विशाल अभिधर्म आज भी चीनदेश में अपनी सत्ता बनाये हुये हैं। ये ग्रन्थ सात हैं जिनके **ज्ञानप्रस्थान** विषय-प्रतिपादन की विशेषता

---

१. Hoernle—Manunscript Remains P. 166.

२. द्रष्टव्य इण्डियन हिस्टी० क्वा० भाग ५ (१९२९) पृ० १–५

के कारण मुख्य कायस्थानीय माना जाता है और अन्य छः ग्रन्थ सहायक तथा पोषक होने से 'पाद' माने जाते हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध वेद तथा वेदाङ्गों के समान ही समझना चाहिए। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) **ज्ञानप्रस्थान**—रचयिता **आर्य कात्यायनीपुत्र**।

इसका चीनी भाषा में दो बार अनुवाद किया गया था। चतुर्थ शतक में काश्मीरनिवासी गौतम संघदेव ने (३८३ इ० = ४४० वि०) 'फोनिग्रन' नामक चीनी विद्वान् तथा धम्मपिय के सहयोग से इसका 'अष्टग्रन्थ' के नाम से अनुवाद किया था। दूसरा अनुवाद यून्-च्वांग (६५७ ई०—६६० ई०) ने किया था। यून्-च्वांग ने उत्तरी भारत के तामसावन विहार में सर्वास्तिवादानुयायी ३०० भिक्षुओं को अपनी यात्रा के समय देखा था। इसी विहार में कात्यायनीपुत्र ने इस अनुपम ग्रन्थ की रचना की। इनका समय बुद्ध की मृत्यु के ३०० वर्ष अनन्तर (अर्थात् १२६ वि० पू० या १८३ ई० पू०) बतलाया गया है। यही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ था जिस पर कनिष्क कालीन संगीति ने 'विभाषा' का निर्माण किया। इसके आठ परिच्छेद हैं इसीलिए यह 'अष्ट ग्रन्थ' भी कहा जाता है जिनमें लोकोत्तरधर्म, संयोजन, ज्ञान, कर्म, महाभूत, इन्द्रिय, समाधि तथा स्मृत्युपस्थान का क्रमशः सांगोपाङ्ग वर्णन किया गया है। वैभाषिकों के दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए यही ग्रन्थ नितान्त उपादेय तथा प्रधान माना जाता है।

(२) **संगीतिपर्याय**—यशोमित्र के अनुसार इसके रचयिता का नाम महाकौष्ठिल तथा चीनी ग्रन्थों के अनुसार शारीपुत्र था। दोनों बुद्ध के साक्षात् शिष्य थे। अतः वैभाषिकों की दृष्टि में यह ग्रन्थ अभिधर्म साहित्य में सर्वप्राचीन है। सुनते हैं कि बुद्ध की आज्ञा से ही शारीपुत्र ने धर्मों की गणना के लिए इसकी रचना की। थेरवादियों के **'पुग्गलपञ्ञत्ति'** के अनुरूप ही इसका विषय है। इसमें १२ वर्ग हैं। हुएन सांग ने इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया था जो ३२६ पृष्ठों में छपा है।

(३) **प्रकरणपाद**—रचयिता वसुमित्र। इस ग्रन्थ के रचयिता वसुमित्र चतुर्थसंगीति के अध्यक्ष वसुमित्र से भिन्न तथा प्राचीन हैं। बुद्ध के निर्वाण से तीन सौ वर्षों के अनन्तर वसुमित्र की स्थिति बतलाई जाती है। अतः ये कात्यायनीपुत्र के समकालीन द्वितीय-शतक वि० पू० में विद्यमान थे। हुएन सांग ने

६५९ ई० में इसका अनुवाद किया। उससे पहले भी गुणभद्र तथा बुद्धयश (४३५-४४३ ई०) ने इसका चीनी में अनुवाद किया था। हुएन सांग के अनुसार पेशावर के पास पुष्कलवती विहार में वसुमित्र ने इसका निर्माण किया। इसमें ८ वर्ग हैं जिनमें धर्म, ज्ञान, आयतन आदि विषयों का विशिष्ट विवरण उपस्थित किया गया है।

(४) **विज्ञानकाय**—रचयिता स्थविर देवशर्मा। यह ग्रन्थ ज्ञानप्रस्थान का तृतीयपाद है। हुएनसांग के अनुसार देवशर्मा ने श्रावस्ती के पास, विशोक में इसका निर्माण किया। इसमें ६ स्कन्ध हैं जिनमें पुद्गल, हेतु, प्रत्यय, आलम्बन प्रत्यय तथा अन्य प्रकीर्ण विषयों का वर्णन है। हुएनसांग ने ६४९ ई० में इसका चीनी में अनुवाद किया है जो २१० पृष्ठों का है।

(५) **धातुकाय**—रचयिता पूर्ण (यशोमित्र), वसुमित्र (चीनीमत)। हुएनसंग के पट्टशिष्य क्वीचि के मतानुसार इस ग्रन्थ के तीन संस्करण थे। वृहत् संस्करण ६ हजार श्लोकों का था। अनन्तर इसके दो संक्षिप्त संस्करण तैयार किये गये-९ सौ श्लोकों का तथा ५ सौ श्लोकों का। हुएनसांग का अनुवाद बीचवाले संस्करण का है जो केवल ४२ पृष्ठों का है। इसमें २ खण्ड तथा १६ वर्ग हैं जिसमें नाना प्रकार के धर्मों का विस्तृत विवेचन है।

(६) **धर्म स्कन्ध**—रचयिता शारीपुत्र (यशोमित्र), महामौद्गलायन (चीनी मत)। सर्वास्तिवाद अभिधर्म का पञ्चम पाद है। यह ग्रन्थ महत्त्व में ज्ञानप्रस्थान से ही कुछ घट कर है। यद्यपि यह पाद ग्रन्थों में गिना जाता है, तथापि मूल ग्रन्थ के समान ही गौरवास्पद माना जाता है। संगीति-पर्याय में प्रमाण के लिए इसके उद्धरण उपलब्ध होते हैं जिससे ग्रन्थ की प्राचीनता तथा प्रामाणिकता का स्पष्ट परिचय मिलता है। हुएनसांग के चीनी अनुवाद में २१ परिच्छेद हैं जिनमें आर्यसत्य, समाधि बोध्यङ्ग (ज्ञान के विविध अंग-प्रत्यंग), इन्द्रिय, आयतन, स्कन्ध, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि दार्शनिक विषयों का पर्याप्त विस्तृत विवेचन है।

(७) **प्रज्ञप्ति शास्त्र**—रचयिता आर्य मौद्गलायन। हुएनसांग ने पूर्वनिर्दिष्ट केवल पाँच ही पादों का अनुवाद किया है। इस षष्ठपाद का अनुवाद बहुत पीछे **धर्मरक्ष** ने (१००४-१०५८ ई०) एकादश शतक में किया। इसी कारण इसकी

प्रामाणिकता में विद्वानों को विपुल सन्देह है। इसमें १४ वर्ग हैं जिनका चीनी अनुवाद ५५ पृष्ठों का है। विशेष बात यह है कि इसी ग्रन्थ का तिब्बती अनुवाद मिलता है, पूर्वोल्लिखित ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बत में उपलब्ध नहीं होता जिसमें प्राचीन तथा समकालीन अनेक विद्वानों तथा आचार्यों के मतों का उल्लेख किया गया है। इसके रचनाकाल में अनेक शास्त्रनिष्णात आचार्य थे जो 'अभिधर्म-महाशास्त्रिणः' के नाम से उल्लिखत हैं। उस समय इन दार्शनिक विद्वानों की दो श्रेणियाँ थीं—गान्धार शास्त्रिणः—गन्धार देश के आचार्य तथा काश्मीर शास्त्रिणः—काश्मीर के पण्डित। परन्तु इन दोनों मण्डलियों के मतों का समन्वय कर दिया गया। अवान्तर काल में काश्मीर के पण्डितों के मत का सर्वत्र प्राधान्य गृहीत हुआ। वैभाषिकों का मूल ग्रन्थ यही विभाषा है।

सर्वास्तिवादी अभिधर्म के ये ही सात ग्रन्थ चीनी अनुवाद में उपलब्ध होते हैं। इनका मूल संस्कृत में था जो आज कल अप्राप्य है। इन ग्रन्थों की रचना भिन्न-भिन्न शताब्दियों में हुई। सम्प्रदाय तो इनमें तीन ग्रन्थों की रचना बुद्ध के ही समय में, एक ग्रन्थ की एक सौ वर्ष बाद तथा तीन ग्रन्थों की तीन सौ वर्ष बाद मानता है, परन्तु रचना काल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।

सर्वास्तिवादियों के दार्शनिक ग्रन्थों का सामान्य परिचय दिया गया है। कनिष्क के समय में ज्ञानप्रस्थान के ऊपर एक विशालकाय भाष्य का निर्माण

महाविभाषा किया गया। इसी का नाम है—**विभाषा**। 'विभाषा' का शब्दार्थ है विकल्प अर्थात् एक विषय पर भिन्न भिन्न विद्वानों के मतों का संग्रह किया जाना और उनमें जो मत प्रामाणिक प्रतीत हो उसे मान्यता प्रदान कर ग्रहण कर लिया जाना। चतुर्थ संगीति में आचार्य वसुमित्र तथा कविवर अश्वघोष का 'विभाषा' की रचना में विशेष हाथ था। 'विभाषा' की तीन टीकायें की गईं जिनमें सबसे बड़ी टीका 'महाविभाषा' के नाम से विख्यात हुई। इसका चीनी भाषा में तीन बार अनुवाद किया गया। काश्मीर वैभाषिक संघदेव (३८३ ई०) ने इसका पहला अनुवाद किया था। दूसरा अनुवाद बुद्ध-वर्मा तथा ताओ-ताई ने मिलकर ४२५-४२७ ई० में किया, परन्तु राज्यविप्लव के कारण यह अनुवाद नष्ट हो गया। तब सप्तम शताब्दी में हुएन सांग ने मूल संस्कृत से इस ग्रन्थरत्न का अनुवाद चार वर्षों में (६५६ ई०–६५९

ई०) सम्पन्न कर अपनी विद्वत्ता का उज्ज्वल प्रमाण दिया। महाविभाषा में ज्ञानप्रस्थान के अनुसार ही आठ ग्रन्थ हैं जिनका अनुवाद चार हजार पृष्ठों के लगभग है। यह महाविभाषा शास्त्र बुद्धदर्शन का विराट् ज्ञानकोश है। इसी भाष्य के आधार पर चतुर्थ शतक में वसुबन्धु ने अपने अभिधर्मकोश का तथा संघभद्र ने समयप्रदीपिका का निर्माण किया। वैभाषिकों का यही मूल स्रोत है।

आचार्य

(१) **वसुबन्धु**—सर्वास्तिवाद के इतिहास में चतुर्थ शताब्दी सुवर्ण-युग मानी जाती है क्योंकि इसी युग में दो बड़े बड़े आचार्यों ने प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना कर इस मत के प्रभाव को और भी बढ़ाया। इनमें एक का नाम है—वसुबन्धु और दूसरे का संघभद्र। वसुबन्धु की प्रतिभा तथा पाण्डित्य अलौकिक था। उनके ग्रन्थ उच्चकोटि के हैं। इसी कारण उनकी गणना बौद्ध मत के प्रकाण्ड दार्शनिकों में की जाती है।

वसुबन्धु के पाण्डित्य तथा परमार्थ वृत्ति का परिचय हमें यशोमित्र के कथन से स्पष्टतः मिलता है। यशोमित्र का कहना है कि वसुबन्धु ने परमार्थ के लिए शास्त्र की रचना कर स्वयं शास्ता (बुद्ध) का कार्य सम्पादन किया है। अतः बुद्धिमानों के इस अग्रणी को विद्वज्जन द्वितीय बुद्ध के नाम से पुकारते थे[1]। यह प्रशंसा वस्तुतः यथार्थ है। वसुबन्धु ने अपना अभिधर्मकोष लिखकर बुद्धधर्म का जो प्रसार तिब्बत, चीन, जापान तथा मंगोलिया आदि देशों में सम्पन्न किया है वह धार्मिक इतिहास में एक कौतूहलपूर्ण घटना है।

इनका जन्म गान्धार के पुरुषपुर (पेशावर) नगर में कौशिक गोत्रीय एक ब्राह्मणकुल में हुआ था। ये तीन भाई थे। जेठे भाई का नाम या आर्य असंग जिनका विवरण विज्ञानवाद के इतिहास के अवसर पर किया जायगा। छोटे भाई का नाम था 'विरिञ्चि वत्स'। वसुबन्धु मध्यम पुत्र थे। गान्धार में उस समय

---

१. परमार्थशास्त्रकृत्या कुर्वाणं शास्तृकृत्यमिव लोके।
यं बुद्धिमतामग्र्यं द्वितीयमिव बुद्धमित्याहुः ।
तेन **वसुबन्धु** नाम्ना भविष्यपरमार्थबन्धुना जगतः।
अभिधर्मप्रत्यासः कृतोऽयमभिधर्मकोशाख्यः ॥ (स्फुटार्था पृ० १)

सर्वास्तिवादियों का बोल-बाला था। शिक्षा के लिए ये काश्मीर गए। वहीं विभाषाशास्त्र का गाढ़ अध्ययन किया। तरुणावस्था में ये अयोध्या आए और अयोध्या में ही ये विशेष रूप से रहने लगे। शास्त्रार्थ में भी बड़े कुशल थे। सुनते हैं कि एक बार विन्ध्यवासी नामक सांख्याचार्य ने इनके गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में हरा दिया। वसुबन्धु उस समय उपस्थित न थे। गुरु के पराजय की बात सुनकर इन्होंने विन्ध्यवासी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। परन्तु उसके पहले ही ये संख्याचार्य धराधाम को छोड़कर स्वर्गवासी हो गए थे। तब इन्होंने विन्ध्यवासी की 'सांख्य सप्तति' के खण्डन में 'परमार्थ सप्तति' की रचना की। इस ग्रन्थ का उल्लेख तत्त्वसंग्रह के टीकाकार आचार्य कमलशील ने बड़े आदर के साथ किया है[1]।

वसुबन्धु के समय में बहुत मतभेद है। जापान के विद्वान् डाक्टर तकाकुसू ५०० ई० बतलाते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं जँचती। वसुबन्धु के ज्येष्ठ सहोदर असंग के ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद धर्मरक्ष ने किया था। और ये धर्मरक्ष ४०० ई० में चीन में विद्यमान थे। चीनी भाषा में अनुवादित परमार्थ कृत वसुबन्धु की जीवनी में ये अयोध्या के राजा के गुरु बतलाए गए हैं। उधर वामन ने अपने 'काव्यालङ्कार वृत्ति' में इन्हें चन्द्रगुप्त के तनय (चन्द्रप्रकाश) का सचिव बताया है। चन्द्रगुप्त से अभिप्राय गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त प्रथम से है[2]। अतः उनके पुत्र समुद्रगुप्त के समय में वसुबन्धु की स्थिति सप्रमाण मानी जा सकती है। इन्होंने ८० वर्ष का दीर्घ जीवन प्राप्त किया था। अतः इनका समय २८० ई० से लेकर ३६० ई० तक मानना तर्कसंमत तथा उचित प्रतीत होता है।

इनकी जिह्वा जिस प्रकार परपक्ष के खण्डन में कुशल थी उसी प्रकार इनकी लेखनी स्वपक्ष के मण्डन में द्रुतगति से चलती थी। चीनी भाषा के त्रिपिटक में इनके ३६ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। इस नाम के छ आचार्यों का पता बौद्ध

---

१. एवं आचार्यवसुबन्धुप्रभृतिभिः कोशपरमार्थसप्ततिकादिषु अभिप्राय-प्रकाशनात् पराक्रान्तम्। अतस्तत एवावगन्तव्यम्। (तत्त्वसंग्रह: १२९)

२. सोऽयं संप्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः॥
आश्रयः कृतधियामित्यस्य च वसुबन्धुसाचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम्।

साहित्य से लगता है। अतः समीक्षा कर इनके मूल ग्रन्थों का पता लगाया जा सकता है। इनके हीनयान-सम्बन्धी निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं:—

ग्रन्थ

(१) **परमार्थसप्तति**—विन्ध्यवासी रचित सांख्यसप्तति का खण्डन।

(२) **तर्कशास्त्र**—इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद परमार्थ ने ५५० ई० में किया। इसका विषय बौद्धन्याय है जिसमें तीन परिच्छेद हैं। पञ्चावयव, जाति, तथा निग्रह-स्थान का क्रमशः वर्णन है[१]।

(३) **वादविधि**—इस ग्रन्थ के अस्तित्व के विषय में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। 'धर्मकीर्ति' ने वादन्याय ग्रन्थ लिखा जिसकी व्याख्या में शान्तरक्षित (७४०–८४०) ने लिखा है—'अयं वादन्यायमार्गः सकललोकानिबन्धनबन्धुना वादाविधानादौ आर्यवसुबन्धुना महाराजपथीकृतः। क्षुण्णश्च तदनु महत्यां न्यायपरीक्षायां कुमतिमतमत्तमातङ्ग-शिरःपीठपाटनपटुभिराचार्यदिङ्नागपादैः।' इस वाक्य से मालूम होता है कि वसुबन्धु ने न्यायशास्त्र पर वाद-विधान नामक ग्रन्थ लिखा था। न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका में अनेक स्थानों पर वाचस्पति मिश्र ने वसुबन्धु के वादविधि का बहुशः उल्लेख किया है। इन निर्देशों की परीक्षा से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रामाणों के लक्षण थे। धर्मकीर्ति के ग्रन्थ की तरह केवल निग्रहस्थानों का ही वर्णन न था[२]।

(४) **अभिधर्मकोश**:—

वसुबन्धु का सर्वश्रेष्ठ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ यही है जिसमें अभिधर्म के समस्त तत्त्व संक्षेप में वर्णित हैं। वैभाषिकमत का यह सर्वस्व है विभाषा की रचना के अनन्तर काश्मीर में वैभाषिकों की प्रधानता सर्वमान्य हुई। उसी मत को आधार मानकर

---

१. इसका अंग्रेजी अनुवाद डा० तुशी (Dr. Tucci) ने Pre—Dignaga Logic में किया है (गायकवाड़ सीरीज)

२. न्यायवार्तिक—पृष्ठ ४०। अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति। इस पर टीका करते हुए वाचस्पति ने लिखा है—तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्य वासुबन्धवं तत्प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपन्यस्यति।

(तात्पर्यटीका पृ० ११६, काशी)

इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ[1]। सर्वास्तिवादियों का अभिधर्म ही इसका प्रधान आश्रय है[2]। तथापि अपनी व्यापकता के कारण यह कोश बौद्धधर्म के समस्त मतों को मान्य तथा प्रमाणभूत है। बाणभट्ट ने तो यहाँ तक लिखा है कि शाक्यभिक्षु दिवाकर मित्र के आश्रम में शाक्य-शासन में कुशल सुग्गे भी 'कोश' का उपदेश देते थे। यहाँ 'कोश' से अभिप्राय वसुबन्धु कृत 'अभिधर्मकोश' से ही है[3]। जापान में इस ग्रन्थ के आदर का पता इसी घटना से लगता है कि इस कोश के अध्ययन के लिए 'कुश' नामक सम्प्रदाय का उदय हुआ है। उसी प्रकार वसुबन्धु की 'विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि' के अध्ययन के निमित्त 'युइ-शिकि' नामक सम्प्रदाय आज भी विद्यमान है। इसका अनुवाद दो बार चीनी भाषा में हुआ— परमार्थ का (५६३-५६७ ई०) तथा हुएनसांग का (६५१-५३ ई०)। ह्वेनसांग इस कोश की व्याख्या में बड़े निष्णात थे। 'कोकि' तथा 'होशो' नामक दो पाण्डित्य-पूर्ण व्याख्यायें चीनी भाषा में विद्यमान हैं जिन्हें हुएनसांग के दो शिष्यों ने उनके व्याख्यान को सुनकर निबद्ध किया था।

यह ग्रन्थ आठ परिच्छेदों में विभक्त है जिनके नाम से विषय का पता चलता है-१ धातुनिर्देश, २ इन्द्रिय निर्देश, ३ लोकधातु निर्देश, ४ कर्म निर्देश ५ अनुशय निर्देश, ६ आर्य पुद्गल निर्देश ७ ज्ञान निर्देश तथा ८ ध्यान निर्देश। इस प्रकार ६ सौ कारिकाओं में बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का मर्म निबद्ध किया गया है, परन्तु कारिकाबद्ध होने पर भी यह सूत्र के समान गूढ तथा सूक्ष्म है। इसके तात्पर्य को व्यक्त करने के लिए अनेक आचार्यों ने व्याख्यायें लिखी हैं जिनमें केवल एक ही टीका मूल संस्कृत में उपलब्ध है—

(१) **अभिधर्मकोशभाष्य**—वसुबन्धु रचित (संस्कृतमूल अप्राप्य, तिब्बती अनुवाद बुद्ध-ग्रन्थावली सं० २० में १९१७ में प्रकाशित)।

---

१. काश्मीरवैभाषिकनीतिसिद्धः प्रायो मयायं कथितोऽभिधर्मः। अभिधर्मकोष-८।४० (काशीविद्यापीठ का संस्करण)

२. योऽभिधर्मो ज्ञानप्रस्थानादिरेतस्य मदीयस्य शास्त्रस्याश्रयभूतः। ततो ह्या-र्षादभिधर्मादेतन्मदीयं शास्त्रं निराकृष्टम्—(स्फुटार्था पृ० १०)

३. 'त्रिशरणपरैः परमोपासकैः शुकैरपि शाक्यशासनकुशलैः कोशं समुपदि-शद्भिः' (हर्षचरित पृ० २३७ निर्णय सागर)।

(२) **भाष्य टीका (तत्त्वार्थ)**—स्थिरमति रचित।

(३) **मर्मप्रदीप वृत्ति**—दिङ्नाग रचित।

(४) **गुणमति**
(५) **वसुमित्र** } रचित व्याख्यायें स्फुटार्था में उल्लिखित (१।५) हैं[१]।

(६) **स्फुटार्था**—यशोमित्र कृत मूलसंस्कृत में उपलब्ध है, केवल प्रथम कोशस्थान बुद्ध ग्रन्थावली में (सं० २१, १९१८) प्रकाशित। समग्र ग्रन्थ रोमन लिपि में जापान से प्रकाशित। स्फुटार्था में कारिका तथा भाष्य दोनों की टीकायें हैं, वसुबन्धुकृत भाष्य के उपलब्ध न होने से स्फुटार्था की अनेक बातें समझ में नहीं आतीं। भाष्य उपलब्ध हो जाय, तो कोश का मर्म अभिव्यक्त हो सकता है।

(७) **लक्षणानुसारिणी**—पुण्यवर्धन।

(८) **औपयिकी**—शान्तिस्थिर देव।

इस व्याख्या-सम्पत्ति से कोश के महत्त्व का किञ्चित् परिचय चल सकता है। सच तो यह है कि अभिधर्मकोश एक ग्रन्थ न होकर स्वयं पुस्तक-माला है जिसके अंश को लेकर टीका-टिप्पणी लिखी गई तथा खण्डन-मण्डन की परम्परा शुरु हुई। अच्छी व्याख्या के बिना यह ग्रन्थ दुरुह है[२]। बौद्ध दर्शन के कोशभूत इस कोश का तात्पर्य तब तक अनभिव्यक्त रहेगा जब तक ग्रन्थकार का अपना भाष्य संस्कृत में न मिलेगा।

(२) संघभद्र

वसुबन्धु के समकालीन दो वैभाषिक आचार्यों का अस्तित्व था—(१) मनोरथ—वसुबन्धु के मित्र और स्नेही थे। (२) संघभद्र—वसुबन्धु के घोर प्रतिद्वन्द्वी थे। वसुबन्धु के साथ इनके घोर विरोध का कारण यह था कि इनकी

---

१. गुणमति वसुमित्राद्यैर्व्याख्याकारैः पदार्थविवृतिर्या।
सुकृता साभिमता मे लिखिता च तथायमर्थ इति॥ (स्फुटार्था १।५)

२. इस ग्रन्थ का संस्कृत मूल अप्राप्य था। पहले बेल्जियन विद्वान् डा० पुसें (Dr L. de la Vallee Poussin) ने अदम्य उत्साह तथा अश्रान्त परिश्रम से चीनी अनुवाद से फ्रेंच में अनुवाद किया तथा साथ ही साथ मूल कारिकाओं का संस्कृत में पुनर्निर्माण किया। इसी आधार पर राहुल सांकृत्यायन ने नई अल्पकाय व्याख्या के साथ देवनागरी संस्करण काशी विद्यापीठ से प्रकाशित किया है।

सम्मति में वसुबन्धु ने कोश के भाष्य में बहुत से ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था जो 'विभाषा' से नितान्त प्रतिकूल पड़ते थे। वैभाषिक सिद्धान्तों के पुनरुद्धार के निमित्त इन्होंने दो ग्रन्थों का निर्माण किया जो संस्कृत मूल के के अभाव में चीनी भाषा में आज भी अनुवाद रूप से विद्यमान हैं:—

(१) **अभिधर्म—न्यायानुसार**—यह ग्रन्थ परिमाण में सवालाख श्लोकात्मक है। इसमें अभिधर्म कोशकी बड़ी कड़ी आलोचना है। इसी कारण इसका दूसरा नाम है 'कोशकरका' (अभिधर्मकोश के लिए हिमवृष्टि)। संघभद्र को कोश की कारिकाओं के विषय में विरोध नहीं था, परन्तु गद्यात्मक वृत्ति सौत्रान्तिक मत को प्रश्रय देने के कारण आपत्तिजनक थी। यह वृहत्काय ग्रन्थ आठ प्रकरणों में विभक्त है, अनुवादक हुएनसांग, १७५१ पृ०; अनेक प्राचीन अथच अज्ञात ग्रन्थों का प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है।

(२) **अभिधर्मसमयदीपिका**—न्यायानुसार खण्डनात्मक अधिक है तथा दुरूह भी है। इसीलिए उसके आवश्यक सिद्धान्तों का संक्षिप्त प्रतिपादन इसमें है। हुएनसांग ने चीनी भाषा में अनुवाद किया है। इसमें ९ प्रकरण हैं तथा अनुवाद ७४९ पृष्ठों में हैं। अयोध्या ही संघभद्र का कार्यक्षेत्र था। यहीं रह कर इन्होंने पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों का निर्माण किया[1]।

इतर आचार्य

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थ चीनी भाषा में अनुवाद रूप से उपलब्ध होते हैं :—

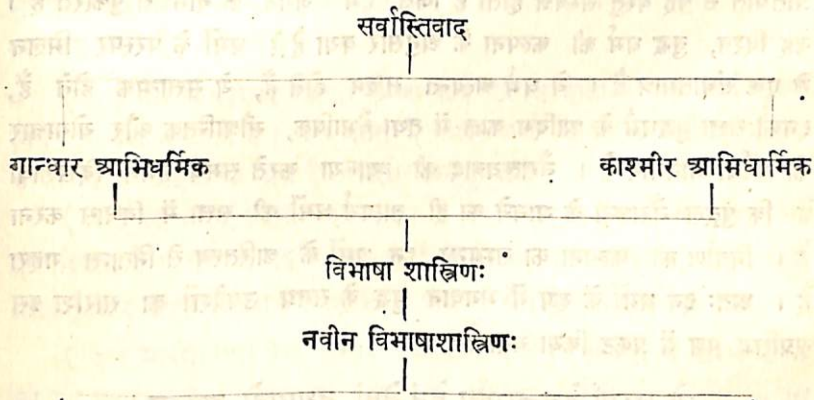
ग्रन्थ लेखक	अनुवादक
(१) अभिधर्मामृतशास्त्र—घोष	२५० ई० में अनूदित।
(२) अभिधर्महृदय—धर्मोत्तर	संघभद्र ने ३९१ ई० में चीनी में अनुवाद किया।
(क) ,, टीका—उपशान्त	नरेन्द्रयश, ५६३ ई०।
(ख) ,, टीका—धर्मतार या धर्मत्राता जो वसुमित्र के पितृव्य माने जाते हैं।	सिंहवर्मा, ४३४ ई०।

१. इन ग्रन्थों के चीनी अनुवाद के लिए द्रष्टव्य (प्रभात कुमार मुकर्जी—Indian Literature in China.)

(३) लोक प्रज्ञप्ति-अभिधर्मशास्त्र परमार्थ।
(४) अभिधर्म भूमिका ,, हुएनसांग।
(५) शारिपुत्र अभिधर्म ग्रन्थ ,,
(६) लक्षणानुसारशास्त्र–गुणमति परमार्थ।
(निदान और आर्यसत्य का वर्णन मिलता है)।

सर्वास्तिवादियों के मूल ग्रन्थों का यही संक्षिप्त परिचय है। डा० तकाकुसू ने बड़े परिश्रम से इनका चीनी अनुवाद की सहायता से परिचय दिया है[1]।

सर्वास्तिवादियों के साहित्य के विकास का परिचय संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है।



१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—(पाली टेक्स्ट सोसाइटी जर्नल, १९०४। प्रभात कुमार मुकर्जी–Indian Literature in China पृ० २१८—२२४)

पञ्चदश परिच्छेद

वैभाषिक सिद्धान्त

बुद्धधर्म के सिद्धान्तों के केन्द्रबिन्दु को भली भाँति जानना नितान्त आवश्यक है। इसी तत्त्व के आधार पर बुद्ध-दर्शन के समस्त सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। इस आधार का नाम है—धर्म। धर्म शब्द का प्रयोग भारतीय दार्शनिक जगत् में इतने विभिन्न और विचित्र अर्थों में किया गया है कि इस प्रसङ्ग में इस शब्द की यथार्थ कल्पना से अवगत हो जाना बहुत ही आवश्यक है। 'धर्म' से अभिप्राय भूत और चित्त के सूक्ष्म तत्त्वों से है जिनका पृथक्करण और नहीं हो सकता। इन्हीं धर्मों के आघात-प्रतिघात से वह वस्तु सम्पन्न होती है जिसे हम 'जगत्' के नाम से पुकारते हैं। यह विश्व, बुद्ध धर्म की कल्पना के अनुसार क्या है? धर्मों के परस्पर मिलन से एक संघातमात्र है। ये धर्म अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, ये सत्तात्मक होते हैं, इनकी सत्ता बुद्धधर्म के आदिम काल में तथा वैभाषिक, सौत्रान्तिक और योगाचार को सर्वथा माननीय है। नैरात्म्यवाद की व्याख्या करते समय हमने दिखलाया है कि पुद्गल-नैरात्म्य के मानने का ही तात्पर्य धर्मों की सत्ता में विश्वास करना है। निर्वाण की कल्पना का सम्बन्ध इन धर्मों के अस्तित्त्व से नितान्त गहरा है। अतः इन धर्मों के रूप में भगवान बुद्ध के समग्र उपदेशों का सारांश इस सुप्रसिद्ध पद्य में प्रकट किया गया है—

धर्म

ये धर्म्मा हेतु-प्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्।
अवदच्च यो निरोधो एवंवादी महाश्रमणः ॥

अर्थात् इस जगत् में जितने धर्म हैं वे हेतु से उत्पन्न होते हैं। उनके हेतु को तथागत ने बतलाया है। इन धर्मों का निरोध भी होता है। महाश्रमण ने इस निरोध का भी कथन किया है। इस प्रकार धर्म, हेतु तथा उनका निरोध—इन तीन शब्दों में ही भगवान् तथागत के महनीय धर्म का सार अंश उपस्थित किया जा सकता है।

धर्म की कल्पना से निम्नलिखित बातें मान्य ठहरती हैं—

(१) प्रत्येक धर्म पृथक् सत्ता रखता है—पृथक् शक्तिरूप है।

(२) एक धर्म का दूसरे धर्म के साथ किसी प्रकार का—अन्योन्याश्रय समवाय-सम्बन्ध नहीं है। अतएव गुणों के अतिरिक्त द्रव्य की सत्ता नहीं होती, भिन्न भिन्न इन्द्रियग्राह्य विषयों को छोड़कर 'भूत' की पृथक् सत्ता नहीं होती। इसी तरह भिन्न भिन्न मानसिक व्यापारों के अतिरिक्त **'आत्मा'** की सत्ता मान्य नहीं है (धर्म = अनात्म = निर्जीव)।

(३) धर्म क्षणिक होता है; एक क्षण में एक धर्म रहता है; चैतन्य स्वयं क्षणिक है—एक क्षण के अतिरिक्त अधिक वह नहीं ठहरता। गतिशील शरीरों की वस्तुतः स्थिति नहीं होती, प्रत्युत नये स्थानों में नये धर्मों का सन्तानरूप से यह आविर्भाव है जो गतिशील द्रव्य सा दीख पड़ता है (धर्मत्व = क्षणिकत्व)।

(४) धर्म आपस में मिलकर नवीन वस्तु को उत्पन्न करते हैं। अकेला कोई भी धर्म वस्तु का उत्पादन नहीं कर सकता। धर्म परस्पर मिलकर नवीन वस्तु का उत्पादन करते हैं (संस्कृत)

(५) धर्म के परस्पर व्यापार से जो कार्य उत्पन्न होता है वह कार्य-कारण नियम के वश में रहता है। इस जगत् के समस्त धर्म आपस में कार्य-कारण-रूप से सम्बद्ध हैं। इसी का नाम है—**प्रतीत्यसमुत्पाद।**

(६) यह जगत् वस्तुतः इन सूक्ष्म (७२ प्रकार के) धर्मों के संघात का ही परिणाम है। धर्म का यह स्वभाव ही है कि वे कारण से उत्पन्न होते हैं (हेतु-प्रभव) और अपने विनाशकी ओर स्वतः अग्रसर होते हैं (निरोध)।

(७) अविद्या तथा प्रज्ञा परस्पर विरोधी धर्म हैं। अविद्या के कारण जगत् का यह प्रवाह पूरे जोर से चलता रहता है और प्रज्ञाधर्म के उदय होने से इस प्रवाह में ह्रास उत्पन्न होता है, जो धीरे धीरे शान्ति के रूप में परिणत होता है। अविद्या के समय धर्मों का सन्तान पृथक्जन साधारण व्यक्ति-को उत्पन्न करता है। प्रज्ञा के समय अर्हत् (सन्त आर्य) को। इस प्रपञ्च का पूर्ण निरोध बुद्ध की अवस्था का सूचक है।

(८) इसलिए धर्मों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं—चञ्चलावस्था (दुःख), चञ्चलावस्था का कारण (समुदय), परम शान्ति की दशा (निरोध), शान्ति का उपाय (मार्ग)।

(९) इस जगत् की प्रक्रिया का चरम अवसान 'निरोध' में है जो निर्विकार

शान्ति की दशा है। उस समय 'संघात' का नाश हो जाता है (असंस्कृत—निर्वाण) इन मान्यताओं को सूत्ररूप से इस प्रकार रख सकते हैं[१]—धर्मता = नैरात्म्य = क्षणिकत्व = संस्कृतत्व=प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व=सास्रव-अनास्रवत्व = सङ्क्लेश-व्यवदानत्व = दुःख-निरोध = संसार = निर्वाण।

धर्मों का वर्गीकरण

इन धर्मों के अस्तित्व में वैभाषिकों को विश्वास है। इसीलिए उनकी 'सर्वास्तिवादी' संज्ञा सार्थक है। वैभाषिकों के अनुनार यह नानात्मक जगत् वस्तुतः सत्य है। इसकी स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव हमें अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा प्रतिक्षण में होता है। चक्षु इन्द्रिय के द्वारा हम घड़े को देखते हैं, देखने से जानते हैं कि यह घड़ा है। पास जाने पर हम उसे घड़े को काम में लाते हैं। वह पानी लाने के काम में आता है आदि आदि। अतः 'अर्थक्रियाकारिता' होने के कारण से यह घट यथार्थ है और इस यथार्थता का ज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षरूप से होता है। अतः जगत् की स्वतन्त्र सत्ता प्रत्यक्ष गम्य है, यह वैभाषिकों का मुख्य माननीय तथ्य है। यह जगत् भी दो प्रकार का है—बाह्य (घट आदि), आभ्यन्तर (दुःख, सुख आदि); भूत तथा चित्त। इन दोनों प्रकार के जगत् की सत्ता स्वतन्त्र अर्थात् परस्पर-निरपेक्ष है।

जगत् के मूलभूत वस्तुओं (धर्म) का विभाग वैभाषिकों ने दो प्रकार से किया है—विषयीगत तथा विषयगत। विषयीगत विभाजन समय की अपेक्षा से दोनों में प्राचीन है तथा अपेक्षाकृत सरल सीधा भी है। स्थविरवादियों को भी यह मान्य है। बुद्ध ने स्वयं इस विभाजन को अपने उपदेशों में अंगीकृत किया है[२] जिससे इसकी प्राचीनता निःसन्दिग्ध है। विषयीगत विभाजन तीन प्रकारों से होता है:—

विषयीगत वर्गीकरण

(१) पञ्च स्कन्ध; (२) द्वादश आयतन; (३) अष्टादश धातु।

(**१**) **पञ्चस्कन्ध**—स्थूल रूप से यह जगत् 'नामरूपात्मक' है। यह शब्द प्राचीन उपनिषदों से लिया गया है, परतु बुद्ध ने इसके अर्थ को किञ्चित् परि·

---

१. द्रष्टव्य डा० चेरवाट्स्की—(Central Conception of Buddnism. P. 74.–75.)

२. द्रष्टव्य महानिदान सुत्त (दी० नि० २।१५), संयुक्तनिकाय १६।

वर्तित कर दिया है। 'रूप' जगत् के समस्त भूतों का सामान्य अधिवचन है। 'नाम', मन तथा मानसिक प्रवृत्तियों की साधारण संज्ञा है जिन्हें वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञानरूप से विभक्त करने पर हम चार स्कन्धों के रूप में पाते हैं। इस प्रकार नामरूप ही का विस्तृत विभाजन 'पञ्चस्कन्ध' है।

(२) **द्वादश आयतन**—वस्तुओं का यह विभाजन पहले की अपेक्षा कुछ विस्तृत है। 'आयतन' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है प्रवेशमार्ग, घुसने का द्वार (आयं प्रवेशं तनोतीति आयतनम्)। वस्तु का ज्ञान अकेले ही उत्पन्न नहीं हो सकता। उसे अन्य वस्तुओं की सहकारिता अपेक्षित है। इन्द्रियों की सहायता के बिना विषय का ज्ञान उदय नहीं हो सकता। अतः ज्ञानोत्पत्ति के द्वार भूत होने के कारण इन्द्रिय तथा तत्सम्बद्ध विषय को 'आयतन' शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। इन्द्रियाँ संख्या में ६ हैं तथा उनके विषय भी ६ हैं। इस प्रकार आयतनों की संख्या १२ है:—

अध्यात्म-आयतन (भीतरी द्वार या इन्द्रियाँ)	**बाह्य-आयतन** (बाहरी द्वार या विषय)
(१) चक्षुरिन्द्रिय-आयतन	(७) रूप-आयतन (स्वरूप तथा वर्ण)
(२) श्रोत्र इन्द्रिय "	(८) शब्द "
(३) घ्राण " "	(९) गन्ध "
(४) जिह्वा " "	(१०) रस "
(५) स्पर्श इन्द्रिय (कायेन्द्रिय आयतन)	(११) स्प्रष्टव्य "
(६) बुद्धि इन्द्रिय (मन इन्द्रिय-आयतन)	(१२) बाह्येन्द्रिय से अग्राह्य विषय (धर्मायतन या धर्माः)

सर्वास्तिवादियों का कथन है कि उनके सिद्धान्त को भगवान् तथागत ने स्वयं प्रतिपादित किया। अपने उपदेश के समय उन्होंने स्वयं कहा कि समस्त वस्तुयें विद्यमान हैं। जब उनसे आग्रह के साथ पूछा गया कि कौन सी वस्तुए ? तब उन्होंने कहा—यही द्वादश आयतन। यह सर्वदा विद्यमान रहता है और इसे छोड़कर अन्य वस्तुएँ विद्यमान नहीं रहतीं। इस कथन का अर्थ यह है कि वस्तु की सत्ता के लिए यह आवश्यक है कि या तो वह पृथक् इन्द्रिय हो या

पृथक् इन्द्रियग्राह्य विषय हो। यदि वह इन दोनों में से एक भी नहीं है, तो उसकी सत्ता मान्य नहीं—जिस प्रकार आत्मा की सत्ता, जो न तो इन्द्रिय है और न इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य विषय ही है। इस वर्गीकरण में पहले के ११ आयतन ११ धर्मों के प्रतिनिधि हैं। अन्तिम आयतन में शेष ६४ धर्मों का अन्तर्भाव होता है। इसीलिए इसे धर्मायतन या 'धर्माः' के नाम से पुकारते हैं।

(३) अष्टादश धातु—धर्मों का धातुओं के रूप में यह विभाजन एक नवीन दृष्टिकोण से किया गया है। 'धातु' शब्द वैद्यकशास्त्र से लिया गया है। वैद्यकशास्त्र के अनुसार इस शरीर में अनेक 'धातुओं' का सन्निवेश है, इसी प्रकार बुद्धधर्म इस जगत् में अनेक धातुओं की सत्ता मानता है। अथवा 'धातु' शब्द खनिज पदार्थों के लिए व्यवहृत होता है। जिस प्रकार खान से 'धातु' बाहर निकाले जाते हैं, उसी प्रकार सन्तानभूत जगत् के भिन्न-भिन्न अवयवों या उपकरणों को 'धातु' कहते हैं। जिन शक्तियों के एकीकरण से घटनाओं का एक प्रवाह (सन्तान) निष्पन्न होता है उनकी संज्ञा 'धातु' है। धातुओं की संख्या अठारह है जिनमें ६ इन्द्रियों, ६ विषयों तथा ६ विज्ञानों का ग्रहण किया जाता है। इन्द्रिय तथा विषय तो वे ही हैं जिनका वर्णन 'आयतन' रूप से किया गया है। इन्द्रिय को विषय के साथ सम्पर्क में आने पर एक प्रकार का विशिष्ट ज्ञान (विज्ञान) उत्पन्न होता है जो इन्द्रिय-विषयों की संख्या के अनुसार ६ प्रकार का होता है। इस प्रकार अष्टादश धातु में १२ आयतनों का समावेश होता है, साथ ही साथ इन ६ विज्ञानों का भी योग होता है:—

६ इन्द्रियाँ	**६ विषय**
(१) चक्षुर्धातु	(७) रूपधातु
(२) श्रोत्रधातु	(८) शब्दधातु
(३) घ्राणधातु	(९) गन्धधातु
(४) जिह्वाधातु	(१०) रसधातु
(५) कायधातु	(११) स्प्रष्टव्यधातु
(६) मनोधातु	(१२) धर्मधातु

६ विज्ञान

(१३) चाक्षुष ज्ञान (चक्षुर्विज्ञान धातु)

(१४) श्रावण ज्ञान (श्रोत्र विज्ञान धातु)

(१५) घ्राणज ज्ञान (घ्राण-विज्ञान धातु)
(१६) रासन ज्ञान (जिह्वा विज्ञान धातु)
(१७) स्पर्शज ज्ञान (काय-विज्ञान धातु)
(१८) अनन्तर वस्तुओं का ज्ञान (मनोविज्ञान धातु)

इन धातुओं में १० धातु (१-५, ७-११) प्रत्येक केवल एक ही धर्म को धारण करते हैं। धर्मधातु (नं० १२) में ६४ धर्मों का अन्तर्भाव है (४६ चैत्त, १४ चित्तविप्रयुक्त, ३ असंस्कृत तथा १ अविज्ञप्ति) चित्त वस्तुतः एक ही धर्म है, परन्तु इस विभाजन में वह सात रूप धारण करता है, क्योंकि वह व्यक्तित्व के स्वरूप-साधन में इन्द्रिय रूप (मनोधातु) से एक प्रकार तथा विज्ञानरूप से ६ प्रकार का होता है। विज्ञान वस्तुतः अभिन्न एक रूप होने पर भी अपने उदयको लक्ष्य कर पार्थक्य के लिए ६ प्रकार का ऊपर निर्दिष्ट किया गया है।

त्रैधातुक जगत् का परस्पर भेद

बुद्धधर्म में इस विश्व को तीन लोकों में विभक्त करते हैं। इसके लिए भी 'धातु' शब्द प्रयुक्त होता है, परन्तु ऊपर के विभाजन में 'धातु' शब्द भिन्नार्थक है, इसे कभी न भूलना चाहिए। जगत् दो प्रकार के होते हैं—(१) भौतिक (रूप धातु) (२) अभौतिक (अरूपधातु)। भौतिकलोक दो प्रकार का होता है—वासना या कामना से युक्त लोक = काम धातु और कामनाहीन, विशुद्धभूत-निर्मित जगत् (निष्काम) रूप धातु। **'कायधातु'** में जो जीव निवास करते है उनमें ये अठारहों धातु विद्यमान रहते हैं। **'रूपधातु'** में जीव केवल चौदह धातुओं से ही युक्त रहता है। उसमें गन्ध धातु (संख्या ९) तथा रस धातु (संख्या १०), घ्राणविज्ञान धातु (संख्या १५) तथा जिह्वाविज्ञान धातु (संख्या १६) का अभाव रहता है। तात्पर्य है कि रूपधातु के जीवों में घ्राण तथा जिह्वा इन्द्रियों की सत्ता तो विद्यमान है, परन्तु वहाँ न तो गन्ध की सत्ता है, न रस की। अतएव तज्जन्य विज्ञानों का भी सुतरां अभाव है। **'अरूपधातु'** भूत-निर्मित नहीं है। वहाँ उपर्युक्त अष्टादश धातुओं में केवल मनोधातु (संख्या ६), धर्मधातु (सं० १२) तथा मनोविज्ञान धातु (सं० १८) की ही एकमात्र सत्ता है। इन विभिन्न लोकों के निवासियों की विशेषता जानने के लिए इन विज्ञानधातुओं का परिचय आवश्यक है।

(ख) विषयगत वर्गीकरण

अब धर्मों का विषयगत विभाजन आरम्भ किया जाता है। सर्वास्तिवादियों ने धर्मों की संख्या ७५ मानी है। उनके पहले स्थविरवादियों ने १७० मानी थी[१] तथा उनके अनन्तर होनेवाले योगाचार ने पूरी एक सौ मानी है। इन तीनों सम्प्रदायों के अनुसार धर्म के प्रथमतः दो बड़े विभाग हैं—**संस्कृत और असंस्कृत** धर्म। 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग यहाँ प्रचलित रूप में न होकर विशिष्ट अर्थ में किया गया है। 'संस्कृत' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है सम् = सम्भूय, अन्योन्यमपेक्ष्य कृताः जनिता इति संस्कृताः, अर्थात् आपस में मिलकर, एक दूसरे की सहायता से उत्पन्न होनेवाले, धर्म। संस्कृत धर्म हेतुप्रत्यय से उत्पन्न होते हैं। अतएव वे अस्थायी, अनित्य, गतिशील तथा आस्रव (रागादि मलों) से संयुक्त होते हैं। इनके विपरीत धर्मों को 'असंस्कृत' कहते हैं जो हेतुप्रत्यय से उत्पन्न नहीं होते, अतएव स्थायी, नित्य, गतिहीन तथा अनास्रव होते हैं[२]।

बुद्धधर्म आरम्भिक काल में धर्मों का वर्गीकरण उतनी वैज्ञानिक रीति से नहीं किया गया था। इस वर्गीकरण में शिथिलता लक्षित होती है, परन्तु पिछले दार्शनिकों ने उसे खूब युक्तियुक्त बनाकर उनकी संख्या निश्चित कर दी है। 'असंस्कृत' धर्म का अवान्तर भेद नहीं है[३], परन्तु संस्कृत धर्मों के चार अवान्तर भेद वैभाषिकों ने किये हैं—(१) रूप, (२) चित्त, (३) चैतसिक तथा (४) चित्त-विप्रयुक्त। ये चारों भेद योगाचार को भी सम्मत हैं, परन्तु स्थविरवादियों को अन्तिम प्रभेद मान्य नहीं है।

(क) स्थविरवादियों के मत में रूप अट्ठाइस प्रकार का, चित्त नवासी भेद, चैतसिक बावन भेद का है। इन तीनों के अतिरिक्त निर्वाण की कल्पना है जो असंस्कृतधर्म का प्रतीक है। 'चित्तविप्रयुक्त' नामक चतुर्थ भेद की कल्पना नहीं है।

---

१. पाली अभिधर्म के अनुसार धर्मों की संख्या ७२ ही ठहरती है। चित्त—१, चेतसिक—५२, रूप—१८ तथा असंस्कृत—१=पूरी संख्या ७२। चीनी पुस्तकों के अनुसार ऊपर की संख्या दी गई है।

२. संस्कृतं क्षणिकं यतः। (अभि० कोश ४।२)

३. द्रष्टव्य–अभि० कोश प्रथम कोषस्थान, ४।७

(ख) **सर्वास्तिवादियों** का वर्गीकरण अभिधर्मकोश के ऊपर अवलम्बित है। धर्मों की संख्या इस मत में पचहत्तर नियत कर दी गई है—असंस्कृत धर्म तीन प्रकार, रूप इग्यारह, चित्त एक, चैतसिक छियालीस, चित्तविप्रयुक्त चौदह है।

(ग) **विज्ञानवादियों** का वर्गीकरण 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' के अनुसार है। धर्मों की संख्या पूरी एक सौ है जिनमें असंस्कृत धर्म की संख्या है छः, रूप इग्यारह, चित्त आठ, चैतसिक इक्यावन, चित्तविप्रयुक्त चौबीस है।

तुलनात्मक वर्गीकरण

	धर्म	स्थविरवाद	सर्वास्तिवाद	योगाचार
	असंस्कृत	१	३	६
संस्कृत धर्म	रूप[1]	२८	११	११
	चित्त[2]	८९	१	८
	चैतसिक	५२	४६	५१
	चित्तविप्रयुक्त	×	१४	२४
	कुल योग	१७०	७५	१००

इस परिच्छेद में हम सर्वास्तिवादियों के मतानुसार ७५ धर्मों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। तुलना के लिए स्थविरवादियों तथा विज्ञानवादियों के मतों का भी उल्लेख स्थान स्थान पर विभिन्नता दिखाने के लिए किया जायगा।

(१) रूप

रूप सर्वास्तिवादी मत में ११ प्रकार का होता है :—

(१) चक्षुरिन्द्रिय, (२) श्रोत्र इन्द्रिय, (३) घ्राण इन्द्रिय, (४) जिह्वा इन्द्रिय, (५) काय इन्द्रिय, (६) रूप, (७) शब्द, (८) गन्ध, (९) रस, (१०) स्प्रष्टव्य विषय, (११) अविज्ञप्ति।

रूप का अर्थ साधारण भाषा में 'भूत' है। रूप की व्युत्पत्ति है—रूप्यते

---

१. रूप १८ ही हैं। शेष की सत्ता औपाधिक है, अतः उनकी गणना यहाँ नहीं होती।

२. उपाधिभेद से चित्त की गणना ८९ अथवा १२१ है। किन्तु यथार्थ में चित्त १ ही है। अतः अभिधर्म में केवल ७२ ही पदार्थ हैं।

इति रूपम्—वह धर्म जो रूप धारण करे। रूप का लक्षण है सप्रतिघत्व। 'प्रतिघ' का अर्थ है रोकना। बौद्धधर्म के अनुसार रूपधर्म एक समय में जिस स्थान को ग्रहण करता है, वही स्थान दूसरे के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। रूपधर्म के ऊपरिनिर्दिष्ट विभाजन पर दृष्टि डालते ही स्पष्ट है कि इसमें दो प्रकार के पदार्थ गृहीत हैं—एक बाह्य-इन्द्रिय तथा दूसरे उनके ग्राह्य-विषय। इनके अतिरिक्त **'अविज्ञप्ति'** नामक विशिष्टधर्म की भी गणना है।

सर्वास्तिवाद यथार्थवादी दर्शन है अर्थात् हमारी इन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् का जो स्वरूप प्रतीत होता है उसे वह सत्य तथा यथार्थ मानता है। वह परमाणुओं की सत्ता मानता है। विषय ही परमाणुओं के पुञ्जरूप

इन्द्रिय

नहीं हैं, प्रत्युत इन्द्रियाँ भी परमाणुजन्य हैं। जिसे हम साधारणतया 'नेत्र' के नाम से पुकारते हैं, वह वस्तुतः चक्षुरिन्द्रिय नहीं है। चक्षुः वस्तुतः अतीन्द्रिय पदार्थ है जिसकी सत्ता इस भौतिक नेत्र में विद्यमान है। नेत्र अनेक परमाणुओं का पुञ्ज है। इसमें चारों महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु) के तथा चार इन्द्रियग्राह्य विषयों के (शब्द की साधारणतया उपेक्षा की जाती है) परमाणु तो विद्यमान ही है। साथ ही साथ उसमें कायेन्द्रिय के तथा चक्षुरिन्द्रिय के भी परमाणुओं का अस्तित्व है। इस प्रकार नेत्र परमाणुओं का संघात है। वसुबन्धु ने चक्षुरिन्द्रिय की स्थिति का विशदीकरण एक सुन्दर दृष्टान्त के सहारे किया है। जिस प्रकार आटे का चूर्ण पानी की सतह से ऊपर तैरता रहता है उसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के सूक्ष्म परमाणु नेत्र की कनीनिका (पुतली) के ऊपर फैले रहते हैं। बुद्धघोष ने भी इसी प्रकार अपना मत अभिव्यक्त किया है। श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में वसुबन्धु का कथन है कि जैसे किसी वृक्ष की छाल उतार ली जाय तो वह अपने आप सिकुड़ जाता है, इसी प्रकार वह परमाणु जिससे श्रोत्र इन्द्रिय बनी है निरन्तर सिकुड़ जाती है। घ्राण इन्द्रिय के परमाणु नथुनों के भीतर रहते हैं। रस इन्द्रिय के परमाणु जिह्वा के ऊपर रहते हैं और आकार में अर्धचन्द्र के ढंग के होते हैं। काय (स्पर्श) इन्द्रिय के परमाणु समस्त शरीर पर फैले हुए रहते हैं। शरीर में जितने परमाणु होते हैं उतनी ही काय-इन्द्रिय के परमाणुओं की संख्या रहती है। शरीर के प्रत्येक परमाणु के साथ-साथ स्पर्श इन्द्रिय का कम से कम एक

परमाणु अवश्य विद्यमान रहता है। वसुबन्धु का कहना है कि इन काय-परमाणुओं का आकार स्त्रियों और पुरुषों के लिए एक ही समान नहीं रहता। इन्द्रिय के परमाणुओं की इतनी सूक्ष्म विवेचना बौद्ध आचार्यों की अपनी विशेषता है।

इन्द्रियों के दो प्रकार

बौद्ध पण्डितों ने चक्षु तथा श्रोत्र को अन्य इन्द्रियों से ग्रहण शक्ति की दृष्टि से पृथक् स्थान दिया है। ये दोनों इन्द्रियाँ अपने विषयों को दूर से ही ग्रहण कर सकती हैं[1]। इन दोनों में तेज इन्द्रिय चक्षु है जो दूर से ही वर्ण को देख लेती है और तुरन्त चक्षु विज्ञान को उत्पन्न कर देती है। चक्षु से कुछ न्यून श्रवण इन्द्रिय का स्थान है। घ्राण, जिह्वा और काय इन्द्रियाँ पास से ही विषयों को ग्रहण करती हैं। इन इन्द्रियों की एक विशेषता[2] है कि ये अपने विषयों को उसी मात्रा में ग्रहण करती है जिनके परमाणु उनके परमाणु के बराबर हों। अगर विषय के परमाणु अधिक हों, तो पहले क्षण में ये इन्द्रियाँ उस विषय के उतने ही भाग को ग्रहण करेंगी और दूसरे क्षण में शेष भाग को ग्रहण करेंगी। परन्तु इन दोनों क्षणों में इतना कम अन्तर होता है कि साधारण प्रतीति यही होती है कि एक ही क्षण में पूरे वस्तु का ग्रहण किया गया है। चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों के लिए विषय की परिमित मात्रा का होना आवश्यक नहीं है। ये एक ही क्षण में विशाल तथा लघु दोनों प्रकार के वस्तुओं को ग्रहण कर लेती हैं। आँख बड़े से बड़े पर्वत को तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म बाल के अग्रभाग को एक ही क्षण में देख सकती है तथा कान सूक्ष्म शब्द (जैसे मच्छरों की भनभनाहट) तथा स्थूल शब्द (जैसे मेघ के गर्जन) को एक ही क्षण में सुन सकता है। सर्वास्तिवादियों का यह विवेचन हमारे लिए बड़े महत्व का है[3]।

६—रूप विषय

इन्द्रियों के विषयों का विशेष विवरण अभिधर्मकोष के प्रथम परिच्छेद में किया गया है। चक्षु का विषय 'रूप' है जो प्रधानतया दो प्रकार का होता है—

---

१. अप्राप्तार्थान्यक्षिमनः श्रोत्राणि त्रयमन्यथा।

२. घ्राणादिभिस्त्रिभिस्तुल्यविषयग्रहणं मतम्। (अभि० को० १।४३)

३. यह विवेचन अभिधर्म-कोषभाष्य के आधार पर है। द्रष्टव्य (Macgovern-Manual of Buddhist Philosophy पृ० ११९-१२२)

वर्ण (रंग) तथा संस्थान (आकृति)। संस्थान आठ प्रकार का होता है—दीर्घ, ह्रस्व, वर्तुल (गोला), परिमण्डल (सूक्ष्मगोल) उन्नत, अवनत, शात (सम आकार), विशात (विषम आकार)। वर्ण बारह प्रकार का होता है जिनमें नील, पीत, लोहित, अवदात (शुभ्र) चार प्रधान वर्ण हैं तथा मेघ (मेघ का रंग), धूम, रज, महिका (पृथ्वी या जल से निकलनेवाले नीहार का रंग), छाया, आतप (सूर्य की चमक) आलोक (चन्द्रमा का शीत प्रकाश), अन्धकार—अप्रधान रंग हैं।

(७) **शब्द** आठ प्रकार का होता है[1]। (१) उपात्त महाभूतहेतुक = ज्ञान-शक्ति रखनेवाले प्राणियों के द्वारा उत्पन्न। (२) अनुपात्तमहाभूतहेतुक = ज्ञान-शक्ति से हीन अचेतन पदार्थों के द्वारा उत्पन्न। (३) सत्त्वाख्य = प्राणिजन्य वर्णात्मक शब्द, (४) असत्त्वाख्य = वायुवनस्पति के सन्तानजन्य ध्वन्यात्मक शब्द। प्रत्येक मनोज्ञ और अमनोज्ञ भेद से आठ प्रकार का है।

(८) **गन्ध** के चार प्रकार हैं—(१) सुगंध, (२) दुर्गन्ध, (३) उत्कट, (४) अनुत्कट। समगन्ध और विषमगन्ध-ये दो प्रकार अन्यत्र उपलब्ध होते हैं जिनमें समगन्ध शरीर का पोषक होता है और विषमगन्ध शरीर का पोषक नहीं होता।

(९) **रस** के ६ प्रकार हैं—(१) मधुर, (२) अम्ल, (३) लवण, (४) कटु, (५) कषाय, (६) तिक्त।

(१०) **स्प्रष्टव्य** = स्पर्श। काय इन्द्रिय से स्पर्श की प्रतीति होती है। यह ११ प्रकार का है—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु-इन चार महाभूतों के स्पर्श तथा ७ भौतिक स्पर्श—श्लक्ष्ण (चिकना), कर्कश (खुरखुरा), लघु (हलका), गुरु (भारी), शीत, बुभुक्षा (भूख) तथा पिपासा (प्यास)। यह आश्चर्य की बात है कि शीत, भूख, प्यास की गणना स्पर्श के अन्तर्गत है। परन्तु यह समझना चाहिए कि ये नाम प्राणियों के उन भावों के हैं जो तीन प्रकार के स्पर्श के परिणामों से उत्पन्न होते हैं।

(११) **अविज्ञप्ति**—कर्म का यह एक विशिष्ट प्रकार है। कर्म दो प्रकार का होता है—(१) चेतना तथा (२) चेतनाजन्य। चेतना[2] का अर्थ मानस कर्म है

१. अभिधर्मकोष १।९,१०।

२. चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी। (अभि० को० ४।१)

तथा 'चेतना जन्य' से अभिप्राय कायिक तथा वाचिक कर्म से है। चेतनाजन्य कर्म के दो प्रकार और हैं—विज्ञप्ति तथा अविज्ञप्ति[1]।

'विज्ञप्ति' का अर्थ है—प्रकट कर्म तथा अविज्ञप्ति का अर्थ अप्रकट, अनभिव्यक्त कर्म। कर्म का फल अवश्य होता है, कुछ कर्मों का फल अभिव्यक्त, प्रकट रहता है, परन्तु कुछ कर्मों का फल सद्यः अभिव्यक्त नहीं होता प्रत्युत वह कालान्तर में फल देता है। इन्हीं दूसरे प्रकार के कर्मों की संज्ञा 'अविज्ञप्ति' है। यह वस्तुतः कर्म न होकर कर्म का फल है, भौतिक न होकर नैतिक है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति किसी व्रत का अनुष्ठान करता है तो यह 'विज्ञप्ति कर्म' हुआ परन्तु इसके अनुष्ठान से उसका विज्ञान गूढ़रूप से शोभन वन जाता है। यह हुआ अविज्ञप्ति कर्म। इस प्रकार 'अविज्ञप्ति' वैशेषिकों के 'अदृष्ट' तथा मीमांसकों के 'अपूर्व' का बौद्ध प्रतिनिधि है। वैशेषिकों के मत में कुछ घटनायें ऐसी होती हैं जिनके कारण को हम भली भाँति नहीं जानते। इसके लिए 'अदृष्ट' कारण रहता है।

मीमांसक लोग 'अपूर्व' नामक नवीन पदार्थ की उत्पत्ति मानते हैं। सद्यः सम्पादित अनेक यज्ञ याग आज ही फल उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत वह 'अपूर्व' उत्पन्न करता है जो कालान्तर में उस कर्म के फल के प्रति कारण वनता है। 'अविज्ञप्ति' की कल्पना 'अपूर्व' से सर्वथा साम्य रखती है। अविज्ञप्ति को रूप का प्रकार मानना सयुक्तिक है। जिस प्रकार छाया पदार्थ के पीछे पीछे सदा चलती है, उसी प्रकार अविज्ञप्ति भी भौतिक कर्म का अनुसरण सर्वदा करती है। अतः वह रूप ही (भूत) है इस तथ्य की सूचना वसुवन्धु ने 'अविज्ञप्ति' के स्वरूप बतलाते समय स्पष्ट रूप से दी है—

विक्षिप्तचित्तकस्यापि, योऽनुबन्धः शुभाशुभः।
महाभूतान्युपादाय सा ह्यविज्ञप्तिरुच्यते[2] ॥

तुलना—योगाचार के मत में रूपधर्म ११ ही माने जाते हैं, परन्तु स्थविरवादियों की कल्पना से उनकी संख्या २८ है; जिनमें ४ महाभूतों, ५ इन्द्रियों तथा ५ विषयों के अतिरिक्त भोजन, आकाश, चेष्टा, कथन, जन्म, स्थिति, ह्रास मृत्यु

---

१. द्रष्टव्य (अभिधर्मकोष का चतुर्थ कोशस्थान)।

२. अभिधर्मकोष १।११। अविज्ञप्ति के भेद के लिए द्रष्टव्य—
(अभि० कोष ४।१३-२५)

आदि की गणना है। इस वर्गीकरण में नियमबद्धता नहीं है। इसीलिए सर्वास्तिवादियों ने कुछ धर्मों को चित्तविप्रयुक्त धर्मों के अन्तर्गत रखकर अन्य धर्मों की गणना में उपेक्षा की है।

२—चित्त

पिछले किसी प्रकरण में बौद्धों के अनात्मवाद की पर्याप्त समीक्षा की गई है। बौद्ध ग्रन्थ इस तत्त्व के वर्णन करने में कभी नहीं श्रान्त होते कि इस जगत् में आत्मा नामक स्थायी नित्य पदार्थ नहीं है, वस्तुओं का ग्राहक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, वह केवल हेतु और प्रत्यय के परस्पर मिश्रण से उत्पन्न होता है। साधारण रूप से जिसे हम 'जीव' कहते हैं, बौद्ध लोग उसी के लिए 'चित्त' शब्द का प्रयोग करते हैं। चित्त की सत्ता तभी तक है जब तक इन्द्रिय तथा ग्राह्य विषयों के परस्पर घातप्रतिघात का अस्तित्व है। ज्योंही इन्द्रियों तथा विषयों के परस्पर घातप्रतिघात का अन्त हो जाता है, त्योंही 'चित्त' की भी समाप्ति हो जाती है। यह कल्पना केवल स्थविरवादियों तथा सर्वास्तिवादियों को ही मान्य नहीं है, अपितु योगाचार मत में भी चित्त नित्य, स्थायी, स्वतन्त्र पदार्थ विशेष नहीं है। इस मत में चित्त ही निःसन्दिग्ध एकमात्र परम तत्त्व है, परन्तु इतने पर भी उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। प्रत्येक चित्त प्रतिक्षण सर्वदा परिवर्तित होता रहता है और कार्य-कारण के नियमानुसार नवीन रूप धारण करता रहता है।

बौद्ध दर्शन में चित्त, मन तथा विज्ञान समानार्थक माने जाते हैं। इस त्रिविध नामकरण के लिए कारण भी हैं। 'मनस्' की व्युत्पत्ति बौद्ध ग्रन्थों में 'मा' धातु से बतलाई जाती है। 'मा' का अर्थ है मापना, जोखना, किसी वस्तु के विषय में निश्चय करना। अतः जब हमें चित्त के निर्णयात्मक प्रवृत्ति रखने वाले अंश पर प्रधानता देनी रहती है, तब हम 'मन' का प्रयोग करते हैं। 'विज्ञान' इन दोनों की अपेक्षा पुराना शब्द है, क्योंकि प्राचीन पाली 'सुत्तों' में दोनों शब्दों की अपेक्षा 'विज्ञान' का बहुलतर प्रयोग मिलता है। चित्त वस्तुओं के ग्रहण में जब प्रवृत्त होता है, तब उसकी संज्ञा 'विज्ञान' है (विशेषेण ज्ञायते अनेनेति विज्ञानम्)। चित्त का अर्थ है—किसी वस्तु का **सामान्य ज्ञान, आलोचनमात्र,** या निर्विकल्पक ज्ञान। चित्त वस्तुतः एक ही धर्म है, परन्तु आलम्बनों की भिन्नता के कारण वह निम्नलिखित ७ प्रकार का होता है—

(१) मनस्—षष्ठ इन्द्रिय के रूप में विज्ञान का अस्तित्व। मन के द्वारा हम बाह्य इन्द्रियों से अगोचर पदार्थों को या अमूर्त पदार्थों को ग्रहण करते हैं। मनोविज्ञान के उदय होने से पूर्व क्षण का यह प्रतीक है।

(२) चक्षुर्विज्ञान—वही आलोचन ज्ञान जब वह चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा सम्बद्ध होता है।

(३) श्रोत्रविज्ञान (४) घ्राण विज्ञान (५) जिह्वा-विज्ञान (६) काय विज्ञान	वही आलोचन ज्ञान जब श्रोत्रादि इन्द्रियों से सम्बद्ध होता है, तब उसकी ये विभिन्न संज्ञायें होती हैं।

(७) मनोविज्ञान—बिना इन्द्रियों की सहायता से ही जब अमूर्त, पदार्थों का आलोचन ज्ञान होता है, तब उसकी संज्ञा 'मनोविज्ञान' होती है।

(३) चैत्तधर्म

चित्त से घनिष्टरूप से सम्बन्ध रखने के कारण इन्हें 'चित्तसंप्रयुक्त धर्म' भी कहते हैं। इनकी संख्या ४६ है जो नीचे के ६ प्रकारों में विभक्त किये जाते हैं—

क—१० चित्तमहाभूमिक धर्म।

ख—१० कुशलमहाभूमिक धर्म।

ग— ६ क्लेशमहाभूमिक धर्म।

घ— २ अकुशलमहाभूमिकधर्म।

ङ—१० उपक्लेशभूमिक धर्म।

च—८ अनियमितभूमिक धर्म।

४६

इन धर्मों पर विचार करने से प्रतीत होगा कि कुछ मानसिक व्यापार शोभन कर्मों के अनुष्ठान से सम्बन्ध रखते हैं, कतिपय अशोभन कर्मों के और कतिपय अनुभयविध कर्मों के अनुष्ठान से।

क—चित्तमहाभूमिकधर्म—साधारण मानसिक धर्म हैं जो विज्ञान के प्रतिक्षण में विद्यमान रहते हैं। ये धर्म संख्या में दश हैं:—

१ वेदना—अनुभूति (सुख, दुःख, न सुख न दुःख)

२ संज्ञा—नाम।

३ चेतना[1]—प्रयत्न (चित्तप्रस्यन्दः)।

४ छन्द—अभीष्ट वस्तु की अभिलाषा (अभिप्रेते वस्तुनि अभिलाषः)

५ स्पर्श—विषय तथा इन्द्रियों का प्रथम सम्बन्ध।

६ प्रज्ञा—मति, विवेक जिसके द्वारा संकीर्ण धर्मों का पूरा पूरा पृथक्करण होता है (येन संकीर्णा इव धर्माः पुष्पाणीव प्रविच्यन्ते)

७ स्मृति—स्मरण (चेतसोऽप्रमोषः)

८ मनसिकार—अवधान।

९ अधिमोक्ष—वस्तु की धारणा (आलम्बनस्य गुणतोऽवधारणम्)।

१० समाधि—चित्त की एकाग्रता (येन चित्तं प्रबन्धेन एकत्रालम्बने वर्तते)।

तुलना—स्थविरवादियों तथा विज्ञानवादियों ने प्रथमतः इन धर्मों में दो प्रधान विभाग किया है—सामान्य और विशेष। स्थविरवादियों का वर्गीकरण विशेष युक्तियुक्त तथा क्रमबद्ध नहीं है, परन्तु विज्ञानवादियों का विवेचन दोनों की अपेक्षा सयुक्तिक तथा क्रमिक है।

स्थविरवादमत सम्मत—सूची—१२ धर्म।

७ सामान्य धर्म— { स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, एकाग्रता, मनस्कार तथा जीवितेन्द्रिय (जीवनी शक्ति)।

६ विशेष धर्म— { वितर्क, विचार, अधिमोक्ष, वीर्य, प्रीति, छन्द।

विज्ञानवादियों का वर्गीकरण—१० धर्म

५ सामान्य धर्म—मनस्कार, स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना।

५ विशेष धर्म—छन्द, अधिमोक्ष, स्मृति, समाधि और मति।

ख—कुशलमहाभूमिक धर्म—दस शोभन नैतिक संस्कार जो भले कार्यों के अनुष्ठान के प्रतिक्षण में विद्यमान रहते हैं—

(१) श्रद्धा—चित्तकी विशुद्धि (२) अप्रमाद—शोभन कार्यों में जागरूकता (कुशलानां धर्माणां प्रतिलम्भनिषेवणम्) (३) प्रश्रब्धिः—चित्त की लघुता (४) अपेक्षा—चित्त की समता, प्रतिकूल वस्तु से प्रभावित न होना (चित्तस्य समता

१. आधुनिक मनोविज्ञान में प्रथम तीनों बातें Affection, Cognition तथा Volition के नाम से प्रसिद्ध हैं।

यद्योगात् चित्तं अनायोगं वर्तते) (५) ह्री—अपने कार्यों के हेतु लज्जा (६) अपत्रपा—दूसरों के कार्यों की ओर लज्जा (७) अलोभ—त्यागभाव (८) अद्वेष—मैत्री (९) अहिंसा—हिंसा न पहुँचाना (१०) वीर्य—शुभकार्य में उत्साह।

तुलना—विज्ञानवादियों ने इन दस धर्मों को माना है, परन्तु 'अमोह' नामक नया धर्म इसमें जोड़ दिया है। 'अभिधर्मकोष' के अनुसार यह 'अमोह' मति के ही सदृश है। अतः इसकी नयी गणना नहीं की गई है। स्थविरवादियों ने इस वर्ग में २५ धर्मों को स्वीकार किया है।

ग—क्लेशमहाभूमिक धर्म–बुरे कार्यों के विज्ञान से सम्बद्ध ६ धर्म—

१ मोह (= अविद्या)—अज्ञान, प्रज्ञा (क. ६) से विपरीत धर्म, इस संसार का मूल कारण। २ प्रमाद = असावधानता, अप्रमाद (ख. २) का विपरीत धर्म। ३ कौसीद्य = कुशल कार्य में अनुत्साह, आलस्य ४ अश्राद्ध्य = श्रद्धा का अभाव ५ स्त्यान = अकर्मण्यता ६ औद्धत्य = सुख तथा क्रीडा में सदा लगा रहना (चेतसोऽनुपशमः)

ये छहो धर्म नितान्त अशोभन परिणाम पैदा करते हैं, परन्तु कभी कभी अन्तिम निर्वाण उत्पन्न करने के लिए ये अव्याकृत (फल में उदासीन) भी रहते हैं। सत्कायदृष्टि उत्पन्न करते हैं अर्थात् आत्मा की सत्ता में विश्वास उत्पन्न करते हैं। अतः क्लिष्ट हैं।

घ—अकुशलमहाभूमिकधर्म—२

ये दोनों धर्म सदैव बुरा फल उत्पन्न करते हैं। अतः ये अकुशल हैं—

१ आह्रीक्य—अपने ही कुकर्मों पर लज्जा का अभाव (ह्रियोऽभावः),

२ अनपत्रता—निन्दनीय कर्मों से भय न करना (अवद्ये सद्भिर्गर्हिते भयादर्शित्वम्)।

ङ—उपक्लेशभूमिकधर्म—दस परिमित रहनेवाले क्लेश—उत्पादक धर्म ये हैं—

१ क्रोध—गुस्सा करना। २ म्रक्ष—छल या दम्भ। ३ मात्सर्य—डाह। ४ ईर्ष्या—घृणा। ५ प्रदास—बुरे वस्तुओं को ग्राह्य मानना (सावद्यवस्तुपरामर्शः)। ६ विहिंसा—कष्ट पहुंचाना। ७ उपनाह—मैत्री को तोड़ना, शत्रुता, बद्धवैरभाव। ८ माया—छल। ९ शाठ्य—शठता। १० मद—आत्मसम्मान से प्रसन्नता।

ये दसों धर्म विल्कुल मानस हैं ; ये मोह या अविद्या के साथ सदा सम्बन्ध रखते हैं। अतः ये ज्ञान के द्वारा दबाये जा सकते (दृष्टिहेय) हैं, समाधि के द्वारा नहीं (भावनाहेय नहीं हैं)। अतः इनका प्रभाव व्यापक नहीं माना जाता–परीत्तभूमिक अर्थात् क्षुद्र भूमि वाले माने जाते हैं।

च—अनियतभूमिकधर्म—ये धर्म पूर्व धर्मों से भिन्न हैं। इनकी घटना की भूमि निश्चित नहीं हैं—

१ कौकृत्य—खेद, पश्चात्ताप। २ मिद्ध (निद्रा) = विस्मृति—परक चित्त। ३ वितर्क—कल्पना—परक चित्त की दशा। ४ विचार—निश्चय। ५ राग—प्रेम। ६ द्वेष—घृणा। ७ मान—अपने गुणों के विषय में शोभन होने की भावना, अभिमान, घमण्ड। ८ विचिकित्सा—संशय, सन्देह।

इन धर्मों में अन्तिम चार धर्म—राग, द्वेष, मान और विचिकित्सा—चार क्लेश माने गये हैं। पाँचवा क्लेश 'मोह' है जिसकी गणना क्लेशमहाभूमिक धर्मों में प्रथम की गई है।

४—चित्तविप्रयुक्त धर्म—(१४)

इन धर्मों का न तो भौतिक धर्मों में समावेश होता है न चैत्तधर्मों में। अतः इन्हें 'रूप-चित्त-विप्रयुक्त' कहते हैं। इसीलिए इन धर्मों का पृथक् वर्ग माना जाता है।

१ प्राप्ति—धर्मों को सन्तान रूप में नियमित रखने वाली शक्ति।

२ अप्राप्ति—प्राप्ति का विरोधी धर्म।

३ निकाय-सभागता = प्राणियों में समानता उत्पन्न करनेवाला धर्म। यह वैशेषिकों के 'सामान्य' का प्रतीक है।

४ आसंज्ञिक—वह शक्ति जो प्राचीन कर्मों के फलानुसार मनुष्य को चेतना-हीन समाधि में परिवर्तित कर देती है।

५ असंज्ञी-समापत्ति—मानस प्रयत्न जिसके द्वारा समाधि की दशा उत्पन्न की जाय।

६ निरोध-समापत्ति—वह शक्ति जो चेतना को बन्द कर निरोध उत्पन्न करती है।

७ जीवित—जिस प्रकार बाण फेंकने के समय जिस शक्ति का प्रयोग करते हैं वह उसके गिर जाने के समय को सूचित करती है, उसी प्रकार जन्म के समय

की शक्ति जो मृत्यु की सूचना देती है—जीवित रहने की शक्ति।

८ जाति—जन्म। ९ स्थिति—जीवित रहना। १० जरा—बुढ़ापा, ह्रास। ११ अनित्यता—नाश। १२ नाम-काय = पद। १३ पद-काय = वाक्य। १४ व्यञ्जन-काय = वर्ण।

विप्रयुक्त धर्म के विषय में बौद्ध दार्शनिकों को महती विप्रतिपत्ति है। स्थविरवादियों ने इसकी उपेक्षा की है। इस वर्ग को वे अंगीकर नहीं करते। सर्वास्तिवादियों ने ही इन्हें महत्त्व प्रदान किया है तथा इनकी स्वतन्त्र स्थिति मानने में वे ही अग्रगण्य हैं। सौत्रान्तिकों ने इस वर्ग का खण्डन बड़े ऊहापोह के साथ किया है। सर्वास्तिवादियों ने अपने पक्ष की पुष्टि विशेष सतर्कता से की है। योगाचारमत इस विषय में सौत्रान्तिकों के ही अनुरूप है। वे इन्हें नवीन स्वतन्त्र धर्म मानने के लिए उद्यत नहीं हैं. प्रत्युत इन्हें मानस व्यापार के ही अन्तर्गत मानते हैं। तौ भी इन लोगों ने इनकी अलग गणना की है। उपर के १४ धर्म उन्हें सम्मत हैं ही, साथ ही साथ १० धर्मों की नवीन कल्पना कर वे विप्रयुक्तधर्म की संख्या २४ मानते हैं।

योगाचारमत-सम्मत गणना

योगाचारमत में पूर्वोक्त १४ धर्म मान्य हैं। नवीन १० धर्म निम्नलिखित हैं—

१ प्रवृत्ति—संसार। २ एवंभागीय—व्यक्तित्व। ३ प्रत्यनुबन्ध—परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध। ४ जवन्य—परिवर्तन। ५ अनुक्रम—क्रमशः स्थिति। ६ देश—स्थान। ७ काल—समय। ८ संख्या—गणना। ९ सामग्री—परस्पर समवाय। १० भेद—पृथक् स्थिति।

४—असंस्कृत धर्म

इस शब्द की व्याख्या करते समय हमने दिखलाया है कि ये धर्म हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न न होने के कारण स्थायी तथा नित्य होते हैं। मलों (आस्रव) के सम्पर्क से नितान्त विरहित होने के कारण ये अनास्रव (विशुद्ध) तथा सत्य मार्ग के द्योतक माने जाते हैं।

स्थविरवादियों की कल्पना में असंस्कृत धर्म एक ही है और वह है निर्वाण[1]।

---

१. अभिधम्मत्थसंगह—छठा परिच्छेद, अन्तिम भाग (प्रो० कौशाम्बी का सटीक संस्करण पृ० १२४-१२५)

निर्वाण का अर्थ है बुझना, आग या दीपक का जलते जलते बुझ जाना। तृष्णा के कारण नामरूप (विज्ञान तथा भौतिक तत्त्व) जीवन-प्रवाह का रूप धारण कर सर्वदा प्रवाहित होते रहते हैं। इस प्रवाह का अत्यन्त विच्छेद ही निर्वाण है। जिन अविद्या, रागद्वेष आदि के कारण इस जीवन-सन्तान की सत्ता बनी हुई है, उन क्लेशों के निरोध या समुच्छेद होने पर निर्वाण का उदय होता है। वह इसी जीवन में उपलब्ध हो सकता हैं या शरीरपात होने पर उत्पन्न होता है। इसीलिए वह दो प्रकार का होता है—'सोपधिशेष' और 'निरुपधिशेष'। कुछ लोग 'सोपधिशेष' को सास्रव, संस्कृत, कुशल बतलाते हैं, और 'निरुपधिशेष' को अनास्रव, असंस्कृत तथा व्याकृत बतलाते हैं; परन्तु वस्तुतः दोनों ही अनास्रव (विशुद्ध) असंस्कृत तथा अव्याकृत हैं[१]। आस्रवों (मलों) के क्षीण होने पर भी जो अर्हत् जीवित रहते हैं, उन्हें पञ्चस्कन्ध प्रयुक्त अनेक विज्ञान शेष रहते हैं। अतः उनके निर्वाण का नाम है—'सोपधिशेष'। परन्तु शरीर-पात होने पर संयोजन (बन्धन) के क्षय के साथ-साथ समस्त उपाधियाँ दूर हो जाती हैं। इसे 'निरुपधिशेष' निर्वाण कहते हैं। इन दोनों निर्वाणों में वही अन्तर है जो जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में है। निर्वाण सबसे उच्च धर्म है। इसीलिए इसे अच्युत (च्युति, पतन से रहित), अनन्त (अन्त रहित,), अनुत्तर (लोकोत्तर) पद बतलाया गया है[२]।

निर्वाण को धर्म मानने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह जीवन का निषेध नहीं माना जाता था, प्रत्युत यह भावात्मक कल्पना थी।

सर्वास्तिवादियों ने असंस्कृत धर्म को तीन प्रकार का माना है—(१) आकाश (२) प्रतिसंख्यानिरोध, (३) अप्रतिसंख्यानिरोध।

(१) **आकाश**—आकाश का वर्णन वसुबन्धु ने 'अनावृति' शब्द के द्वारा किया है--'तत्राकाशं अनावृतिः' (कोष १।५) अनावृति का तात्पर्य है कि आकाश न तो दूसरों को आवरण करता है न अन्य धर्मों के द्वारा आवृत होता है। किसी

---

१. विभाषा के मत के लिए द्रष्टव्य—(इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली भाग ६ (१९३७) पृ० ३९-४५)

२. पदमच्चुतमच्चन्तं, असंखत्तमनुत्तरं।
निव्वानमिति भासन्ति, वानमुत्ता महेसयो॥ (अभिधम्मत्थसंगह ६।३१)

भी रूप को अपने में प्रवेश करने के समय यह रोकता नहीं। आकाश धर्म है तथा नित्य अपरिवर्त्तनशील असंस्कृत धर्म है। इससे इसे भावात्मक पदार्थ मानना उचित है। यह शून्य स्थान नहीं है; न भूत या भौतिक पदार्थों का निषेध रूप है। स्थविरवादियों ने आकाश को महाभूतों से उत्पन्न धर्मों में माना है, परन्तु सर्वास्तिवादियों ने इसे बहुत ही ऊँचा स्थान दिया है। वे आकाश को दो प्रकार का मानते हैं—एक तो दिक् का तात्पर्यवाची है और दूसरा ईथर-सर्वव्यापी सूक्ष्म वायु-का पर्यायवाची। दोनों में महान् अन्तर है। एक दृश्य, सास्रव तथा संस्कृत है, तो दूसरा इससे विपरीत। शंकराचार्य के खण्डन से[1] प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में वैभाषिक लोग आकाश को अवस्तु अथवा आवरणभाव मात्र मानते थे। इसीलिए वे आकाश का भावत्व प्रतिपादन करने के लिए प्रवृत्त हुए थे। परन्तु अभिधर्मकोष से अवलोकन के वह भाव पदार्थ ही प्रतीत होता है। यशोमित्र के कथन[2] से सिद्ध होता है कि आवरणाभाव वैभाषिक मत में आकाश का लिंग है, स्वरूप नहीं। वैभाषिक लोग भावरूप मानते हैं। इसीलिए कमलशील ने 'तत्त्व-संग्रहपंजिका' में उन्हें बौद्ध मानने में संकोच दिखलाया है।

(२) **प्रतिसंख्यानिरोध**—'प्रतिसंख्या' का अर्थ है प्रज्ञा या ज्ञान। प्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न सास्रव धर्मों का पृथक्-पृथक् वियोग[3]। यदि प्रज्ञा के उदय होने पर किसी सास्रवधर्म के विषय में राग या ममता का सर्वथा परित्याग किया जाय, तो उस धर्म के लिए 'प्रतिसंख्यानिरोध' का उदय होता है। जैसे सत्कायदृष्टि समस्त क्लेशों की जननी है, अतएव ज्ञान के द्वारा इस भावना का सर्वथा निरोध कर देना इस असंस्कृत धर्म का स्वरूप है। वसुबन्धु ने इस विषय पर विचार किया है कि एक संयोजन के निरोध करने से समग्र बन्धनों का निरोध हो जाता है या नहीं? उत्तर है—नहीं। संयोजनों का निरोध एक एक करके करना ही

---

१. शांकरभाष्य २।२।

२. तदनावरणस्वभावमाकाशम्। तद् अप्रत्यक्विषयत्वादस्य धर्मानावृत्त्या अनुमीयते, न तु आवरणाभावमात्रम्। अतएव च व्याख्यायते यत्र रूपस्य गतिरिति। (अभिधर्मकोष व्याख्या १।५५।५)

(प्रो० वोजिहारा का संस्करण, टोकियो, १९३२)

३. प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक्-पृथक्। (अभि० को० १।६)

पड़ेगा। अन्ततः समग्र बन्धनों का नाश अवश्यंभावी है। इसी निरोध के अन्तर्गत 'निर्वाण' का समावेश किया जाता है।

(३) **अप्रतिसंख्यानिरोध**--बिना प्रज्ञा का ही निरोध। वही पूर्वनिर्दिष्ट निरोध बिना प्रज्ञा के ही स्वाभाविक रीति से जब उत्पन्न होता है, तब उसे 'अप्रतिसंख्यानिरोध' की संज्ञा प्राप्त होती है। जिन हेतुप्रत्ययों के कारण वह धर्म उत्पन्न होता है उन्हें ही दूर कर देने से वह धर्म स्वभावतः निरुद्ध हो जाता है; जैसे इन्धन के अभाव में आग का बुझना। इस निरोध की विशेषता यह है कि वह निरुद्ध धर्म भविष्य में पुनः उत्पन्न नहीं होता। 'प्रतिसंख्यानिरोध' में 'आस्रवक्षयज्ञान' उत्पन्न होता है, अर्थात् समस्त मलों के क्षीण होने का ही ज्ञान उत्पन्न होता है, भविष्य में उसकी उत्पत्ति की संभावना बनी ही रहती है। परन्तु इस 'अप्रतिसंख्यानिरोध' का फल 'अनुत्पाद ज्ञान' है। भविष्य में रागादि क्लेशों की कथमपि उत्पत्ति नहीं होती जिससे प्राणी भवचक्र से सदा के लिए मुक्तिलाभ कर लेता है।

ये तीनों धर्म स्वतन्त्र हैं तथा नित्य हैं। अतः एक से अधिक हेतुप्रत्यय विरहित नित्य पदार्थों की सत्ता मानने से वैभाषिकों को हम **नानार्थवादी** कह सकते हैं।

योगाचारमत में असंस्कृतधर्मों की संख्या ठीक इस से दुगुनी है। तीन धर्म तो ये ही पूर्वनिर्दिष्ट हैं। नवीन धर्मों में ये हैं—(४) अचल, (५) संज्ञा-वेदना-निरोध तथा (६) तथता। इस विषय का साक्षात् सम्बन्ध विज्ञानवादियों की परमार्थ की कल्पना से है। अतः प्रसंगानुसार इसका विशेष विवरण आगे प्रस्तुत किया जायगा।

काल

काल बौद्ध दार्शनिकों के लिए नितान्त विवाद का विषय रहा है। भिन्न २ बौद्ध सम्प्रदायों की इस विषय में विभिन्न मान्यता रही है। **सौत्रान्तिकों** की दृष्टि में वर्तमान की ही वास्तविक सत्यता है। भूतकाल की और भविष्यकाल की सत्ता निराधार तथा काल्पनिक है। **विभज्यवादियों** का कथन है कि वर्तमान धर्म तथा अतीत विषयों में जिन कर्मो के फल अभी तक उत्पन्न नहीं हुए हैं वे ही दोनों पदार्थ वस्तुतः सत् हैं। वे भविष्यकाल का अस्तित्व नहीं मानते तथा उन अतीत विषयों का भी अस्तित्व नहीं मानते जिन्होंने अपना फल

उत्पन्न कर दिया है। काल के विषय में इस प्रकार 'विभाग' मानने के कारण सम्भवतः यह सम्प्रदाय 'विभज्यवादी' नाम से अभिहित किया जाता है। **सर्वास्तिवादियों** का काल-विषयक सिद्धान्त अपने नाम के अनुरूप ही है। उनके मत में समग्र धर्म त्रिकाल स्थायी होते हैं। वर्तमान (प्रत्युत्पन्न), भूत (अतीत) तथा भविष्य (अनागत)—इन तीनों कालों की वास्तव सत्ता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के निमित्त वसुबन्धु ने चार युक्तियाँ प्रदर्शित की है[1]।

(क) तदुक्तेः—भगवान् बुद्ध ने संयुक्तागम (३।१४) में तीनों कालों की सत्ता का उपदेश दिया है। 'रूपमनित्यं अतीतम् अनागतं कः पुनर्वादः प्रत्युत्पन्नस्य'। रूप अनित्य होता है, अतीत और अनागत होता है, वर्तमान के लिए कहना ही क्या है?

(ख) द्वयात्—विज्ञान दो हेतुओं से उत्पन्न होता है—इन्द्रिय तथा विषय से। चतुर्विज्ञान चक्षुरिन्द्रिय तथा रूप से उत्पन्न होता है, श्रोत्रविज्ञान श्रोत्र तथा शब्द से, मनोविज्ञान मन तथा धर्म से। यदि अतीत और अनागत धर्म न हों तो मनोविज्ञान दो वस्तुओं से कैसे उत्पन्न हो सकता है?

(ग) सद्विषयात्—विज्ञान के लिए विषय की सत्ता होने से। विज्ञान किसी आलम्बन—विषय—को लेकर ही प्रवृत्त होता है यदि अतीत तथा भविष्य वस्तुओं का अभाव हो, तो विज्ञान निरालम्बन (निर्विषय) हो जायेगा।

(घ) फलात्—फल उत्पन्न होने से। फलकी उत्पत्ति के समय विपाक का कारण अतीत हो जाता है, अतीतकर्मों का फल वर्तमान में उपलब्ध होता है। यदि अतीत का अस्तित्व नहीं है, तो फल का उत्पाद ही सिद्ध नहीं हो सकता। अतः सर्वास्तिवादियों की दृष्टि में अतीत अनागत की सत्ता उतनी ही वास्तविक है, जितनी वर्तमान की।

इस युक्ति को सौत्रान्तिक मानने के लिए तैयार रहीं हैं। सौत्रान्तिकों की दृष्टि में वैभाषिकों का पूर्वोक्त सिद्धान्त ब्राह्मणों की नित्यस्थिति के सिद्धान्त के

---

१. त्र्यध्वंकास्ते तदुक्ते द्वयात् सद्विषयात् फलात् तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मतः।

(अभि० कोष ५।२५)

सौत्रान्तिकों का विरोध

अनुरूप ही सिद्ध होता है। वस्तु तो वही बनी रहती है, केवल समय के द्वारा उसमें अन्तर उत्पन्न हो जाता है। यह तो तार्किकों का शाश्वतवाद है। सौत्रान्तिक मत में अर्थ, क्रियाकारिता तथा उसके आविर्भाव का काल—इन तीनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं हैं। वे लोग वैभाषिकों की इस युक्ति का विरोध करते हैं कि अतीत कर्म वर्तमानकालिक फल के उत्पादन में समर्थ होते हैं। दोनों कर्म समभावेन अपना फल उत्पन्न करते हैं। ऐसी दशा में अतीत और वर्तमान का भेद ही किंमूलक होगा? वस्तु तथा क्रियाकारिता में यदि अन्तर माना जायगा, तो, क्या कारण है कि वह क्रियाकारिता जो किसी काल में उत्पन्न की जाती है, दूसरे काल में बन्द हो जाती है। अतीत के क्लेशों से वर्तमानकालिक क्लेश उत्पन्न नहीं होते, प्रत्युत उन क्लेशों के जो संस्कार अवशिष्ट रहते हैं उन्हीं से नवीन क्लेशों का उदय होता है। अतः यह काल-सिद्धान्त सौत्रान्तिकों को मान्य नहीं है[1]।

वैभाषिकों के चार मत

वैभाषिक मत के चार प्रधान आचार्यों के कालविषयक विभिन्न मतों का उल्लेख वसुबन्धु ने अभिधर्मकोष में किया है (५।२६):—

(१) भदन्त धर्मत्रात—भावान्यथात्ववाद।

धर्मत्रात के मत में अतीत, प्रत्युत्पन्न तथा अनागत में भाव (सत्ता) की विषमता रहती है। जब अनागत वस्तु अपने अनागत भाव को छोड़कर वर्तमान में आती है, तो वह वर्तमान भाव को स्वीकृत कर लेती है। उस द्रव्य में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, वह तो ज्यों का त्यों बना रहता है। दृष्टान्त, जब दूध दही बन जाता है, तब उसके भाव में परिवर्तन हो जाता है। रसादि भाव भिन्न हो जाते हैं, परन्तु दुग्धपदार्थ में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

(२) भदन्त घोष—लक्षणान्यथात्ववाद।

भदन्त घोष का कथन है कि अतीत वस्तु अतीत लक्षण से युक्त होती है, परन्तु वह वर्तमान तथा भविष्य लक्षण का परित्याग कभी नहीं करता। उसी प्रकार वर्तमान पदार्थ वर्तमान लक्षण से युक्त होने पर भी अतीत तथा अनागत लक्षण से विरहित नहीं होता। जिस प्रकार एक सुन्दरी में अनुरक्त कामी दूसरी

१. दासगुप्त–History of Indian Philosophy. Vol. I. पृ. ११६–११७।

सुन्दरियों के अनुराग से रहित नहीं होता। यद्यपि वह एक ही कामिनी से प्रेम रखता है, तथापि अन्य स्त्रियों से प्रेम करने की योग्यता को वह छोड़ नहीं बैठता।

(३) **भदन्त वसुमित्र**—अवस्थाऽन्यथात्ववाद।

तीनों कालों में भेद अवस्था के परिवर्तन से ही होता है। यहाँ 'अवस्था' से अभिप्राय कर्म से है। यदि कोई वस्तु कर्म उत्पन्न कर चुकी, तो वह अतीत हो गई। यदि कर्म कर रही है तो वर्तमान है और यदि कर्म का आरम्भ अभी नहीं है तो वह भविष्य है। अतः धर्मों में अवस्थाकृत ही भेद होता है, द्रव्य से नहीं।

(४) **भदन्त बुद्धदेव**—अन्यथान्यथात्व।

भिन्न भिन्न क्षणों के अनुरोध से धर्मों में कालकी कल्पना होती है। वर्तमान तथा भविष्य की अपेक्षा से ही किसी वस्तु की संज्ञा 'अतीत' होती है। अतीत तथा वर्तमान की अपेक्षा से वस्तु अनागत कहलाती है। जैसे एक ही स्त्री पुत्री, भार्या तथा माता की संज्ञा प्राप्त करती है। पिता की दृष्टि से वही पुत्री होती है, पति की अपेक्षा से वह भार्या है और पुत्र की अपेक्षा से वही माता कहलाती है। वह है वस्तुतः एक ही परन्तु अपेक्षाकृत ही उसके नाम में विभेद होता है।

ये आचार्य मौलिक कल्पना रखते थे। अतः इनके मत का उल्लेख वसुबन्धु को करना पड़ा है। इन चारों मतों में तीसरा मत वैभाषिकों को मान्य है—वसुमित्र का 'अवस्थान्यथात्ववाद' ही सुन्दरतम है, क्योंकि यह क्रिया के द्वारा कालकी व्यवस्था करता है। धर्मत्राता का मत सांख्यों के मत के अनुरूप है। घोषक की कल्पना में एक ही समय में वस्तु में तीनों काल के लक्षण उपस्थित रहते हैं जो असम्भव सा प्रतीत होता है। बुद्धदेव का भी मत भ्रान्त ही है, क्योंकि इनकी दृष्टि में एक ही समय तीनों काल उपस्थित रहते हैं। अतः सुव्यवस्थित होने से वसुमित्रकी युक्ति वैभाषिकों को सर्वथा मान्य है[1]।

---

१. तृतीयः शोभनोऽध्वानः कारित्रेण व्यवस्थिताः—अभि० कोष ५।२६। कारित्रेण क्रियया व्यवस्थापनं भवति कालानाम्।

सौत्रान्तिक

नीलपीतादिभिश्चित्रैर्बुद्ध्याकारैरिहान्तरैः ।
सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते ।।

(सर्व-सिद्धान्त-संग्रह पृ० १२)

षोडश परिच्छेद

(क) ऐतिहासिक विवरण

सर्वास्तिवादियों के वैभाषिक सम्प्रदाय के इतिहास तथा सिद्धान्तों का परिचय गत परिच्छेद में दिया गया है। सौत्रान्तिक मत भी सर्वास्तिवादियों की दूसरी प्रसिद्ध शाखा थी जिसके इतिहास तथा सिद्धान्त का प्रतिपादन इस परिच्छेद का विषय है। ऐतिहासिक सामग्री की कमी के कारण इस सम्प्रदाय के उदय और अभ्युदय की कथा अभी तक एक विषम पहेली बनी हुई है। इस सम्प्रदाय के आचार्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-जिसमें इनका सिद्धान्त भलीभाँति प्रतिपादित हो— अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इतर बौद्ध सम्प्रदाय के ग्रन्थों में तथा बौद्धेतर जैन तथा ब्राह्मण दार्शनिकों की पुस्तकों में इस मत का वर्णन पूर्वपक्ष के रूप में निर्दिष्ट मिलता है। इन्हीं निर्देशों को एकत्र कर इस सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

'सौत्रान्तिक' नामकरण का कारण यह है कि ये लोग सूत्र (सूत्रान्त) को ही बुद्धमत की समीक्षा के लिए प्रामाणिक मानते थे[1]। वैभाषिक लोग अभिधर्म की 'विभाषा टीका' को ही सर्वतोमान्य मानते थे, परन्तु इस मतवादी दार्शनिक लोग 'अभिधर्म्म पिटक' को भी बुद्ध-वचन नहीं मानते, विभाषा की तो कथा ही अलग है। तथागत के आध्यात्मिक उपदेश 'सुत्तपिटक' के ही कतिपय सूत्रों (सूत्रान्तों) में सन्निविष्ट हैं। अभिधर्म बुद्धवचन न होने से भ्रान्त है, परन्तु

---

१. यशोमित्र का कथन है—'कः सौत्रान्तिकार्थः। ये सूत्रप्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः'—स्फुटार्था पृ० १२ (रूस का संस्करण १९१२)। शास्त्र से अभिप्राय 'अभिधर्म' से है और सूत्र से तात्पर्य 'सूत्रपिटक' से है। इस पर यशोमित्र की आशंका है कि तब त्रिपिटक की व्यवस्था किस प्रकार होगी? इसका उत्तर यही है कि अर्थविनिश्चय आदि अनेक सूत्र ऐसे हैं जिनमें धर्म का वर्णन है। ये ही अभिधर्म के प्रतीक हैं। इस प्रकार सूत्रपिटक ही सौत्रान्तिकों की दृष्टि में अभिधर्म पिटक का भी काम करता है। 'नैष दोषः सूत्रविशेषा एव अर्थविनिश्चयादयोऽभिधर्मसंज्ञा येषु धर्मलक्षणं वर्ण्यते। (स्फुटार्था पृ० १२)

सूत्रान्त बुद्ध की वास्तविक शिक्षाओं के आधार होने से सर्वदा अभ्रान्त तथा प्रामाणिक है। इसी कारण ये 'सौत्रान्तिक' नाम से अभिहित किये गये हैं।

आचार्य

(१) **कुमारलात**—इस मत के कतिपय आचार्यों का ही अब तक परिचय मिलता है। इस मत के प्रतिष्ठापक का नाम **कुमारलात** हैं[१]। ह्वेनसांग ने इन्हें सौत्रान्तिक मत का संस्थापक बतलाया है। ये तक्षशिला के निवासी थे। वहाँ से ये बलात् कबन्धदेश में लाये गये जहाँ के राजा ने इन्हें रहने के लिए अपने प्रासाद का ही एक रमणीय अंश दिया। कुमारलात ने यहीं रहकर अपने ग्रन्थ की रचना की थी। चीनी परिव्राजक ने उस मठ को देखा था जहाँ ये रहा करते थे[२]। अश्वघोष, देव, और नागार्जुन के साथ 'चार प्रकाशमान सूर्यों' में इनकी गणना की गई है। इससे इनके विपुल प्रभाव तथा अलौकिक विद्वत्ता का यत्किञ्चित् परिचय मिल सकता है। इनके ग्रन्थ में महाराज कनिष्क का उल्लेख अतीत काल के व्यक्ति के रूप में किया गया है। अतः इनका समय कनिष्क के कुछ पीछे पड़ता है। ये सम्भवतः नागार्जुन (द्वितीय शतक) के समकालीन थे।

इनके ग्रन्थ का एक अंशमात्र डा० लूडर्स को तुरफान से मिले हुए हस्तलिखित पुस्तकों में उपलब्ध हुआ है जिसे उन्होंने बड़े परिश्रम से सम्पादित कर प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ का पूरा नाम इसकी पुष्पिका में दिया गया है—**'कल्पनामंडतिका दृष्टान्त पंक्ति'** (अर्थात् दृष्टान्तों का समुदाय जो कवि कल्पना से सुशोभित किया गया है)। 'कल्पनामण्डतिका' के स्थान पर इसका नाम 'कल्पनालंकृतिका' भी मिलता है। चीनी भाषा में 'सूत्रालंकार' नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है जो महाकवि अश्वघोष की कृति माना जाता है, परन्तु उस अनुवाद की इस ग्रन्थ से तुलना बतलाती है कि दोनों ग्रन्थ एक ही हैं। अतः अनेक विद्वानों की सम्मति है कि चीनदेश में इसका तथा इसके प्रणेता का नाम किसी कारण अशुद्ध ही दिया गया है। न तो

ग्रन्थ

१. इस आचार्य का यथार्थ नाम 'कुमारलात' ही है। इसका पूरा प्रमाण इनके ग्रन्थों की पुष्पिका में मिलता है। अब तक इनका जो कुमारलात (या कुमार लब्ध) नाम बतलाया जाता था, वह चीनभाषा के अशुद्ध संस्कृतीकरण के कारण था।

२. Travels—Yuan Chwang, Watters. Vol I. P 245

इसका नाम ही 'सूत्रालंकार' है, न इसके प्रणेता अश्वघोष हैं। परन्तु अन्य विद्वान् अभी तक इस मत पर दृढ़ है कि अश्वघोष की रचना कोई 'सूत्रालंकार' अवश्य है, जिसके अनुकरण पर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। जो कुछ हो, उपलब्ध **'कल्पनामण्डितिका'** आचार्य कुमारलात ही की रचना है। इसके अनेक प्रमाण ग्रन्थ की आन्तरिक परीक्षा से मिलते हैं[1]।

विषय

यह ग्रन्थ जातक तथा अवदान के समान बुद्धधर्म की शिक्षा देनेवाली धार्मिक तथा मनोरञ्जक आख्यायिकाओं का सरस संग्रह है। कथायें अस्सी हैं। भाषा विशुद्ध साहित्यिक संस्कृत है जिसमें गद्य-पद्य का विपुल मिश्रण है। कथायें गद्य में हैं, परन्तु स्थान-स्थान पर आर्या, वसन्ततिलका आदि छन्दों में सरस श्लोकों का पुट है। ग्रन्थ की अनेक कहानियाँ सर्वास्तिवादियों के 'विनयपिटक' से संग्रहीत हैं। ग्रन्थकार का सर्वास्तिवादी आचार्यों के प्रति पूज्य बुद्धि रखना उनके मत के नितान्त अनुरूप है। इस ग्रन्थ में आरम्भ में बुद्धधर्म की कोई मान्य शिक्षा दी गई है जिसे स्फुट करने के लिए गद्यात्मक कथा दी गई है। इन कथाओं में बुद्धभक्ति तथा बुद्धपूजन को विशेष महत्त्व दिया गया है। अतः ग्रन्थकार का महायान के प्रति आदर विशेष रूप से लक्षित होता है। किसी जन्म में व्याघ्र के भय से 'नमो बुद्धाय' इस मन्त्र के उच्चारण करने से एक व्यक्ति को उस जन्म में मुक्त होने की घटना का वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से किया गया है। इस ग्रन्थ का महत्त्व केवल साहित्यिक ही नहीं है, अपितु सांस्कृतिक भी है। उस समय के समाज का उज्ज्वल चित्त इन धार्मिक कथाओं के भीतर से प्रकट हो रहा है। यह कम मूल्य तथा महत्त्व की बात नहीं है।

(२) श्रीलाभ—कुमारलात के सौत्रान्तिकमतानुयायी शिष्य श्रीलाभ थे[2]।

---

१. द्रष्टव्य Winternitz—History of Indian Literature Vol II PP. 267—69; Keith—History of Sanskrit Litrature (Preface) PP. 8—10.

२. कुमारलात के एक दूसरे शिष्य का पता चीनी ग्रन्थों से चलता है। इनका नाम **हरिवर्मा** था जिन्होंने 'सत्यसिद्धि' सम्प्रदाय की स्थापना चीन देश में की थी। हरिवर्मा-रचित इस सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थ 'सत्यसिद्धिशास्त्र' का कुमारजीव

गुरु के समान इनके भी मत का विशेष परिचय हमें प्राप्त नहीं है। केवल 'निर्वाण' के विषय में इनके विशिष्ट मत का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है (जिसका उल्लेख आगे किया जायगा)। इन्होंने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ **'सौत्रान्तिक विभाषा'** नामक ग्रन्थ की रचना की थी, इसका पता हमें 'कूइ की' के ग्रन्थों से चलता है। ये बड़े प्रतिभाशाली दार्शनिक प्रतीत होते हैं। इन्होंने अनेक नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना कर एक नया ही मार्ग चलाया[1]।

(३) **धर्मत्रात** तथा (४) **बुद्धदेव**—ये दोनों आचार्य सौत्रान्तिक मतवादी थे। इनके समग्र सिद्धान्त से न तो हम परिचित हैं और न इनकी रचना से। अभिधर्मकोष में वसुबन्धु ने इनके काल-विषयक मतों का सादर उल्लेख किया है। अतः ये निश्चय ही वसुबन्धु से पूर्ववर्ती या समकालीन थे। यह उल्लेख इनके गौरव तथा प्राधान्य का सूचक है।

(५) **यशोमित्र**—ये भी सौत्रान्तिक मत के ही माननेवाले आचार्य थे। यह इन्होंने स्वयं स्वीकार किया है (पृ० १२)। इनकी महत्त्वपूर्ण रचना है—अभिधर्मकोष की विस्तृत व्याख्या **'स्फुटार्था'**। यह टीका ग्रन्थ बौद्ध धर्म का एक उज्ज्वल रत्न है जिसकी प्रभा से अनेक अज्ञात तथा लुप्तप्राय सिद्धान्तों का विद्योतन हुआ है। यशोमित्र के पहले भी गुणमति, वसुमित्र तथा अन्य व्याख्याकारों ने इस कोश की व्याख्या लिखी थी, परन्तु वे प्राचीन टीकायें आज काल—कवलित हैं। यह टीका कारिका के साथ साथ भाष्य की भी टीका है, परन्तु वसुबन्धु का यह भाष्य मूलसंस्कृत में उपलब्ध होने पर भी अभी तक

(४०३ ई०) कृत अनुवाद आज भी चीन में उपलब्ध है। इनका समय तृतीय शतक का मध्यकाल माना जा सकता है। ये वसुबन्धु के समकालीन माने जाते हैं। इस धर्म का मुख्य सिद्धान्त 'सर्वधर्मशून्यता' है। ये लोग पञ्चस्कन्धात्मक वस्तु के अभाव के साथ-साथ धर्मों की भी अनित्यता मानते थे। अर्थात् पुद्गल-नैरात्म्य के साथ ये धर्मनैरात्म्य के पक्षपाती थे। परन्तु अन्य सिद्धान्त हीनयान के ही थे। अतः 'सत्यसिद्धि' सम्प्रदाय हीनयान के अन्तर्गत होकर भी शून्यवाद का समर्थक था। द्रष्टव्य यामाकामी सोगन—Systems of Buddhist Thought (Pp. 172—185)

१. इनके मत के लिए द्रष्टव्य (स्फुटार्था पृ० ६३)

अप्रकाशित है। अतः 'स्फुटार्था' की अनेक बातें अस्फुट ही रह जाती है। यह ग्रन्थ बड़ा अनमोल है। इसी की सहायता से कोष का रहस्योद्घाटन होता है। प्राचीन मतों के उल्लेख के साथ साथ यह अनेक ज्ञातव्य ऐतिहासिक वृत्तों से परिपूर्ण है[1]।

सौत्रान्तिकों की उत्पत्ति वैभाषिकों के अनन्तर प्रतीत होती है, क्योंकि इनके प्रधान सिद्धान्त वैभाषिक ग्रन्थों की वृत्तियों में ही यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। वसुबन्धु ने अभिधर्मकोष की कारिका में शुद्ध वैभाषिक मत का प्रतिपादन किया है, परन्तु कोष के भाष्य से कतिपय सिद्धान्तों में दोषोद्घाटन कर उनका पर्याप्त खण्डन किया है। ये खण्डन सौत्रान्तिक दृष्टि-बिन्दु से ही किये गये प्रतीत होते हैं। हमने पहले ही दिखलाया है कि इस खण्डन के कारण ही संघभद्र ने—जो कट्टर वैभाषिक थे—अपने ग्रन्थों में वसुबन्धु के मत की विरुद्ध आलोचना की है। परन्तु सौत्रान्तिक मतानुयायी यशोमित्र ने इनके समर्थन में अपनी 'स्फुटार्था वृत्ति' लिखी है। यही कारण है कि दोनों मतों के सिद्धान्त साथ साथ उल्लिखित मिलते हैं।

सौत्रान्तिक उपसम्प्रदाय

सौत्रान्तिकों का विचित्र इतिहास चीनी ग्रन्थों की सहायता से थोड़ा बहुत मिलता है। हुएनसांग के पट्ट शिष्यों में से एक शिष्य का नाम 'कुइकी' था। इनकी रचना 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' की टीका है। इसके आधार पर सौत्रान्तिकों के अन्तर्गत तीन सम्प्रदायों का पता हमें चलता है—

(१) **कुमारलात**—मूलाचार्य के नाम से विख्यात थे तथा उनके प्रधान शिष्य 'मूलसौत्रान्तिक' कहलाते थे। प्रतीत होता है कि कुमारलात के शिष्यों में उनके मुख्य सिद्धान्त को लेकर गहरा मतभेद था। श्रीलात उनके शिष्य होने पर नवीन मतवाद को लेकर गुरु से अलग हो गये थे। श्रीलात के शिष्य गण कुमारलात के सिद्धान्तानुयायियों को 'दार्ष्टान्तिक' नाम से पुकारते थे। कुमारलात को 'दृष्टान्त पंक्ति' के रचयिता होने के कारण 'दार्ष्टान्तिक' नाम से अभिहित करना युक्तियुक्त ही है।

दार्ष्टान्तिक

---

१. इसके दो संस्करणहैं—(१) लेनिनग्राड का संस्करण नागरी में है। परन्तु अधूरा है (२) जापान का संस्करण रोमनलिपि में पूरा ग्रन्थ।

(२) **श्रीलात**—के शिष्य अपने को केवल सौत्रान्तिक मानते थे। श्रीलात का यह सम्प्रदाय कई अंश में पूर्व से भिन्न था। ये लोग अपने को विशुद्ध सिद्धान्त के अनुयायी होने से 'सौत्रान्तिक' नाम से पुकारते थे। इन्होंने अपने प्रतिपक्षियों की उपाधि 'दार्ष्टान्तिक' दी थी जो सम्भवतः अनादर सूचित करती है।

(३) एक तीसरा सम्प्रदाय भी था जिसकी कोई विशिष्ट संज्ञा न थी।

इस कथन पर ध्यान देना आवश्यक है। बौद्ध सम्प्रदाय में प्रत्यक्ष तथा श्रुति में एक को महत्त्व देने वाले साम्प्रदायिकों की कमी न थी। कुछ लोग प्रत्यक्ष को महत्त्व देते थे, पर अन्य लोग बुद्ध के द्वारा प्रकटित सिद्धान्त (श्रुति) को समधिक आदर लेने को उद्यत थे। ब्राह्मण दार्शनिकों में भी ऐसा मतवाद दीख पड़ता है। प्रत्यक्ष तथा श्रुति के अनुयायी भिन्न २ हुआ करते थे। प्रत्यक्ष की दूसरी संज्ञा है—दृष्टि। दृष्टि या दृष्टान्त को महत्त्व देने वाले आचार्य के शिष्य **दार्ष्टान्तिक** कहलाये और केवल श्रुति, सूत्र या सूत्रान्त को ही प्रामाणिक मानने वाले लोग **सौत्रान्तिक** नाम से अभिहित किये गये। परन्तु दोनों ही एक ही मूलसम्प्रदाय—सर्वास्तिवाद की दो विभिन्न अथच अनेक तथ्यों में समान, शाखायें थी। एक अन्तर यह भी जान पड़ता है कि दार्ष्टान्तिक लोग दृष्टान्त, जातक अथवा अवदान को धार्मिक मूल ग्रन्थों का अंग मानते थे, परन्तु सौत्रान्तिकों की दृष्टि में इन ग्रन्थों को इतना प्राधान्य नहीं दिया जाता था। दार्ष्टान्तिक तथा सौत्रान्तिक से विभिन्न मतवाद विस्तृत अध्ययन तथा मनन के निमित्त आवश्यक विषय हैं[1]। सामग्री के न होने से इनकी विशेष जानकारी हमें नहीं है।

(ख) सिद्धान्त

सत्ता के विषय में सौत्रान्तिक लोग सर्वास्तिवादी हैं अर्थात् उनकी दृष्टि में धर्मों की सत्ता माननीय है। वे केवल चित्त (या विज्ञान) की ही सत्ता नहीं मानते, प्रत्युत बाह्य पदार्थों की भी सत्ता स्वीकार करते हैं। अनेक प्रमाणों के बल पर वे विज्ञानवाद का खण्डन कर अपने मत की प्रतिष्ठा करते हैं।

विज्ञानवादियों की यह मान्यता है कि विज्ञान ही एकमात्र सत्ता है, बाह्य

१. द्रष्टव्य डा० प्रिजलुस्की का एतदविषयक लेख Indian Historical Quarterly 1940, PP. 246-254.

पदार्थ की सत्ता मानना भ्रान्ति तथा कल्पना पर आश्रित है। इस पर सौत्रान्तिकों का आक्षेप है कि यदि बाह्य पदार्थ की सत्ता न मानी जायगी, तो उनकी कल्पनिक स्थिति की भी समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती। विज्ञानवादियों का कहना है कि भ्रान्ति के कारण ही विज्ञान बाह्य पदार्थों के समान प्रतीत होता है। यह साम्य की प्रतीति तभी सयुक्तिक है जब बाह्य पदार्थ वस्तुतः विद्यमान हों, नहीं तो जिस प्रकार 'बन्ध्यापुत्र के समान' कहना निरर्थक हैं, उसी प्रकार अविद्यमान 'बाह्य पदार्थों के समान' बतलाना भी अर्थशून्य है।

१-बाह्यार्थ की सत्ता

विज्ञान तथा बाह्य वस्तु की समकालिक प्रतीति दोनों की एकता बतलाती है, यह कथन भी यथार्थ नहीं। क्योंकि आरम्भ से ही जब हम घट का प्रत्यक्ष करते हैं, तब घट की प्रतीति बाह्य पदार्थ के रूप में होती है तथा विज्ञान अनन्तर रूप में प्रतीत होता है। लोक-व्यवहार बतलाता है कि ज्ञान के विषय तथा ज्ञान के फल में अन्तर होता है[1]। घट के प्रतीतिकाल में घट प्रत्यक्ष का विषय है तथा उसका फल अनुव्यवसाय (मैं घटज्ञान वाला हूँ-ऐसी प्रतीति) पीछे होती है। अतः विज्ञान तथा विषय का पार्थक्य मानना न्यायसंगत है। यदि विषय और विषयी की अभेद कल्पना मानी जाय, तो 'मैं घट हूँ' यह प्रतीति होनी चाहिए। विषयी है—अहं (मैं) और विषय है घट। दोनों की एक रूप में अभिन्न प्रतीति होगी, परन्तु लोक में ऐसा कभी नहीं होता। अतः घट को विज्ञान से पृथक् मानना चाहिए। यदि समग्र पदार्थ विज्ञानरूप ही हों, तो इनमें परस्पर भेद किस प्रकार माना जायगा। घड़ा कपड़े से भिन्न है, परन्तु विज्ञानवाद में तो एक विज्ञान के स्वरूप होने पर उन्हें एकाकार होना चाहिए। अतः सौत्रान्तिक मत में बाह्यजगत् की सत्ता उतनी ही प्रामाणिक और अभ्रान्त है जितनी आन्तर जगत् की—विज्ञान की। इस सिद्धान्त में प्रतिपादन में सौत्रान्तिक वैभाषिकों के अनुरूप ही हैं। परन्तु बाह्यार्थ की प्रतीति के विषय में उनका विशिष्ट मत है।

(१) वैभाषिक लोग बाह्य-अर्थ का प्रत्यय मानते हैं। दोषरहित इन्द्रियों के द्वारा बाह्य-अर्थ की जैसी प्रतीति हमें होती है वह वैसा ही है, परन्तु सौत्रान्तिकों

---

१. ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यत् फलमन्यदुदाहृतम्। (का० प्र०, २ उ)

बाह्यार्थ की अनुमेयता

का इस पर आक्षेप है। जब समग्र पदार्थ क्षणिक हैं, तब किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। जिस क्षण में किसी वस्तु के साथ हमारी इन्द्रियों का सम्पर्क होता है, उस क्षण में वह वस्तु प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर अतीत के गर्भ में चली गई रहती है। केवल तज्जन्यसंवेदन शेष रहता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नील, पीत आदिक चित्र चित्त के पट पर खिंच जाते हैं। मन पर जो प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है उसी को चित्त देखता है और उसके द्वारा वह उसके उत्पादक बाहरी पदार्थों का अनुमान करता है[1]। अतः बाह्य अर्थ की सत्ता प्रत्यक्ष गम्य न होकर अनुमान-गम्य है, यही सौत्रान्तिकवादियों का सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त है।

(२) ज्ञान के विषय में ये स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। इनका कहना है कि जिस प्रकार प्रदीप अपने को स्वयं जानता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपना संवेदन आप ही आप करता है इसी का नाम है 'स्वसंवित्ति' या 'संवेदन'। यह सिद्धान्त विज्ञानवादियों को सम्मत हैं। इनमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि सौत्रान्तिकों के अनेक सिद्धान्त विज्ञानवादियों ने ग्रहण कर लिया है।

(३) बाहरी वस्तु विद्यमान अवश्य रहती है (वस्तु सत्) परन्तु सौत्रान्तिकों में यह मतभेद की बात है कि उसका कोई आकार होता है या नहीं। कुछ लोगों का कहना है कि बाह्य वस्तुओं में स्वयं अपना आकार होता है। कुछ दार्शनिकों की सम्मति में वस्तु का आकार बुद्धि के द्वारा निर्मित किया जाता है। बुद्धि ही आकार को पदार्थ में संनिविष्ट करती है। तीसरे प्रकार के मत में ऊपर लिखित दोनों मतों का समन्वय किया गया है। उसके अनुसार वस्तु का आकार उभयात्मक होता है।

(४) परमाणुवाद के विषय में भी सौत्रान्तिकों ने अपना एक विशिष्ट मत बना रक्खा है। उनका कहना है कि परमाणुओं में किसी प्रकार के पारस्परिक स्पर्श का अभाव होता है। स्पर्श उन्हीं पदार्थों में होता है जो अवयव से युक्त होते हैं। लेखनी और हस्त का स्पर्श होता है क्योंकि दोनों सावयव पदार्थ हैं।

---

१. नीलपीतादिभिश्चित्रैर्बुद्धयाकारैरिहान्तरैः।
सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते॥ (सर्वसिद्धान्तसंग्रह पृ० १२)।

परमाणु निरवयव पदार्थ है। अतः एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ स्पर्श नहीं हो सकता। यदि यह स्पर्श होगा तो दोनों में तादात्म्य हो जायगा, जिससे अनेक परमाणुओं के संघात होने पर भी उनका परिमाण अधिक न हो सकेगा। अतः परमाणु में स्पर्श मानना उचित नहीं है। परमाणु के बीच में कोई अन्तर नहीं होता। अतः वे अन्तरहीन पदार्थ हैं।

(५) विनाश का कोई हेतु नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही विनाश धर्मशील है। यह अनित्य नहीं है बल्कि क्षणिक है। उत्पाद का अर्थ है अभूत्वा भावः (अर्थात् सत्ता धारण न करने के अनन्तर अन्तर स्थिति)। पुद्गल (आत्मा) तथा आकाश सत्ताहीन पदार्थ हैं। वस्तुतः सत्य नहीं हैं। क्रिया—वस्तु तथा क्रिया काल में किंचित्मात्र भी अन्तर नहीं है। वस्तु असत्य से उत्पन्न होती है। एक क्षण तक अवस्थान धारण करती है और फिर लीन हो जाती है। तब भूत तथा भविष्य की सत्ता क्यों मानी जाय ?

(६) वैभाषिक रूप को दो प्रकार का मानते हैं[1]। (१) वर्ण (रंग) तथा (२) संस्थान (आकृति)। परन्तु सौत्रान्तिक रूप से वर्ण का ही अर्थ लेते हैं। संस्थान को उसमें सम्मिलित नहीं करते। यही दोनों में अन्तर है।

(७) प्रत्येक वस्तु दुःख उत्पन्न करने वाली है। यहाँ तक कि सुख और वेदना भी दुःख ही उत्पन्न करती हैं। इसलिए सौत्रान्तिक लोगों के मत में समस्त पदार्थ दुःखमय हैं।

(८) इनके मत में अतीत (भूत) तथा अनागत (भविष्य) दोनों शून्य हैं[2]। वर्तमान ही काल सत्य है। काल के विषय में इस प्रकार वैभाषिकों से इनका पर्याप्त मतभेद है। वैभाषिक लोग भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों काल के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। परन्तु सौत्रान्तिक मत में वर्तमान काल की ही सत्ता मानी जाती है।

(९) निर्वाण के विषय में सौत्रान्तिक मत के आचार्य श्रीलब्ध का एक विशिष्ट मत था कि 'प्रतिसंख्यानिरोध' तथा 'अप्रतिसंख्यानिरोध' में किसी प्रकार

---

१. रूपं द्विधा विंशतिधा (अभिधर्मकोष १।१०)

२. तथा सौत्रान्तिकमतेऽतीतानागतं शून्यमन्यदशून्यम्।

(माध्यमिक वृत्ति पृ० ४४४)

का अन्तर नहीं है। प्रतिसंख्यानिरोध का अर्थ है प्रज्ञानिबन्धन, भाविक्लेशानुत्पत्ति अर्थात् प्रज्ञा के कारण भविष्य में उत्पन्न होने वाले समस्त क्लेशों का न होना। अप्रतिसंख्यानिरोध का अर्थ है क्लेशनिवृत्तिमूलक दुःखानुत्पत्ति अर्थात् क्लेशों के निवृत्त हो जाने पर दुःख का उत्पन्न न होना। क्लेशों की निवृत्ति के ऊपर ही दुःख अर्थात् संसार की अनुत्पत्ति अवलम्बित है। अतः क्लेश का उत्पन्न न होना संसार के उत्पन्न न होने का कारण है। श्रीलब्ध की निर्वाण के विषय में यही कल्पना है।

(१०) धर्मों का वर्गीकरण—सौत्रान्तिक मत के अनुसार धर्मों का एक नवीन वर्गीकरण है। जहाँ वैभाषिक लोग ७५ धर्म मानते हैं और विज्ञानवादी पूरे १०० धर्म मानते हैं, वहाँ सौत्रान्तिक केवल ४३ धर्म स्वीकार करते हैं। यह वर्गीकरण साधारणतया उपलब्ध नहीं होता। सौभाग्यवश तामिल देश के अरुणन्दीशिवाचार्य (१२७५-१३२५ ई०) द्वारा लिखित 'शिवज्ञानसिद्धियर' नामक तामिल ग्रन्थ में यह वर्गीकरण उपलब्ध होता है[1]। प्रमाण दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और अनुमान। इनके विषय सौत्रान्तिकों के अनुसार ४ प्रकार के हैं—(१) रूप (२) अरूप (३) निर्वाण (४) व्यवहार। रूप दो प्रकार का होता है—उपादान और उपादाय, जो प्रत्येक ४ प्रकार का होता है। उपादान के अन्तर्गत पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु की गणना है तथा उपादाय में रूक्षता, आकर्षण, गति, तथा उष्णता इन चार धर्मों की गणना है। 'अरूप' भी दो प्रकार का होता है—चित्त और कर्म। निर्वाण दो प्रकार का है—सोपधि और निरुपधि। व्यवहार भी दो प्रकार का होता है—सत्य और असत्य। इस सामान्य वर्णन के अनन्तर ४३ धर्मों का वर्गीकरण इस तरह है—

(१) रूप = ८ (४ उपादान + ४ उपादाय)।

(२) वेदना = ३ (सुख, दुःख, न सुख न दुःख)।

(३) संज्ञा = ६ (५ इन्द्रियाँ तथा १ चित्त)।

(४) विज्ञान = ६ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन, काय तथा मन;
—इन इन्द्रियों के विज्ञान।

(५) संस्कार = २० (१० कुशल + १० अकुशल)।

---

१. आलम्बनपरीक्षा (अड्यार संस्करण) पृ० ११६-१८।

(ग) सर्वास्तिवाद का समीक्षण

सर्वास्तिवादियों के सिद्धान्तों की समीक्षा अनेक आचार्यों ने की है। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद (२।२) में इसकी बड़ी मार्मिक आलोचना की है।

संघात-निरास

शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में इस समीक्षा की युक्तियों का बड़ा ही भव्य प्रदर्शन किया है। अबौद्ध दार्शनिकों ने अपनी उँगली बौद्धमत के सबसे दुर्बल अंश पर रखी है। वह दुर्बल अंश है संघातवाद। सर्वास्तिवादियों की दृष्टि में परमाणुओं के संघात से भूतभौतिक जगत् का निर्माण होता है और पञ्चस्कन्धों से आन्तर जगत् (चित्त-चैत्त) की रचना होती है। भूत तथा चित्त दोनों संघातमात्र हैं। भूत परमाणुओं का संघात है और चित्त पञ्चस्कन्धाधीन होने से संघात है। सबसे बड़ी समस्या है इन समुदायों की सिद्धि। चेतन पदार्थों का संघात-मेलन युक्तियुक्त है, परन्तु यहाँ समुदायी द्रव्य (अणु तथा संज्ञा) अचेतन हैं। ऐसी परिस्थिति में समुदाय की सिद्धि नहीं बन सकती। चित्त अथवा विज्ञान इस संघात का कारण नहीं माना जा सकता। देह होने पर विज्ञान का उदय होता है और विज्ञान के कारण देहात्मक संघात उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में देह विज्ञान पर

चेतन संहर्ता का अभाव

अवलम्बित रहता है और विज्ञान देह पर। फलतः अन्योन्याश्रय दोष से दूषित होने से यह पक्ष समीचीन नहीं है जो स्वयं स्थिर संघातकर्ता की सत्ता बुद्धधर्म में मान्य नहीं है जो स्वयं चेतन होता हुआ इन अचेतनों को एक साथ संयुक्त कर देता। चेतनकर्ता के अभाव में परमाणुओं के संघात होने की प्रवृत्ति निरपेक्ष है अर्थात् बिना किसी अपेक्षा (आवश्यकता) के ही ये समुदायी प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं, तब तो इस प्रवृत्ति के कभी न बन्द होने की आपत्ति उठ खड़ी होती है। साधारण नियम तो यही है कि कोई भी प्रवृत्ति किसी अपेक्षा के लिए होती है। प्रवृत्ति का कर्ता चेतन होता है। जब तक उसे उसकी आवश्यकता बनी रहती है तब तक वह कार्य में प्रवृत्त रहता है। अपेक्षा की समाप्ति के साथ ही प्रवृत्ति का भी विराम हो जाता है। परन्तु अचेतनों के लिए अपेक्षा कैसी ? अतः सर्वास्तिवादी मत में प्रवृत्ति के कहीं भी समाप्त होने का अवसर ही नहीं आवेगा, जो व्यवहार से नितान्त विरुद्ध है।

विज्ञानवादी कह सकते हैं कि आलय विज्ञान (समस्त विज्ञानों का भण्डार) इस सङ्घात का कर्ता हो सकता है। पर प्रश्न यह है कि यह आलयविज्ञान सन्तान सन्तानियों से भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न होकर वह स्थिर है या क्षणिक ? यदि वह स्थिर माना जायगा तो वेदान्तानुसार आत्मा की कल्पना खड़ी हो जायगी। अतः आलयविज्ञान को क्षणिक मानना पड़ेगा। ऐसी दशा में वह प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं कर सकता[1]। क्षणिक वस्तु केवल एक ही व्यापार करती है और वह व्यापार उत्पन्न होना है। (जायते) इसके अतिरिक्त वह क्षणिक होने से कर ही क्या सकती है ? अभिन्न होने पर भी वह परमाणुओं में सङ्घात नहीं पैदा कर सकती, क्योंकि वह स्वयं क्षणमात्र स्थायी है। प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए तो अन्य क्षणों में स्थिति मानना पड़ेगा जो सिद्धान्त से विरुद्ध पड़ेगा।

आलय-विज्ञान की समीक्षा

परमाणुओं को क्षणिक होने से उनका सङ्घात कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता। परमाणुओं का मेलन परमाणुक्रिया के अधीन है। प्रथमतः परमाणु में क्रिया होगी, अनन्तर उनका सङ्घात होगा। अब अपनी क्रिया के कारण होने से क्रिया से पूर्वक्षण में परमाणु को रहना चाहिए। क्रिया के आश्रय होने से जिस क्षण में क्रिया हो, उस क्षण में परमाणु की अवस्थिति अपेक्षित है। इसी प्रकार मेलन के क्षण में भी परमाणुओं का अवस्थान आवश्यक है। यदि मेलन का आश्रय ही न रहेगा, तो मेलनरूप प्रवृत्ति ही कैसे उत्पन्न होगी ? फलतः ऐसी परिस्थिति में परमाणुओं का अवस्थान अनेक क्षणों तक होना आवश्यक है। परन्तु क्षणिकवादी बौद्धों की दृष्टि में ऐसी स्थिति सम्भव नहीं है। अतः क्षणिक परमाणुओं में स्थिर परमाणुओं से साध्य मेलन नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह है कि परमाणुओं के क्षणिक होने से तथा संघातकर्ता किसी स्थिर चेतन के अभाव होने से संघात नहीं हो सकता।

क्षणिक परमाणु में संघात असंभव

---

१. 'क्षणिकत्वाभ्युपगमाच्च निर्व्यापारात् प्रवृत्त्यनुपपत्तेः' शांकरभाष्य। 'क्षणिकस्य जन्मातिरिक्तव्यापारो नास्ति तस्मात् तस्य परमाण्वादिमेलनार्थं प्रवृत्तिरनुपपन्ना क्षणिकत्वव्याघातादित्यर्थः।'

(रत्नप्रभा २।२।१७)

द्वादश-निदान संघात का कारण

बौद्धमत में अविद्यादि द्वादश निदान आपस में कार्यकारण भाव धारण करते हुए इस जगत्-प्रवाह का निर्वाह करते हैं। इसे भी संघात का कारण नहीं माना जा सकता[1]। क्योंकि अविद्यादि निदान आपस में ही एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं। पूर्व-पूर्व निदान उत्तरोत्तर निदानों को उत्पन्न करते हैं। उनकी सामर्थ्य इतनी परिमित है। संघात की उत्पत्ति के लिए कोई दूसरा कारण खोजना चाहिए। एक प्रश्न यह भी है कि संघात का प्रयोजन क्या है? भोग। परन्तु स्थिरभोक्ता न होने से वह भोग ;भोग के लिए ही रह जायगा, दूसरा कोई भी उसे न चाहेगा इसी प्रकार मोक्ष भी मोक्ष के लिए ही रहेगा। यदि भोग और मोक्ष दोनों के इच्छुक प्राणी विद्यमान हैं तो उन्हें भोग और मोक्ष के समय में स्थायी होना चाहिए। परन्तु ऐसी दशा में क्षणिकवाद को तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी। अतः स्थिरभोक्ता के अभाव होने से संघात की सिद्धि नहीं होती। संघात के अभाव में लोकयात्रा का विनाश उपस्थित होगा। अतः बौद्धों का **संघातवाद** युक्ति की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता।

क्षणभङ्गनिरास

जगत् के पदार्थों को क्षणिक मानने से व्यवहार और परमार्थ की उत्पत्ति कथमपि सिद्ध नहीं की जा सकती। वस्तुओं के क्षणिक होने पर कोई भी क्रिया फल उत्पन्न करने के लिये दूसरे क्षण में विद्यमान नहीं रहेगी। फल की उत्पत्ति के लिये क्रिया का दूसरे क्षण में रहना नितान्त आवश्यक है परन्तु बौद्धों के अनुसार क्रिया तो क्षणिक है। इसलिए वह अपने फल को उत्पन्न बिना किये ही वह अतीत के गर्भ में विलीन हो जाती है। इस दोष का नाम है 'कृतप्रणाश' अर्थात् किये गये कर्म का नाश। क्रिया के बिना किये हुए प्राणी को स्वयं बिना किये हुए कर्मों के फल को भोगना पड़ता है। इस दोष का नाम है 'अकृतकर्म' भोग।' भव-भङ्ग का दोष भी इसी प्रकार जागरूक है। प्राणियों का जन्म इस जगत् में कर्मफल के भोगने के लिए ही होता है। परन्तु प्राणी तो क्षणिक ठहरा। जिस कार्य को उसने किया है उसके भोगने का उसे अवसर ही नहीं मिलेगा। फलतः उसमें उत्तरदायित्व का अभाव सिद्ध होगा; जिससे संसार की उत्पत्ति के लिये ही

---

१. इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। (ब्र० सू० २।१।१९)

कोई कारण उपयुक्त नहीं जान पड़ता। अतः क्षणिकवाद के मानने के कारण संसार के भंग होने का प्रसंग उपस्थित होगा। मोक्ष सिद्धान्त को भी इससे गहरा धक्का पहुँचता है। बुद्धधर्म मोक्ष-प्राप्ति के लिये अष्टाङ्गिक मार्ग का विधान करता है। परन्तु कर्मफल के क्षणिक होने पर मोक्ष की प्राप्ति ही सुतरां असंभव है। तब निर्वाण की प्राप्ति के लिये मार्ग के उपदेश करने से लाभ ही क्या होगा?

स्मृति की अव्यवस्था

स्मृति-भंग भी क्षणिकवाद के निराकरण के लिये एक प्रबल व्यावहारिक प्रमाण है। लोगों के अनुभव से हम जानते हैं कि स्मरण करने वाला तथा अनुभव करने वाला एक ही व्यक्ति होना चाहिए। पदार्थ का स्मरण वही करता है जिसने उसका अनुभव किया है। मथुरा के पेड़ा खाने के स्वाद का अनुभव वही व्यक्ति कर सकता है जिसने कभी उसका आस्वाद लिया हो। परन्तु क्षणिकवाद के मानने पर यह व्यवस्था ठीक नहीं जमती। क्योंकि किसी वस्तु को आज स्मरण करनेवाला देवदत्त अद्यतनकालिक (आज के साथ) सम्बन्ध रखता है और कल उसका अनुभव करनेवाला देवदत्त पूर्व-दिन-कालिक सम्बन्ध रखता है। देवदत्त ने कल अनुभव किया और आज वह उसका स्मरण करता है। क्षणिकवाद के मानने से अनुभव करनेवाले तथा स्मरण करनेवाले देवदत्त में एकता सिद्ध नहीं हुई। जिस देवदत्त ने अनुभव किया वह तो अतीत के गर्भ में विलीन हो गया और जो देवदत्त इसका स्मरण कर रहा है वह वर्तमान काल में विद्यमान है। दोनों की भिन्नता स्पष्ट है। ऐसी दशा में स्मृति जैसे लोक-प्रसिद्ध मानस व्यापार की व्यवस्था ही नहीं की जा सकती। अतः लौकिक तथा शास्त्रीय उभय दृष्टियों से क्षणिकवाद तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता[1]।

क्षणिकवाद के अङ्गीकार करने से धार्मिक विषयों में भूयसी अनवस्था फैल जायेगी, इस बात का स्पष्ट प्रतिपादन जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी में बड़े ही चुभते

---

१. इसीलिए इतने दोषों के सद्भाव रहने पर हेमचन्द्र ने क्षणिकवाद को मानने वाले बौद्ध को ठीक ही 'महासाहसिक' कहा है।

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिकः परस्ते॥
('अयोगव्यवच्छेदकारिका' श्लोक १८)

शब्दों में किया है। उनका कहना है कि जब फल भोगने के लिये आत्मा ही नहीं है तो स्वर्ग की प्राप्ति के लिये चैत्य की पूजा करने से क्या लाभ? जब संसार क्षणिक है तो अनेक वर्षों तक रहने वाले तथा युग-युग तक जीनेवाले विहारों को बनाने की क्या आवश्यकता है। जब सब कुछ शून्य है तब गुरु को दक्षिणा देने का उपदेश देने से क्या लाभ? सच तो यह है कि बौद्धों का चरित्र अत्यन्त अद्भुत है तथा यह दम्भ की पराकाष्ठा है—

'नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनं;
संसाराः क्षणिका युगस्थितिभृतश्चैते विहाराः कृताः।
सर्वं शून्यमिदं वसूनि गुरवे देहीति चादिश्यते;
बौद्धानां चरितं किमन्यदियती दम्भस्य भूमिः परा॥'

(न्यायमञ्जरी, पृ० ३९)

योगाचार

(विज्ञानवाद)

'चित्तं प्रवर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते ।
चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते ।।'

(लंकावतारसूत्र गाथा १४५)

सप्तदश परिच्छेद

विज्ञानवाद के आचार्य

योगाचार मत बौद्धदर्शन के विकास का एक महत्त्वपूर्ण अंग समझा जाता है। इसकी दार्शनिक दृष्टि शुद्ध-प्रत्ययवाद (आइडियलीज़्म) की है। आध्यात्मिक सिद्धान्त के कारण यह विज्ञानवाद कहलाता है और धार्मिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से इसका नाम 'योगाचार' है। ऐतिहासिक दृष्टि से योगाचार की उत्पत्ति माध्यमिकों के प्रतिवाद स्वरूप में हुई।

नामकरण

माध्यमिक लोग जगत् के समस्त पदार्थों को शून्य मानते हैं। इसी के प्रतिवाद में इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। इस सम्प्रदाय का कहना है कि जिस बुद्धि के द्वारा जगत् के पदार्थ असत्य प्रतीत हो रहे हैं, कम से कम उस बुद्धि को तो सत्य मानना ही पड़ेगा। इसीलिए यह सम्प्रदाय 'विज्ञान' (चित्त, मन, बुद्धि) को एकमात्र सत्य पदार्थ मानता है। इस सम्प्रदाय की छत्रछाया में बौद्धन्याय का जन्म हुआ। इस मत के अनुयायी भिक्षुओं ने बौद्ध-न्याय का खूब ही अनुशीलन किया। इसके बड़े-बड़े आचार्य लोगों ने विज्ञान को ही परमार्थ सिद्ध करने के लिए बड़ी ही उच्चकोटि की आध्यात्मिक पुस्तकें लिखीं। ये पुस्तकें भारत के बाहर चीनदेश में खूब फैली और वहाँ की आध्यात्मिक चिन्ता को खूब अग्रसर किया। इसी योगाचार मत का पहले इतिहास प्रस्तुत किया जायगा और इसके अनन्तर दार्शनिक सिद्धान्त का वर्णन होगा।

१-मैत्रेयनाथ—विज्ञानवाद को सुदृढ़ दार्शनिक प्रतिष्ठा देने वाले आर्य असंग को कौन नहीं जानता ? इनके ऐसा उच्चकोटि का विद्वान् बौद्ध दर्शन के इतिहास में विरला ही होगा। अब तक विद्वानों की यही धारणा रही है कि आर्य असंग ही विज्ञानवाद के संस्थापक थे। परन्तु आजकल के नवीन अनुसंधान ने इस धारणा को भ्रान्त प्रमाणित कर दिया है। बौद्धों की परम्परा से पता चलता है कि तुषित स्वर्ग में भविष्य बुद्ध मैत्रेय की कृपा से असंग को अनेक ग्रन्थों की स्फूर्ति प्राप्त हुई। इस परम्परा में ऐतिहासिक तथ्य का बीज प्रतीत होता है। मैत्रेय या मैत्रेयनाथ स्वयं ऐतिहासिक व्यक्ति थे, जिन्होंने योगाचार की स्थापना की और असंग को इस मत की दीक्षा दी। अतः मैत्रेयनाथ को ही विज्ञानवाद का प्रतिष्ठापक मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है।

आर्य मैत्रेय ने अनेक ग्रन्थों की रचना संस्कृत में की। परन्तु दुःख है कि एक, दो ग्रन्थों को छोड़कर इनके ग्रन्थों का परिचय मूल संस्कृत में न मिलकर तिब्बतीय और चीनी अनुवादों से ही मिलता है। भोटदेशीय विद्वान् बुस्तोन ने अपने 'बौद्धधर्म के इतिहास' में इनके नाम से पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

(१) **महायान सूत्रालंकार**—सात परिच्छेदों में (कारिका भाग केवल)

(२)—धर्मधर्मता विभंग— } मूल संस्कृत में अनुपलब्ध;
(३)—महायान-उत्तर-तन्त्र— } तिब्बती अनुवाद प्राप्त।

४—मध्यान्त विभंग या मध्यान्त विभाग।

यह ग्रन्थ कारिका रूप में था जिसकी विस्तृत व्याख्या आचार्य वसुबन्धु ने की। इस भाष्य की टीका वसुबन्धु के प्रमुख शिष्य आचार्य स्थिरमति ने की। सौभाग्य से कुछ कारिकायें मूल संस्कृत में भी उपलब्ध हुई हैं[1]।

(५) **अभिसमयालंकारिका**—इस ग्रन्थ का पूरा नाम 'अभिसमयालंकारप्रज्ञापारमिताउपदेशशास्त्र' है। इस ग्रन्थ का विषय है प्रज्ञापारमिता का वर्णन अर्थात् उस मार्ग का वर्णन जिसके द्वारा बुद्ध निर्वाण की प्राप्ति करते हैं। निर्वाण के सिद्धान्त के प्रतिपादन में यह ग्रन्थ अद्वितीय माना जाता है। इस ग्रन्थ में आठ परिच्छेद है जिसमें ७० विषयों का वर्णन है। इस ग्रन्थ की महत्ता का परिचय इसी बात से लग सकता है कि इसकी संस्कृत तथा तिब्बती भाषा में लिखी गई २१ टीकायें उपलब्ध हैं। कारिकाओं के अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण से यह ग्रन्थ अत्यन्त कठिन है। संस्कृत में लिखी गई इस ग्रन्थ की प्रसिद्ध टीकायें ये हैं (१) आर्य विमुक्तसेन—जो वसुबन्धु के साक्षात् शिष्य थे—की लिखी हुई टीका। (२) भदन्त विमुक्तिसेन-ये आर्य विमुक्तसेन के शिष्य थे (६ वीं शताब्दी)। (३) आचार्य हरिभद्र (नवमी-शताब्दी) इनकी टीका का नाम है '**अभिसमयालंकारालोक**'। तिब्बतीय परम्परा के अनुसार आर्य विमुक्तसेन और

१. इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद को तिब्बतीय भाषा से पुनर्निर्माण कर विधुशेखर भट्टाचार्य तथा डा० तुशी ने कलकता ओरियन्टल सीरीज़ नं० २४ (१९३२) में छपवाया है। इस ग्रन्थ का पूरा अनुवाद डा० चेरवास्की ने अंग्रेजी में किया है-('बिब्लिाथिका बुद्धिका, नं० ३०, लेनिनग्राड (रूस) १९३६)

हरिभद्र पारमिता के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता और विवेचक माने जाते हैं[1]। सौभाग्यवश यह आलोक मूल संस्कृत में उपलब्ध है तथा प्रकाशित भी हुआ है[2]। यह ग्रन्थ 'अभिसमयालंकार' पर टीका होने के अतिरिक्त 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' पर भी टीका है। तिब्बत में इस ग्रन्थका गाढ़ अध्ययन तथा अनुशीलन आज भी होता है। योगाचार के धार्मिक रहस्यवाद की जानकारी के लिए यह ग्रन्थ नितान्त उपादेय है। डा० तुशी को आर्य विमुक्तसेन की व्याख्या का कतिपय अंश भी प्राप्त हुआ है।

२ आर्य असंग—

योगाचार सम्प्रदाय के सबसे प्रसिद्ध आचार्य आर्य असंग मैत्रेयनाथ के शिष्य थे। इस शिष्य ने अपने ग्रन्थों से इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली कि विद्वानों ने भी इनके गुरु के अस्तित्व को भुला दिया। इनका व्यापक पाण्डित्य तथा अलौकिक व्यक्तित्व इनके ग्रन्थों में सर्वत्र परिलक्षित होता है। इनका पूरा नाम 'वसुवन्धु असंग' था। ये आचार्य वसुबन्धु के ज्येष्ठ भ्राता थे। सम्राट् समुद्रगुप्त के समय (४ थीं शताब्दी) में इनका आविर्भाव हुआ था। विज्ञानवाद की प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा तथा प्रभुत्व के प्रधान कारण आर्य असंग ही थे। अपने अनुज वसुबन्धु को वैभाषिक मत से हटा कर योगाचार मत में दीक्षित करने का सारा श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इनके ग्रन्थों का विशेष पता चीनी भाषा में किये गये अनुवादों से ही चलता है।

(१) महायान सम्परिग्रह—इस ग्रन्थ में महायान के सिद्धान्त संक्षेप रूप से वर्णित हैं। यह ग्रन्थ मूल संस्कृत में नहीं मिलता परन्तु इसके तीन चीनी अनुवाद उपलब्ध हैं।—(१) बुद्धशान्तकृत—५३१ ई० (२) परमार्थ—५६३ ई० (३) ह्वेन्साङ्गकृत—६५० ई०। इस ग्रन्थ की दो टीकाओं का पता

---

१. इस ग्रन्थ का संस्कृत मूल संस्करण 'बिब्लोथिका बुद्धिका' नं० २३ (१९२९ ई०) में डा० चेरबात्स्की के सम्पादकत्व में निकला है तथा इसकी समीक्षा डा० ओबेरमिलर ने 'Analysis of Abhisamayalankara of Maitreya' नाम से निकाला है। द्रष्टव्य (कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज नं० २७)

२. गा० ओ० सी० में डा० तुशी के सम्पादकत्व में प्रकाशित।

चलता है जिसमें सबसे प्रसिद्ध टीका आचार्य वसुबन्धु की थी जिसके तीन अनुवाद चीनी भाषा में उपलब्ध हैं[1]।

(२) प्रकरण आर्यवाचा—योगाचार के व्यावहारिक तथा नैतिक रूप की व्याख्या। ह्वेन्साङ्ग ने इसका चीनी भाषा में अनुवाद एगारह परिच्छेदों में किया है।

(३) योगाचार भूमिशास्त्र—यह ग्रन्थ बड़ा विशालकाय है जिसमें योगाचार के साधनमार्ग का प्रामाणिक विस्तृत वर्णन है। विज्ञानवाद को 'योगाचार' के नाम से पुकारने का कारण यही ग्रन्थ है। इसका केवल एक छोटा अंश संस्कृत में प्रकाशित है। सौभाग्यवश यह पूरा विराट् ग्रन्थ संस्कृत में राहुल सांस्कृत्यायन के प्रयत्न से उपलब्ध हो गया है। इसके परिच्छेदों का नाम 'भूमि' है। ग्रन्थ के १७ भूमियों के नाम ये हैं—(१) विज्ञान भूमि, (२) मनोभूमि, (३) सवितर्क-सविचारा भूमि, (४) अवितर्क विचारमात्रा भूमि (५) अवितर्कअविचारा भूमि, (६) समाहिता भूमि (७) असमाहिता भूमि, (८) सचित्तका भूमि, (९) अचित्तका भूमि, (१०) श्रुतमयी भूमि, (११) चिन्तामयी भूमि, (१२) भावनामयी भूमि, (१३) श्रावक भूमि, (१४) प्रत्येकबुद्ध भूमि, (१५) बोधिसत्त्वभूमि (१६) सोपधिका भूमि तथा (१७) निरुपधिका भूमि। इस ग्रन्थ में विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का विशद विवेचन है[2]।

(४) महायान सूत्रालंकार—असंग का यह ग्रन्थ विद्वानों में विशेष प्रसिद्ध है। मूल संस्कृत में इसका प्रकाशन भी बहुत पहिले हुआ था। इसमें २१ अधिकार (परिच्छेद) हैं। कारिका मैत्रेयनाथ की है परन्तु व्याख्या असंग की। विज्ञानवाद का यह नितान्त मौलिक ग्रन्थ है जिसमें महायान—सूत्रों का सार अंश संकलित किया गया है[3]।

---

१. इस ग्रन्थ के विशेष विवरण के लिये देखिये—

P. K. Mukharji—Indian Literature in China and the Far East P. 228—29.

२. ग्रन्थ की विस्तृत विषय सूची के लिए द्रष्टव्य—राहुल—दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ७०५-७१४।

३. डा० सिल्वाँ लेवी के द्वारा १९०९ में पेरिस से प्रकाशित तथा फ्रेंच में अनुवादित।

३ आचार्य वसुबन्धु—

वसुबन्धु का परिचय पहिले दिया जा चुका है। जीवन के अन्तिम काल में अपने ज्येष्ठ भ्राता आर्य असंग के संसर्ग में आकर इन्होंने योगाचार मत को ग्रहण कर लिया था। सुनते हैं कि अपने पूर्व जीवन में लिखित महायान की निन्दा को स्मरण कर इन्हें इतनी ग्लानि हुई कि ये अपनी जीभ को काटने पर तुल गये थे परन्तु आर्य असंग के समझाने पर इन्होंने महायान सम्प्रदाय की सेवा करने का भार उठाया और पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थों की रचना कर विज्ञानवाद के भण्डार को भर दिया। इनके महायान सम्बन्धी ग्रन्थ ये हैं—

(१)—सद्धर्म पुण्डरीक की टीका—५०८ ई० से लेकर ५३५ ई० के बीच चीनी भाषा में अनूदित।

(२)—महापरिनिर्वाणसूत्र की टीका—चीनी अनुवाद ही उपलब्ध है।

(३)—वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता की टीका—इसका अनुवाद ३८६ ई० से ५३४ के बीच चीनी भाषा में अनुवादित।

(४)—विज्ञप्ति मात्रतासिद्धि—यह विज्ञानवाद की सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक व्याख्या है। इसके दो पाठ (Recension) उपलब्ध हैं (१) विंशिका (२) त्रिंशिका। विंशिका में २० कारिकायें हैं जिसके ऊपर वसुबन्धु ने स्वयं भाष्य लिखा है। त्रिंशिका में तीस कारिकायें हैं जिसके ऊपर इनके शिष्य स्थिरमति ने भाष्य लिखा है[1]। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' का चीनी भाषा में अनुवाद ह्वेन्साङ्ग ने किया था जो आज भी उपलब्ध है। राहुल सांकृत्यायन ने इस ग्रन्थ के कुछ अंश का अनुवाद चीनी से संस्कृत में किया है[2]।

४ आचार्य स्थिरमति—

आचार्य स्थिरमति वसुबन्धु के शिष्य हैं। उनके चारों शिष्यों में आप ही उनके पट्ट शिष्य माने जाते हैं। इन्होंने अपने गुरुके ग्रन्थों पर महत्त्वपूर्ण व्याख्या लिखी हैं। इस प्रकार आचार्य वसुबन्धु के गूढ़ अभिप्रायों को समझाने के लिए स्थिरमति ने व्याख्या रचकर आदर्श शिष्य का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया

---

१. इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत संस्करण डा० सिलवन लेवी ने पेरिस (१९२५) से निकाला है जिसमें विंशिका तथा त्रिंशिका पर लिखे भाष्य भी सम्मिलित हैं।

२. Journal of Behar & Orissa Research Society,

है। आप चौथी शताब्दी के अन्त में विद्यमान थे। इनके निम्नलिखित ग्रन्थों का पता चलता है जिनका अनुवाद तिब्वती भाषा में आज भी उपलब्ध है :—

(१) **काश्यपपरिवर्त टीका**—तिब्बतीय अनुवाद के साथ इसका चीनी अनुवाद भी मिलता है।

(२) **सूत्रालंकारवृत्तिभाष्य**—यह ग्रन्थ वसुबन्धु की सूत्रालंकारवृत्ति की विस्तृत व्याख्या है। इस ग्रन्थ को सिल्वन लेवी ने सम्पादित कर प्रकाशित किया है।

(३) **त्रिंशिका भाष्य**—वसुबन्धु की 'त्रिंशिका' के ऊपर यह एक महत्त्वपूर्ण भाष्य है। इस ग्रन्थ के मूल संस्कृत को सिल्वन लेवी ने नेपाल से खोज निकाला है तथा फ्रेञ्चभाषा में अनुवाद करके प्रकाशित किया है।

(४) **पञ्चस्कन्धप्रकरण वभाष्य।**

(५) **अभिधर्मकोष भाष्यवृत्ति**—यह ग्रन्थ वसुबन्धु के अभिधर्मकोश के भाष्य के ऊपर टीका है। इसका संस्कृत मूल नहीं मिलता परन्तु तिब्वती भाषा में इसका अनुवाद आज भी उपलब्ध है।

(६) **मूलमाध्यमिक कारिका वृत्ति**—कहा जाता है कि यह आचार्य नागार्जुन के प्रसिद्ध ग्रन्थ की टीका है।

(७) **मध्यान्तविभागसूत्रभाष्यटीका**—आचार्य मैत्रेय 'मध्यान्तविभाग' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा था। उसी पर वसुबन्धु ने अपना भाष्य लिखा। इस ग्रन्थ में योगाचार के मूल सिद्धान्तों का विस्तृत स्पष्टीकरण है। इसी भाष्य के ऊपर स्थिरमति ने यह टीका बनाई है जो उनके सब ग्रन्थों से अधिक महत्त्व-पूर्ण मानी जाती है। योगाचार के गूढ़ सिद्धान्तों को समझने के लिए यह टीका नितान्त उपयोगी है[1]।

---

१. इस ग्रन्थ का तिब्वतीय अनुवाद ही प्राप्त था परन्तु पं० विधुशेखर भट्टाचार्य तथा डा० तुशी ने तिब्बतीय अनुवाद से, इस ग्रन्थ का संस्कृत में पुन-र्निर्माण किया है जिसका प्रथम भाग कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज (नं० २४) में छपा है। इस पूरे ग्रन्थ का अनुवाद डा० चेरवास्की ने अंग्रेजी में किया है। द्रष्टव्य बी० बु० भाग ३०, मास्को १९३६। यह अनुवाद इस कठिन ग्रन्थ को समझने के लिए नितान्त उपयोगी है।

५ दिङ्नाग—इनका जन्म काञ्ची के पास सिंहवक्र नामक ग्राम में, एक ब्राह्मण के घर हुआ था। आपके 'नागदत्त' नामक प्रथम गुरु वात्सीपुत्रीय मत के एक प्रसिद्ध पण्डित थे। इन्होंने आपको बौद्धधर्म में दीक्षित किया, इसके पश्चात् आप आचार्य वसुबन्धु के शिष्य हुए। निमन्त्रण पाकर आप नालन्दा महाविहार में गए जहाँ पर आपने सुदुर्जय नामक ब्राह्मण तार्किक को शास्त्रार्थ में हराया। शास्त्रार्थ करने के लिए आप उड़ीसा और महाराष्ट्र में भ्रमण किया करते थे। आप अधिकतर उड़ीसा में रहा करते थे। आप तन्त्र-मन्त्रों के भी विशेष ज्ञाता थे। तिब्बतीय ऐतिहासिक लामा तारानाथ ने इनके विषय में लिखा है कि एक बार उड़ीसा के राजा के अर्थ-सचिव भद्रपालित--जिसे दिङ्नाग ने बौद्धधर्म में दीक्षित किया था—के उद्यान में हरीतकी वृक्ष की एक शाखा के बिलकुल सूख जाने पर दिङ्नाग ने मन्त्र द्वारा उसे सात ही दिनों के अन्दर फिर से हरा-भरा कर दिया। इस प्रकार बौद्धधर्म में सारी शक्तियों को लगाकर उन्होंने अपने धर्म की अनुपम सेवा की। अन्त में ये उड़ीसा के एक जंगल में निर्वाण-पद में लीन हो गए। ये वसुबन्धु के पट्टशिष्यों में से थे, अतः इनका समय ईसा की चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्ध तथा पाँचवी शताब्दी का पूर्वार्ध (३४५ ई०-४२५ ई०) है।

(१) प्रमाण समुच्चय—इनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह संस्कृत में अनुष्टुप छन्दों में लिखा गया था। परन्तु बड़े दुःख की बात है कि इसका संस्कृतमूल उपलब्ध नहीं है। हेमवर्मा नामक एक भारतीय पण्डित ने एक तिब्बतीय विद्वान् के सहयोग से इस ग्रन्थ का तिब्बतीय भाषा में अनुवाद किया था। इस ग्रन्थ में ६ परिच्छेद हैं जिनमें न्यायशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों का विशद प्रतिपादन है। इनका विषय-क्रम यों है—(१) प्रत्यक्ष (२) स्वार्थानुमान (३) परार्थानुमान (४) हेतुदृष्टान्त (५) अपोह (६) जाति।

(२) प्रमाण समुच्चयवृत्ति—यह पहले ग्रन्थ की व्याख्या है। इसका संस्कृत मूल नहीं मिलता, परन्तु तिब्बतीय अनुवाद उपलब्ध है।

(३) न्याय-प्रवेश—आचार्य दिङ्नाग का यही एक ग्रन्थ है जो मूल संस्कृत में उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ लोग इसे दिङ्नाग के शिष्य 'शंकरस्वामी' की रचना बतलाते

हैं। परन्तु वास्तव में यह दिङ्नाग की ही कृति है। इसमें सन्देह करने का तनिक भी स्थान नहीं है[1]।

(४) **हेतुचक्रहमरु**—इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'हेतुचक्रनिर्णय' है। इसमें नव प्रकार के हेतुओं का संक्षिप्त वर्णन है। अब तक इस ग्रन्थ का तिब्बतीय अनुवाद ही मिलता था परन्तु दुर्गाचरण चटर्जी ने इस ग्रन्थ का संस्कृत में पुनर्निर्माण किया है। इसके देखने से पता लगता है कि 'जहोर' नामक स्थान के 'बोधिसत्त्व' नामक किसी विद्वान् ने भिक्षु धर्माशोक की सहायता से तिब्बतीय भाषा में इसका अनुवाद किया था।

(५) **प्रमाणशास्त्रन्यायप्रवेश**—इसके अनुवाद तिब्बती तथा चीनी भाषा में मिलते हैं। (६) **आलम्बन परीक्षा** (७) **आलम्बनपरीक्षा-वृत्ति**—यह आलम्बन परीक्षा की टीका है। (८) **त्रिकाल परीक्षा**—इसके संस्कृत मूल का पता नहीं है परन्तु तिब्बती भाषा में इसका अनुवाद मिलता है। (९) **मर्मप्रदीपवृत्ति**—यह दिङ्नाग के गुरु आचार्य वसुबन्धु के 'अभिधर्म कोश' की टीका है। संस्कृत मूल का पता नहीं हैं। तिब्बतीय अनुवाद मिलता है।

बौद्ध न्याय को सुव्यवस्थित करने में दिङ्नाग का बड़ा हाथ है। इनके पहिले गौतम तथा वात्स्यायन ने परार्थानुमान के लिये 'पञ्चावयव वाक्य' का वर्णन किया था। परन्तु इस मत का खण्डन करके दिङ्नाग ने यह दिखलाया है कि तीन ही अवयवों से काम चल सकता है। प्रत्यक्ष अनुमान के जो लक्षण गौतम तथा वात्स्यायन ने दिये थे उनका खण्डन दिङ्नाग ने इतने अभिनिवेश के साथ किया है कि ब्राह्मण दार्शनिक उद्योतकर को दिङ्नाग के सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिये 'न्यायवार्तिक' जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना करनी पड़ी। मीमाँसक—मूर्धन्य कुमारिल भट्ट ने भी दिङ्नाग की उक्तियों का बड़े विस्तार के साथ 'श्लोक-वार्तिक' में खण्डन किया है। ब्राह्मण दार्शनिकों के द्वारा किये गये इस प्रचण्ड आक्रमण को देखकर हम इनकी अलौकिक महत्ता को भलीभाँति समझ सकते हैं। दिङ्नाग बौद्धन्याय के विद्वान् प्रतिष्ठापक हैं जिन्होंने विज्ञानवाद के समर्थन के लिये अभिनव

---

१. यह ग्रन्थ गायकवाड ओरियन्टल सीरीज़ (सं ३८) में प्रकाशित हुआ है जिसका सम्पादन आचार्य ए० बी० ध्रुव ने किया है। इस ग्रन्थ का तिब्बतीय भाषा में भी अनुवाद मिलता है जो गायकवाड़ सीरीज़ नं० ३९ में छपा है।

सिद्धान्तों की उद्भावना कर बौद्धन्याय को स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित किया।

(६) **शंकर स्वामी**—चीन-देशीय ग्रन्थों से पता चलता है कि शंकर स्वामी दिङ्नाग के शिष्य थे। डा० विद्याभूषण उन्हें दक्षिण भारत का निवासी बतलाते हैं। चीनी त्रिपिटक के अनुसार शंकर स्वामी ने 'हेतुविद्यान्यायप्रवेश-शास्त्र' या 'न्यायप्रवेशतर्कशास्त्र' नामक बौद्ध न्याय-ग्रन्थ बनाया था जिसका चीनी भाषा में अनुवाद ह्वेनसांग ने ६४७ ई० में किया था। इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है कि यह ग्रन्थ दिङ्नागरचित 'न्याय-प्रवेश' से भिन्न है या नहीं। डा० कीथ तथा डा० तुशी 'न्यायप्रवेश' को दिङ्नाग की रचना न मानकर शंकर स्वामी की रचना मानते हैं।

(७) **धर्मपाल**—धर्मपाल काञ्ची (आन्ध्रदेश) के रहने वाले थे। ये उस देश के एक बड़े मंत्री के जेष्ठ पुत्र थे। लड़कपन से ही ये बड़े चतुर थे। एक बार उस देश के राजा और रानी इनसे इतने प्रसन्न हुए कि उन लोगों ने इन्हें एक बहुत बड़े भोज में आमन्त्रित किया। उसी दिन सायंकाल को इनका हृदय सांसारिक विषयों से इतना उद्विग्न हुआ कि इन्होंने बौद्ध-भिक्षु का वस्त्र धारण कर संसार को छोड़ दिया। ये बड़े उत्साह के साथ विद्याध्ययन में लग गये और अपने समय के गम्भीर विद्वान् बन गए। दक्षिण से ये नालन्दा में आए और यहीं पर नालन्दा महाविहार के कुलपति के पद पर प्रतिष्ठित हुए। ह्वेनसांग के गुरु शीलभद्र धर्मपाल के शिष्य थे। जब यह विद्वान् चीनी यात्री नालन्दा में बौद्ध दर्शन का अध्ययन कर रहा था उस समय धर्मपाल ही वहाँ के अध्यक्ष थे। योगाचार मत के उत्कृष्ट आचार्यों में उनकी गणना की जाती थी। माध्यमिक मत के व्याख्याकार चन्द्रकीर्ति इन्हीं के शिष्यों में से थे।

इनके ग्रन्थ—(१) आलम्बन-प्रत्ययध्यान-शास्त्र-व्याख्या, (२) विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धिव्याख्या, (३) शतशास्त्रव्याख्या—यह ग्रन्थ माध्यमिक आचार्य आर्यदेव के शतशास्त्र की उत्कृष्ट व्याख्या है। इसका अनुवाद ह्वेनसांग ने चीनी भाषा में ६५२ ई० किया था। यह विचित्र सी बात है कि ह्वेनसांग ने योगाचार मत के ही ग्रन्थों का अनुवाद किया। केवल यही ग्रन्थ ऐसा है जो माध्यमिक मत से सम्बन्ध रखता है[१]।

---

१. P. K. Mukerjee—Indian Literature in China Pp. 230.

(८) धर्मकीर्ति—धर्मकीर्ति अपने समय के ही तर्कनिष्णात दार्शनिक न थे प्रत्युत उनकी विमल कीर्तिपताका भारत के दार्शनिक गगन में सदा ही फहराती रहेगी। इनकी अलौकिक प्रतिभा की प्रशंसा प्रतिपक्षी दार्शनिकों ने भी मुक्तकण्ठ से की है। जयन्त भट्ट (१००० ई०) ने न्यायमञ्जरी में, धर्मकीर्ति से सिद्धान्तों का तीक्ष्ण आलोचक होने पर भी, इनको 'सुनिपुणबुद्धि' तथा इनके प्रयत्न को 'जगदभिभवधीर' माना है[1]।

इनका जन्म चोलदेश के 'तिरुमलई' नामक ग्राम में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। तिब्बतीय परम्परा के अनुसार इनके पिता का नाम 'पोरूनन्द' था। ये कुमारिलभट्ट के भागिनेय (भानजा) बतलाये जाते हैं। परन्तु इस बात के सत्य होने में बहुत कुछ सन्देह है। धर्मकीर्ति ने कुमारिल के सिद्धान्त का खण्डन तथा कुमारिल ने धर्मकीर्ति के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। इससे जान पड़ता है कि दोनों समकालीन थे। धर्मकीर्ति की प्रतिभा बड़ी विलक्षण थी। ब्राह्मण-दर्शनों का अध्ययन करने के लिए इन्होंने कुमारिल के घर सेवक का पद ग्रहण किया, ऐसा सुना जाता हैं। नालन्दा के पीठस्थविर धर्मपाल के शिष्य बन कर ये भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हुए। दिङ्नाग की शिष्य-परम्परा के आचार्य ईश्वरसेन से इन्होंने बौद्धन्याय का अध्ययन किया। चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने अपने ग्रन्थ में धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है कि ६७९ ई० से पूर्व ये अवश्य वर्तमान थे। धर्मपाल के शिष्य शीलभद्र नालन्दा के उस समय प्रधान आचार्य थे जब ह्वेनसाङ्ग वहाँ अध्ययन के लिये आया था। धर्मपाल के शिष्य होने से धर्मकीर्ति का समय ६२५ ई० के आसपास प्रतीत होता है।

ग्रन्थ--धर्मकीर्ति के ग्रन्थ बौद्ध प्रमाण-शास्त्र पर हैं। इनकी संख्या नव हैं जिनमें सात मूल ग्रन्थ है और दो अपने ही ग्रन्थों पर इन्हीं की लिखी हुई वृत्तियाँ है।

(१) प्रमाणवार्तिक--इस ग्रन्थ का परिमाण लगभग १५०० श्लोक है। धर्मकीर्ति का यही सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है जिसमें बौद्ध न्याय का परिष्कृत रूप विद्वानों के सामने आता है। यह ग्रन्थ-रत्न अब तक मूल संस्कृत में अप्राप्त था परन्तु

---

१. इति सुनिपुणबुद्धिर्लक्षणं वक्तुकामः, पदयुगलमपीदं निर्ममे नानवद्यम्।
भवतु मतिमहिम्नः चेष्टितं दृष्टिमेतत्; जगदभिभवधीरं श्रीमतो धर्मकीर्तेः॥

राहुल सांकृत्यायन ने बड़े परिश्रम से तिब्बत से इसकी खोज करके, प्राप्त कर प्रकाशित किया है। इसके ऊपर ग्रन्थकार ने स्वयं अपनी टीका लिखी थी। इसके अतिरिक्त दश और टीकायें तिब्बती भाषा तथा संस्कृत में मिलती हैं[1] जिसमें केवल मनोरथनन्दी की वृत्ति ही अब तक प्रकाशित हुई है। इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं। पहिले में स्वार्थानुमान, दूसरे में प्रमाणसिद्धि, तीसरे में प्रत्यक्षप्रमाण और चौथे में परार्थानुमान का वर्णन है।

(२) **प्रमाण विनिश्चय**--इसका ग्रन्थ परिमाण १३४० श्लोक है। यह मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है।

(३) **न्यायविन्दु**—धर्मकीर्त्ति का यही सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। बौद्ध न्याय इसका विषय है। ग्रन्थ सूत्र रूप में है। इसके ऊपर धर्मोत्तराचार्य की टीका (काशी संस्कृत सीरिज़ संख्या २२) प्रकाशित है। इस ग्रन्थ में तीन परिच्छेद हैं। पहिले परिच्छेद में प्रमाण के लक्षण तथा प्रत्यक्ष के भेदों का वर्णन है। दूसरे परिच्छेद में अनुमान के दो प्रकार—स्वार्थ और परार्थ का वर्णन है। साथ ही साथ हेत्वाभास का भी वर्णन है। तृतीय परिच्छेद में परार्थानुमान का विषय है तथा तत्सम्बद्ध अनेक विषयों का विवरण है।

(४) **सम्बन्ध परीक्षा**—यह बहुत ही छोटा ग्रन्थ है। इसके ऊपर धर्मकीर्ति ने स्वयं वृत्ति लिखी थी जो मूल ग्रन्थ के साथ तिब्बतीय अनुवाद में आज भी उपलब्ध है।

(५) **हेतुविन्दु**—यह न्यायपरक ग्रन्थ परिमाण में न्यायविन्दु से बढ़कर है। यह संस्कृत में उपलब्ध है परन्तु अभी तक छपा नहीं है।

(६) **वादन्याय**—यह वाद-विषयक ग्रन्थ है।

(७) **सन्तानान्तर-सिद्धि**—यह छोटा ग्रन्थ है जिसमें ७२ सूत्र हैं। मन सन्तान के परे भी दूसरी दूसरी मन सन्तानें (सन्तानान्तर) हैं, इसमें ग्रन्थकार ने यह सिद्ध किया है तथा अन्त में दिखलाया है कि किस प्रकार ये मनोविज्ञान के सन्तान दृश्य जगत् की उत्पत्ति करते हैं।

धर्मकीर्ति की शिष्य परम्परा बड़ी लम्बी है जिसके अन्तर्भुक्त होने वाले पण्डितों ने बौद्धदर्शन का अपने ग्रन्थों की सहायता से विशेष प्रचार तथा प्रसार किया परन्तु स्थानाभाव से इन ग्रन्थकारों का परिचय यहाँ नहीं दिया जा सकता।

---

१. राहुल-दर्शन-दिग्दर्शन पृ० ७४३।

अष्टादश परिच्छेद

दार्शनिक सिद्धान्त

सौत्रान्तिक मत के पर्यालोचन के अवसर पर हमने उनका दार्शनिक दृष्टि से परिचय प्राप्त किया है। उनके मत में बाह्य अर्थ की सत्ता ज्ञान के द्वारा अनुमेय है। हमें बाह्यार्थ की प्रतीति होती है। अतः हमें बाह्यार्थ की सत्ता का अनुमान होता है। इसलिए ज्ञान के द्वारा ही बाह्य पदार्थों के अस्तित्व का परिचय हमें मिलता है। विज्ञानवादी इस मत से एक डग आगे बढ़ कर कहता है कि यदि बाह्यार्थ की सत्ता ज्ञान पर अवलम्बित है तो ज्ञान ही वास्तव सत्ता है। विज्ञान या विज्ञप्ति ही एकमात्र परमार्थ है। जगत् के पदार्थ तो वस्तुतः माया-मरीचिका के समान निःस्वभाव तथा स्वप्न के समान निरुपाख्य हैं। जिसे हम बाह्य पदार्थ के नाम से अभिहित करते हैं, उसका विश्लेषण करें तो वहाँ आँख से देखे गये रंग-आकार, हाथ से छुए गए रुक्षता-चिक्कणता आदि गुण ही मिलते हैं, इनके व्यतिरिक्त किसी वस्तु स्वभाव का परिचय हमें नहीं मिलता। प्रत्येक वस्तु के देखने पर हमें नीला पीला रंग तथा लंबाई, चौड़ाई, मोटाई आदि को छोड़कर केवल रूप—भौतिकतत्त्व—दिखलाई नहीं पड़ता[1]। बाह्य पदार्थ का ज्ञान हमें कथमपि हो नहीं सकता। यदि बाह्य पदार्थ अणुरूप है, तो उसका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि वह प्रचय-रूप है (अर्थात् अनेक परमाणुओं के संघात से बना हुआ है), तोभी उसका ज्ञान असम्भव है। क्योंकि प्रचयरूप पदार्थों के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग का (अगल-बगल का) एक-कालिक ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता। ऐसी दशा में हम बाह्यार्थ की सत्ता किस प्रकार मान सकते हैं? सत्ता केवल एक ही पदार्थ की है और वह पदार्थ **विज्ञान** है।

समीक्षा

बाह्य पदार्थों के अभाव में हम उनकी सत्ता नहीं मान सकते। प्रतिदिन का जीवन हमें बतलाता है कि अनुभव का हम कथमपि प्रतिषेध नहीं कर सकते। 'हम जानते हैं' इस घटना का तिरस्कार कोई भी नहीं कर सकता। अतः ज्ञान है—यही वास्तव सत्ता है। विज्ञानवादी विशुद्ध प्रत्ययवादी है। उसकी दृष्टि में भौतिक पदार्थ नितरां असिद्ध है, विज्ञान ही बाह्यपदार्थ के अभाव में भी सत्य पदार्थ

---

१. प्रमाणवार्तिक ३।२०२।

है। विज्ञान अपनी सत्ता के लिए कोई अवलम्बन नहीं चाहता। वह अवलम्बन के बिना ही सिद्ध है। इसी कारण विज्ञानवादी को 'निरालम्बन वादी' की संज्ञा प्राप्त है।

माध्यमिकों का शून्यवाद विज्ञानवादी की दृष्टि में नितान्त हेय सिद्धान्त है। जब हम किसी पदार्थ के विषय में सोच सकते हैं—प्रतिवादी के अभिप्राय को समझकर उसकी युक्तियों का खण्डन करते हैं—तब हमें बाध्य होकर शून्यवाद को तिलाञ्जलि देनी पड़ती है। माध्यमिक को लक्षित कर योगाचार का कथन है कि 'यदि तुम्हारा सर्वशून्यता का सिद्धान्त मान्य ठहराया जाय, तो शून्य ही तुम्हारे लिए सत्यता के माप की कसौटी होगा। तब दूसरे वादी के साथ वाद करने का अधिकार तुम्हें कथमपि नहीं हो सकता[1]। प्रमाण के भावात्मक होने पर ही वाद विवाद के लिए अवकाश है। शून्य को प्रमाण मानने पर शास्त्रार्थ की कसौटी ही क्या मानी जायगी जिससे हार जीत की व्यवस्था की जा सकेगी। ऐसी दशा में तुम किस प्रकार अपने पक्ष को स्थापित कर सकते हो या पर-पक्ष में दूषण लगा सकते हो[2]?' भावात्मक नियामक के अभाव में यही दशा गले पतित होगी। अतः इस विज्ञान की सत्ता शून्यवादियों को भी माननी ही पड़ेगी; नहीं तो पूरा तर्कशास्त्र असिद्ध हो जायेगा। शून्यवादियों ने स्वयं अपने पक्ष की पुष्टि में तर्क तथा युक्ति का आश्रय लिया है और इनके लिए उन्होंने तर्कशास्त्र का विशेष ऊहापोह किया है। परन्तु विज्ञान के अस्तित्व को न मानने पर यह शून्यवादियों का पूरा उद्योग बालू की भीत के समान भूतलशायी हो जायेगा। अतः विज्ञान (= चित्त) की ही सत्ता वास्तविक है।

इस विषय में 'लंकावतारसूत्र' का स्पष्ट कथन है—

> चित्तं वर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।
> चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते॥

चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है। चित्त को छोड़कर दूसरी वस्तु उत्पन्न नहीं होती और न उसका नाश होता है। चित्त ही

---

१. त्वयोक्तसर्वशून्यत्वे प्रमाणं शून्यमेव ते।
अतो वादेऽधिकारस्ते न परेणोपपद्यते॥

२. स्वपक्षस्थापनं तद्वत् परपक्षस्य दूषणम्।
कथं करोत्यत्र भवान् विपरीतं वदेन्न किम्॥ (सर्वसिद्धान्तसंग्रह पृ० १२)

एकमात्र तत्त्व है। वसुबन्धु ने भी 'विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि' में इसी तत्त्व का बड़ा ही मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

'विज्ञान' के अन्य पर्याय हैं—चित्त, मन तथा विज्ञप्ति[1]। किसी विशिष्ट क्रिया की प्रधानता मानकर इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। चेतन क्रिया से सम्बद्ध होने से यह 'चित्त' कहलाता है, मनन क्रिया करने से वही 'मन' है तथा विषयों के ग्रहण करने में कारणभूत होने से वही 'विज्ञान' पद वाच्य होता है—

चित्तमालयविज्ञानं मनो यन्मन्यनात्मकम्।
गृह्णाति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते॥
(लंकावतार, गाथा १०२)

लंकावतार सूत्र में तथा योगाचार ग्रन्थों में चित्त की ही एकमात्र सत्ता का प्रतिपादन बड़े ही अभिनिवेश के साथ किया गया है। इस विश्व में जितने हेतु-प्रत्यय से जनित संस्कृत पदार्थ हैं, उनका न तो आलम्बन है और न कोई आलम्बन देने वाला ही है। वे निश्चित रूप से चित्त—मात्र हैं—चित्त के चित्र विचित्र नानाकार परिणाम है[2]। साधारण जन आत्मा को नित्य स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं, परन्तु वह केवल व्यवहार के लिए संज्ञा (प्रज्ञप्ति सत्य) के रूप में खड़ा किया गया है; वह वास्तव द्रव्य (द्रव्य सत्) कथमपि नहीं है। वह पञ्च स्कन्धों का समुदाय माना जाता है, परन्तु स्कन्ध स्वयं संज्ञा—रूप हैं, द्रव्य रूप से उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती[3]। इस जगत् में न तो भाव विद्यमान है, न अभाव। चित्त को छोड़कर कोई भी पदार्थ सत् नहीं है। परमार्थ को नाना नामों से पुकारा जाता है। तथता, शून्यता, निर्वाण, धर्मधातु, सब उसी परम तत्त्व के पर्यायवाची नाम हैं। चित्त (आलय विज्ञान) को ही तथता के नाम से पुकारते हैं[4]। अतः योगाचार का परिनिष्ठित मत यही है[5]—

दृश्यते न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥

---

१. चित्तं मनश्च विज्ञानं संज्ञा वैकल्पवर्जिताः
विकल्पधर्मतां प्राप्ताः श्रावका न जिनात्मजाः॥ (लंकावतार ३।४०)

२. लंकावतार ३।२५ ३. वही ३।२७

४. लंकावतार ३।३१ ५. वही ३।३३

अर्थात् बाहरी दृश्य जगत् बिल्कुल विद्यमान नहीं है। चित्त एकाकार है। परन्तु वही इस जगत् में विचित्र रूपों से दीख पड़ता है। कभी वह देह के रूप में और कभी भोग (वस्तुओं के उपभोग) के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, अतः चित्त ही की वास्तव में सत्ता है। जगत् उसीका परिणाम है।

चित्त के द्विविध रूप

चित्त ही द्विविध रूप से प्रतीयमान होता है[1]—(१) ग्राह्य-विषय, (२) ग्राहक—विषयी, ग्रहण करनेवाली वस्तु की उपलब्धि के समय तीन पदार्थ उपस्थित होते हैं—एक तो वह जिसका ग्रहण किया जाता है (विषय, घट-पट), दूसरा वह जो उक्त वस्तु का ग्रहण करता है (विषयी, कर्ता) और तीसरी वस्तु है इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध या ग्रहण। ग्राह्य-ग्राहक-ग्रहण अथवा ज्ञेय-ज्ञाता-ज्ञान--यह त्रिपुटी सर्वत्र विद्यमान रहती है। साधारण दृष्टि से यहाँ तीन वस्तुओं की सत्ता है, परन्तु ये तीनों ही एकाकार बुद्धि या विज्ञान या चित्त के परिणमन हैं जो वास्तविक न होकर काल्पनिक हैं। भ्रान्त दृष्टि वाला व्यक्ति ही अभिन्न बुद्धि में इस त्रिपुटी की कल्पना कर उसे भेदवती बनाता है[2]। विज्ञान का स्वरूप एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं। योगाचार विज्ञानाद्वैतवादी हैं। उनकी दृष्टि पूरी अद्वैतवाद की है, परन्तु प्रतिभान—प्रतिभासित होनेवाले पदार्थों की भिन्नता तथा बहुलता के कारण एकाकार बुद्धि बहुल के समान प्रतीत होती है। बुद्धि में इस प्रतिभान के कारण किसी प्रकार का भेद उत्पन्न नहीं होता[3]। इस विषय में योगाचारी विद्वान् प्रमदा का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। एक ही प्रमदा के शरीर को संन्यासी शव समझता है, कामुक कामिनी जानता है तथा कुत्ता उसे भक्ष्य मानता है। परन्तु वस्तु एक ही हैं। केवल कल्पनाओं के कारण वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न प्रतीत होती है। बाला के समान ही बुद्धि की दशा है। एक होने

---

१. चित्तमात्रं न दृश्योऽस्ति, द्विधा चित्तं हि दृश्यते।
ग्राह्यग्राहकभावेन शाश्वतोच्छेदवर्जितम्॥ (लंकावतार ३।६५)

२. अविभागो हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥ (स० सि० सं० पृ० १२)

३. बुद्धिस्वरूपमेकं हि वस्त्वस्ति परमार्थतः।
प्रतिभानस्य नानात्वान्न चैकत्वं विहन्यते॥ (स० सि० सं० ४।२।६)

पर भी वह नाना प्रतिभासित होती है। कर्ता-कर्म, विषय-विषयी वह सब स्वयं है।

विज्ञान के प्रभेद

विज्ञान का स्वरूप एक अभिन्न आकार का है परन्तु अवस्थाभेद से वह आठ प्रकार का माना जाता है। (१) चक्षुविज्ञान (२) श्रोत्र-विज्ञान (३) घ्राण-विज्ञान (४) जिह्वा विज्ञान (५) काय विज्ञान (६) मनोविज्ञान (७) क्लिष्ट मनोविज्ञान (८) आलय विज्ञान। इनमें आदिम सात विज्ञानों को 'प्रवृत्ति विज्ञान' कहते हैं जो आलय विज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं तथा उसी में विलीन हो जाते हैं।

(१)—चक्षुर्विज्ञान

प्रवृत्ति विज्ञान में चक्षुर्विज्ञान के लक्षण तथा स्वभाव का निरूपण असंग ने 'योगाचार भूमि' में किया है। चक्षु के सहारे से जो विज्ञान प्राप्त होता है वह चक्षुर्विज्ञान कहलाता है। इस विज्ञान के तीन आश्रय हैं:—

(१) चक्षु–जो विज्ञान के साथ साथ अस्तित्त्व में आता है और साथ ही साथ विलीन होता है। अतः सदा संवद्ध होने के कारण चक्षु 'सहभू' आश्रय है।

(२) मन–जो इस विज्ञान की सन्तति का पीछे आश्रय बनता है। अतः मन **समनन्तर** आश्रय है।

(३) रूप, इन्द्रिय, मन तथा सारे विश्व का बीज जिसमें सदा विद्यमान रहता है वह **सर्वबीजक** आश्रय आलयविज्ञान है। इन तीनों आश्रयों में चक्षु-रूप (भौतिक) होने से रूपी आश्रय है तथा अन्य दोनों अरूपी आश्रय हैं। चक्षुर्विज्ञान को आलम्बन या विषय तीन हैं। (१) वर्ण—नील, पीत, लाल, आदि; (२) संस्थान (आकृति)—ह्रस्व, दीर्घ, वृत्त, परिमण्डल आदि। (२) विज्ञप्ति (क्रिया)—जैसे लेना, फेकना, बैठना, दौड़ना आदि। चक्षुर्विज्ञान इन्हीं विषयों को लक्षित कर उत्पन्न होता है। चक्षुर्विज्ञान के कर्म छः प्रकार के बतलाये गये हैं। (१) स्वविषयावलम्वी (२) स्वलक्षण (३) वर्तमान काल (४) एक क्षण (५) इष्ट या अनिष्ट फल का ग्रहण (६) शुद्ध और अशुद्ध मन के विज्ञान कर्म के उत्थान। इसी प्रकार चक्षुर्विज्ञान के समान ही अन्य इन्द्रिय विज्ञान के भी आश्रय, आलम्बन कर्म आदि भिन्न-भिन्न होते हैं।

(२) मनोविज्ञान—

यह छठाँ विज्ञान है। चित्त, मन और विज्ञान इसके स्वरूप हैं। सम्पूर्ण

बीजों को धारण करने वाला जो आलय-विज्ञान है वही चित्त है। **मन** वह है जो अविद्या, अभिमान, अपने को कर्ता मानना तथा विषय की तृष्णा इन चार क्लेशों से युक्त रहता है। विज्ञान वह है जो कि आलम्बन की क्रिया में उपस्थित होता है। मनोविज्ञान का आश्रय स्वयं मन है। यह समनन्तर आश्रय है क्योंकि श्रोत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होनेवाले विज्ञान के अनन्तर वही इन विज्ञानों का आश्रय बनता है। इसीलिये **मन** को 'समनन्तर' आश्रय कहते हैं। बीज आश्रय तो स्वयं आलय-विज्ञान ही है। इस विज्ञान का विषय पाँचों इन्द्रियों के पाँचों विज्ञान हैं जिन्हें साधारण भाषा में 'धर्म' कहा जाता है। **मन** के सहायकों में मनस्कार, वेदना, संज्ञा, स्मृति, प्रज्ञा, श्रद्धा, रागद्वेष, ईर्ष्या आदि चैत्तिक (चित्त-सम्बन्धी) धर्म हैं। मन के वैशेषिक कर्म नाना प्रकार के हैं जिनमें विषय की कल्पना, विषय का चिन्तन, उन्माद, निद्रा, जागना, मूर्च्छित होना, मूर्च्छा से उठना, कायिक-वाचिक कर्मों का करना, शरीर छोड़ना (च्युति) तथा शरीर में आना (उत्पत्ति) आदि हैं। असंग ने **मन** की च्युति तथा उत्पत्ति के विषय में भी बहुत सी ऐसी सूक्ष्म वस्तुओं का विवेचन किया है जो आजकल के जीव-विज्ञान तथा मानस-शास्त्र (मनोविज्ञान) की दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण तथा विवेचनीय है।

(३) क्लिष्ट मनोविज्ञान—

यह सप्तम विज्ञान है। यह विज्ञान तथा आलय विज्ञान—दोनों विज्ञानवादी दार्शनिकों के सूक्ष्म मनस्तत्त्व के विवेचन के परिणाम हैं। सर्वास्तिवादियों ने विज्ञान की विवेचना ६ प्रकारों की स्वीकृत की है, परन्तु योगाचार-मतानुयायी पण्डितों ने दो नवीन विज्ञानों को जोड़कर विज्ञानों की संख्या आठ मानी है। षष्ठ तथा सप्तम विज्ञान 'मनोविज्ञान' का अभिन्न अभिधान धारण करते हैं, परन्तु उनके स्वरूप तथा कार्य में पर्याप्त विभिन्नता विद्यमान है। षष्ठ विज्ञान 'मनन' की साधारण प्रक्रिया का निर्वाहक है। पञ्च इन्द्रिय विज्ञानों के द्वारा जो विचार या प्रत्यय उसके सामने उपस्थित किया जाता है, उसका वह मनन करता है, परन्तु वह यह विभेद नहीं करता कि कौन से प्रत्यय आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं और कौन अनात्मा से। 'परिच्छेद' (विवेचन) का यह समग्र व्यापार सप्तम विज्ञान का अपना विशिष्ट कार्य है। वह सदा इस कार्य में व्यापृत रहता

है, चाहे प्राणी निद्रित हो चाहे वह किसी कारण से चेतनाहीन हो गया हो। यह मनोविज्ञान सांख्यों के 'अहंकार' का प्रतिनिधि है। यह अष्टम (आलय) विज्ञान के साथ उसी प्रकार सम्बद्ध रहता है जिस प्रकार इंजन के साथ यन्त्र के भिन्न भिन्न हिस्से। मनोविज्ञान का विषय 'आलय विज्ञान' का स्वरूप होता है। यह विज्ञान अपनी भ्रान्त कल्पना के सहारे आलयविज्ञान को अपरिवर्तनशील जीव समझ बैठता है। आलय विज्ञान सतत परिवर्तनशील होने से जीव से भिन्न है, परन्तु अहंकाराभिमानी यह सप्तम विज्ञान सन्तत उसे आत्मा मानने के लिए आग्रह करता है। इसके सहायक (साथियों) में निम्नलिखित चैतसिक धर्मों को गणना की जाती है—५ साधारण चित्तधर्म, प्रज्ञा, लोभ, मोह, मान, असम्यक् दृष्टि (अज्ञान, किसी वस्तु के विषय में मिथ्या ज्ञान०), स्त्यान, औद्धत्य, कौसीद्य (आलस्य), मुषितस्मृति (विस्मरण), असंप्रज्ञा (अज्ञान) तथा विक्षेप (चित्त का इतस्ततः भ्रमण)। इस मनोविज्ञान की प्रधान वृत्ति उपेक्षा की होती है। उपेक्षा का अर्थ है न कुशल न अकुशल, अपितु तटस्थता की वृत्ति। यह उपेक्षा दो प्रकार की होती है—आवृत (ढकी हुई) उपेक्षा तथा अनावृत्त उपेक्षा। 'आवृत उपेक्षा' की प्रधानता इस सप्तम विज्ञान में रहती है। विशुद्ध अहंकार द्योतक तत्त्व होने के कारण यह निर्वाण का अवरोध करता है। कल्पना का जब तक साम्राज्य है तब तक निर्वाण का विशुद्ध प्रकाश हमारी दृष्टि के सामने उपस्थित नहीं होता। 'अहं' की कल्पना माया-मरीचिका के समान भ्रान्ति उत्पन्न करती है। प्राणी बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक नाना अवस्था-भेद, विचार तथा आकांक्षा के विभेद को धारण करता हुआ सन्तत परिवर्तित होता रहता है। उसका 'अहं' जो अपरिवर्तनशील बतलाया गया है कहाँ विद्यमान है जिसकी खोज की जाय? पूर्व मनोविज्ञान से पार्थक्य दिखलाने के लिए इसे क्लिष्ट (क्लेशोंसे युक्त) मनोविज्ञान की संज्ञा दी गई है। विज्ञान का यह द्वितीय परिणाम माना जाता है[1]।

(४) आलय विज्ञान—

योगाचारमत में 'आलय विज्ञान' की कल्पना समधिक महत्त्व रखती है।

---

१. द्रष्टव्य—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पृ० २२-२४।

········तदाश्रित्य प्रवर्तते।

तदालम्बं मनो नाम विज्ञानं मननात्मकम्। (त्रिंशिका, कारिका ५)

अन्य दार्शनिकों ने विज्ञानवादियों पर इस सिद्धान्त के कारण बड़ा आक्षेप किया है, परन्तु विज्ञानवादियों ने इस स्वाभीष्ट सिद्धान्त की रक्षा के लिए बड़ी अच्छी युक्तियों का प्रदर्शन किया है। 'आलय-विज्ञान' वह तत्त्व है जिसमें जगत् के समग्र धर्मों के बीज निहित रहते हैं, उत्पन्न होते हैं तथा पुनः विलीन हो जाते हैं। इसी को आधुनिक मनोवैज्ञानिक 'सब्कानशश माइन्ड' कहते हैं[1]। वस्तुतः यह 'आत्मा' का विज्ञानवादी प्रतिनिधि माना जाता है यद्यपि दोनों कल्पनाओं में साम्य होते हुए भी विशेष वैषम्य है। इस विज्ञान को 'आलय' शब्द के द्वारा अभिहित किये जाने के (आचार्य स्थिरमति के अनुसार) तीन कारण है[2]—

(क) 'आलय' का अर्थ है स्थान। जितने क्लेशोत्पादक धर्मों के बीज हैं उनका यह स्थान है। ये बीज इसी में इकट्ठे किये गये रहते हैं। कालान्तर में विज्ञान रूप से बाहर आकर जगत् के व्यवहार का निर्वाह करते हैं।

(ख) इसी विज्ञान से विश्व के समग्र धर्म (= पदार्थ) उत्पन्न होते हैं। अतः समस्त धर्म कार्य रूप से सम्बद्ध रहते हैं। इसीलिये उनका नाम 'आलय' (लय होने का स्थान) है।

(ग) यही विज्ञान सब धर्मों का कारण है। अतः कारण-रूप से सब धर्मों में अनुस्यूत होने के कारण से भी यह 'आलय' कहा जाता है। इन व्युत्पत्तियों के समर्थन में स्थिरमति ने 'अभिधर्मसूत्र' की निम्नलिखित गाथा को उद्धृत किया है[3]—

सर्वधर्मा हि आलीना विज्ञाने तेषु तत्तथा।
अन्योन्यफलभावेन हेतुभावेन सर्वदा॥

अर्थात् विश्व के समस्त धर्म फलरूप होने से इस विज्ञान में आलीन (सम्बद्ध) होते हैं तथा यह आलयविज्ञान भी उन धर्मों के साथ सर्वदा हेतु होने से सम्बद्ध रहता है; अर्थात् जगत् के समस्त पदार्थों की उत्पत्ति इसी विज्ञान से होती है। यह विज्ञान हेतुरूप है तथा समग्र धर्म फलरूप हैं।

---

१. Subconscious Mind.

२. तत्र सर्वसांक्लेकिकधर्मबीजस्थानत्वाद् आलयः। आलयः स्थानमिति पर्यायौ। अथवा आलीयन्ते उपनिबध्यन्तेऽस्मिन् सर्वधर्माः कायभावेन। यद्वाऽऽलीयते उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेषु इत्यालयः। (त्रिंशिका भाष्य पृ० १८)

३. मध्यान्तविभाग पृ० २८।

आलयविज्ञान में अन्तर्निहित बीजों का फल वर्तमान संस्कार के रूप में लक्षित होते हैं। समग्र संसार तथा उसका जो अनुभव सात विज्ञानों के द्वारा हमें प्राप्त होता है वे सब इन्हीं पूर्वकालीन बीजों से उत्पन्न होते हैं और वर्तमान संस्कारों तथा अनुभवों से नये-नये बीजों की उत्पत्ति होती है जो भविष्य में बीजरूप से आलय-विज्ञान में अपने को अन्तर्निहित करते हैं।

आलय-विज्ञान का स्वरूप

आलयविज्ञान का स्वरूप समुद्र के दृष्टान्त से हृदयंगम किया जा सकता है। हवा के झकोरों से समुद्र में तरंगे नाचती रहती हैं—वे सदा अपनी लीला दिखलाया करती हैं—कभी विराम नहीं लेतीं। इसी प्रकार 'आलय-विज्ञान' में भी विषयरूपी वायु के झकोरों से चित्र विचित्र विज्ञान-रूपी तरंगे उठती हैं, सदा नृत्यमान होकर अपना खेल किया करती हैं और कभी उच्छेद धारण नहीं करतीं। 'आयलविज्ञान' समुद्रस्थानीय है, विषय पवन का प्रतिनिधि है तथा विज्ञान (सप्तविधविज्ञान) तरंगों के प्रतीक हैं[1]। जिस प्रकार समुद्र और तरंगों में भेद नहीं है, उसी प्रकार 'आलयविज्ञान' तथा अन्य सप्तविध विज्ञान विज्ञानाकार से भिन्न नहीं हैं। आचार्य वसुबन्धु ने भी आलयविज्ञान की वृत्ति जल के ओघ (बाढ़) के के समान बतलाई है[2]। जिस प्रकार जलप्रवाह तृण, काष्ठ, गोमय आदि नाना पदार्थों को खींचता हुआ सदा आगे बढ़ता जाता है उसी प्रकार यह विज्ञान भी पुण्य, अपुण्य अनेक कर्मों की वासना से अनुगत स्पर्श, संज्ञा, वेदना आदि चैत्त-धर्मों को खींचता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है। जब तक यह संसार है तब तक 'आलयविज्ञान' का विराम नहीं। यह उस जलप्रवाह के समान है जो अनवरत वेग से आगे बढ़ता जाता है, खड़ा होना जानता ही नहीं।

यह 'आलय विज्ञान' आत्मा का प्रतिनिधि माना जाता है, परन्तु दोनों में स्पष्ट अन्तर भी विद्यमान हैं जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। आत्मा

---

१. तरङ्गा उदधेर्यद्वत् पवनप्रत्ययेरिताः।
नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते॥
आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः।
चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैर्नृत्यमानः प्रवर्तते॥ (लं० सू० २।९९, १००)

२. तच्च वर्तते स्रोतसौघवत्। (त्रिंशिका का० ४, पृ० २१।२२)

आलय-विज्ञान = आत्मा

अपरिवर्तनशील रहता है—सदा एकाकार, एकरस, परन्तु 'आलय विज्ञान' परिवर्तनशील होता है। अन्य विज्ञान क्रियाशील हों या अपना व्यापार बन्द कर दें, परन्तु यह 'आलय विज्ञान' विज्ञान का सन्तत प्रवाह बनाये रखता है। इसकी चैतन्य धारा कभी उपशान्त नहीं होती। यह प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहता है, परन्तु यह समष्टि चैतन्य का प्रतीक है।

आलय-विज्ञान के चैत्तधर्म

इसके साथ सम्बद्ध सहायक चैत्त धर्म पाँच माने गये हैं[1]—(१) मनस्कार (चित्त की विषय की ओर एकाग्रता), (२) स्पर्श (इन्द्रिय तथा विषय के साथ विज्ञान का सम्पर्क), (३) वेदना (सुख-दुःख की भावना), (४) संज्ञा (किसी वस्तु का नाम), (५) चेतना (मन की वह चेष्टा जिसके रहने पर चित्त आलम्बन की ओर स्वतः झुकता है [चेतना चित्ताभिसंस्कारो मनसश्चेष्टा। यस्यां सत्यात्मालम्बनं प्रति चेतसः प्रस्यन्द इव भवति, अयस्कान्तवशाद् अयः प्रस्यन्दवत्—स्थिरमति] जो वेदना 'आलयविज्ञान' के साथ सहायक धर्म है, वह उपेक्षा भाव है जो अनिवृत तथा अव्याकृत माना जाता है। यह उपेक्षा (तटस्थता की भावना—न सुख, न दुःख की दशा) मनोभूमि में विद्यमान रहने वाले आगन्तुक उपक्लेशों से ढकी नहीं रहती। अतः वह प्राणियों को निर्वाण तक पहुँचाने में समर्थ होती है। जिस विज्ञान का यह विश्व विजृम्भणमात्र माना गया है वह यही **आलयविज्ञान** है।

पदार्थ समीक्षा—

योगाचारमतवादी आचार्यों ने विश्व के समग्र धर्मों (पदार्थों) का वर्गीकरण विशेष रूप से किया है। धर्मों के दो प्रधान विभाग हैं—**संस्कृत** और **असंस्कृत**। **संस्कृतधर्म** वे हैं जो हेतुप्रत्यय-जन्य हैं—जो किसी कारण तथा सहायक कारण से उत्पन्न होकर अपनी स्थिति प्राप्त करते हैं। **असंस्कृतधर्म** हेतुप्रत्यय-जन्य न होकर स्वतः सिद्ध हैं। उनकी स्थिति किसी कारण पर अवलम्बित नहीं होती। इन दोनों के अन्तर्गत अनेक अवान्तर वर्ग हैं। संस्कृतधर्मों के चार अवान्तर विभाग हैं जिनकी गणना तथा संख्या इस प्रकार है—

---

१. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पृ० १९-२१

(क) संस्कृतधर्म = ४:—(१) रूपधर्म = ११, (२) चित्त = ८, (३) चैतसिक = ५१, (४) चित्तविप्रयुक्त = २४।

(ख) असंस्कृतधर्म = ६। इन समग्र धर्मों की संख्या पूरी एक शत है। संस्कृतधर्मों के विस्तृत वर्णन के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है। अतः असंस्कृतधर्मों के वर्णन से ही सन्तोष करना पड़ता है।

असंस्कृतधर्म ६ हैं—(१) आकाश, (२) प्रतिसंख्यानिरोध, (३) अप्रतिसंख्यानिरोध, (४) अचल, (५) संज्ञावेदनानिरोध तथा (६) तथता। इनमें प्रथम तीन धर्म सर्वास्तिवादियों की कल्पना के अनुसार ही हैं। इसका वर्णन पिछले परिच्छेद में हो जाने से इनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। नवीन धर्मों की व्याख्या संक्षेप में की जाती है—

(४) अचल—इस शब्द का अर्थ है उपेक्षा। उपेक्षा से अभिप्राय सुख या दुःख की भावना का सर्वथा तिरस्कार है। विज्ञानवादियों के अनुसार 'अचल' की दशा का तभी साक्षात्कार होता है, जब सुख और दुःख उत्पन्न नहीं होते। यह चतुर्थ ध्यान में देवताओं की मनःस्थिति के समान की मानस स्थिति है।

(५) संज्ञा-वेदना-निरोध—

यह दशा तब प्राप्त होती है जब योगी-निरोध—समापत्ति में प्रवेश करता है और संज्ञा तथा वेदना के मानस धर्मों को बिल्कुल अपने वश में कर लेता है। इन प्रथम पाँच असंस्कृत धर्मों को स्वतन्त्र मानना उचित नहीं हैं, क्योंकि तथता के परिणाम से ये भिन्न भिन्न रूप हैं। 'तथता' ही इस विश्व में परिणाम धारण करती है और ये पाँचों धर्म उसी के आंशिक विकाशमात्र हैं।

(६) तथता—

'तथता' का अर्थ है 'तथा' (जैसी वस्तु हो उसी तरह की स्थिति) का भाव। यही विज्ञानवादियों का परमतत्त्व है। विश्व के समग्र धर्मों का नित्य स्थायी धर्म 'तथता' ही है। 'तथता' का अर्थ है अविकारी तत्त्व[1] अर्थात् वह पदार्थ जिसमें किसी प्रकार का विकार न उत्पन्न हो। विकार हेतुप्रत्ययजन्य होता है। अतः 'तथता' के असंस्कृत धर्म होने के कारण अविकारी होना स्वाभाविक है। इसी परमतत्त्व के भूत-

---

१ तथता अविकारार्थेनेत्यर्थः। × × × नित्यं सर्वस्मिन् कालेऽसंस्कृतत्वान्न विक्रियते। (मध्यान्त विभाग पृ० ४१)

कोटि, अनिमित्त, परमार्थ और **धर्मधातु** पर्यायवाची शब्द हैं। भूत = सत्य + अविपरीत पदार्थ; कोटि = अन्त। इसके अतिरिक्त दूसरा ज्ञेय पदार्थ नहीं है अतः इसे भूतकोटि (सत्य वस्तुओं का पर्यवसान) कहते हैं[1]। सब निमित्तों से विहीन होने के कारण यह अनिमित्त कहलाता है। यह लोकोत्तर ज्ञान के द्वारा साक्षात्कृत तत्त्व है—अतः परमार्थ है। यह आर्यधर्मों का सम्यक् दृष्टि, सम्यक् व्यायाम आदि श्रेष्ठ धर्मों का कारण (धातु) है—अतः इसकी संज्ञा **'धर्मधातु'** है[2]। इस तत्त्व का शब्दों के द्वारा यथार्थ-निरूपण नहीं हो सकता है। समस्त कल्पनाओं से विरहित होने से यही **परिनिष्पन्न** शब्द के द्वारा भी वाच्य होता है। आर्य असंग ने निम्न-लिखित कारिका में जिस परमार्थ का निरूपण किया है वह तत्त्व यही 'तथता' है—

न सन्न न चासन्न तथा न चान्यथा न जायते व्येति न चावहीयते।
न वर्धते नापि विशुध्यते पुनर्विशुध्यते तत्परमार्थलक्षणम् ॥

सत्ता-मीमांसा

योगाचार मत में सत्ता माध्यमिक मत के समान ही दो प्रकार की मानी जाती है—(१) पारमार्थिक और (२) व्यावहारिक। व्यावहारिक सत्ता को विज्ञान-

---

१. भूतं सत्यमविपरीतमित्यर्थः। कोटिः पर्यन्तः। यतः परेणान्यत् ज्ञेयं नास्ति अतो भूतकोटिः भूतपर्यन्तः। (स्थिरमति की टीका, मध्यान्तविभाग पृ० ४१)

२. यही 'तथता' 'भूत-तथता' के नाम से भी अभिहित होती है। अश्वघोष ने 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' में इस तत्त्व का विशेष तथा विशद प्रतिपादन किया है। ये अश्वघोष, कवि अश्वघोष से अभिन्न माने जाते हैं, परन्तु 'तथता' का इतना विस्तार इतना पहले होना संशयास्पद है। 'तथता' विज्ञानवादी तत्त्व है। परन्तु अश्वघोष को विज्ञानवादी मानना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। वैभाषिकमत के ग्रन्थों की रचना के लिए जो संगीति बुलाई गई थी उसका कार्य अश्वघोष की अध्यक्षता तथा सहायता से ही सम्पन्न हुआ। अतः ये सर्वास्तिवादी ही थे। तिब्बत में कई ग्रन्थों की पुष्पिका में इन्हें सर्वास्तिवादी स्पष्ट कहा गया है। इनके मत के लिये द्रष्टव्य Yamakami Sogen–Systems of Buddhist Thought (Chapter VII pp. 252–267.)

वादी आचार्य दो भागों में विभक्त करते हैं—(१) परिकल्पित सत्ता और (२) परतन्त्र सत्ता। अद्वैत वेदान्तियों के समान ही विज्ञानवादियों का कथन है कि जगत् का समस्त व्यवहार आरोप या उपचार के ऊपर अवलम्बित रहता है। वस्तु में अवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं—जैसे रज्जु में सर्प का आरोप। इस दृष्टान्त में सर्प का आरोप मिथ्या है क्योंकि दूसरे ही क्षण में हमें उचित परिस्थिति में इस भ्रान्ति का निराकरण हो जाता है और रज्जु का रज्जुत्व हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। यहाँ सर्प की भ्रान्ति का ज्ञान परिकल्पित है। रज्जु की सत्ता परतन्त्र शब्द से अभिहित की जाती है। वह वस्तु जिससे रज्जु बनकर तैयार हुई है परिनिष्पन्न सत्ता कहलायेगी।

लंकावतार सूत्र में त्रिविध सत्ता

लंकावतार सूत्र में भी परमार्थ और संवृति का भेद दिखलाया गया है। परन्तु माध्यमिक ग्रन्थों में इस विषय का जितना विवेचन है उतना सूक्ष्म विवेचन इस ग्रन्थ में नहीं मिलता। संवृति-सत्य (व्यवहारिक सत्य) **परिकल्पित** तथा **परतन्त्र** सत्य स्वभाव के साथ सदा सम्बद्ध रहता है। इन दोनों प्रकार के ज्ञान होने के बाद ही **परिनिष्पन्न** ज्ञान होता है। परमार्थ सत्य का सम्बन्ध इसी ज्ञान से है। परमार्थ का ही नामान्तर 'भूतकोटि' है। संवृति उसी का प्रतिविम्बमात्र है। संवृति का अर्थ है बुद्धि, जो दो प्रकार की मानी गयी है—(१) प्रविचय बुद्धि और (२) प्रतिष्ठापिका बुद्धि। प्रविचय बुद्धि से पदार्थों के यथार्थ रूप का ग्रहण किया जाता है। शून्यवादियों के समान ही सब पदार्थ सत्, असत् आदि चारों कोटियों से सदा मुक्त रहते हैं[1]। लंकावतार सूत्र का स्पष्ट कथन है कि बुद्धि से पदार्थों की विवेचना करने पर उनका कोई भी स्वभाव ज्ञानगोचर नहीं होता। इसीलिये विश्व के समस्त पदार्थों को लक्षणहीन (अनभिलाप्य) तथा स्वभावहीन (निःस्वभाव) मानना ही पड़ता है[2]। वस्तु-तत्त्व का यह विवेचन प्रविचय बुद्धि का कार्य है।

---

१. लंकावतारसूत्र पृ० १२२।

२. बुद्ध्या विवेच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
तस्मादनभिलाप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशितः॥
(लंकावतारसूत्र पृ० २।१७५)

प्रतिष्ठापिका बुद्धि से भेद-प्रपञ्च आभासित होता है तथा असत् पदार्थ सत् रूप से प्रतीत होता है। इस प्रतिष्ठापन व्यापार को 'समारोप' कहते हैं। लक्षण, इष्ट, हेतु और भाव—इन चारों का आरोप होता है। सारांश यह है कि जो लक्षण या भाव वस्तु में स्वयं उपस्थित न हो उसकी कल्पना करना प्रतिष्ठापन कहलाता है। लोक-व्यवहार के मूल में यही प्रतिष्ठापन व्यवहार सदा प्रवृत्त रहता है। इस प्रतिष्ठापिका बुद्धि का अतिक्रमण करना योगी जन का प्रधान कार्य है। बिना इसके अतिक्रमण किये हुए वह द्वन्द्वातीत नहीं हो सकता और निर्वाण की पदवी को प्राप्त नहीं कर सकता। परिकल्पित तथा परतन्त्र सत्य में परस्पर भेद है। परिकल्पित केवल निर्मूल कल्पनामात्र है। परन्तु परतन्त्र बाह्य सत्य सापेक्ष है।

प्रतिष्ठापिका बुद्धि

परतन्त्र उतना दूषणीय नहीं होता। परन्तु परिकल्पित सत्य भ्रान्ति का कारण है। परतन्त्र शब्द का ही अर्थ है दूसरे के ऊपर अवलम्बित होने वाला। इसका तात्पर्य यह है कि परतन्त्र सत्ता स्वयं उत्पन्न नहीं होती अपितु हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होती है। परिकल्पित लक्षण में ग्राह्य ग्राहक भाव का स्पष्ट उदय होता है परन्तु भेद की कल्पना नितान्त भ्रान्त है।

परतन्त्रसत्ता

ग्राहक भाव और ग्राह्य भाव दोनों ही परिकल्पित हैं; क्योंकि विज्ञान एकाकार रहता है, उसमें न तो ग्राहकत्व है और न ग्राह्यत्व है। जब तक यह संसार है तब तक यह द्विविध कल्पना चलती रहती है। जिस समय ये दोनों भाव निवृत्त हो जाते हैं उस समय की अवस्था परिनिष्पन्न लक्षण कही जाती है। परतन्त्र सदा परिकल्पित लक्षण के साथ मिश्रित होकर हमारे सामने उपस्थित होता है। जिस समय उसका यह मिश्रण समाप्त हो जाता है और वह अपने विशुद्ध रूप में प्रतीत होने लगता है वही उसकी परिनिष्पन्नावस्था है। अतः इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये कल्पना को सदा के लिये विराम देना चाहिये। बिना कल्पना के उपशम हुए परमार्थ तत्त्व की प्रतीति कथमपि नहीं होती।

आचार्य असंग ने महायान सूत्रालंकार में सत्य के इन तीन प्रकारों का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है :—१—**परिकल्पित सत्ता** वह है जिसमें किसी वस्तु का नाम या अर्थ अथवा नाम का प्रयोग संकल्प के द्वारा किया

सत्ता के विषय में असंगका मत

जाय[1]। **२—परतन्त्र सत्ता** वह है जिसमें ग्राह्य और ग्राहक के तीनों लक्षण कल्पना के ऊपर अवलम्बित हों। ग्राह्य के तीन भेद असंग ने स्वीकार किये हैं (क) पदाभास (शब्द) (ख) अर्थाभास (अर्थ) (ग) देहाभास (शरीर)। ग्राहक के भी तीन भेद होते हैं—(क) मन, (ख) उद्ग्रह (चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच इन्द्रिय विज्ञान), (ग) विकल्प। ग्राह्य और ग्राहक के ये तीनों भेद जिस अवस्था में उत्पन्न होते हैं उस अवस्था की सत्ता परतन्त्र सत्ता कही जाती है[2]।

३—**परिनिष्पन्न वस्तु** वह है जो भाव और अभाव से उसी प्रकार अतीत है जिस प्रकार दोनों के मिश्रित रूप से। वह सुख और दुःख की कल्पना से नितान्त मुक्त है[3]। इसी का दूसरा नाम 'तथता' है जिसे प्राप्त कर लेने पर भगवान् बुद्ध तथागत (तथता को प्राप्त होनेवाला व्यक्ति) के नाम से प्रसिद्ध हुए। यह परमार्थ अद्वैतरूप है। इसके स्वरूप का वर्णन करते समय आचार्य असंग का कथन है कि यह परमतत्त्व पाँच प्रकार से अद्वैत रूप हैं--अत्-असत्, तथा-अतथा, जन्म-मरण, ह्रास-बुद्धि, शुद्धि-अविशुद्धि--इन पाँचों कल्पनाओं से यह तत्त्व नितान्त मुक्त है[4]। एक दूसरे प्रसङ्ग में असंग की उक्ति है कि बोधिसत्त्व सचमुच शून्यज्ञ (शून्य के सच्चे स्वरूप को जानने वाला) तभी कहा जा सकता है जब वह शून्यता के इन त्रिविध प्रकारों से भलीभाँति परिचित हो जाता है। शून्यता के तीन प्रकार ये हैं :—

---

१. यथा नामार्थमर्थस्य नाम्नः प्रख्यानता च या।
असंकल्पनिमित्तं हि परिकल्पितलक्षणम्॥ (महायान सूत्रालंकार ११।३९)

२. त्रिविधं त्रिविधाभासो ग्राह्यग्राहकलक्षणः।
अभूतपरिकल्पो हि परतन्त्रस्य लक्षणम्॥ (वही ११।४०)

३. अभावभावता या च भावाभावसमानता।
अशान्तशान्ताऽकल्पा च परिनिष्पन्नलक्षणम्॥ (वही ११।४१)

४. न सन्न न चासन्न तथा न चान्यथा, न जायते व्येति न चावहीयते।
न वर्धते नापि विशुध्यते पुनः, विशुध्यते तत्परमार्थलक्षणम्॥
(म० सू० ६।१)

(क) अभावशून्यता—अभाव का अर्थ उन लक्षणों से हीन होने का है जिनको हम साधारण कल्पना में किसी वस्तु के साथ सम्बद्ध मानते हैं (परिकल्पित)।

(ख) तथाभावशून्यता—वस्तु का जो स्वरूप हम साधारणतया मानते हैं वह नितान्त असत्य है। जिसे हम साधारण भाषा में घट नाम से पुकारते हैं उसका कोई भी वास्तविक स्वरूप नहीं (परतन्त्र)।

(ग) प्रकृतिशून्यता—स्वभाव से ही समग्र पदार्थ शून्यरूप हैं (परिनिष्पन्न)।

सम्यक्सम्बोधि का उदय तभी हो सकता है जब बोधिसत्त्व इन त्रिविध सत्यों के ज्ञान से सम्पन्न होता है[1]।

आचार्यों के उपरिनिर्दिष्ट मतों के अनुशीलन करने से स्पष्ट है कि योगाचार-मत में सत्य तीन प्रकार का होता है[2]। माध्यमिकों की द्विविध सत्यता के साथ इनकी तुलना इस प्रकार की जाती है—

माध्यमिक	**योगाचार**
(१) संवृति सत्य	परिकल्पित
	परतन्त्र
(२) परमार्थ सत्य =	परिनिष्पन्न।

परिकल्पित सत्य वह है जो प्रत्ययजन्य हो, कल्पना के द्वारा जिसका स्वरूप आरोपित किया गया हो तथा सच्चा रूप हमारी दृष्टि से अगोचर हो[3]।

'परतन्त्र' हेतुप्रत्ययजन्य होने से दूसरे पर आश्रित रहता है, जैसे लौकिक प्रत्यक्ष से गोचर घट पटादि पदार्थ। ये मृत्तिका, कुम्भकारादि के संयोग से उत्पन्न होते हैं। अतः इनका स्वविशिष्ट रूप नहीं होता। 'परिनिष्पन्न' सच्चा अद्वैत वस्तु

---

१. अभावशून्यतां ज्ञात्वा तथा-भावस्य शून्यताम्।
प्रकृत्या शून्यतां ज्ञात्वा शून्यज्ञ इति कथ्यते॥ (म० सू० १४।३४)

सत्ता का विवेचन वसुबन्धु ने भी विज्ञप्तिमातृतासिद्धि में विशेष रूप से किया है। देखिये-(त्रिंशिका पृ० ३९-४२)

२. कल्पितः परतन्त्रश्च परिनिष्पन्न एव च।
अर्थादभूतकल्पाच्च द्वयाभावाच्च कथ्यते॥ (मैत्रेयनाथ)

३. कल्पित; प्रत्ययोत्पन्नोऽनभिलाप्यश्च सर्वथा।
परतन्त्रस्वभावो हि शुद्धलौकिकगोचरः॥

का ज्ञान है। परिनिष्पन्न का ही दूसरा नाम तथता, परमार्थ आदि है[1]। इस प्रकार विज्ञानवादी पक्का अद्वैतवादी है।

(ग) समीक्षा

विज्ञानवाद की समीक्षा अन्य बौद्ध सम्प्रदायों ने भी की है, परन्तु इसकी मार्मिक तथा व्यापक समीक्षा ब्राह्मण दार्शनिकों ने की है, विशेषतः कुमारिल भट्ट तथा आचार्य शंकर ने। बादरायण ने तर्कपाद (ब्रह्मसूत्र २।२) में सूक्ष्म रीति से अपने मतभेद का प्रदर्शन किया है जिसका भाष्य लिखते समय शंकराचार्य ने बड़े विस्तार के साथ विज्ञानवाद की मौलिक धारणाओं का खण्डन किया है[2]। शाबर भाष्य में निरालम्बनवाद का खण्डन अत्यन्त संक्षिप्त है[3] परन्तु भट्ट कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में बड़े विस्तार तथा तर्क कुशलता से योगाचार के मतों की कल्पनाओं को भ्रान्तसिद्ध किया है[4]। नैयायिकों में वाचस्पति मिश्र, जयन्तभट्ट तथा उदयनाचार्य का खण्डन बड़ा ही मौलिक तथा मार्मिक है। स्थानाभाव से संक्षिप्त समीक्षा से ही यहाँ सन्तोष किया जाता है।

(१) कुमारिल का मत

विज्ञानवाद शून्यवादियों के समान ही द्विविध सत्यता का पक्षपाती है—संवृति सत्य तथा परमार्थ सत्य। कुमारिल का आक्षेप संवृतिसत्य की धारणा पर है। संवृति सत्य को सत्य मानकर भी उसे मिथ्या माना जाता है, यह सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर नहीं टिक सकता। जब 'संवृति' का ही अर्थ मिथ्या है तब वह सत्य का प्रकार किस प्रकार हो सकती है? यदि वह सत्यरूप है, तो उसे मिथ्या कैसे माना जावेगा? 'संवृतिसत्य' की कल्पना ही विरोधी होने से त्याज्य है। यदि कहा जाय कि मृषार्थ और परमार्थ में 'सत्यत्व' सामान्य धर्म है तो यह धर्म विरुद्ध है जैसे वृक्ष और सिंह में 'वृक्षत्व' सामान्य धर्म। वृक्षत्व तो केवल वृक्ष में ही है, सिंह में नहीं। तब इसे दोनों वस्तुओं का सामान्य धर्म कैसे स्वीकार किया जाय?

---

१. कल्पितेन स्वभावेन तस्य यात्यन्तशून्यता।
स्वभावः परिनिष्पन्नोऽविकल्पज्ञानगोचरः॥ (मध्यान्तविभाग पृ० १६)

२. ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२ ३. द्रष्टव्य मीमांसासूत्र १।१।५

४. श्लोकवार्तिक, पृ० २१७–३६७ (चौखम्भा संस्करण, काशी)

यथार्थ बात तो यह है कि जिस वस्तु का अभाव है, वह सदा अविद्यमान है। और जो वस्तु सत्य है, वह परमार्थतः सत्य है। अतः सत्य पृथक् है और मिथ्या अलग है। एक ही साथ दोनों का झमेला खड़ा करना कथमपि उचित नहीं है। इसलिए सत्य एक ही प्रकार का होता है—परमार्थ सत्यरूप में। 'संवृति सत्य' की कल्पना कर उसे द्विविध रूप का मानना भ्रान्तिमात्र है[1]।

'संवृतिसत्य' की भ्रान्त धारणा

विज्ञानवाद जगत् को सांवृतिक सत्य मानता है। जगत् के समस्त पदार्थ मृगमरीचिका तथा गन्धर्वनगर के अनुरूप मायिक हैं। जाग्रत् पदार्थ भी स्वप्न में अनुभूत पदार्थ के सदृश ही काल्पनिक, सत्ताहीन, निराधार तथा भ्रान्त है। यह सिद्धान्त यथार्थवादी मीमांसकों के आक्षेप का प्रधान विषय है। शावर भाष्य में जाग्रत् तथा स्वप्न का पार्थक्य स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है। स्वप्न में विपर्यय का ज्ञान अनुभव सिद्ध है। स्वप्न दशा में मनुष्य नाना प्रकार की वस्तुओं का (घोड़ा, हाथी, राजपाट, भोग, विलास आदि) अनुभव करता है, परन्तु निद्राभङ्ग होने पर जाग्रत् अवस्था में आते ही ये वस्तुयें अतीत के गर्भ में विलीन हो जाती हैं। न घोड़ा ही रहता है, न हाथी ही। शय्या पर लेटा हुआ प्राणी उसी दशा में अपने को पड़ा पाता है। अतः इस विपर्यय ज्ञान (विपरीत वस्तु के ज्ञान) से स्वप्न को मिथ्या कहा जाता है। परन्तु जाग्रत् दशा का ज्ञान समानरूप से बना रहता है। कभी उसका विपर्यय ज्ञान नहीं पैदा होता। अतः जाग्रत् को स्वप्न के प्रत्यय के समान निरालम्ब मानना कथमपि न्यायसिद्ध नहीं है[2]। कुमारिल ने इस आपेक्ष को नवीन तर्क से पुष्ट किया है। प्रतियोगी के दृष्ट होने पर जाग्रत् ज्ञान को मिथ्या

स्वप्नका रहस्य

---

१. तस्माद् यन्नास्ति नास्त्येव यस्त्वस्ति परमार्थतः।
तत्सत्यमन्यन्मिथ्येति न सत्यद्वयकल्पना ॥ १० ॥
(श्लोकवार्तिक पृ० २१९)

२. स्वप्ने विपर्ययदर्शनात्। अविपर्ययाच्चेतरस्मिन्। तत्सामान्यादितरत्रापि भविष्यतीति चेत् × × × सनिद्रस्य मनसो दौर्बल्यान्निद्रा मिथ्याभावस्य हेतुः। स्वप्नादौ स्वप्नान्ते च सुषुप्तस्याभाव एव।
(शाबर भाष्य; १।१५; पृ० ३०)

जाग्रत् पदार्थों की सत्ता

कहा जा सकता है। स्वप्न का प्रतियोगी अनुभव से सिद्ध है, परन्तु जाग्रत् ज्ञान का प्रतियोगी कहीं अनुभूत नहीं होता। जिसे हम प्रत्यक्षतः स्तम्भ देखते हैं, वह सदा स्तम्भ ही रहता है। कभी अपना स्वरूप बदलकर किसी नये पदार्थ के रूप में हमारे सामने नहीं आता। अतः प्रतियोगी के न दीख पड़ने से हम जाग्रत् ज्ञान को मिथ्या नहीं मान सकते[1]। इसके उत्तर में योगाचार का समाधान है कि योगियों की बुद्धि प्रतियोगिनी होती है अर्थात् योगी लोग अपने अलौकिक ज्ञान के सहारे जाग्रत् दशा के मिथ्यात्व का अनुभव करते हैं। परन्तु कुमारिल इस तर्क की सत्यता को स्पष्टतः अस्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—'इस जन्म में कोई योगी नहीं देखा गया जिसकी बुद्धि में जगत् का ज्ञान मिथ्या सिद्ध हो। योगी की अवस्था को प्राप्त करनेवाले मानवों की दशा क्या होगी? उसे मैं नहीं जानता[2]।' 'योगी की बुद्धि बाधबुद्धि होती है', इसका तो कोई दृष्टान्त मिलता नहीं, परन्तु हमारी बुद्धि की जो यह प्रतीति है कि जो अनुभूत है वह विद्यमान है (यो गृहीतः स विद्यते) इसके लिए दृष्टान्तों की कमी नहीं है[3]।

स्वप्न ज्ञान का आधार

स्वप्न की परीक्षा बतलाती है कि स्वप्न का ज्ञान निरालम्बन है नहीं। स्वप्न प्रत्यय में भी बाह्य आलम्बन उपस्थित रहता है। देशान्तर या कालान्तर में जिस बाह्य वस्तु का अनुभव किया जाता है वही स्वप्न में स्मृतिरूप से उपस्थित होती है कि मानों वर्तमान देश तथा वर्तमानकाल में वह क्रियाशील हो। स्वप्न की स्मृति केवल इस जन्म की घटनाओं पर ही अवलम्बित नहीं रहती, प्रत्युत वह जन्मान्तर में अनुभूत पदार्थों पर भी आश्रित रहती है। अतः स्वप्न का बाह्य आलम्बन अवश्य रहता है[4]। जाग्रत् दशा में भ्रान्ति के लिए भी बाहरी आलम्बन विद्यमान

---

१. श्लोकवार्तिक-निरालम्बनवाद श्लोक ८८-९०।

२. इह जन्मनि केषाञ्चिन्न तावदुपलभ्यते।
योग्यवस्थागतानां तु न विद्मः किं भविष्यति॥ (वही श्लो० ९४)

३. वही (श्लो० ९५।९६)

४. स्वप्नादिप्रत्यये बाह्यं सर्वथा नहि नेष्यते,
सर्वत्रालम्बनं बाह्यं देशकालान्यथात्मकम्।

रहता ही है। भिन्न भिन्न स्थानों पर अनुभूत पदार्थों के एकीकरण से भ्रान्ति उत्पन्न होती है। उस भ्रान्ति के लिए भी भौतिक आधार अवश्यमेव विद्यमान रहता है। जल का अनुभव हमने अनेक बार किया है तथा सूर्य के किरणों से सन्तप्त बालुका राशि का भी हमने प्रत्यक्ष किया है। इन दोनों घटनाओं को एक साथ मिलाने से मृग-मरीचिका[१] का उदय होता है। अतः भ्रान्ति नाम देकर जिसे हम निराधार समझते हैं वह भी निराधार नहीं है। उसके लये भी आधार—आलम्बन है। अतः ज्ञान को निरालम्बन मानना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता है।

ज्ञान की विचित्रता का प्रश्न

योगाचार मत में विज्ञान में भिन्नता की प्रतीति होती है। कुमारिल का पूछना है कि अद्वैत विज्ञान में भेद कैसे उत्पन्न हुआ? वासना भेद से यह विज्ञान-भेद सम्पन्न होता है, यह ठीक नहीं। वासनाभेद का कारण क्या है? यदि ज्ञानभेद इसका कारण हो, तो अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है—वासना के भेद से विज्ञानभेद तथा विज्ञान के भेद से वासनाभेद। फलतः विज्ञान में परस्पर भेद समझाया नहीं जा सकता। ज्ञान नितान्त निर्मल है। अतः उसमें स्वतः भी भेद नही हो सकता[२]। वासना की कल्पना मानकर विज्ञानवादी अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। एक क्षण के लिए वासना का अस्तित्व मान भी लिया जाय, तो वासना ग्राहक (ज्ञाता) में भेद उत्पन्न कर सकती है, परन्तु ग्राह्य (ज्ञेय, विषय) में भेद क्योंकर उत्पन्न होगा[3]? विषय—घट, पट आदि-विज्ञान के ही रूप माने जाते हैं, तब घड़ा वस्त्र से भिन्न कैसे हुआ? घोड़ा हाथी से अलग कैसे हुआ? एकाकार विज्ञान के रूप होने से उनमें समता होनी चाहिए, विषमता नहीं। वासनाजन्य यह विषयभेद है, यह कथन प्रमाणभूत नहीं है, क्योंकि यह बात

जन्मन्येकत्र वा भिन्ने तथा कालान्तरेऽपि वा,
तद्देशो वाऽन्यदेशो वा स्वप्नज्ञानस्य गोचरः ॥ (वही, श्लोक १०७,१०८)

१. पूर्वानुभूततोयं च रश्मितप्तोषरं तथा।
मृगतोयस्य विज्ञाने कारणत्वेन कल्प्यते ॥ (वही, श्लोक १११)

२. वही (श्लोक १७८-१७९)

३. कुर्यात् ग्राहकभेदं सा ग्राह्यभेदस्तु किं कृतः।
संवित्या जायमाना हि स्मृतिमात्रं करोत्यसौ ॥ (वही, १८१)

'वासना' के स्वरूप से विरोधी है। वासना है क्या? पूर्व अनुभव से उत्पन्न संस्कार-विशेष (पूर्वानुभवजनित-संस्कारो वासना)। तब वह केवल स्मृति उत्पन्न कर सकती है, अत्यन्त अननुभूत घटपटादि पदार्थों का अनुभव वह कथमपि नहीं करा सकती। अतः वासना विषय की भिन्नता को भलीभाँति सिद्ध नहीं कर सकती।

वासना का खण्डन

विज्ञान के क्षणिक होने से तथा उसके नाश के पीछे उसकी सत्ता के किसी भी चिह्न के न मिलने से वास्य (वासना जिसमें उत्पन्न की जाय) तथा वासक (वासना का उत्पादक द्रव्य) में परस्पर एक काल में अवस्थान नहीं होता[1]। तब दोनों में 'वासना' कैसे सिद्ध होगी? 'वासना' का भौतिक अर्थ है किसी वस्तु में गन्ध का संक्रमण (जैसे कपड़े को फूल से वासना)। यह तभी सम्भव है जब दोनों पदार्थों की एककालिक स्थिति हो। बौद्धमत में पूर्वक्षण की वासना उत्तरक्षण में संक्रमित मानी जाती है। परन्तु यह सम्भव कैसे हो सकता है? पूर्वक्षण के होने पर उत्तरक्षण है अनुत्पन्न और उत्तरक्षण की स्थिति होने पर पूर्वक्षण विनष्ट हो गया है। फलतः दोनों क्षणों के समकाल अवस्थान न होने से वासना सिद्ध नहीं हो सकती। क्षणिक होने के कारण दोनों का व्यापार भी परस्पर नहीं हो सकता। जो वस्तु स्वयं नष्ट हो रही है, वह नष्ट होनेवाली दूसरी वस्तु के द्वारा कैसे वासित की जा सकती है? क्षण से अधिक उनकी स्थिति मानने पर ही यह सम्भव हो सकता है? मूल आक्षेप तो ज्ञाता की सत्ता न मानने पर है। वासना तो स्वयं क्षणिक ठहरी, उसका कोई न कोई नित्य स्थायी आधार मानना पड़ेगा। तभी उसका संक्रमण हो सकता है। आधार की सत्ता रहने पर ही वासना का संक्रमण समझाया जा सकता है। लोक में देखा जाता है कि लाक्षा के रंग से फूल को सींचने पर उसका फल भी उसी रंग का होता है। यहाँ सूक्ष्म लाक्षा के अवयव फूल से फल में संक्रान्त होते हैं। अतः संक्रमण के लिए आधार रहता है[2]।

---

१. क्षणिकेषु च चित्तेषु विनाशे च निरन्वये।
वास्यवासकयोश्चैवमसाहित्यान्न वासना॥ (वही, श्लोक १८२)

२. यस्य त्ववस्थितो ज्ञाता ज्ञानाभ्यासेन युज्यते
स तस्य वासनाधारो वासनापि स एव वा।
कुसुमे बीजपूरादेर्यल्लाक्षाद्युपसिच्यते
तद्रूपस्यैव संक्रान्तिः फले तस्येत्यवासना॥ (वही, श्लोक १९९–२००)

परन्तु विज्ञानवाद में स्थायी ज्ञाता के न रहने से वासना का संक्रमण ही कैसे हो सकता है ? फलतः 'वासना' मानकर जगत् के पदार्थों की भिन्नता सिद्ध नहीं की जा सकती।'

२—विज्ञानवाद के विषय में आचार्य शंकर

शंकराचार्य ने विज्ञानवाद के सिद्धान्तों की मीमांसा बड़ी मार्मिकता के साथ की है। बाह्यार्थ की सत्ता का अनिषेध करते समय योगाचार की युक्तियों का खण्डन बड़ी तर्ककुशलता के साथ किया है। प्रत्येक बाह्यार्थ की

बाह्यार्थ की उपलब्धि

अनुभूति में बाह्यपदार्थ की प्रतीति होती है, इसका अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। घट का ज्ञान करते समय विषय-रूप से घट उपस्थित हो ही जाता है। जिसकी साक्षात् उपलब्धि हो रही है उसका अभाव कैसे माना जा सकता है ? उपलब्धि होने पर उस वस्तु का अभाव मानना उसी प्रकार विरुद्ध होगा जिस प्रकार भोजन कर तृप्त होनेवाला व्यक्ति यह कहे कि न तो मैंने भोजन किया है और न मुझे तृप्ति हुई है। जिसकी साक्षात् प्रतीति होती है उसको असत्य बतलाना तर्क तथा सत्य दोनों का गला घोंटना है। साधारण लौकिक अनुभव बतलाता है कि घट, पट आदि पदार्थ ज्ञान से अतिरिक्त बाहरी रूप में विद्यमान रहते हैं। विज्ञानवादी भी इस तथ्य को अनंगीकृत नहीं कर सकता। वह कहता है कि विज्ञान बाहरी पदार्थ के समान प्रतीत होता है। यह समानता की धारणा तभी सिद्ध हो सकती है जब बाहरी वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता हो[1]। विज्ञान घट के समान प्रतीत होता है—इसका तात्पर्य यह है कि घट भी विज्ञान से अतिरिक्त है तथा सत्तावान् है। कोई भी यह नहीं कहता कि देवदत्त वन्ध्यापुत्र के समान प्रकाशित होता है; क्योंकि वन्ध्यापुत्र नितान्त असत्य पदार्थ है। असत् पदार्थ के साथ सादृश्य धारण करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा। अतः विज्ञानवादी को भी अपने मत से ही बाह्यार्थ की सत्यता मानना नितान्त युक्ति-युक्त है।

---

१. यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते इति। तेऽपि सर्वलोकप्रसिद्धा बहिरवभासमाना संविदं प्रतिलभमाना प्रत्याख्यातुकामाश्च बाह्यमर्थं बहिर्वदिति वत्कारं कुर्वन्ति। (ब्रह्मसूत्र २।२।२८ शांकरभाष्य)

अर्थ तथा उसका ज्ञान सदा भिन्न होते हैं। घट तथा घट-ज्ञान एक ही वस्तु नहीं है। 'घट का ज्ञान' तथा 'पट का ज्ञान'—यहाँ ज्ञान की एकता बनी हुई है, परन्तु विशेषण रूप से घट तथा पट की भिन्नता है। शुक्ल गाय और कृष्ण गाय—यहाँ गोत्व में कोई भेद नहीं, विशेषणरूप शुक्लता तथा कृष्णता में ही भेद विद्यमान है। अतः अर्थ तथा ज्ञान का भेद स्पष्ट है। दोनों को एकाकार (जैसे विज्ञानवादी कहता है) नहीं माना जा सकता।

अर्थ-ज्ञान की भिन्नता

स्वप्न और जागरित का अन्तर

बाह्यार्थ का तिरस्कार करने वाले विज्ञानवादी को जागरित दशा में अनुभूयमान पदार्थों को सत्ताहीन मानना पड़ता है। तब उसकी दृष्टि में स्वप्न में अनुभूत वस्तु और जागरित दशा में अनुभूयमान वस्तु में किसी प्रकार का भेद नहीं है। परन्तु दोनों वस्तुओं में इतना स्पष्ट वैधर्म्य दीख पड़ता है कि दोनों को एक माना नहीं जा सकता। वैधर्म्य क्या है? बाध तथा बाध का अभाव। स्वप्न की वस्तु जागने पर बाधित हो जाती है। स्वप्न में किसी ने देखा कि वह बड़े भारी जन-समूह में व्याख्यान दे रहा था, परन्तु जागने पर वह अपने को उसी चारपाई पर अकेले चुपचाप लेटे हुए पाता है। न तो जन-समुदाय में वह है, न उसने बोलने के लिए मुँह खोला है। तब उसे निद्रा के कारण अपने चित्त के म्लान होने की भ्रान्ति का उसे पता चलता हैं। यहाँ जागने पर स्वप्न के अनुभव का सद्यः बाध (विरोध) उपस्थित होता है। जागरित में तो ऐसा कभी भी नहीं होता। जागरित दशा की अनुभूत वस्तुएँ (घट, घट, खम्भे तथा दीवाल) किसी भी दशा में बाधित नहीं होती हैं। अतः जागरित ज्ञान को स्वप्न के समान बतलाना बड़ी भारी भूल है। यदि दोनों एक समान ही होते, तो स्वप्न में घोड़े पर चढ़कर काशी से प्रयाग जाने वाला व्यक्ति जागने पर अपने को प्रयाग में पाता। परन्तु ऐसी घटना कभी नहीं घटित होती[१]।

---

१. वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनर्वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदप्यवस्थायां बाध्यते।

(शांकरभाष्य २।२।२९)

स्वप्न = स्मृति ; जागरित = उपलब्धिः—

स्वप्न और जागरित के ज्ञान में स्वरूप का भी भेद है। स्वप्नज्ञान स्मृति है और जागरित ज्ञान उपलब्धि (सद्यः प्रतीत अनुभव) है। स्मरण और अनुभव का भेद इतना स्पष्ट है कि साधारण व्यक्ति भी इसे जानता है। कोमल चित्त पिता कहता है कि मैं अपने प्रिय कनिष्ठ पुत्र का स्मरण करता हूँ, परन्तु पता नहीं। पाने के लिए व्याकुल हूँ, पर मिलता नहीं। स्मरण में तो कोई रुकावट नहीं। जितना चाहिए उतना स्मरण कीजिए। अतः भिन्न होने से जागरित ज्ञान को स्वप्न ज्ञान के समान मिथ्या मानना तर्क तथा लोक की भूयसी अवहेलना है[1]।

विज्ञानवाद के सामने एक विकट समस्या है—विज्ञान में विचित्रता की उत्पत्ति किस प्रकार से होती है ? हम बाह्य अर्थ की विचित्रता को कारण नहीं मान सकते, क्योंकि बाह्य अर्थ तो स्वयं असिद्ध है। अतः वासना की विचित्रता को कारण माना जाता है। परन्तु 'वासना' की स्थिति के ही लिए उपयुक्त प्रमाण नहीं मिलता[2]। अर्थ की उपलब्धि (प्राप्ति) के कारण नाना प्रकार की वासनायें होती हैं, परन्तु जब अर्थ ही नहीं, तब उसके ज्ञान से उत्पन्न वासना की कल्पना करना ही अनुचित है। 'वासना' में विचित्रता किस कारण से होगी ? अर्थ विचित्र होते हैं। अतः उनकी उपलब्धि के अनन्तर वासना भी विचित्र होती है। परन्तु विज्ञानवाद में यह उत्तर ठीक नहीं। एक बात ध्यान देने की है कि वासना संस्कार-विशेष है और संस्कार बिना आश्रय के टिक नहीं सकता। लोक का अनुभव इस बात का साक्षी है, परन्तु बौद्धमत में वासना का कोई आश्रय नहीं। 'आलयविज्ञान' को इस कार्य के लिए हम उपयुक्त नहीं पाते, क्योंकि क्षणिक होने से उसका स्वरूप अनिश्चित है। अतः प्रवृत्ति-विज्ञान के समान ही वह वासना का अधिष्ठान नहीं हो सकता। अधिष्ठान चाहिए कोई सर्वार्थदर्शी, नित्य, त्रिकालस्थायी, कूटस्थ पदार्थ। 'आलयविज्ञान' को नित्य कूटस्थ माना जायगा, यों उसकी स्थितरूपता

---

१. अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्। स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि नोपलभे, उपलब्धुमिच्छामीति (वही)

२. द्रष्टव्य शांकरभाष्य २।२।३०

होने पर सिद्धान्त की हानि होगी। अतः बाध्य होकर 'वासना' की समस्या अनिर्धारित रह जाती है[1]।

ऐसी विरुद्ध परिस्थिति में जगत् की सत्ता को हेय मानना तथा केवल विज्ञान की सत्ता में विश्वास करना तर्क की महती अवहेलना है।

आत्मा को पञ्च स्कन्धात्मक मानने से निर्वाण को महती हानि पहुँचती है। जिस स्कन्ध-पञ्चक ने पुण्य-संभार का अर्जन किया वह तो अतीत की वस्तु बन गया। ऐसी दशा में निर्वाण तथा उसके उपदेश को व्यर्थता सिद्ध हो जायेगी। इस वैषम्य को दूर करने के लिये बौद्धों ने वासना का अस्तित्व स्वीकार किया है। जिस प्रकार टूटी हुई मोती की मालाओं की मनिका को एक साथ मिलाकर गूँथने के लिये सूत की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार छिन्नभिन्न होने-वाले क्षणों में उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को, एक सूत्र में बाँधने वाली सन्तान-परम्परा (ज्ञान का प्रवाह) का नाम **वासना** है। पूर्व ज्ञान से उत्तर कालिक ज्ञान में उत्पन्न शक्ति को बौद्ध लोग वासना कहते हैं[2]। यहाँ विद्वानों के अनेक आक्षेप हैं। प्रथम वासना का क्षणसन्तति के साथ ठीक-ठीक सम्बन्ध नहीं जमता और वासना निर्विषय ही ठहरती है। लोक-व्यवहार में वासना का भौतिक अर्थ किसी वस्तु में गन्ध के संक्रमण से है। यह तभी संभव है जब इसका कोई स्थायी आधार हो। स्थायी वस्त्र के विद्यमान रहने पर मृगमद (कस्तूरी) के द्वारा उसे वासित करना युक्तियुक्त है। परन्तु बौद्धमत में पञ्चस्कन्धों के क्षणिक होने से वासना के लिये कौन पदार्थ आधार बनेगा? ऐसी दशा में वासना की कल्पना समीचीन नहीं प्रतीत होती। इसलिये वासना की कल्पना से अनात्मवाद को दार्शनिक त्रुटि से हम कदापि बचा नहीं सकते। अतः हम वासना की कल्पना को बौद्ध दर्शन में प्रामाणिक नहीं मान सकते।

वासना के विषय में हेमचन्द्र का मत

---

१. शांकरभाष्य २।२।३१

२. वासनेति पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः।

(स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक १९)

हेमचन्द्र ने तथा उनके टीकाकार मल्लिषेण ने स्याद्वादमञ्जरी में वासना का विस्तृत खण्डन किया है। देखिये—(स्याद्वादमञ्जरी श्लोक १९ की टीका)

इतना खण्डन होने पर भी विज्ञानवाद की विशिष्टता के स्वीकार से हम पराङ्मुख नहीं हो सकते। विज्ञानवाद की दार्शनिक दृष्टि **विषयीगत प्रत्ययवाद** की है। इसने यथार्थवाद की त्रुटियों को दिखलाकर विद्वानों की दृष्टि प्रत्ययवाद की सत्यता की ओर आकृष्ट की। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका उदय शून्यवादी माध्यमिकों के अनन्तर हुआ। शून्यवादियों ने जगत् की सत्ता को शून्य मानकर दर्शन में तर्क तथा प्रमाण के लिए कोई स्थान ही निर्दिष्ट नहीं किया। शून्य की प्रतीति के लिए प्रातिभ ज्ञान को आवश्यक बतलाकर शून्यवादियों ने साधारण जनता को तर्क तथा युक्तिवाद के अध्ययन से विमुख बना दिया था, परन्तु विज्ञान-वादियों ने विज्ञान के गौरव को विद्वानों के सामने प्रतिष्ठित किया। माध्यमिक काल में न्याय-शास्त्र की प्रतिष्ठा करने का समग्र श्रेय इन्हीं विज्ञानवादी आचार्यों को प्राप्त है। 'आलयविज्ञान' की नवीन कल्पना कर इन्होंने जगत् के मूल में किसी तत्त्व को खोज निकालने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्होंने अपने बौद्धधर्म के अनुराग के कारण उसे अपरिवर्तनशील मानने से स्पष्ट अनङ्गीकार कर दिया। फलतः 'तथता' तथा 'आलयविज्ञान' दोनों की कल्पना नितान्त धुँधली ही रह गई है। अन्य दार्शनिकों के आक्षेपों का लक्ष्य यही कल्पना रही है, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि विज्ञानवाद ने वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति जैसे प्रकाण्ड पण्डितों को जन्म दिया जिनकी मौलिक कल्पनायें प्रत्येक युग में विद्वानों के आदर तथा आश्चर्य का विषय बनी रहेंगी। बौद्ध न्यायशास्त्र का अभ्युदय विज्ञानवाद की महती देन है।

माध्यमिक

(शून्यवाद)

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे ।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ॥

(नागार्जुन—माध्यमिक कारिका २४।१८)

उन्नीसवाँ परिच्छेद

ऐतिहासिक विवरण

माध्यमिक मत बुद्धदर्शन का चूडान्त विकास माना जाता है। इसका मूल भगवान् तथागत की शिक्षाओं में ही निहित है। यह सिद्धान्त नितान्त प्राचीन है। आचार्य नागार्जुन के साथ इस मत का घनिष्ठ सम्बन्ध होने का कारण यह है कि उन्होंने इस मत की विपुल तार्किक विवेचन की। 'प्रज्ञापारमिता सूत्रों' में इस मत का विस्तृत विवेचन पहले ही से किया गया था। नागार्जुन ने इस मत की पुष्टि के लिए 'माध्यमिक कारिका' की रचना की जो माध्यमिकों के सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए सर्वप्रधान ग्रन्थरत्न है। बुद्ध के 'मध्यम मार्ग' के अनुयायी होने के कारण ही इस मत का यह नामकरण है। बुद्ध ने नैतिक जीवन में दो अन्तों को—अखण्ड तापस जीवन तथा सौम्य भोगविलास को—छोड़कर बीच के मार्ग का अवलम्बन किया। तत्त्वविवेचन में शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद के दोनों एकाङ्गी मतों का परिहार कर अपने 'मध्यम मत' का ग्रहण किया। बुद्ध के 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त को विकसित कर 'शून्यवाद' की प्रतिष्ठा की गई है। अतः बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित मध्यम मार्ग के दृढ़ पक्षपाती होने के कारण यह मत 'माध्यमिक' संज्ञा से अभिहित किया जाता है तथा 'शून्य' को परमार्थ मानने से 'शून्यवादी' कहा जाता है। प्रकाण्ड तार्किकों ने अपने ग्रन्थ लिखकर इस मत का प्रतिपादन किया। इन आचार्यों के संक्षिप्त परिचय के अनन्तर इस मत में दार्शनिक तथ्यों का वर्णन किया जायेगा।

माध्यमिक साहित्य का विकास बौद्ध पण्डितों की तार्किक बुद्धि का चरम परिचायक है। शून्यता का सिद्धान्त प्रज्ञापारमिता, रत्नकरण्ड आदि सूत्रों में उपलब्ध होने के कारण प्राचीन है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। परन्तु प्रमाणों के द्वारा शून्यता के सिद्धान्त को प्रमाणित करने का सारा श्रेय आर्य **नागार्जुन** को है। इन्होंने माध्यमिक कारिका लिखकर अपनी प्रौढ़ तार्किक शक्ति, अलौकिक प्रतिभा तथा असामान्य पाण्डित्य का पूर्ण परिचय दिया है। इस जगत् की समस्त धारणाओं को तर्क की कसौटी पर कस कर निराधार तथा निर्मूल उद्घोषित करना आचार्य नागार्जुन का ही कार्य था। इनके साक्षात् शिष्य **आर्यदेव** ने गुरु के भाव

को प्रकट करने के लिये ग्रन्थ रचना की और शून्यता के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया। यह विक्रम की द्वितीय शताब्दी की घटना है। तीसरी और चौथी सदी में कोई विशिष्ट विद्वान् नहीं पैदा हुआ। पाँचवीं शताब्दी में विज्ञानवाद का प्राबल्य रहा। छठी शताब्दी में माध्यमिक मत का एक प्रकार से पुनरुत्थान हुआ। दक्षिण-भारत में इस मत का बोलबाला था। इस समय दो महापण्डितों ने शून्यवाद के सिद्धान्त को अग्रसर किया। एक थे आचार्य **भव्य** या **भावविवेक** जिनका कार्य क्षेत्र उड़ीसा था और दूसरे थे आचार्य **बुद्धपालित** जो भारत के पश्चिमी प्रदेश बलभी (गुजरात) में अपना प्रचार कार्य करते थे। इन दोनों आचार्यों की दार्शनिक दृष्टि में भेद है। बुद्धपालित ने शून्यता की व्याख्या के लिये समस्त तर्क की निन्दा की है। उनकी दृष्टि में शून्यता का ज्ञान केवल प्रातिभ-चक्षु के ही हो सकता है। इस सम्प्रदाय का नाम हुआ 'माध्यमिक प्रासङ्गिक'। उधर आचार्य भव्य बड़े ही निपुण तार्किक थे। उन्होंने तथा उनके अनुयायियों ने नागार्जुन के सूक्ष्म तथ्यों को समझाने के लिये स्वतन्त्र तर्क की सहायता ली। इसलिये इस सम्प्रदाय का नाम हुआ **'माध्यमिक स्वातन्त्रिक'**। इसका प्रभाव तथा प्रचार पहले सम्प्रदाय की अपेक्षा कहीं अधिक हुआ। सप्तम शताब्दी में आचार्य चन्द्रकीर्ति ने शून्यता के सिद्धान्त का चरम विकास किया। ये दोनों मतों के जानकार थे परन्तु स्वयं ये बुद्धिपालित के सम्प्रदाय के दृढ़ अनुयायी थे। अपनी व्याख्या से इन्होंने भव्य के सम्प्रदाय के प्रभुत्व को उखाड़ दिया। ये शून्यवाद के माननीय भाष्यकार माने जाते हैं तथा तिब्बत, मंगोलिया और अन्य जिन देशों में शून्यवाद का प्रचार है वहाँ सर्वत्र इनका गौरव अक्षुण्ण समझा जाता है।

शून्यवादी आचार्यगण

(१) आचार्य नागार्जुन—

ये ही शून्यवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य थे। इनका जन्म विदर्भ (बरार) में एक ब्राह्मण के घर हुआ था। इनके जीवनचरित के विषय में अलौकिक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं जिनका उल्लेख बुस्तोन ने अपने इतिहास में किया है। इन्होंने ब्राह्मणों के ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया था। भिक्षु बनने पर बौद्ध ग्रन्थों का भी अनुशीलन इन्होंने उसी गम्भीरता के साथ किया। ये विशेषतः श्रीपर्वत पर रहते थे जो उस समय तन्त्रमन्त्र के लिये बड़ा प्रसिद्ध था। ये वैद्यक तथा रसायन शास्त्र के

भी आचार्य बतलाये जाते हैं। अलौकिक कल्पना, अगाध विद्वत्ता तथा प्रगाढ़ तान्त्रिकता के कारण इनकी विपुल कीर्ति भारत के दार्शनिक जगत् में सदा अक्षुण्ण बनी रहेगी। ये आन्ध्र राजा गौतमीपुत्र यज्ञश्री (१६६–१९६ ई०) के समकालिक माने जाते हैं।

नागार्जुन के नाम से ऐसे तो बहुत से ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं परन्तु नीचे लिखे ग्रन्थ इनकी वास्तविक कृतियाँ प्रतीत होती हैं :—

१ माध्यमिक कारिका—आचार्य की यही प्रधान रचना है। इसका दूसरा नाम 'माध्यमिक शास्त्र' भी है जिसमें २७ प्रकरण हैं। इसकी महत्त्वशाली वृत्तियों में भव्यकृत 'प्रज्ञा प्रदीप' तथा चन्द्रकीर्ति विरचित 'प्रसन्नपदा' प्रसिद्ध है[1]।

२ युक्ति षष्टिका—इसके कतिपय श्लोक बौद्ध ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं।

३ प्रमाण विध्वंसन—
४ उपाय कौशल्य— } इन दोनों ग्रन्थों का विषय तर्कशास्त्र है। प्रमाण का खण्डन तीसरे ग्रन्थ का विषय है और प्रतिवादी के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिये जाति, निग्रहस्थान आदि साधनों का वर्णन चौथे ग्रन्थ में किया गया है। ये अन्तिम तीनों ग्रन्थ मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं हैं।

५—विग्रह व्यावर्तनी[2]—इस ग्रन्थ में शून्यता का खण्डन करनेवाली युक्तियों की निःसारता दिखलाकर शून्यवाद का मण्डन किया गया है। इसमें ७२ कारिकायें हैं। आरम्भ की २० कारिकाओं में शून्यवाद के विरोधियों का पूर्वपक्ष है तथा अन्तिम ५२ कारिकाओं में उत्तर पक्ष प्रतिपादित किया गया है।

६ सुहृल्लेख—इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत उपलब्ध नहीं होता। केवल तिब्बती अनुवाद मिलता है। इसमें नागार्जुन ने अपने सुहृद् यज्ञश्री शातवाहन को परमार्थ तथा व्यवहार की शिक्षा दी है।

७ चतुःस्तव—यह चार स्तोत्रों का संग्रह है जिनके नाम ये हैं—निरुपमस्तव, अचिन्त्यस्तव, लोकातीतस्तव तथा परमार्थस्तव। इनमें आदि और अन्त वाले

---

१. 'प्रसन्नपदा' के साथ 'माध्यमिक कारिका' बिब्लोथिका बुद्धिका सीरिज नं० ४ में प्रकाशित हुई है।

२. बिहार की शोध पत्रिका भाग २३ में राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित तथा डा० तुशी द्वारा Pre-Dignag logic में अनूदित।

स्तोत्र ही मूल संस्कृत में उपलब्ध हुये हैं। अन्य दो का केवल तिब्बती अनुवाद मिलता है। ये बड़े ही रमणीय हैं।

२ आर्यदेव (२०० ई०–२२४ ई०)—

चन्द्रकीर्ति के वर्णनानुसार ये सिंहपुर के राजा के पुत्र थे। इस सिंहपुर को कुछ लोग सिंहल द्वीप मानते हैं और कुछ विद्वान् इसे उत्तर भारत में स्थित बतलाते हैं। आचार्य नागार्जुन का शिष्य बनकर इन्होंने समग्र विद्याओं तथा आस्तिक और नास्तिक समस्त दर्शनों का अध्ययन किया। बुस्तोन ने इनके जीवन की एक अलौकिक घटना का उल्लेख किया है। मातृचेट नामक किसी ब्राह्मण पण्डित को हराने के लिये नालन्दा के भिक्षुओं ने श्रीपर्वत से नागार्जुन को बुलाया। इन्होंने इस कार्य के लिये अपने शिष्य आर्यदेव को भेजा। रास्ते में किसी वृक्ष देवता के माँगने पर आर्यदेव ने अपनी एक आँख समर्पित कर दी। नालन्दा पहुँचने पर इनको एकाक्ष देखकर जब मातृचेट ने इनका उपहास किया तब इन्होंने बड़े दर्प के साथ कहा कि जिस परमार्थ को शंकर भगवान् तीन नेत्रों से नहीं देख सकते, जिसे इन्द्र अपनी हजार आँखों से भी साक्षात्कार नहीं कर सकते उसी तत्त्व को इस एकाक्ष भिक्षु ने प्रत्यक्ष किया है। अन्त में इन्होंने उस ब्राह्मण पण्डित को हरा कर बौद्धधर्म में दीक्षित किया। इस कथानक से यह प्रतीत होता है कि ये काने थे, क्योंकि ये 'काणदेव' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। सन् ४०५ ई० के आसपास कुमारजीव ने इनके जीवन चरित का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इससे पता लगता है कि जंगल में जब ये ध्यानावस्थ थे तब इनके द्वारा परास्त किये गये किसी पण्डित के शिष्य ने इनका बध कर दिया[1]।

ग्रन्थ

बुस्तोन के अनुसार इनके ग्रन्थों की संख्या दस है जिनमें प्रथम चार ग्रन्थ शून्यवाद के प्रतिपादन में लिखे गये हैं और अन्य छः ग्रन्थ तन्त्रशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं।

---

१. बुस्तोन—हिष्ट्री आफ बुधिज़्म भाग २ पृ० १३०–३२।
सोगेन—सिष्टम्स आफ बुधिस्टिक थाट पृ० १८६–९४।
डा० विन्टरनिट्ज़—हिष्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर।
(भाग २ पृ० ३४९–३५२)

१ चतुःशतक । २ माध्यमिकहस्तबालप्रकरण । ३ स्खलित प्रमथनयुक्तिहेतुसिद्धि । ४ ज्ञानसारसमुच्चय । ५ चर्यामेलायन प्रदीप । ६ चित्तावरणविशोधन । ७ चतुः पीठ तन्त्रराज । ८ चतुः पीठ साधन । ९ ज्ञानडाकिनी साधन । १० एकद्रुम पञ्जिका ।

(१) चतुः शतक—इस ग्रन्थ में सोलह अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में २५ कारिकायें हैं । धर्मपाल और चन्द्रकीर्ति ने इस पर टीकायें लिखी थीं जिनमें धर्मपाल की वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ के उत्तरार्ध को ह्वेन्सांङ्ग ने (६५० ई०) चीनी भाषा में अनुवाद किया था । चीनी भाषा में इस ग्रन्थ को 'शतशास्त्रवैपुल्य' कहते हैं । चन्द्रकीर्ति की वृत्ति तिब्बतीय अनुवाद में पूरी मिलती है । मूल संस्कृत में इसका कुछ ही अंश मिलता है । प्रथम दो शतकों को धर्मशासन शतक (बौद्धधर्म का शास्त्रीय प्रतिपादन) तथा अन्तिम शतकद्वय को विग्रह शतक (परमत खण्डन) कहते हैं । यह ग्रन्थ 'माध्यमिक कारिका' के समान ही शून्यवाद का मूल ग्रन्थ है[1] ।

(२) चित्तविशुद्धिप्रकरण[2]—बुस्तोन ने अपने इतिहास में इस ग्रन्थ का नाम 'चित्तावरण विशोधन' लिखा है । इस ग्रन्थ में ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड का भी खण्डन है । इसमें बहुत सी तान्त्रिक बातें हैं । वार और राशियों के नाम मिलने से विद्वानों को सन्देह है कि यह प्राचीन आर्यदेव की कृति न होकर किसी नवीन आर्यदेव की रचना है ।

(३) हस्तवालप्रकरण या **मुष्टि प्रकरण**—इस ग्रन्थ को डा० टामस ने चीनी और तिब्बतीय अनुवादों के आधार से संस्कृत में पुनः अनूदित कर प्रकाशित किया है[3] । यह ग्रन्थ बहुत ही छोटा है । इसमें केवल छः कारिकायें हैं ।

---

१. 'चतुःशतक' के मूल संस्कृत के कतिपय अंशों का संस्करण हरप्रसाद शास्त्री ने Memoirs of the Asiatic Society of Bengal के खण्ड ३ संख्या ८ पृ० ४४९–५१४ कलकत्ता १९१४ प्रकाशित किया है । ग्रन्थ के उत्तरार्ध को विधुशेखर शास्त्री ने तिब्बतीय अनुवाद से संस्कृत में पुनः अनूदित कर विश्वभारती सीरिज नं २ में प्रकाशित किया है ।

२. हरप्रसाद शास्त्री J. A. S. B. (1898) P. 175.

३. टामस J. R. A. S. (1918) P. 267.

आदि की ५ कारिकाओं में जगत् के मायिक रूप का वर्णन है। अन्तिम कारिका में परमार्थ का निरूपण है। दिङ्नाग ने इन कारिकाओं पर व्याख्या लिखी थी जिसके कारण यह ग्रन्थ दिङ्नाग की कृतियों में ही सम्मिलित किया जाता है।

३ स्थविर बुद्धपालित—

ये पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे। आप महायानसम्प्रदाय के प्रमाण-भूत आचार्यों में से हैं। नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' के ऊपर उनकी ही लिखी 'अकुतोभया' नामक व्याख्या का जो अनुवाद आजकल तिब्बतीय भाषा में मिलता है उसके अन्त में माध्यमिक दर्शन के व्याख्याता आठ आचार्यों के नाम पाये जाते हैं। स्थविर बुद्धपालित भी उनमें से एक हैं। इन्होंने नागार्जुन की 'माध्य-मिक कारिका' के ऊपर एक नवीन वृत्ति लिखी है जिसका मूल संस्कृत रूप अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है[1]। बुद्धपालित प्रासंगिक मत के उद्भावक माने जाते हैं। इस मत का सिद्धान्त यह है कि अपने मत का मण्डन करने के लिए शास्त्रार्थ में विपक्षी से ऐसे तर्कयुक्त प्रश्न पूछे जाँय जिनका उत्तर देने से उसके कथन स्वयं ही परस्पर विरोधी प्रमाणित हो जाँय तथा वह उपहासास्पद बनकर पराजित हो जाय। इनके इस न्याय सिद्धान्त को मानने वाले अनेक शिष्य भी हुए। इनकी प्रसिद्धि इसी कारण है।

४ भाव विवेक—

चीनी लोगों ने इनका नाम 'भा विवेक' लिखा है। इन्हीं का नाम 'भव्य' भी था। इन तीनों नामों से इसकी सुप्रसिद्धि है। ये बौद्धन्याय में स्वातंत्र मत के उद्भावक थे। इस मत के अनुसार माध्यमिक सिद्धान्तों की सत्ता प्रामाणित करने के लिए स्वतंत्र प्रमाणों को देकर विपक्षी को पराजित करना चाहिए। इनके नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जिनका तिब्बतीय या चीनी भाषा में केवल अनुवाद ही मिलता है। मूल संस्कृत ग्रन्थ की अभी तक कहीं प्राप्ति नहीं हुई है। इनके ग्रन्थों के नाम ये हैं—

(१) माध्यमिककारिकाव्याख्या—इस ग्रन्थ में नागार्जुन के ग्रन्थ की व्याख्या की गई है। इसका तिब्बतीय अनुवाद ही मिलता है।

---

१. इसका तिब्बतीय अनुवाद का सम्पादन डा० वालेजर ने किया है। द्रष्टव्य बुद्धग्रन्थावली भाग १६।

(२) मध्यमहृदयकारिका—डा० विद्याभूषण ने इसके नाम से इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। सम्भवतः यह माध्यमिक दर्शन पर कोई मौलिक ग्रन्थ होगा।

(३) मध्यमार्थ संग्रह—इस ग्रन्थ का तिब्बतीय भाषा में अनुवाद मिलता है।

(४) हस्तरत्न या करमणि—इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद मिलता है। इसमें इस आचार्य ने यह सिद्ध किया है कि वस्तुओं का वास्तविक रूप, जिसे 'तथता' या 'धर्मता' कहते हैं, सत्ताविहीन है। इसी प्रकार इसमें आत्मा को भी मिथ्या सिद्ध किया गया है।

५ चन्द्रकीर्त्ति—

छठीं शताब्दी में चन्द्रकीर्ति ही माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रतिनिधि थे। तारानाथ के कथनानुसार ये दक्षिण भारत के समन्त नामक किसी स्थान में पैदा हुए थे। लड़कपन में ये बड़े बुद्धिमान् थे। आपने भिक्षु बन कर अति शीघ्र समस्त पिटकों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। बुद्धपालित तथा भावविवेक के प्रसिद्ध शिष्य कमलबुद्धि नामक आचार्य से इन्होंने नागार्जुन के समस्त ग्रन्थों का अध्ययन किया था। पीछे आप धर्मपाल के भी शिष्य थे। महायान दर्शन में आप ने प्रगाढ़ विद्वत्ता प्राप्त की। अध्ययन समाप्त करने पर इन्होंने नालन्दा महाविहार में अध्यापक का पद स्वीकार किया। योगाचार सम्प्रदाय के विख्यात आचार्य चन्द्रगोमिन् के साथ इनकी बड़ी स्पर्द्धा थी। ये प्रासंगिक मत के प्रधान प्रतिनिधि थे।

(१) माध्यमिकावतार—इसका तिब्बतीय अनुवाद मिलता है। यह एक मौलिक ग्रन्थ है जिसमें 'शून्यवाद' की विशद व्याख्या की गई है।

(२) प्रसन्नपदा—यह नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' की सुप्रसिद्ध टीका है जो मूल संस्कृत में उपलब्ध हुई है तथा प्रकाशित हुई है। यह टीका बड़ी ही प्रामाणिक मानी जाती है। इसका गद्य दार्शनिक होते हुए भी अत्यन्त सरस है तथा प्रसाद-गुण विशिष्ट और गम्भीर है। इसके बिना नागार्जुन का भाव समझना कठिन है।

(३) चतुःशतक टीका—यह ग्रन्थ आर्यदेव से चतुःशतक नामक ग्रन्थ की व्याख्या है। 'चतुःशतक' तथा इस टीका का कुछ ही आरम्भिक भाग मूल

संस्कृत में मिला है जिसे डा० हरप्रसाद शास्त्री ने सम्पादित किया है[१]। इधर विधुशेखर शास्त्री[२] ने ८ से १६ परिच्छेदों का मूल तथा व्याख्या तिब्बतीय अनुवाद से पुनः संस्कृत में निर्माण किया है। माध्यमिक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए सुन्दर आख्यान तथा उदाहरणों के कारण यह ग्रन्थ नितान्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

६ शान्तिदेव—

तारानाथ के कथनानुसार ये सुराष्ट्र (वर्तमान गुजरात) के किसी राजा कल्याणवर्मन के पुत्र थे। तारा देवी के प्रोत्साहन से इन्होंने राज्यसिहासन छोड़कर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। इन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा मञ्जुश्री की अनुकम्पा से प्राप्त की। नालन्दा विहार के सर्वश्रेष्ठ पण्डित जयदेव इनके दीक्षा गुरु थे। ये जयदेव धर्मपाल के अनन्तर नालन्दा के पीठस्थविर हुए। बुस्तोन ने इनके महत्त्वपूर्ण कार्यों का विवरण विस्तार-पूर्वक दिया है[३]।

इसके तीन ग्रन्थों के नाम उपलब्ध होते हैं—(१) शिक्षा-समुच्चय (२) सूत्र-समुच्चय (३) बोधिचर्यावतार। ये तीनों ग्रन्थ महायान के आचार और नीति का वर्णन बड़े विस्तार के साथ करते हैं।

(१) शिक्षा समुच्चय—महायान के आचार तथा बोधिसत्व के आदर्श को समझने के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही अधिक उपादेय है। इस ग्रन्थ में केवल २६ कारिकायें है तथा इन्हीं की विस्तृत व्याख्या में ग्रन्थकार ने अनेक महायान ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं जो ग्रन्थ आजकल बिल्कुल विलुप्त हो गये हैं। महायान साहित्य के विस्तार की जानकारी के लिए इसका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। इस ग्रन्थ में १९ परिच्छेद हैं जिनमें बोधिसत्व के लक्षण, स्वरूप, आचार तथा विनय का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग प्रामाणिक विवरण है[४]।

---

१. Memoirs of Asiatic Society of Bengal Part, III, No. 8. PP. 449, Calcutta 1914.

२. विश्वभारती सीरीज नं० २, कलकत्ता १९३१।

३. बुस्तोन—हिष्ट्री पृ० १६१–१६६।

४. डा० सी० बैण्डल ने Bibliothica Buddhica संख्या १ (१९०२ ई०) में इसका संस्करण रूस से निकाला है तथा Indian Text Series (London 1322) में इसका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने ही किया है। इस ग्रन्थ का ८१६–

(२) बोधिचर्यावतार[1]—इस ग्रन्थ का विषय भी 'शिक्षासमुच्चय' के समान ही बोधिसत्त्व की चर्या है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये बोधिसत्त्व को जिन-जिन साधनों का ग्रहण करना पड़ता है उन षट् पारमिताओं का विशद और प्रामाणिक विवेचन इस ग्रन्थ की महती विशेषता है। यह ग्रन्थ नव परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें अन्तिम प्रकरण शून्यवाद के रहस्य जानने के लिये विशेष महत्व रखता है। बहुत पहिले ही इस ग्रन्थ का तिब्बतीय अनुवाद हो गया था। इस ग्रन्थ की जन-प्रियता का यही प्रमाण है कि इसके ऊपर संस्कृत में कम से कम नव टीकायें लिखी गयी थी जो मूल में उपलब्ध न होकर, तिब्बतीय भाषा में अनुवाद रूप में आज भी उपलब्ध हैं।

७ शान्तरक्षित (अष्टम शतक)—

ये स्वतन्त्र माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे। ये नालान्दा विहार के प्रधान पीठस्थविर थे। तिब्बत के तत्कालीन राजा के निमन्त्रण पर वे वहाँ गये और सम्मे नामक विहार की स्थापना ७४९ ई० में की। यह तिब्बत का सबसे पहिला बौद्धविहार है। ये वहाँ १३ वर्ष तक रहे और ७६२ ई० में निर्वाण प्राप्त कर गये। इनका केवल एक ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है और वह है—

(१) तत्त्व संग्रह[2]—इसमें ग्रन्थकार ने अपनी दृष्टि से ब्राह्मण तथा बौद्धों के अन्य सम्प्रदायों का बड़े विस्तार से खण्डन किया है। इनके शिष्य कमलशील ने इस ग्रन्थ की टीका लिखी है जिसके पढ़ने से यह पता चलता है कि ग्रन्थकार

---

८३८ ई० के बीच में तिब्बतीय भाषा में अनुवाद हुआ था। ग्रन्थ की भूमिका में सम्पादक (बैण्डल) ने इस ग्रन्थ का सारांश भी दिया है।

१. डा० पुसें ने इस ग्रन्थ का सम्पादन Bibliothica Indica, Calcutta (१९०१–१४) में किया है। इन्होंने इसका फ्रेंच अनुवाद भी किया। बारनेट ने अंग्रेजी में, स्मिट ने जर्मन भाषा में तथा तुशी ने इटालियन भाषा में इस ग्रन्थ-रत्न का अनुवाद किया है।

२. यह ग्रन्थ गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा नं० ३०,३१ में पं० कृष्णमाचार्य के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने बौद्ध आचार्यों का विस्तृत ऐतिहासिक परिचय दिया है। इसका अंग्रेजी अनुवाद डा० गंगानाथ झा ने किया है जो वहीं से प्रकाशित हुआ है।

ने वसुमित्र, धर्मत्रात, घोषक, संघभद्र, वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे प्रौढ़ बौद्धाचार्यों के मत पर आक्षेप किया है। ब्राह्मण दर्शनों में सांख्य, न्याय तथा मीमांसा का भी पर्याप्त खण्डन है। यह ग्रन्थ शान्तरक्षित के व्यापक पाण्डित्य तथा अलौकिक प्रतिभा का पर्याप्त परिचायक है।

सिद्धान्त

(क) ज्ञानमीमांसा

नागार्जुन ने अपनी तर्ककुशल बुद्धि के द्वारा अनुभव की बड़ी मार्मिक व्याख्या की है। उन्होंने अपना मत सिद्ध करने के लिए युक्तियों का एक मनोहर व्यूह खड़ाकर दिया है। नागार्जुन का कथन है कि यह जगत् मायिक है। स्वप्न में दृष्ट पदार्थों की सत्ता के समान ही जगत् के समग्र पदार्थों की सत्ता कल्पनिक है। जाग्रत् और स्वप्न में कोई अन्तर नहीं है। जागते हुए भी हम स्वप्न देखते हैं। जिसे हम ठोस जगत् के नाम से पुकारते हैं उसका विश्लेषण करने पर कोई भी तत्व अवशिष्ट नहीं रहता। केवल व्यवहार के निमित्त जगत् की सत्ता माननीय है। विश्व व्यावहारिकरूपेण ही सत्य है, पारमार्थिकरूपेण नहीं। यह जगत् क्या है ? असिद्ध सम्बन्धों का समुच्चयमात्र है। जिस प्रकार पदार्थों की, गुणों को छोड़कर, स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, उसी प्रकार यह जगत् भी सम्बन्धों का संघात-मात्र है। इस जगत् में सुख और दुःख, बन्ध और मोक्ष, उत्पाद और नाश, गति और विराम, देश और काल—जितनी धारणायें मान्य हैं वे केवल कल्पनायें हैं—निर्मूल, निराधार कल्पनायें हैं जिन्हें मानवों ने अपने व्यवहार की सिद्धि के लिए खड़ा कर रखा है। परन्तु तार्किक दृष्टि से विश्लेषण करने पर वे केवल असत् सिद्ध होती हैं। तर्क का प्रयोग करते ही बालू की भीत के समान जगत् का यह विशाल व्यापार भूतलशायी होकर छिन्न-भिन्न हो जाता है। परन्तु फिर भी व्यवहार के निमित्त इन्हें हमें खड़ा करना पड़ता है। इन सिद्धान्तों का विवेचन बड़ी सूक्ष्मता के साथ नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' में किया है। इन युक्तियों का आंशिक प्रदर्शन यहाँ किया जा रहा है।

सत्ता परीक्षा—

सत्ता की मीमांसा करने पर माध्यमिक आचार्य इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह शून्य-रूप है। विज्ञानवादियों का विज्ञान या चित्त परमतत्त्व नहीं है।

चित्त की सत्ता प्रमाणों से सिद्ध नहीं की जा सकती। समग्र जगत् स्वभाव-शून्य है, चित्त के अस्तित्व का पता ही हमें कैसे लग सकता है? यदि कहा जाय कि चित्त ही अपने को देखने की क्रिया स्वयं करेगा, तो यह विश्वसनीय नहीं। क्योंकि भगवान् बुद्ध का यह स्पष्ट कथन है—नहि चित्तं चित्तं पश्यति = चित्त चित्त को देखता नहीं। सूतीक्ष्ण भी असिधारा जिस प्रकार अपने को काटने में समर्थ नहीं होती, उसी प्रकार चित्त अपने को देख नहीं सकता[1]। वेद्य, वेदक और वेदन—ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान—ये तीन वस्तुयें पृथक्-पृथक् हैं। एक ही वस्तु (ज्ञान) त्रिस्वभाव कैसे हो सकता है? इस विषय में **आर्यरत्नचूडसूत्र** की यह उक्ति[2] ध्यान देने योग्य है—चित्त की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है। आलम्बन होने पर चित्त उत्पन्न होता है। तो क्या आलम्बन भिन्न है और चित्त भिन्न है? यदि आलम्बन और चित्त को भिन्न-भिन्न मानें तो दो चित्त होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा जो विज्ञानाद्वयवाद के विरुद्ध पड़ेगा। यदि आलम्बन और चित्त की अभिन्नता मानी जाय, तो चित्त चित्त को देख नहीं सकता। उसी तलवार से क्या वही तलवार काटी जा सकती है? क्या उसी अंगुली के अग्रभाग से वही अग्रभाग कभी छुआ जा सकता है? अतः चित्त न तो आलम्बन से भिन्न सिद्ध हो सकता है और न अभिन्न। आलम्बन के अभाव में चित्त की उत्पत्ति संभव नहीं है।

विज्ञानवादी इसके उत्तर में चित्त की स्वप्रकाश्यता का सिद्धान्त लाते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार घट, पट आदि पदार्थों को प्रकाशित करते समय दीपक अपने आपको भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार चित्त अपने को प्रकाशित करेगा। परन्तु यह पक्ष ठीक नहीं। प्रकाशन का अर्थ है—विद्यमान आवरण का अपनयन (विद्यमानस्यावरणस्यापनयनं प्रकाशनम्)। घटपटादि वस्तुओं की स्थिति पूर्व काल से है। अतः उनके आवरण का अपनयन न्याय-प्राप्त है, परन्तु चित्त की पूर्वस्थिति है नहीं। तब उसका प्रकाशन किस प्रकार सम्भव हो सकता है[3]।

---

१. उक्तं च लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति।
न च्छिनत्ति यथाऽऽत्मानमसिधारा तथा मनः॥ (बोधि० ९।१७)

२. बोधिचर्या० पृ० ३९२–३९३।

३. आत्मभावं यथा दीपः संप्रकाशयतीति चेत्।
नैव प्रकाश्यते दीपो यस्मान्न तमसा वृतः॥ (बोधि० ९।१८)

'दीपक प्रकाशित होता है'—इसका पता हमें ज्ञान के द्वारा होता है। उसी प्रकार बुद्धि प्रकाशित होती है इसका पता किस प्रकार लग सकता है? बुद्धि प्रकाश रूप हो या अप्रकाश रूप हो, यदि कोई उसका दर्शन करे तो उसकी सत्ता मान्य हो। परन्तु उसका दर्शन न होने पर उसकी सत्ता किस प्रकार अंगीकार की जाय—वन्ध्या की पुत्री की लीला के समान। वन्ध्या की पुत्री जब असिद्ध है, तब उसकी लीला तो सुतरा असिद्ध है। उसी प्रकार जब बुद्धि की सत्ता ही असिद्ध है, तब उसके स्वप्रकाश या परप्रकाश की कल्पना नितरां असिद्ध है[1]। अतः विज्ञान की कल्पना प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती। जगत् के समस्त पदार्थ निःस्वभाव हैं। विज्ञान भी उसी प्रकार निःस्वभाव है। शून्य ही परम तत्त्व है। अतः विज्ञान की सत्ता कथमपि मान्य नहीं है।

कारणवाद—

जगत् कार्य-कारण के नियम पर चलता है और दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों का इसकी सत्ता में दृढ़ विश्वास है। परन्तु नागार्जुन की समीक्षा इस कल्पना को खण्डित करती है। कार्यकारण की स्वतन्त्र-कल्पना हम नहीं कर सकते। कोई भी पदार्थ कारण को छोड़कर नहीं रह सकता और न कारण ही कार्य से पृथक् कभी दृष्टिगोचर होता है। कार्य के बिना कारण की सत्ता नहीं मानी जा सकती और न कारण के बिना कार्य की सत्ता अंगीकृत की जा सकती है। कार्य-कारण की कल्पना सापेक्षिक है। अतः असत्य है तथा निराधार है। नागार्जुन ने उत्पत्ति और विनाश की कल्पना का प्रथम परिच्छेद तथा २१ वें परिच्छेद में समीक्षण बड़ी मार्मिकता से किया है। उनका कहना है कि पदार्थ न तो स्वतः उत्पन्न होते हैं, न दूसरे की सहायता से उत्पन्न होते हैं (परतः), न दोनों से, न अहेतु से। इनमें से किसी भी प्रकार से भावों की उत्पत्ति प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन[2]॥

---

१. प्रकाशा वाप्रकाशा वा यदा दृष्टा न केनचित्।
वन्ध्यादुहितृलीलेव कथ्यमानापि सा मुधा॥ (बोधि० ९।२३)

२. माध्यमिक कारिका पृ० १२

उत्पाद के अभाव में विनाश सिद्ध नहीं होता। यदि विभव (विनाश) तथा सम्भव (उत्पत्ति) इस जगत् में होते तो वे एक दूसरे के साथ रह सकते या एक दूसरे के बिना ही विद्यमान रह सकते। विभव (विनाश) सम्भव के बिना कैसे उत्पन्न हो सकता है ? जब तक किसी पदार्थ का जन्म ही नहीं हुआ तब तक उसके विनाशकी चर्चा करना नितान्त अयोग्य है[1]। अतः विभव संभव के विना नहीं रह सकता। सम्भव के साथ भी विभव नहीं रह सकता, क्योंकि ये भावनायें आपस में विरुद्ध हैं। ऐसी दशा में जिस प्रकार जन्म और मरण एक ही समय में विद्यमान नहीं रह सकते, उसी प्रकार उत्पत्ति और विनाश जैसे विरुद्ध पदार्थ भी तुल्य काल में स्थित नहीं रह सकते[2]। इस परीक्षा का निष्कर्ष यह निकला कि विभव सम्भव के बिना न तो टिक सकता है और न साथ ही विद्यमान रह सकता है। ऐसा ही दोष सम्भव की विभव के विना स्थिति तथा सह-स्थिति में भी वर्तमान है। अतः उत्पत्ति और नाश की कल्पना प्रमाणतः सिद्ध नहीं की जा सकती।

इसी कारण नागार्जुन के मत में 'परिणाम' नामक कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती। आचार्य ने इसकी समीक्षा अपने ग्रन्थ के १३ वें प्रकारण (संस्कार परीक्षा) में बड़े अच्छे ढंग से की है। साधारण भाषा में हम कहते हैं कि युवक वृद्ध होता है तथा दूध दधि बनता है, परन्तु क्या वस्तुतः यह बात होती है। युवा जीर्ण हो नहीं सकता, क्योंकि युवा में एक ही साथ यौवन तथा जीर्णता जैसे विरोधी धर्म रह नहीं सकते। किसी पुरुष को हम यौवन के कारण 'युवा' कहते हैं। तब युवक वृद्ध क्योंकर हो सकता है ? जीर्ण को जरायुक्त बतलाना ठीक नहीं। जो स्वयं बुड्ढा है, वह भला फिर जीर्ण कैसे होगा[3] ? यह कल्पना ही अनावश्यक होने से व्यर्थ है। हम कहते हैं कि दूध दही बन जाता है, परन्तु यह कथमपि प्रमाण-युक्त नहीं। क्षीरावस्था को छोड़कर दध्यवस्था का धारण परिणाम या परिवर्तन

---

१. भविष्यति कथं नाम विभवः सम्भवं विना।
विनैव जन्ममरणं विभवो नोद्भवं विना॥ (माध्य० का० २१।२)

२. सम्भवेनैव विभवः कथं सह भविष्यति।
न जन्ममरणं चैवं तुल्यकालं हि विद्यते॥ (माध्यमिक कारिका २१।३)

३. तस्यैव नान्यथाभावो नाप्यन्यस्यैव युज्यते।
युवा न जीयते यस्माद् यस्माज्जीर्णो न जीर्यते॥ (मा० का० १३।५)

कहलायेगा। जब क्षीरावस्था का परित्याग ही कर दिया गया है, तब यह कैसे कहा जाय कि क्षीर दधि बनता है। जब क्षीर है, तब दधिभाव विद्यमान नहीं। फलतः किसी असम्बद्ध पदार्थ को दधि बनने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा[1]। यदि वस्तु का कोई अपना स्वभाव हो तो वह परिवर्तित हो, परन्तु माध्यमिक मत में सब वस्तु निःस्वभाव हैं। अतः परिवर्तन की कल्पना भी कपोलकल्पित होने से नितरां चिन्त्य है। इस प्रकार कार्य–कारण भाव, उत्पाद-विनाश, परिणाम आदि परस्पर–सम्बद्ध धारणाओं का वास्तविकता की दृष्टि से कोई भी मूल्य नहीं है।

शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार के नवम परिच्छेद (प्रज्ञापारमिता) में नागार्जुन की पद्धति का अनुसरण कर जगत् को सर्वथा अजात (अनुत्पन्न) तथा अनिरुद्ध (अविनष्ट) सिद्ध किया है[2]। जगत् की या तो सत्ता पहले से ही विद्यमान है या कारणों से उत्पन्न की जाती है। यदि जगत् का भाव विद्यमान है, तो हेतु का क्या प्रयोजन ? सिद्ध वस्तु के उत्पन्न करने के लिए हेतु का आश्रय व्यर्थ है। यदि भाव अविद्यमान है, तो भी हेतु का आश्रय निष्प्रयोजन है, क्योंकि अविद्यमान वस्तु का उत्पाद कथमपि सम्भव नहीं है। उत्पाद न होने पर विनाश हो नहीं सकता। अतः—

अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत् ॥ (९।१५०)

स्वभाव-परीक्षा—

जगत् के पदार्थों की विशेषता है कि वे किसी हेतु से उत्पन्न होते हैं। ऐसी दशा में उन्हें स्वतन्त्र सत्ता वाला कैसे माना जा सकता है ? जिन हेतुओं के ऊपर किसी पदार्थ की स्थिति अवलम्बित है, उनके हटते ही वह पदार्थ नष्ट हो जाता है। ऐसी विषम परिस्थिति में जगत् की वस्तुओं को प्रतिबिम्ब-समान मानना ही न्यायसंगत है[3]। 'युक्तिषष्टिक' में आचार्य नागार्जुन की स्पष्ट उक्ति है—

---

१. तस्य चेदन्यथाभावः क्षीरमेव भवेद् दधि।
क्षीरादन्यस्य कस्यचिद् दधिभावो भविष्यति ॥ (माध्यमिक० का० १३।६)

२. बोधिचर्या० पृ० ५८४—५८८।

३. हेतुतः संभवो येषां तदभावान्न सन्ति ते।
कथं नाम न ते स्पष्टं प्रतिबिम्बसमा मताः ॥
यह आचार्य नागार्जुन का ही वचन है जो माध्य० वृत्ति पृ० ४१२ तथा

हेतुतः सम्भवो यस्य स्थितिर्न प्रत्ययैर्विना ।
विगमः प्रत्ययाभावात् सोऽस्तीत्यवगतः कथम् ॥

आशय है कि जिसकी उत्पत्ति कारण से होती है, जिसकी स्थिति बिना प्रत्ययों (सहायक कारणों) के नहीं होती, प्रत्यय के अभाव में जिसका नाश होता है, वह पदार्थ 'अस्ति'—विद्यमान हैं, यह कैसे जाना जा सकता है ? आशय है कि पदार्थ की तीनों अवस्थायें—उत्पाद, स्थिति और भंग पराश्रित हैं। जो दूसरे पर अवलम्बित रहता है वह कथमपि सत्ताधारी नहीं हो सकता। जगत् के छोटे से लेकर बड़े, सूक्ष्म से लेकर स्थूल समग्र पदार्थों में यह विशिष्टता पाई जाती है। अतः इन पदार्थों को कथमपि सत्तात्मक नहीं माना जा सकता। ये पदार्थ गन्धर्व-नगर, मृगमरीचिका, प्रतिबिम्बकल्प होने से नितरां मायिक हैं।

इन पदार्थों का अपना स्वतन्त्र भाव (या स्वरूप) कोई भी सिद्ध नहीं होता। लोक में उसी को 'स्वभाव' (अपना भाव, अपना रूप) कहते हैं जो कृतक न हो, जिसकी उत्पत्ति किसी कारण से न हो, जैसे अग्नि की उष्णता[1]। यह उष्णता अग्नि के लिए स्वाभाविक धर्म है, परन्तु जल के लिए कृतक है। अतः उष्णता अग्नि का स्वभाव है, जल का नहीं। इस युक्ति से साधारण-जन वस्तुओं के 'स्व'भाव में परम श्रद्धा रखते हैं। परन्तु नागार्जुन का कहना है कि यह सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। अग्नि की उष्णता क्या कारण-निरपेक्ष है ? वह तो मणि, इन्धन, आदित्य के समागम से तथा अरणि से घर्षण से उत्पन्न होती है। उष्णता अग्नि को छोड़कर पृथक् रूप से अवस्थित

बोधि॰ पञ्जिका पृ॰ ५८२ में उद्धृत है। शान्तिदेव ने इस भाव को अपने ग्रन्थ में इस प्रकार प्रकट किया है—

यदन्यसंनिधानेन दृष्टं न तदभावतः।
प्रतिबिम्बे समे तस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कथम् ॥ (बोधिचर्या ९।१४५)

१. अकृत्रिमः स्वभावो हि निरपेक्षः परत्र च । १५।२
इह स्वो भावः स्वभावः इति यस्य पदार्थस्य यदात्मीयं रूपं तत्तस्य स्वभावः व्यपदिश्यते । किं च कस्यात्मीयं यद् यस्य अकृत्रिमम् ।
(प्रसन्नपदा पृ॰ २६२-६३)

नहीं रह सकती। अतः अग्नि की उष्णता हेतु-प्रत्यय-जन्य है, अतः कृतक अनित्य है[२]। उसे अग्नि का स्वभाव बतलाना तर्क की अवहेलना करना है। लोक की प्रसिद्धि तर्कहीन बालकों की उक्ति पर आश्रित होने से विद्वानों के लिए मान्य नहीं है। जब वस्तु का स्वभाव नहीं है, तब उसमें परभाव की भी कल्पना न्याय्य नहीं है। स्वभाव तथा परभाव के अभाव में 'भाव' की भी सत्ता नहीं और अभाव की भी सत्ता नहीं होती। अतः माध्यमिकों के मत में जो 'विद्वान् स्वभाव, परभाव, भाव तथा अभाव की कल्पना वस्तुओं के विषय में करते हैं वे परमार्थ के ज्ञान से बहुत दूर हैं—

स्वभावं परभावं च भावं चाभावमेव च।
ये पश्यन्ति न पश्यन्ति ते तत्त्वं बुद्धशासने॥ (१५।६)

द्रव्यपरीक्षा—

साधारणतः जगत् में द्रव्यों की सत्ता मानी जाती है परन्तु परीक्षा करने पर द्रव्य की कल्पना भी अन्य कल्पना के समान हमें किसी परिणाम पर नहीं पहुँचाती। जिसे हम द्रव्य कहते हैं वह वस्तुतः है ही क्या? रंग, आकार आदि गुणों का समुदायमात्र। नील रंग, विशिष्ट आकार तथा खरस्पर्श के अतिरिक्त घट की स्थिति क्या है? घड़े के विश्लेषण करने पर ये ही गुण हमारी दृष्टि में आते हैं। अतः द्रव्य की खोज करने पर हम गुणों पर जा पहुँचते हैं और गुणों की परीक्षा हमें द्रव्य तक ला खड़ी करती है। हमें पता नहीं चलता कि द्रव्य और गुण—दोनों में मुख्य कौन है और अमुख्य कौन है? दोनों एकाकार होते हैं या भिन्न? नागार्जुन ने समीक्षा बुद्धि से दोनों की कल्पना को सापेक्षिकी बतलाया है। रंग, चिक्कणता, रुक्षता, गन्ध, स्वाद आदि गुण आभ्यन्तर पदार्थ हैं। इनकी स्थिति इसीलिए है कि हमारी इन्द्रियों की सत्ता है। आँख के बिना न रंग है और न कान के बिना शब्द। अतः ये अपने से भिन्न तथा बाहरी हेतुओं पर अवलम्बित हैं। इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, ये इन्द्रियों पर अवलम्बित रहते हैं। इस प्रकार गुण प्रतीति या आभास मात्र है। अतः जिन पदार्थों में ये गुण विद्यमान रहते हैं वे भी आभासमात्र हैं। हम समझते हैं कि हम द्रव्यों का ज्ञान सम्पादन करते हैं, परन्तु वस्तुतः हम गुणों के समुदाय पर सन्तोष करते हैं। वास्तव द्रव्य

---

२. माध्यमिक वृत्ति पृ० २६०

के स्वभाव से हम कभी भी परिचित नहीं हुए और न हो ही सकते हैं, क्योंकि वस्तुओं का जो स्वयं सच्चा परमार्थ रूप है वह ज्ञान तथा वचन दोनों से अतीत की वस्तु है। उसका ज्ञान तो प्रातिभ चक्षु के सहारे ही भाग्यशाली योगियों को हो हो सकता है।

वह साधारण अनुभव के भीतर कभी आ नहीं सकता। जो स्वरूप हमारे अनुभवगोचर होता है वह केवल गुणों को ही लेकर है। हम यह भी नहीं जानते कि किसी पदार्थ में बस इतने ही गिने हुए गुणों की स्थिति है, इससे अधिक नहीं है। ऐसी वस्तुस्थिति में द्रव्य वह संयोजक पदार्थ है जो गुणों का एक साथ जुटाये रहता है जिससे वे आपस में एक दूसरे का विरोध न करें—एक दूसरे को रगड़-कर नष्ट न कर दें। अतः द्रव्य एक संबन्धमात्र है, अन्य कुछ नहीं। ऐसी दशा में द्रव्य गुणों का एक अमूर्त सम्बन्ध है। और जैसे पहले दिखलाया गया है जितने संसर्ग हैं वे सब अनित्य और असिद्ध हैं। सुतरां द्रव्य प्रमाणतः सिद्ध नहीं किया जा सकता। द्रव्य और गुण की कल्पना परस्पर सापेक्षिकी है—एक दूसरे पर अपनी स्थिति के लिए अवलम्बित रहता है। ऐसी दशा में इनकी स्वतन्त्र सत्ता मानना तर्क का तिरस्कार करना है। यह हुई पारमार्थिक विवेचना। व्यवहार की सिद्धि के लिए हम द्रव्यों की कल्पना गुणों के संचय रूप में मान सकते हैं। क्योंकि यह निश्चित बात है कि ये गुण—रंग, आकार आद किसी मूलभूत आधार को छोड़कर किसी स्थान पर स्वयं अवस्थित नहीं रह सकते। इस प्रकार नागार्जुन ने द्रव्य के पारमार्थिक रूप का निषेध करके भी इसके व्यावहारिक रूप का अप-लाप नहीं किया है।

जाति—

जिसे 'जाति' के नाम से हम पुकारते हैं, उसका स्वरूप क्या है? क्या जाति उन पदार्थों से भिन्न होती है जिनमें इसका निवास रहता है या अभिन्न? नागा-र्जुन ने जाति की नितान्त असत्ता सिद्ध की है। जगत् का ज्ञान वस्तु के सामान्य रूप को लेकर प्रवृत्त नहीं होता, प्रत्युत दूसरी वस्तु से उसकी विशिष्टता को स्वीकार कर ही वह आगे बढ़ता है। गाय किसे कहते हैं? उसी को जो न तो घोड़ा हो और न हाथी हो। गाय का जो अपना रूप है वह तो ज्ञान के अतीत की वस्तु है, उसे हम कथमपि जान नहीं सकते। गाय के विषय में हम इतना ही जानते हैं

कि वह एक पशुविशेष है जो घोड़ा और हाथी से भिन्न है। शब्दार्थ का विचार करते समय पिछले काल के बौद्ध पण्डितों ने इसे ही 'अपोह' की संज्ञा दी है जिसका शास्त्रीय लक्षण है—'तदितरेतरत्व' अर्थात् उस पदार्थ से भिन्न वस्तु से भिन्नता का होना। घोड़ा वस्तु है जो उससे भिन्न होने वाले (गाय, हाथी, ऊँट आदि) जन्तुओं से भिन्न हो। जगत् स्वयं असत्तात्मक है। तब गोत्व भी असत् धर्म ठहरा। उस धर्म के द्वारा हम किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं कर सकते। अतः 'सामान्य' का ज्ञान असिद्ध है। किसी भी वस्तु के स्वरूप से हम परिचित हो ही नहीं सकते। नागार्जुन के अनुभव की मीमांसा हमें इसी परिणाम पर पहुंचाती है कि समस्त द्रव्यों का सामान्य तथा विशिष्ट रूप ज्ञान के लिए अगोचर है। हम उन्हें कथमपि जान नहीं सकते।

संसर्गविचार—

यह जगत् संसर्ग या सम्बन्ध का समुदायमात्र है। परन्तु परीक्षा करने पर यह संसर्ग भी बिल्कुल असत्य प्रतीत होता है। इन्द्रियों तथा विषयों के साथ संसर्ग होने पर तत्तत् विशिष्ट विज्ञान उत्पन्न होते हैं। चक्षु का रूप के साथ सम्बन्ध होने पर 'चक्षुर्विज्ञान' उत्पन्न होता है, परन्तु यह संसर्ग सिद्ध नहीं होता। संसर्ग उन वस्तुओं में होता है जो एक दूसरे से पृथक् हों। पट से घट का सम्बन्ध तभी प्रमाण पुरःसर है जब वे दोनों पृथक् हों, परन्तु वे पृथक् तो नहीं हैं[1]। घट को निमित्त मानकर (प्रतीत्य) पट पृथक् है और पट की अपेक्षा से घट अलग वस्तु प्रतीत होता है। सर्वमान्य नियम यह है कि जो वस्तु जिस निमित्त से उत्पन्न होती है वह उससे पृथक् हो नहीं सकती जैसे बीज और अंकुर[2]। बीज के कारण अंकुर की उत्पत्ति होती है। अतः बीज से अंकुर भिन्न पदार्थ नहीं है। इसी नियम के अनुसार पट घट से पृथक् नहीं है। तब इन दोनों में संसर्ग हो ही कैसे सकता है? संसर्ग का यही स्वभाव है। संसर्ग की कल्पना को इस प्रकार असिद्ध होने पर जगत् की धारणा भी सर्वथा निर्मूल सिद्ध होती है।

---

१. अन्यदन्यत् प्रतीत्यान्यन्नान्यदन्यदृतेऽन्यतः।
यत्प्रतीत्य च यत् तस्मात्तदन्यन्नोपपद्यते॥ (माध्य० का० १४।५)

२. प्रतीत्य यद्यद् भवति न हि तावत् तदेव तत्।
न चान्यदपि तत् तस्मान्नोच्छिन्नं नापि शाश्वतम्॥ (माध्य० का० १८।१०)

गति परीक्षा —

नागार्जुन ने लोकसिद्ध गमनागमन क्रिया की बड़ी कडी आलोचना की है (द्वितीय प्रकरण)। लोक में हमारी प्रतीति होती है कि देवदत्त 'क' से चलकर 'ख' तक पहुँच जाता है। परन्तु विचार करने पर यह प्रतीति वास्तविक नहीं सिद्ध होती। कोई भी व्यक्ति एक समय में दो स्थानों में विद्यमान नहीं रह सकता। 'क' से 'ख' तक चलने का अर्थ यह हुआ कि वह एक काल में दोनों स्थानों पर विद्यमान रहता है जो साधारण रीत्या असंभव है। आचार्य की उक्ति है।

गतं न गम्यते तावदगतं नैव गम्यते।
गतागत-विनिर्मुक्तं गम्यमानं न गम्यते ॥ (२।१)

जो मार्ग गमन के द्वारा पार कर दिया गया है उसे हम 'गम्यते' (वह पार किया जा रहा है) नहीं कह सकते। 'गम्यते' वर्तमान कालिक क्रिया है जो भूत पदार्थ के विषय में नहीं प्रयुक्त हो सकती। जो मार्ग के अभी चलने को है वह उसके लिए भी गम्यते नहीं कह सकते। मार्ग के दो ही भाग हो सकते हैं— एक वह जिसे हम पार कर चुके (गत) और दूसरा वह जिसे अभी भविष्य में पार करना है (अगत)। इन दोनों को छोड़कर तीसरा भाग नहीं जिस पर चला जाय। भूत तथा भविष्य मार्ग के लिए 'गम्यते' का प्रयोग ही नहीं हो सकता और इन्हें छोड़कर मार्ग का तीसरा भाग नहीं जिस पर चला जाय। फलतः 'गमन' की क्रिया असिद्ध हो जाती है। गमन के असिद्ध होते ही गमनकर्ता भी असिद्ध हो जाता है। कर्ता की क्रिया कल्पना के साथ सम्बद्ध रहती है। जब क्रिया ही असिद्ध है तब कर्ता की असिद्धि स्वाभाविक है। गमन के समान ही स्थिति की कल्पना निराधार है। स्थिति किसके विषय में प्रयुक्त की जा सकती है—गन्ता (गमनकर्ता) के विषय में या अगन्ता के विषय में ? गमन करने वाला खड़ा होता है, यह कल्पना विरोधी होने से त्याज्य है। गमन स्थिति की विरुद्ध क्रिया है। अतः गमन का कर्ता विरोधी क्रिया (स्थिति) का कर्ता हो हो नहीं सकता। 'अगन्ता खड़ा होता है'—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो व्यक्ति गमन ही नहीं करता वह तो स्वयं स्थित है। फिर उसे खड़ा होने की आवश्यकता ही क्योंकर होगी ? अतः अगन्ता का भी अवस्थान उचित नहीं। इन दोनों को छोड़कर तीसरा व्यक्ति कौन है जो स्थिति करेगा। फलतः कर्ता के

अभाव में क्रिया का निषेध अवश्यंभावी है। अतः स्थिति की कल्पना मायिक है। गति और स्थिति—दोनों सापेक्षिक होने से अविद्यमान हैं—

गन्ता न तिष्ठति तावदगन्ता नैव तिष्ठति।
अन्यो गन्तुरगन्तुश्च कस्तृतीयोऽथ तिष्ठति॥

नागार्जुन ने १९ वें प्रकरण में काल की समीक्षा की है। लोकव्यवहार में काल तीन प्रकार का होता है[1]—भूत, वर्तमान और भविष्य। अतीत को हमें खबर नहीं और भविष्य का अभी जन्म नहीं। वह अभी अग्रिम घटनाओं के गर्भ में छिपा हुआ है। रहा वर्तमान। उसकी भी सत्ता अतीत तथा भविष्य के आधार पर अवलम्बित है। वर्तमान कौन है? जो न भूत हो और न भविष्य। फलतः हेतुजनित होने से वर्तमान की कल्पना निराधार है। अतः काल की समग्र कल्पना अविश्वसनीय है[2]।

आत्म-परीक्षा--

नागार्जुन ने आत्मा की परीक्षा के एक स्वतन्त्र प्रकरण (१८ वाँ) में की है। अभी जो द्रव्य की कल्पना समझाई गई है उससे स्पष्ट होगा कि गुणसमुच्चय के अतिरिक्त उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसी नियम का प्रयोग कर हम कह सकते हैं कि मानस व्यापारों के अतिरिक्त आत्मा नामक पदार्थ की पृथक् सत्ता नहीं है। अपने दैनिक अनुभव में हम अपने मानस व्यापारों से सर्वथा परिचित है। ज्ञान, इच्छा तथा यत्न—हमारे जीवन के प्रधान साधन हैं। हमारा मन कभी भी इस त्रिविध व्यापार से अपने को मुक्त नहीं कर सकता। इन्हीं के समुदाय को आप 'आत्मा' कह सकते हैं, केवल व्यवहार के लिए। 'वस्तुतः कोई आत्मा है', इसे नागार्जुन मानने के लिए उद्यत नही हैं। उनका कहना है—'कुछ लोग (चन्द्रकीर्ति के अनुसार सम्मितीय लोग) दर्शन, श्रवण, वेदन आदि के होने से पहले ही एक पुद्गल पदार्थ (आत्मा, जीव) की कल्पना मानते हैं। उनकी

---

१. माध्यमिक कारिका १९।१२।

२. चन्द्रकीर्ति ने बुद्ध का वचन इसी प्रसंग में उद्धृत किया है—पञ्चेमानि भिक्षवः संज्ञामात्रं प्रतिज्ञामात्रं व्यवहारमात्रं संवृतिमात्रं यदुतातीतोऽवाऽनागतोऽध्वाऽकाशं निर्वाणं पुद्गलश्चेति—(प्रसन्नपदा पृ० ३८९।)

युक्ति[1] यह है कि विद्यमान ही व्यक्ति उपादान का ग्रहण करता है। विद्यमान देवदत्त धन का संग्रह करता है, अविद्यमान वन्ध्यापुत्र नहीं। अतः विद्यमान होने पर ही पुद्गल दर्शन, श्रवणादि क्रियाओं का ग्रहण करेगा, अविद्यमान नहीं।' इस पर नागार्जुन का आक्षेप है कि दर्शनादि से पूर्व विद्यमान आत्मा का ज्ञान हमें किस प्रकार होगा? आत्मा और दर्शनादि क्रियाओं का परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध है। यदि दर्शनादि के बिना ही आत्मा की स्थिति हो, तो इन क्रियाओं की भी स्थिति आत्मा के बिना हो जायेगी[2]।

'समग्र दर्शन, श्रवण, वेदन आदि क्रियाओं से पूर्व हम किसी भी वस्तु (आत्मा) का अस्तित्व नहीं मानते जिसकी प्रज्ञप्ति के लिए किसी अन्य पदार्थ की आवश्यकता हो, प्रत्युत हम प्रत्येक दर्शनादि क्रिया से पूर्व आत्मा का अस्तित्व मानते हैं'—प्रतिवादी के इस तर्क के उत्तर में नागार्जुन का कहना है कि यदि आत्मा समग्र दर्शनादि से पूर्व नहीं स्वीकृत किया जायगा, तो वह एक भी दर्शनादि से पूर्व सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि जो वस्तु सर्व पदार्थों से पूर्व नहीं होती, वह एक-एक पदार्थ से पूर्व नहीं होती जैसे सिकता में तेल। समग्र सिकता (बालू) से तेल उत्पन्न नहीं होता—ऐसी दशा में एक-एक भी सिकता से तेल उत्पन्न नहीं होता[3]। दर्शन श्रवणादि जिस महाभूतों से उत्पन्न होते हैं उन महाभूतों में भी आत्मा विद्यमान नहीं है[4]। निष्कर्ष यह है कि इन दर्शनादि क्रियाओं से पूर्व आत्मा के अस्तित्व का परिचय हमें प्राप्त नहीं है। इनके **साथ** भी आत्मा विद्यमान नहीं रहता क्योंकि सहभाव उन्हीं पदार्थों का सम्भव है जिनकी पृथक्-पृथक् सिद्धि हो, परन्तु सापेक्ष होने से आत्मा दर्शनादि क्रियाओं से पृथक् सिद्ध नहीं

---

१. कथं ह्यविद्यमानस्य दर्शनादि भविष्यति।
भावस्य तस्मात् प्रागेभ्यः सोऽस्तिभावो व्यवस्थितः॥ (९।२)

२. विनापि दर्शनादीनि यदि चासौ व्यवस्थितः।
अमून्यपि भविष्यन्ति विना तेन न संशयः॥ (९।४)

३. सर्वेभ्यो दर्शनादिभ्यो यदि पूर्वो न विद्यते।
एकैकस्मात् कथं पूर्वो दर्शनादेः स युज्यते॥ (माध्य० ९।७)

४. दर्शनश्रवणादीनि वेदनादीनि चाप्यथ।
भवन्ति येभ्यस्तेष्वेष भूतेष्वपि न विद्यते॥ (माध्य० ९।१०)

है। ऐसी दशा में दोनों का सहभाव असम्भव है। पुनश्च, आत्मा दर्शनादि क्रियाओं के पश्चात् **उत्तरकाल** में भी विद्यमान नहीं रहता, क्योंकि दर्शनादि क्रियारूप हैं, वे कर्ता की अपेक्षा रखते हैं[1]। यदि स्वतन्त्र रूप से ही दर्शन-आदि क्रियायें सम्पन्न होने लगें, तो कर्तारूप से आत्मा के मानने की आवश्यकता ही कौन सी होगी ? इस प्रकार परीक्षण के फल को नागार्जुन ने एक सुन्दर कारिका (९।१२) में अभिव्यक्त किया है—

प्राक् च यो दर्शनादिभ्यः साम्प्रतं चोर्ध्वमेव च।
न विद्यतेऽस्ति नास्तीति निवृत्तास्तत्र कल्पनाः॥

'माध्यमिक कारिका' के १८ वें प्रकरण में आचार्य ने पुनः इस महत्त्वपूर्व कल्पना की विपुल समीक्षा की है। साधारण रीति से पञ्चस्कन्ध—रूप, संज्ञा, वेदना, संस्कार तथा विज्ञान—को आत्मा बतलाया जाता है, परन्तु यह उचित नहीं। क्योंकि स्कन्धों की उत्पत्ति तथा विनिष्ट होती है। तदात्मक होने से आत्मा भी उदय तथा व्यय का भाजन बन जायगा। स्कन्ध उपादान हैं। आत्मा उपादाता है। क्या उपादान तथा उपादाता—ग्राह्य तथा ग्राहक—कभी एक सिद्ध हो सकते हैं ? नहीं, तो ऐसी दशा में आत्मा को स्कन्धात्मक कैसे स्वीकार किया जाय[2]। यदि आत्मा को स्कन्धों से व्यक्तिरिक्त मानें, तो वह स्कन्धलक्षण (स्कन्धों के द्वारा लक्षित) न होगा। अतः स्थिति विषम है—हम आत्मा को न तो स्कन्धों से अभिन्न मान सकते हैं और न भिन्न[3]। आत्मा के असिद्ध होने पर आत्मीय उपादान (पञ्चस्कन्ध) की भी सिद्धि नहीं हो सकती। फिर इन दोनों के शान्त होने पर ममताहीन तथा अहंकार-रहित योगी की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ? फलतः आत्मा की कल्पना निराधार तथा निर्मूल है।

कुछ लोग आत्मा को कर्ता मानते हैं। नागार्जुन की सम्मति में कर्ता और

---

१. यदि हि पूर्वं दर्शनादीनि स्युः उत्तरकालमात्मा स्यात् तदानीमूर्ध्वं सम्भवेत्। न चैवमकर्तृकस्य कर्मणोऽसिद्धत्वात्। (प्रसन्नपदा पृ० १९९)

२. न चोपादानमेवात्मा व्येति तत् समुदेति च।
कथं हि नामोपादानमुपादाता भविष्यति॥ (माध्य० का० २७।६)

३. आत्मा स्कन्धा यदि भवेदुदयव्ययभाग् भवेत्।
स्कन्धेभ्योऽन्यो यदि भवेद् भवेदस्कन्धलक्षणः॥ (माध्यमिक का० १८।१)

कर्म की भावना भी निःसार है (अष्टम परिच्छेद)। क्रिया करने वाले व्यक्ति को कर्ता कहते हैं। वह यदि विद्यमान है, तो क्रिया कर नहीं सकता। क्रिया के कारण ही उसे कारक संज्ञा प्राप्त हुई है। ऐसी दशा में उसे दूसरी क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं है। तब कर्म की स्थिति बिना कारक के किस प्रकार मानी जाय ?

सद्भूतस्य क्रिया नास्ति, कर्म च स्यादकर्तृकम्[1]।

परस्पर सापेक्ष होने से क्रिया, कारक तथा कर्म की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जा सकती। क्रिया के असंभव होने से धर्माधर्म विद्यमान नहीं रह सकते। जब देवदत्त अहिंसादि क्रिया का सम्पादन करता है, तब वह धर्मभागी बनता है। जब क्रिया ही असिद्ध बन गई, तब धर्म का असिद्ध होना सुतरां निश्चित है। धर्म और अधर्म के अभाव में उनके फल—सुगति और दुर्गति—का अभाव होगा। जब फल ही विद्यमान नहीं होता, तब स्वर्ग या मोक्ष के लिए विहित मार्ग ही व्यर्थ है[2]। बुद्ध प्रदर्शित मार्ग स्वर्ग की ओर ले जाता है या निर्वाण की ओर। स्वर्ग मोक्ष के अभाव में कौन व्यक्ति ऐसा मूढ़ होगा जो मार्ग का अवलम्बन कर अपना जीवन व्यर्थ बितायेगा। नागार्जुन के तर्क के आगे आर्यसत्यों का भी अस्तित्व मायिक है। इस प्रकार आत्मा की कल्पना कथमपि मान्य नहीं है। इस विशाल तार्किक समीक्षण का परिणाम आचार्य नागार्जुन ने बड़ी ही सुन्दर रीति से इस कारिका में प्रतिपादित किया है—

आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्॥

—(माध्यमिक कारिका १८।६)

कर्मफल-परीक्षा—

कर्म का सिद्धान्त वैदिक धर्म के समान बौद्धधर्म को भी सम्मत है। जो कर्म किया जाता है, उसका फल अवश्य होता है। परन्तु परीक्षा करने पर यह तथ्य प्रमाणित नहीं होता। कर्म का फल सद्यः न होकर कालान्तर में सम्पन्न होता है।

---

१. माध्यमिक कारिका ८।२

२. धर्माधर्मौ न विद्येते क्रियादीनामसम्भवे।
धर्मे चासत्यधर्मे च फलं तज्जं न विद्यते॥

यदि फल के विपाक तक कर्म टिकता है, तो वह नित्य हो जायगा। यदि विपाक तक उसकी सत्ता न मानकर उसे विनाशशाली माना जाय, तो अविद्यमान कर्म किस प्रकार फल उत्पन्न कर सकता है[1]? यदि कर्म की प्रवृत्ति स्वभावतः मानी जाय, तो[2] निःसन्देह वह शाश्वत हो जायगा। परन्तु वस्तुतः वह ऐसा है नहीं। कर्म वही है जिसे स्वतन्त्र कर्ता अपनी क्रिया के द्वारा अभीष्टतम समझे (कर्तुरीप्सिततमं कर्म-पाणिनि १।४।४९) अर्थात् सम्पादन करे। शाश्वत होने पर उसे क्रिया के साथ सम्बद्ध कैसे माना जायगा? क्योंकि जो वस्तु शाश्वत होती है, वह कृतक (क्रिया के द्वारा निष्पन्न) नहीं होती। यदि कर्म अकृतक होगा, तो बिना किये ही फल की प्राप्ति होने लगेगी (अकृताभ्यागम)[3]। फलतः निर्वाण की इच्छा रखने वाला भी व्यक्ति बिना ब्रह्मचर्य का निर्वाह किये ही अपने को कृतकृत्य मानने लगेगा। अतः न तो जगत् में कर्म विद्यमान हैं न उनका फल—दोनों कल्पनायें केवल व्यवहार की सिद्धि के लिए हैं।

ज्ञान-परीक्षा--

ज्ञान के स्वरूप के विचार करने पर वह भी नाना प्रकार के विरोधों से परिपूर्ण प्रतीत होता है। इन्द्रियाँ ६ हैं—दर्शन, श्रवण, घ्राण, रसन, स्पर्शन और मन जिनके द्रष्टव्यादि ६ प्रकार के विषय हैं। इन विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है, परन्तु वस्तुतः यह आभास मात्र है, तथ्य बात नहीं है। उदाहरण के लिए चक्षु को ग्रहण कीजिए। चक्षु जब अपने को ही नहीं देखती है, तब अन्य वस्तु (रूप) को क्योंकर देख सकती है? अग्नि का दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता। जिस प्रकार अग्नि अपने को तो नहीं जलाता, केवल बाह्य पदार्थ (इन्धन आदि) को जलाता है, उसी तरह चक्षु भी अपने आपके दर्शन

१. फले सति न मोक्षाय न स्वर्गायोपपद्यते।
मार्गः सर्वक्रियाणां च नैरर्थक्यं प्रसज्ज्यते॥
(माध्यमिक कारिका ८।५-६)

२. तिष्ठत्यापाककालाच्चेत् कर्म तन्नित्यतामियात्।
निरुद्धं चेत् निरुद्धं सत् किं फलं जनयिष्यति॥
(माध्यमिक कारिका १७।६)

३. माध्यमिक कारिका १७।२२-२३।

में असमर्थ होने पर भी रूप के प्रकाश में समर्थ होगा[1]। परन्तु यह कथन एक मौलिक भ्रान्ति पर अवलम्बित है। गति के समान 'जलाना' क्रिया तो स्वयं असिद्ध है। अतः उसका दृष्टान्त देखकर चक्षु के दर्शन की घटना पुष्ट नहीं की जा सकती, क्योंकि 'दर्शन' क्रिया भी गति तथा स्थिति के समान निर्मूल कल्पना-मात्र है। जो वस्तु दृष्ट है, उसके लिए 'वह देखी जाती है (दृश्यते) यह वर्तमानकालिक प्रयोग नहीं कर सकते और जो वस्तु अदृष्ट है, उसके लिए भी 'दृश्यते' का प्रयोग अनुपयुक्त है। वस्तु दो ही प्रकार की हो सकती है—दृष्ट और अदृष्ट। इन दोनों के अतिरिक्त दृश्यमान वस्तु की सत्ता हो ही नहीं सकती[2]। दर्शन क्रिया के अभाव में उसका कोई भी कर्ता सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कर्ता विद्यमान भी रहे, तो वह अपना दर्शन नहीं कर सकता[3]। तब वह अन्य वस्तुओं का दर्शन किस प्रकार कर सकेगा ?

दर्शन की अपेक्षा कर या निरपेक्ष भाव से द्रष्टा की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि द्रष्टा सिद्ध है तो उसे दर्शन क्रिया की अपेक्षा ही किसके लिए होगी ? यदि द्रष्टा असिद्ध है, तो भी वन्ध्या के पुत्र के समान वह दर्शन की अपेक्षा नहीं करेगा। द्रष्टा तथा दर्शन परस्पर सापेक्षिक कल्पनायें हैं। अतः द्रष्टा को दर्शन से निरपेक्षभाव से स्थित मानना भी न्यायसंगत नहीं है। फलतः द्रष्टा का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। अतः द्रष्टा के अभाव में द्रष्टव्य (विषय) तथा दर्शन का अभाव सुतरां असिद्ध है[4]। सच्ची बात तो यह है कि रूप की सत्ता पर चक्षु अवलम्बित है और चक्षु की सत्ता पर रूप। नील, पीत, हरित आदि रंगों की कल्पना से हम चक्षु का अनुमान करते हैं और चक्षु की स्थिति नील पीतादि रंगों का ज्ञान होता है। 'जिस प्रकार माता-पिता के कारण पुत्र का जन्म होता है, उसी प्रकार चक्षु और रूप को निमित्त मानकर चक्षुर्विज्ञान की

---

१. माध्यमिक कारिका ३।१-२।

२. न दृष्टं दृश्यते तावत् अदृष्टं नैव दृश्यते।
दृष्टादृष्टविनिर्मुक्तं दृश्यमानं न दृश्यते॥ (पृ० ११४)

३. माध्यमिक कारिका ३।५

४. माध्यमिक का० ३।६

उत्पत्ति होती है'[1]। अतः द्रष्टा के अभाव में द्रष्टव्य तथा दर्शन विद्यमान नहीं हैं, तब विज्ञान की कल्पना कैसे सिद्ध होगी? जैसा हम किसी वस्तु को देख रहे हैं वह वैसी ही है, इसका पता हमें क्योंकर चलता है? एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न आकार का देखकर बतलाते हैं। दर्शन के समान ही अन्य प्रत्यक्ष ज्ञान की दशा है। इसलिए ज्ञान की धारणा ही सर्वथा भ्रान्त है—नागार्जुन की युक्तियों का यही परिणाम हैं।

आर्य नागार्जुन की तर्क-समीक्षा का आंशिक परिचय ऊपर दिया गया है। नागार्जुन की मीमांसापद्धति नितान्त अभावात्मक है। उन्होंने जगत् की समग्र मूल धारणाओं की नींव ही खोद डाली है। यह तर्कपद्धति कृपाण की धारा के समान तीक्ष्ण है। इसके सामने जो विषय आ जाता है उसे छिन्न-भिन्न कर डालने में उन्हें विलम्ब नहीं लगता। सुख-दुःख, गति-स्थिति, देश-काल आत्मा-अनात्मा, द्रव्य-गुण यावत् पदार्थों का असन्दिग्ध अस्तित्व मानकर यह लोक व्यवहार चलता है। उनकी सत्ता में सन्देह ही नहीं दिखलाया गया है, प्रत्युत अभ्रान्त, प्रौढ़, युक्तियों से उनका मार्मिक खण्डन कर दिया गया है। नागार्जुन के इस विराट् तर्कप्रदर्शन का यही परिणाम है कि यह जगत् **आभासमात्र** है। जगत् के पदार्थों में अस्तित्व मानना स्वप्न के मोदकों से क्षुधा शान्त करना है या मरीचिका के जल से अपनी पिपासा बुझाना है। प्रातःकाल घास पर पड़े हुए ओस के बूँद देखने में मोती के समान चमकते हैं, परन्तु सूर्य की उग्र किरण के पड़ते ही वे विलीन हो जाते हैं। जगत् के पदार्थों की दशा ठीक इसी प्रकार है। वे साधारण दृष्टि से देखने में सत्य तथा अभिराम प्रतीत होते हैं, परन्तु तर्क का प्रयोग करते ही वे स्वभाव-शून्य होकर अनस्तित्व में मिल जाते हैं। नागार्जुन की समीक्षा का सबसे बड़ा फल यही है कि **शून्य** ही एकमात्र सत्ता है। जगत् प्रतिबिम्बतुल्य है।

(ख) सत्तामीमांसा

माध्यमिकों के मत में सत्य दो प्रकार का होता है—(१) सांवृतिक सत्य (=अविद्याजनित व्यावहारिक सत्ता) (२) पारमार्थिक सत्य (=प्रज्ञाजनित

---

१. प्रतीत्य मातापितरौ यथोक्तः पुत्रसंभवः।
चक्षूरूपे प्रतीत्यैवमुक्तो विज्ञानसम्भवः॥ (माध्य० का० ३।७)

सत्य)। आर्य नागार्जुन के मत में तथागत ने इन दोनों सत्यों को लक्ष्य करके ही धर्म का उपदेश किया है—कुछ उपदेशों में व्यावहारिक सत्य का वर्णन है और किन्हीं शिक्षाओं में पारमार्थिक सत्य का। अतः माध्यमिकों का यह द्विविध सत्य का सिद्धान्त अभिनव न होकर भगवान् बुद्ध के उपदेशों पर आश्रित है[1]।

सांवृतिक सत्य वह है जो संवृति के द्वारा उत्पन्न हो। 'संवृति' शब्द की व्याख्या तीन प्रकार से की गई है—

(१) 'संवृति' शब्द का अर्थ है 'अविद्या' जो सत्य वस्तु के ऊपर आवरण डाल देती है[2]। इसके अविद्या, मोह तथा विपर्यास पर्यायवाची शब्द हैं। प्रज्ञाकरमति का कहना है कि अविद्या अविद्यमान वस्तु का स्वरूप अन्य वस्तु पर आरोपित कर देती है जिससे उसका सच्चा स्वरूप हमारी दृष्टि से अगोचर होता है। '**आर्यशालिस्तम्बसूत्र**' को अविद्या का यही अर्थ अभीष्ट है—तत्त्वेऽप्रतिपत्तिः मिथ्या प्रतिपत्तिरज्ञानं अविद्या। अविद्या का स्वरूप आवरणात्मक है—

अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते।
अविद्या जायमानेव कामलातङ्कवृत्तिवत्॥

आशय है कि जिस प्रकार कामला (पाण्डु) रोग होने पर रोगी श्वेत वस्तु के रूप को छिपा देता है और उसके ऊपर पीत रंग को आरोपित कर देता है, उसी प्रकार अविद्या भूत के सच्चे स्वरूप को आवरण कर अविद्यमान रूप को आरोपित कर देती है। इस प्रकार आवरण करने का हेतु 'संवृति' का अर्थ हुआ अविद्या।

(२) 'संवृति' का अर्थ है हेतुप्रत्यय के द्वारा उत्पन्न वस्तु का रूप (प्रतीत्यसमुत्पन्नं वस्तुरूपं संवृतिरुच्यते पृ० ३५२)। सत्य पदार्थ अपनी सत्ता के लिए

---

१. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥
(माध्यमिकवृत्ति ४९२, बोधिचर्या ३६१)

२. संव्रियत आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणाद् आवृत प्रकाशनाच्चानयेति संवृतिः। अविद्या ह्यसत्पदार्थस्वरूपारोपिका स्वभावदर्शनावरणात्मिका च सती संवृतिरुपपद्यते–बोधि० पञ्जिका पृ० ३५२

किसी कारण से उत्पन्न नहीं होता है। अतः कारण से उत्पन्न होने वाला लौकिक वस्तु 'सांवृतिक' कहलायेगा।

(३) 'संवृति' से उन चिह्नों या शब्दों से अभिप्राय है जो साधारणतया मनुष्यों के द्वारा ग्रहण किये तथा प्रत्यक्ष के ऊपर अवलम्बित रहते हैं[1]। रूप, शब्द आदिको परमार्थ सत्य नहीं मानना चाहिए क्योंकि ये लोक के द्वारा एक ही प्रकार से ग्रहण किये जाते हैं। इन्द्रियों के द्वारा जो वस्तु ग्रहण की जाती है, वह वास्तविक होती, तो जगत् के समग्र मूर्ख तत्त्वज्ञ बन जाते और 'सत्य' की खोज के लिए विद्वानों का कथमपि आग्रह नहीं होता। प्रज्ञाकरमति ने स्त्री के शरीर को उदाहरण के रूप में दिया है। वह नितान्त अशुचि है, परन्तु उसमें आसक्ति रखनेवाले कामुक के लिए वह परम पवित्र तथा शुचि प्रतीत होता है।

'संवृति' के दो प्रकार—

'सांवृतिक सत्य' का अर्थ हुआ अविद्या या मोह के द्वारा उत्पादित काल्पनिक सत्य जिसे अद्वैत वेदान्त में 'व्यावहारिक सत्य' कहते हैं। यह सत्य दो प्रकार का होता है—(१) लोक संवृति तथा (२) अलोक संवृति। 'लोक संवृति' वह है जिसे साधारण जन समाज सत्य कहकर मानता है जैसे घटपटादि पदार्थ। 'अलोक संवृति' इससे विपरीत होती है जिसे कतिपय मनुष्य (जैसे कामला रोगी) ही ग्रहण कर सकते हैं समग्र नहीं; जैसे शंख का पीतरंग। प्रज्ञाकारमति ने इन्हें ही क्रमशः (१) तथ्यसंवृति तथा (२) मिथ्यासंवृति की संज्ञा दी है[2]। तथ्यसंवृति का अर्थ है किंचित् कारण से उत्पन्न तथा दोषरहित इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध वस्तुरूप (नील पीतादि)—यह लोक से सत्य है। 'मिथ्यासंवृति' भी किञ्चित्-प्रत्ययजन्य होती है परन्तु वह दोष-सहित इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध होती जैसे माया, मारीचिका, प्रतिबिम्ब आदि। यह लोक से भी मिथ्या है। लोकदृष्टि से प्रथम संवृति सत्य है और दूसरी असत्य, परन्तु आर्यों की दृष्टि में दोनों असत्य हैं, अतएव हेय हैं। परमार्थ तत्त्व इनसे भिन्न पदार्थ है। 'आर्य सत्यों' की विवेचना करते समय पञ्जिकाकार का मत है कि दुःख, समुदय तथा मार्ग सत्य संवृति-

---

१. प्रत्यक्षमपि रूपादि प्रसिद्ध्या न प्रमाणतः।
अशुच्यादिषु शुच्यादि प्रसिद्धिरिव सा मृषा॥ (बोधिचर्या०, ९।६)

२. बोधिचर्या पृ० ३५२।

सत्य के अन्तर्गत आते हैं तथा केवल निरोध (निर्वाण) सत्य अकेला ही परमार्थ के भीतर आता है। अग्राह्य होने पर भी संवृति का हम तिरस्कार नहीं कर सकते क्योंकि व्यवहार--सत्य में रहकर ही परमार्थ की देशना की जाती है। अतः परमार्थ के लिए व्यवहार उपादेय है—

व्यवहारमनादृत्य परमार्थो न देश्यते ।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥

'आदिशान्त'—

माध्यमिक ग्रन्थों में जगत के पदार्थों के लिए 'आदिशान्त' तथा 'नित्यशान्त' शब्दों का प्रयोग किया गया है। शान्त का अर्थ है स्वभावरहित, विशिष्ट सत्ता से विहीन। नागार्जुन की उक्ति इस विषय में नितान्त स्पष्ट है—

प्रतीत्य यद्यद् भवति, तत्तच्छान्तं स्वभावतः ।
तस्मादुत्पद्यमानं च शान्तमुत्पत्तिरेव तु[1] ॥

आशय है कि जो जो वस्तु किसी अन्य वस्तु के निमित्त से (प्रतीत्य) उत्पन्न होती है, वह दोनों स्वभाव से ही शान्त, स्वभावहीन, होते हैं। चन्द्रकीर्ति की व्याख्या है कि जो पदार्थ विद्यमान रहता है वह अपना अनपायी (न नष्ट होनेवाला) स्वभाव अवश्य धारण करता है और विद्यमान होने के कारण वह किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता और न किसी कारण से उत्पन्न ही होता है (यो हि पदार्थो विद्यमानः स सस्वभावः स्वेनात्मना स्वं स्वभावमनपायिनं बिभर्ति। स संविद्यमानत्वान्नैवान्यत् किञ्चिदपेक्षते नाप्युत्पद्यते—प्रसन्नपदा[2])। परन्तु जगत् के पदार्थों में इस नियम का उपयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। वस्तुओं का अपना रूप बदलता रहता है। आज मिट्टी है, तो कल घड़ा और परसों प्याला। उत्पत्ति भी पदार्थों की हमारे जीवन के प्रतिदिन की चिरपरिचित घटना है। ऐसी दशा में पदार्थों को स्वभावसम्पन्न किस प्रकार माना जा सकता है? अतः बाध्य होकर हमें जगत् की वस्तुओं को निःस्वभाव या शान्त मानना पड़ता है। कार्य और कारण, घट और मिट्टी, अंकुर और बीज दोनों स्वभावहीन हैं—अतः

---

१. माध्यमिक कारिका ७।१६

२. माध्यमिक वृत्ति पृ० १६०

शान्त हैं[1]। कार्य कारण की कल्पना करना तो बालकों का खेल है। वस्तुस्थिति से परिचय रखनेवाला कोई भी व्यक्ति जगत् को उत्पन्न नहीं मान सकता। इस प्रसङ्ग में शान्ति देव ने नागार्जुन के उत्पाद-निषेधक कारिका की बड़ी विस्तृत व्याख्या की है[2]। वस्तुतः संसार की ही पूर्वा कोटि (कारण भाव) विद्यमान नहीं है, प्रत्युत जगत् के समस्त पदार्थों की यही दशा है[3]। इसलिए हेतुप्रत्ययजनित पदार्थों को शून्यवादी आचार्य स्वभाव-हीन (शान्त) मानते हैं[4]।

जगत् कल्पना का विपुल विकास है। केवल संकल्प के बल पर हम संसार के नाना प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति तथा स्थिति मान बैठते हैं। जिस प्रकार कोई जादूगर अपनी विलक्षण शक्ति के कारण तरह तरह की आकृतियों को पैदा करता है, उसी प्रकार जगत् के पदार्थों की अवस्था है।

इन जादू की वस्तुओं को वे ही लोग चलता-फिरता मानते हैं जिनके ऊपर जादू का असर रहता है, परन्तु जो जादूगर इन वस्तुओं के सच्चे रूप से परिचित रहता है वह इनकी माया में नहीं पड़ता। जगत् की वस्तुओं को वे ही लोग सच्चा मानते हैं जिनके ऊपर अविद्या का प्रभाव रहता है। यह प्राकृतजनों की बात हुई, परन्तु योगीजन जो तथ्य से परिचित होते हैं जगत् की मायिकता में कभी

---

१. मया तु यत्प्रतीत्य बीजाख्यं कारणं भवति अङ्कुराख्यं कार्यं तच्चोभयमपि शान्तं स्वभावरहितं प्रतीत्यसमुत्पन्नम्। (माध्यमिक वृत्ति पृ० १६०)

२. बोधिचर्या० पृ० ३५५-३५७

३. पूर्वा न विद्यते कोटिः संसारस्य न केवलम्।
सर्वेषामपि भावानां पूर्वा कोटी न विद्यते॥ (माध्य० का० ११।८)

४. उत्पन्न पदार्थों के लिए 'शान्त' या 'आदिशान्त' शब्द का प्रयोग विज्ञानवादी तथा वेदान्त ग्रन्थों में भी मिलता है—

निःस्वभावतया सिद्धा उत्तरोत्तरनिश्रयाः।
अनुत्पादोऽनिरोधश्चादिशान्तिः परिनिर्वृतिः॥ (महायान सूत्रालंकार ११।५१)

आदिशान्ता ह्यनुत्पन्ना प्रकृत्यैव च निर्वृताः।
धर्मास्ते विवृता नाथ! धर्मचक्रप्रवर्तने॥ (आर्यरत्न मेघ सूत्र)

आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः।
सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम्॥ (गौडपाद कारिका ४।९३)

बद्ध नहीं होते[1]। 'अज्ञानियों की दशा उन व्यक्तियों के समान है जो यक्ष का अत्यन्त भयंकर रूप स्वयं बनाते हैं और उसे देखकर भयभीत होते हैं', आर्य नागार्जुन का यह दृष्टान्त जगत् के सामान्य लोगों की मनोवृत्ति का सच्चा निदर्शन है[2]—

यथा चित्रकरो रूपं यक्षस्यातिभयंकरम्।
समालिख्य स्वयं भीतः संसारेऽप्यबुधस्तथा॥

कल्पना पङ्क के समान है। जिस प्रकार दलदल में चलने वाला बालक उसमें अपने को डुबा देता है और उससे फिर निकलने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार जगत् के प्राणी कल्पनापंक में अपने को इस प्रकार डुबा देते हैं कि फिर उससे निकलने की शक्ति उनमें नहीं रहती[3]। योगी का काम है कि वह स्वयं प्रज्ञा के द्वारा जगत् के मायिक रूप का साक्षात्कार करे और संसार से हटकर निर्वाण के लिए प्रस्थान करे। इसका एकमात्र उपाय है—परमार्थसत्य का ज्ञान।

परमार्थ सत्य—

वस्तु को उसके यथार्थ रूप में अवलोकन करने वाले आर्यों का सत्य सांवृतिक सत्य से नितान्त भिन्न है। वस्तु का अकृत्रिम स्वरूप ही परमार्थ है जिसके ज्ञान से संवृतिजन्य समस्त क्लेशों का अपहरण सम्पन्न होता है। परमार्थ है धर्म-नैरात्म्य अर्थात् सब धर्मों (साधारणतया भूतों) की निःस्वभावता। इसके ही शून्यता, तथता (तथा का भाव, वैसा ही होना), भूतकोटि (सत्य अवसान) और धर्मधातु (वस्तुओं की समग्रता) पर्याय हैं[4]। समस्त प्रतीत्यसमुत्पन्न

---

१. बोधिचर्या० ९।३; पंजिका पृ० ३६८–३८०।

२. महायानविंशक, श्लोक ८। यह श्लोक 'आश्चर्यचर्याचय' की टीका में उद्धृत है। द्रष्टव्य—बौद्धगान ओ दोहा पृ० ६।

३. स्वयं चलन् यथा पङ्के बालः कश्चिन्निमज्जति।
निमग्नाः कल्पनापंके सत्त्वास्तत उद्गमाक्षमाः॥
(महायानविंशक श्लोक ११)

४. सर्वधर्माणां निःस्वभावता, शून्यता, तथता भूतकोटिः धर्मधातुरिति पर्यायाः। सर्वस्य हि प्रतीत्यसमुत्पन्नस्य पदार्थस्य निःस्वभावता पारमार्थिकं रूपम्॥
(बोधिचर्या० पृ० ३५४)

पदार्थों की स्वभावहीनता ही पारमार्थिक रूप है। जगत् के समस्त पदार्थ हेतु-प्रत्यय के उत्पन्न होते हैं—अतः उनका अपना कोई विशिष्ट रूप नहीं होता। यही निःस्वभावता या शून्यता पारमार्थिक रूप है। नागार्जुन के कथनानुसार निर्वाण ही परमार्थसत्य है। इसमें विषयी तथा विषय, कर्ता तथा कर्म का किसी प्रकार की विशेषता नहीं होती। इसीलिए प्रज्ञाकरमति ने परमार्थसत्य को 'सर्व-व्यवहारसमतिक्रान्त'—समस्त व्यवहारों से अतीत—निर्विशेष, असमुत्पन्न, अनि-रुद्ध, अभिधेय और अविधान से विरहित तथा ज्ञेय या ज्ञान विगत बतला है[१]। संवृति का अर्थ है बुद्धि। अतः बुद्धि के द्वारा जिस जिस तथ्य का ग्रहण होता है वह समस्त व्यावहारिक (सांवृतिक) सत्य है। परमार्थसत्य बुद्धि के द्वारा ग्राह्य नहीं है। बुद्धि किसी विशेष को लक्ष्य करके ही वस्तु के ग्रहण में प्रवृत्त होती है। विशेष-हीन होने से बुद्धि के द्वारा परमार्थ ग्राह्य कैसे हो सकता है?

परमार्थसत्य मौनरूप है। बुद्धों के द्वारा उसकी देशना नहीं हो सकती। देशना उस तत्त्व की होती है जो शब्दों के द्वारा अभिहित किया जाय। परमतत्त्व न तो वाक् का विषय है और न चित्त का गोचर है। वाक् और मन—दोनों उस तत्त्व तक पहुँच नहीं सकते। इसलिए परमार्थ शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता[२]। अपने ही आत्मा से उस तत्त्व की अनुभूति की जाती है—अतः वह 'प्रत्यात्म वेदनीय' है। जब वाक् उस तत्त्व तक पहुँच नहीं सकती, तब उसका उपदेश किस प्रकार दिया जा सकता है? उपदेश शब्द के द्वारा होता है। अतः शब्दातीत तत्त्व उपदेशातीत है[३]। शान्तिदेव के मन्तव्यानुसार यह तत्त्व ज्ञान के प्रतिबन्धकों को (जैसे वासना, अनुसन्धि, क्लेश) सर्वथा उन्मूलित करने पर ही प्राप्त हो सकता है। **'पितापुत्र समागमसूत्र'**[४] में सत्य को द्विप्रकारक बतलाकर परमार्थ को अनभिलाप्य, अनाज्ञेय, अपरिज्ञेय, अविज्ञेय, अदेशित, अप्रकाशित, अक्रिय, अकरण बतलाया गया है। वह न लाभ, न

---

१. बोधिचर्या० पंजिका पृ० ३६६।

२. निवृत्तमभिधातव्यं निवृत्ते चित्तगोचरे।
अनुत्पन्ना निरुद्धा हि निर्वाणमिव धर्मता॥ (माध्यमिक का० १८।७)

३. बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्। १८।६

४. बोधिचर्या० पृ० ३६७।

अलाभ, न सुख, न दुःख, न यश, न अयश, न रूप, न अरूप है। इस प्रकार परमार्थसत्य का वर्णन प्रतिषेधमुखेन ही हो सकता है, विधिमुखेन नहीं[1]।

व्यवहार की उपयोगिता—

माध्यमिकों का यह पक्ष हीनयानियों की दृष्टि में नितान्त गर्हणीय है। आक्षेप का बीज यह है कि जब परमार्थ शब्दतः अवर्णनीय है और व्यवहार सत्य जादू के चलते-फिरते रूपों की तरह भ्रममात्र है, तब स्कन्ध, आयतनादि तत्त्वों के उपदेश देने की सार्थकता किस प्रकार प्रमाणित की जाती है? इस आक्षेप का उत्तर नागार्जुन के शब्दों में यह है[2]—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥

आशय यह है कि व्यवहार का आश्रय लिये बिना परमार्थ का उपदेश हो नहीं सकता और परमार्थ की प्राप्ति के बिना निर्वाण नहीं मिल सकता। इस सारगर्भित कथन का अर्थ यह है कि साधारण मानवों की बुद्धि व्यवहार में इतनी अधिक संलग्न है कि उन्हें परमार्थ का लौकिक वस्तुओं की दृष्टि से ही उपदेश दिया जा सकता है। जिन संकेतों से उनका आजन्म परिचय है, उन्हीं संकेतों की भाषा में परमार्थ को वे समझ सकते हैं। अतः व्यवहार का सर्वथा उपयोग है। इसी का प्रतिपादन चन्द्रकीर्ति के 'माध्यमिकावतार' (६।८०) में इस प्रकार किया है—उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्[3]। 'पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' इसी सिद्धान्त को पुष्ट करती है—न च सुभूते संस्कृतव्यतिरेकेण असंस्कृतं शक्यं प्रज्ञापयितुम् अर्थात् संस्कृत (व्यवहार) के बिना असंस्कृत (परमार्थ) का प्रज्ञापन शक्य नहीं है।

व्यवहार के वर्णन का एक और भी कारण है। यह निश्चित है कि परमार्थ की व्याख्या शब्दों तथा संकेतों का आश्रय लेकर नहीं की जा सकती परन्तु उसकी

---

१ तदेतदार्याणामेव स्वसंविदितस्वभावतया प्रत्यात्मवेद्यं परमार्थसत्यम्। (बोधि० पृ० ३६७)

२. माध्यमिक कारिका २४।१०। इस श्लोक को प्रज्ञाकरमति ने बोधिचर्या० की पञ्जिका में (पृ० ३६५) उद्धृत किया है।

३. बोधि० पञ्जिका पृ० ३७२।

व्याख्या करना आवश्यक है। ऐसी दशा में एक ही उपाय है और वह उपाय व्यावहारिक विषयों का निषेध है। परमार्थ तत्त्व अगोचर (बुद्धि के व्यापार को को अतिक्रमण करने वाला), अविषय (ज्ञान की कल्पना के बाहर), सर्वप्रपञ्च-विनिर्मुक्त (सब प्रकार के वर्णनों से मुक्त), कल्पना-समतिक्रान्त (सुख-दुःख, अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य आदि समस्त संकल्पों से विरहित) है, तब उसका उपदेश किस प्रकार दूसरे को दिया जा सकता है ? अतः लौकिक धर्मों का प्रथमतः उस पर आरोप किया जायगा। अनन्तर इस आरोप का परिहार किया जायगा। तब परमतत्त्व के स्वरूप का बोध अनायास हो सकता है। इस तथ्य का प्रतिपादन इस सुप्रसिद्ध श्लोक में है—

अनक्षरस्यातत्त्वस्य श्रुतिः का देशना च का।
श्रूयते देश्यते चापि समारोपादनक्षरः॥

अक्षरातीत तत्त्व का श्रवण किस प्रकार हो सकता है ? एक ही उपाय है समारोप—समारोप के द्वारा ही अनक्षर का श्रवण तथा उपदेश सम्भव हो सकता है। व्यवहार का परमार्थ के लिए यही विशेष उपयोग है।

वेदान्त की अध्यारोपविधि से तुलना—

अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म के उपदेश का भी यही प्रकार माना जाता है। ब्रह्म स्वयं निष्प्रपञ्च है। परन्तु बिना प्रपञ्च का सहारा लिये उसकी व्याख्या हो नहीं सकती। इसी विधि का नाम है—अध्यारोप और अपवाद। 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते'। 'अध्यारोप' का अर्थ निष्प्रपञ्च ब्रह्म में जगत् का आरोप कर देना है और 'अपवाद विधि' से आरोपित वस्तु का ब्रह्म से एक-एक कर निराकरण करना होता है। आत्मा के ऊपर प्रथमतः शरीर का आरोप किया जाता है कि वह पञ्च कोशात्मक शरीर ही है—परन्तु तदनन्तर युक्तिबल से आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय—इन पाँचों कोशों से व्यतिरिक्त तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से पृथक् सिद्ध कर गुरु उसके स्वरूप का बोध कराता है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त में परमार्थ के प्रतिपादन के लिए मायिक व्यवहार का अंगीकार नितान्त आवश्यक है। अद्वैतवेदान्त की यह व्याख्यापद्धति बड़ी प्रामाणिक तथा शुद्ध वैज्ञानिक है[१]।

---

१. इसी पद्धति का प्रयोग बीजगणित में अज्ञात वस्तु के मूल्य जानने के

शून्यवाद

'शून्य का अर्थ—

माध्यमिक लोग इसी परमार्थसत्य को शून्य के नाम से पुकारते हैं। इसीलिए इन आचार्यों का मत **शून्यवाद** के नाम से प्रसिद्ध है। इस शून्यवाद के तात्त्विक स्वरूप के निरूपण करने में विद्वानों में सातिशय वैमत्य उपलब्ध होता है। हीनयानी आचार्य तथा ब्राह्मण-जैन विद्वानों ने 'शून्य' शब्द का अर्थ सर्वत्र सकल 'सत्ता का निषेध' या 'अभाव' ही किया है। इसका कारण इस शब्द का लोकव्यवहार में प्रसिद्ध अर्थ है, परन्तु माध्यमिक आचार्यों के मौलिक ग्रन्थों के अनुशीलन से इसका 'नास्ति' तथा 'अभाव' रूप अर्थ सिद्ध नहीं होता। किसी भी पदार्थ के स्वरूप निर्णय में चार ही कोटियों का प्रयोग सन्भाव्य प्रतीत होता है—अस्ति (विद्यमान है), नास्ति (विद्यमान नहीं है), तदुभयं (अस्ति और नास्ति एक साथ) नोभयं (न च अस्ति, न च नास्ति—'अस्ति' और 'नास्ति' इस द्विविध कल्पना का निषेध)। इन कोटियों का सम्बन्ध सांसारिक पदार्थ से है, परन्तु परमार्थ मनोवाणी से अगोचर होने के कारण नितरां अनिर्वाच्य है। इन चतुर्विध कोटियों की सहायता से उसका निर्वचन—वर्णन या लक्षण—कथमपि नहीं किया जा सकता। सविशेष वस्तु का निर्वचन होता है। निर्विशेष वस्तु कथमपि निर्वचन का विषय नहीं हो सकती। इसी कारण अनिर्वचनीयता की सूचना देने के

लिए किया जाता है। मान लीजिए कि '$क^2 + २क = २४$' इस समीकरण में हमें अज्ञात 'क' का मूल्य निर्धारित करना है। तब प्रथमतः दोनों ओर १ संख्या जोड़ देते हैं और अन्त में इस संख्या को निकाल देते हैं। अर्थात् जो जोड़ा गया था वही अन्त में ले लिया गया। अतः संख्या में कोई अनन्तर नहीं हुआ। बीज-गणित की पद्धति से इस समीकरण का रूप इस प्रकार होगा—

$$(क^2 + २क) + १ = २४ + १$$

$$\therefore (क + १)^2 = (५)^2$$

$$\therefore क + १ = ५$$

$$\therefore (क + १) - १ = ५ - १$$

$$\therefore क = ४$$

लिए परमतत्त्व के लिए 'शून्य' का प्रयोग किया जाता है। परमार्थ चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है—

न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः[१] ॥

'शून्य' का प्रयोग एक विशेष सिद्धान्त का सूचक है। हीनयान ने मध्यममार्ग (मध्यम प्रतिपत्) को आचार के ही विषय में अंगीकृत किया है, परन्तु माध्यमिक लोग तत्त्वमीमांसा के विषय में भी मध्यम प्रतिपदा के सिद्धान्त के पोषक हैं। इनके मन्तव्यानुसार वस्तु न तो ऐकान्तिक सत् है और न ऐकान्तिक असत्, प्रत्युत उसका स्वरूप इन दोनों (सत्-असत्) के मध्य बिन्दु पर ही निर्णीत हो सकता है जो शून्यरूप ही होगा[२]। शून्य 'अभाव' नहीं है, क्योंकि अभाव की कल्पना सापेक्ष कल्पना है—अभाव भाव की अपेक्षा रखता है। परन्तु शून्य परमार्थ के सूचक होने से स्वयं निरपेक्ष है। अतः निरपेक्ष होने के कारण शून्य को अभाव नहीं मान सकते। इस आध्यात्मिक मध्यममार्ग के प्रतिष्ठापक होने से इस दर्शन का नाम 'माध्यमिक' दिया गया है।

यह शून्य ही सर्वश्रेष्ठ अपरोक्ष तत्त्व है। इस प्रकार माध्यमिक आचार्य 'शून्याद्वैतवाद' के समर्थक हैं। यह समस्त नानात्मक प्रपञ्च इसी शून्य का ही 'विवर्त' है। परमतत्त्व की ही सत्ता सर्वतोभावेन माननीय है, परन्तु उसका स्वरूप इतना अज्ञेय तथा अकथनीय है कि उसके विषय में हम किसी भी प्रकार का शाब्दिक वर्णन नहीं कर सकते। 'शून्य' इसी तत्त्व की सूचना देता है।

शून्यता का उपयोग—

जगत् के समस्त पदार्थों के पीछे कोई भी नित्य वस्तु (जैसे आत्मा, द्रव्य) विद्यमान नहीं है, प्रत्युत वे निरावलम्ब तथा निःस्वभाव हैं—इसी का ज्ञान शून्यता का ज्ञान है। मानव जीवन में इस तथ्य का ज्ञान नितान्त उपयोगी है। हीनयानियों के मतानुसार मोक्ष कर्म तथा क्लेश के क्षय से सम्पन्न होता है, परन्तु

---

१. माध्यमिक कारिका १।७ ; सर्वसिद्धान्तसंग्रह।

२. अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता शुद्धी अशुद्धीति उभेऽपि अन्ता।
तस्मादुभे अन्ता विवर्जयित्वा मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः ॥
(समाधिराजसूत्र)

मोक्षोपयोगी साधनों की खोज में यहीं पर विराम करना उचित नहीं है। कर्म तथा क्लेशों की सत्ता संकल्पों के कारण है। शुभ संकल्प से 'राग' का, अशुभ संकल्प से द्वेष का तथा विपर्यास के संकल्प से मोह का उदय होता है। इसीलिए सूत्र में भगवान् बुद्ध की गाथा है कि हे काम! मैं तुम्हारे मूल को जानता हूँ। तुम्हारा मूल संकल्प है। अब मैं तुम्हारा संकल्प ही न करूँगा जिससे तुम्हारी उत्पत्ति न होगी। संकल्प का कारण प्रपञ्च है। प्रपञ्च का अर्थ है ज्ञान-ज्ञेय, वाच्य-वाचक, घट-पट, स्त्री-पुरुष, लाभालाभ, सुख-दुःख आदि विचार। इस प्रपञ्च का निरोध शून्यता—सर्वधर्म नैरात्म्य ज्ञान—में होता है। अतः शून्यता मोक्षोपयोगिनी है। वस्तु की उपलब्धि होने पर प्रपञ्च का जन्म है और तदुपरान्त संकल्पों के द्वारा वह कर्म क्लेशों को उत्पन्न करता है जिससे प्राणी संसार के आवागमन में भटकता रहता है। परन्तु वस्तु की अनुपलब्धि होने पर सब अनर्थों के मूल प्रपञ्च का जन्म ही नहीं होता। जैसे जगत् में वन्ध्या की पुत्री के अभाव होने से कोई भी कामुक उसके रूप-लावण्य के विषय में प्रपञ्च (विचार) न करेगा, न संकल्प ही करेगा और न राग के बन्धन में डालकर अपने को सदा क्लेश का भाजन बनावेगा। ठीक इसी प्रकार शून्यता के ज्ञान से योगी को सद्यः निर्वाण प्राप्ति होती है। इसीलिए सब प्रपञ्चों से निवृत्ति उत्पन्न करने के कारण शून्यता ही निर्वाण है। नागार्जुन ने इस कारण शून्यता को आध्यात्मिकता के लिए इतना महत्त्व प्रदान किया है—

> कर्मक्लेशक्षयान्मोक्षः कर्मक्लेशा विकल्पतः।
> ते प्रपञ्चात् प्रपञ्चस्तु शून्यतायां निरुध्यते[1]॥

आचार्य आर्यदेव ने 'चतुःशतक' में दो वस्तुओं को ही बौद्धधर्म में गौरव प्रदान किया है—(१) अहिंसारूपी धर्म को और (२) शून्यतारूपी निर्वाण को[2]। मानव-जीवन के लिए शून्यता की उपादेयता दिखलाते समय चन्द्रकीर्ति ने आर्यदेव के मत की विस्तृत व्याख्या की है[3]। अतः 'शून्यता' का ज्ञान नितान्त उपादेय है।

---

१. माध्यमिक कारिका १८।५

२. धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः।
शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तदिहोभयम्॥ (चतुःशतक १२।२३)

३. तदेवमशेषप्रपञ्चोपशमशिवलक्षणां शून्यतामागम्य यस्मादशेषकल्पना-जाल-

शून्य का लक्षण—

शून्यता की इतनी उपयोगिता बतलाकर नागार्जुन ने शून्य का लक्षण एक बड़ी ही सुन्दर कारिका[1] में एकत्र किया है—

अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम् ।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ॥

शून्य के लक्षण इस प्रकार दिये जा सकते हैं :—

(१) यह **अपरप्रत्यय** है अर्थात् एक के द्वारा दूसरे को इसका उपदेश नहीं किया जा सकता। प्रत्येक प्राणी को इस तत्त्व की अनुभूति स्वयं अपने आप करनी चाहिए (प्रत्यात्मवेद्य)। आर्यों के उपदेश के श्रवण से इस तत्त्व का ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता, क्योंकि आर्यों का तत्त्वप्रतिपादन 'समारोप' के द्वारा ही होता है।

(२) यह शान्त है अर्थात् स्वभावरहित है।

(३) यह प्रपञ्चों के द्वारा कभी प्रपञ्चित नहीं होता है। यहाँ 'प्रपञ्च' का अर्थ है शब्द, क्योंकि वह अर्थ को प्रपञ्चित (प्रकटित) करता है[2]। 'शून्य' के अर्थ का प्रतिपादन किसी भी शब्द के द्वारा नहीं किया जा सकता। इसीलिए यह 'अशब्द' तथा '**अनक्षर तत्त्व**' कहा गया है।

(४) यह **निर्विकल्प** है। 'विकल्प' का अर्थ है चित्तप्रचार अर्थात् चित्त का चलना, चित्त का व्यापार होना। शून्यता चित्त-व्यापार के अन्तर्गत नहीं आती। चित्त इस तत्त्व को विचार नहीं सकता। इसीलिए सूत्रकार का कथन है[3]—जिस परमार्थसत्य में ज्ञान का प्रचार नहीं है, वहाँ अक्षरों का प्रचार कैसे होगा ? (अर्थात् यह तत्त्व अज्ञेय तथा अशब्द है)।

प्रपञ्चविगमो भवति। प्रपञ्चविगमाच्च विकल्पनिवृत्तिः। विकल्पनिवृत्त्या चाशेषकर्मक्लेशनिवृत्तिः। कर्मक्लेशनिवृत्त्या जन्मनिवृत्तिः। तस्मात् शून्यतैव सर्वप्रपञ्चनिवृत्तिलक्षणत्वान्निर्वाणमुच्यते। (माध्यमिक वृत्ति पृ० ३५१)

१. माध्यमिक कारिका १८।९

२. प्रपञ्चो हि वाक् प्रपञ्चयत्यर्थानिति कृत्वा वाग्भिरव्याहृतमित्यर्थः ॥ (माध्यमिक वृत्ति पृ० ३७३)

३. परमार्थसत्यं कतमत् ? यत्र ज्ञानस्याप्यप्रचारः। कः पुनर्वादोऽक्षराणामिति ॥ (माध्यमिक वृत्ति पृ० ३७४)

(५) **अनानार्थ** है अर्थात् नाना अर्थों से विरहित है। जिसके विषय में धर्मों की उत्पत्ति मानी जाती है, वह वस्तु नानार्थ होती है। वस्तुतः सब धर्मों का उत्पाद नहीं होता। अतः यह तत्त्व नानार्थ रहित है (नात्र किञ्चित् परमार्थतो नानाकरणं तत्। कस्माद्धेतोः ? परमार्थतोऽत्यन्तानुत्पादत्वात् सर्वधर्माणाम्—आर्यसत्यद्वयावतार सूत्र[1])

शून्य का इस प्रकार स्वभाव है समग्र प्रपञ्च की निवृत्ति। वस्तुतः वह भाव पदार्थ है, अभाव नहीं है। जिस प्रकार इस तत्त्व का प्रतिपादन नागार्जुन ने किया है वह प्रकार निषेधात्मक भले हो, परन्तु शून्य तत्त्व अभावात्मक कथमपि नहीं है। जगत् के मूल में विद्यमान होने वाला यह भाव पदार्थ है। शून्यता ही ही प्रतीत्य समुत्पाद है—

यः प्रत्ययसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा॥

इसीलिए शून्य तत्त्व की प्रचुर प्रशंसा 'अनवतप्तहृदापसंक्रमण सूत्र' में दृष्टिगोचर होती है। इस सूत्र का कथन है कि जो वस्तु (कार्य) हेतुप्रत्ययों के संयोग से उत्पन्न होती है (अर्थात् सापेक्षिक रूप से पैदा होती है), वह वस्तु सचमुच (स्वभावतः) उत्पन्न नहीं होती। जो प्रत्ययाधीन है वही 'शून्य' कहलाता है। शून्यता का ज्ञाता ही प्रमादरहित हैं। इस तत्त्व से अनभिज्ञ पुरुष प्रमाद में, भ्रान्ति में, पड़े हुए हैं[2]।

शून्यवाद की सिद्धि—

शून्यवाद के निराकरण के निमित्त पूर्वपक्ष ने अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। इन्हीं का विशेष खण्डन नागार्जुन ने अपने 'विग्रह-व्यावर्तिनी' में विस्तार के साथ किया है। आचार्य का प्रधान लक्ष्य तर्क के सहारे ही शून्यवाद के विरोधियों का मुखमुद्रण करना है। इस लक्ष्य की सिद्धि में वे पर्याप्त मात्रा में सफल हुए हैं।

पूर्वपक्ष—(१) वस्तुसार का निषेध (=शून्यवाद) ठीक नहीं है, क्योंकि (i)

---

१. माध्यमिक वृत्ति पृ० ३७५

२. यः प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो नो तस्य उत्पादु सभावतोऽस्ती।
यः प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो यः शून्यतो जानति सोऽप्रमत्तः॥
(माध्यमिक वृत्ति पृ० २३९)

जिन शब्दों को युक्ति के तौर से प्रयोग किया जायगा वे भी शून्य—असार-ही होंगे, (ii) यदि नहीं; तो तुम्हारी पहिली बात कि सब वस्तुएँ शून्य हैं असत्य ठहरेगी, (iii) शून्यता को सिद्ध करने के प्रमाण का नितान्त अभाव है।

(२) सभी वस्तुओं को वास्तविक मानना चाहिए, क्योंकि (i) अच्छे-बुरे के भेद को सभी स्वीकार करते हैं, (ii) असिद्ध वस्तु का नाम नहीं मिलता, परन्तु जगत् के समस्त पदार्थों का नाम मिलता है, (iii) वास्तविक पदार्थ का निषेध युक्तियुक्त नहीं, (iv) प्रतिषेध्य को भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

उत्तरपक्ष—

इस पक्ष का खण्डन नागार्जुन ने इस युक्तियों के बल पर इस प्रकार किया है। **उत्तरपक्ष**—(१) जिन प्रमाणों के बल पर भावों की वास्तविकता सिद्ध की जा रही है, उन्हीं प्रमाणों को हम कथमपि सिद्ध नहीं कर सकते, प्रमाण दूसरे प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसी दशा में वह प्रमाण न होकर प्रमेय हो जायगा, (ii) न प्रमाण अग्नि के समान स्वात्म-प्रकाशक होते हैं, (iii) प्रमेयों के द्वारा भी उनकी सिद्धि नहीं हो सकती। प्रमेय तो अपनी सिद्धि के लिए परतन्त्र है, भला वह प्रमाणों की सिद्धि क्यों कर सकेगा ? यदि करेगा, तो प्रमाण हो जायगा, प्रमेय तो रह नहीं सकता। (iv) न अकस्मात्—संयोग से—प्रमाण सिद्ध हो सकते हैं। अतः प्रमाण्यवाद के ऊपर नागार्जुन का यह सारगर्भित मत है—

> नैव स्वतः प्रसिद्धिर्न परस्परतः प्रमाणैर्वा।
> भवति न च प्रमेयैर्न चाप्यकस्मात् प्रमाणानाम् ॥
>
> (विग्रहव्यावर्तनी कारिका ५२)

(२) भावों की सत्यता शून्यरूप है। (i) यह अच्छे-बुरे की भावना के विरुद्ध नहीं है। यह भावना ही प्रतीत्यसमुत्पाद के कारण ही है। यदि वह बात न मानी जाय, प्रत्युत अच्छे-बुरे का भेद स्वतः परमार्थ रूपेण माना जाय तो वह अचल एकरस है। उसे ब्रह्मचर्य आदि के अनुष्ठान के द्वारा कथमपि परिवर्तित नहीं किया जा सकता। (ii) शून्यता होने पर भी नाम होता है। नाम की कल्पना स्वयं सद्भूत नहीं होकर असद्भूत है। जो पदार्थ सत्, स्थिर तथा अविकारी हो उसीका नाम होगा; जो असत् होगा, उसका नाम न होगा—यह कल्पना नितान्त निःसार है।

इस प्रकार 'विग्रह व्यावर्तनी' में शून्यवाद का मौलिक समर्थन है। **'प्रमाण विध्वंसन'** में नागार्जुन ने प्रमाणवाद का जोरदार खण्डन किया है। परन्तु यह खण्डन परमार्थ दृष्टि से किया गया है। व्यावहारिक जीवन में इसकी सत्यता सर्वथा माननीय है। परन्तु प्रमाणों का खण्डन आचार्य ने इतनी प्रबलता के साथ किया कि पिछली शताब्दियों में यह माध्यमिक मत वस्तुस्थितिपोषक होने के स्थान पर सर्वविध्वंसक नास्तिकवाद बन गया। इस ग्रन्थ में गौतम के न्यायसूत्र के समान ही प्रमाण, प्रमेय आदि अठारह पदार्थों का संक्षिप्त वर्णन है। **'उपाय कौशल्य'** में शास्त्रार्थ में प्रतिपक्षी पर विजय पाने के लिए जाति, निग्रहस्थान आदि उपायों का संक्षिप्त विवरण है। इन ग्रन्थों की रचना से स्पष्ट है कि बौद्ध न्याय का आरम्भ आचार्य नागार्जुन से ही मानना युक्तियुक्त है।

शून्यता के प्रकार—

शून्यता के वास्तव स्वरूप की प्रपत्ति के लिए महायान ग्रन्थों में शून्यता के विभिन्न प्रकारों का विशद वर्णन मिलता है। 'महाप्रज्ञा पारमिता' के ह्वेन च्वांग द्वारा विरचित चीनी अनुवाद में शून्यता के अठारह प्रकार वर्णित हैं[1]। परन्तु 'पचविंशति साहस्रिका प्रज्ञा पारमिता' के अनुसार हरिभद्र के 'अभिसमयालंकारालोक' में शून्यता के बीस प्रकार वर्णित हैं[2]। इन प्रकारों के अध्ययन से शून्यता का यथार्थ रूप हृदयंगम होता है जिसका निर्वाण की उपलब्धि के निमित्त बोधिसत्त्व के लिए जानना नितान्त आवश्यक है। शून्यता का यह ज्ञान बोधिसत्त्व के 'प्रज्ञासंभार' के अन्तर्गत आता है। शून्यता के २० प्रकार निम्नलिखित हैं :—

(१) **अध्यात्म-शून्यता**—(भीतरी वस्तुओं की शून्यता)। 'अध्यात्म' से अभिप्राय ६ विज्ञानों से है। इन्हें शून्य बतलाने का अर्थ यह है कि हमारी मानस क्रिया के मूल में उसका नियामक 'आत्मा' नामक कोई पदार्थ नहीं है। हीनयानियों का अनात्मवाद इसी शून्यता का द्योतक है।

(२) **बहिर्धा-शून्यता**—बाहरी वस्तुओं की शून्यता। इन्द्रियों के विषय·

---

१. द्रष्टव्य Dr. Suzuki—Essays in Zen Buddhism (Third series) pp. 222—227.

२. द्रष्टव्य Dr. Obermiller का लेख Indian Historical Quarterly Vol IX, 1933 pp. 170—187.

रूप रस स्पर्श आदि–स्वभावशून्य हैं। जिस प्रकार हमारा अन्तर्जगत् स्वरूप–शून्य होने से अवास्तव है, उसी प्रकार बाह्य जगत् के भी मूल में कोई आत्मा नहीं है। 'अध्यात्म शून्यता' तो हीनयानियों का अभीष्ट सिद्धान्त था, परन्तु बाहरी वस्तुओं (या धर्मों) को स्वरूप-शून्य बतलाना महायानियों की मौलक सूझ है।

(३) **अभ्यात्म-बहिर्धा-शून्यता**—हम साधारणतया भीतरी और बाहरी वस्तुओं में भेद करते हैं, परन्तु यह भेद भी वास्तव नहीं है। यह विभेद कल्पना-प्रसूत है। स्थान परिवर्तन करने पर जो बाह्य है वही आभ्यन्तर बन जाता है और जो आभ्यन्तर है, वह बाह्य हो जाता है। इसी तत्त्व की सूचना इस प्रकार में दी गई है।

(४) **शून्यता-शून्यता**—सर्वधर्मों की शून्यता सिद्ध होने पर हमारे हृदय में विश्वास हो जाता है कि यह शून्यता वास्तव पदार्थ है या हमारे प्रयत्नों के द्वारा प्राप्य कोई बाह्य पदार्थ है, परन्तु इस विश्वास को दूर करना इस प्रकार का उद्देश्य है। 'शून्यता' भी यथार्थ नहीं है। उसकी भी शून्यता परमतत्त्व है।

(५) **महाशून्यता**—दिशा की शून्यता। दस दिशाओं का व्यवहार कल्पता-प्रसूत है। दिक् की कल्पना सापेक्षिकी है। पूर्व–पश्चिम परस्पर को निमित्त मानकर कल्पित किये गये हैं। इसकी शून्यता मानना उपयुक्त है। दिशा के महासन्निवेश के कारण यह शून्यता 'महान्' विशेषण से लक्षित की जाती है।

(६) **परमार्थ-शून्यता**—'परमार्थ' से अभिप्राय 'निर्वाण' से है। निर्वाण सांसारिक प्रपञ्च से विसंयोगमात्र है। अतः निर्वाण के स्वरूप से शून्य होने पर निर्वाण भी शून्य पदार्थ है।

(७) **संस्कृत-शून्यता**—'संस्कृत' का अर्थ है निमित्त-प्रत्यय से उत्पन्न पदार्थ। त्रैधातुक जगत् के अन्तर्गत कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु का सन्निवेश माना जाता है। इन लोकों के उत्पन्न पदार्थ स्वरूप से शून्य हैं। इसका यही अर्थ है कि जगत् के भीतरी तथा बाहरी समग्र वस्तुयें शून्यरूप हैं।

(८) **असंस्कृत-शून्यता**—असंस्कृत पदार्थ उत्पादरहित, विनाशरहित आदि धर्मों से युक्त होता है, परन्तु अनुत्पाद तथा अनिरोध भी नाममात्र (प्रज्ञप्ति) हैं। इनकी कल्पना सापेक्षिक है। 'संस्कृत' के विरोधी होने से 'असंस्कृत' की गई है। दोनों कल्पनायें निराधार, निरालम्ब, अत एव शून्य हैं।

(९) अत्यन्त-शून्यता—प्रत्येक 'अन्त' स्वभावशून्य होता है। शाश्वत (नित्यता) एक अन्त है और उच्छेद (विनाश) दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों के बीच में ऐसी कोई वस्तु विद्यमान नहीं है जो इनमें अन्तर बतलावे। अतः इनका भी अपना कोई स्वरूप नहीं है। अत्यन्त शून्यता से अर्थ है बिल्कुल शून्यता से अर्थात् 'शून्यता-शून्यता' का ही यह दूसरा प्रकार है।

(१०) अनवराग्र-शून्यता—आरम्भ, मध्य और अन्त इन तीनों की कल्पना सापेक्षिक है। अतः इनका अपना वास्तविक रूप कोई नहीं है। किसी वस्तु को आदिमान् मानना उसी प्रकार काल्पनिक है जिस प्रकार अन्य वस्तु को आदिहीन मानना। आदि और अन्त ये दोनों परस्पर-विरुद्ध धारणायें हैं। इन धारणाओं की शून्यता दिखलाना इस प्रभेद का अभिप्राय है।

(११) अनवकार-शून्यता—'अनवकार' से अभिप्राय 'अनुपधिशेष निर्वाण' से है जिसका अपाकरण कथमपि नहीं किया जा सकता। यह कल्पना भी शून्यरूप है, क्योंकि 'अपाकरण' क्रियारूप होने से 'अनपाकरण' की भावना पर अवलम्बित है। अपाकरण' अपने से विरोधी कल्पना के ऊपर आश्रित है। अतः सापेक्ष होने से शून्यरूप है।

(१२) प्रकृति-शून्यता—किसी वस्तु की प्रकृति अथवा स्वभाव सब विद्वानों द्वारा मिलकर भी उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसका अपना कोई विशिष्ट रूप नहीं है। क्योंकि चाहे वह संस्कृत (कृत—उत्पन्न) रूप में हों, या असंस्कृत रूप में हो, किसी प्रकार के रूप में न तो परिवर्तन किया जा सकता है और न अपरिवर्तन किया जा सकता है।

(१३) सर्वधर्म-शून्यता—जगत् के समस्त धर्म (पदार्थ) स्वभाव से विहीन हैं क्योंकि संस्कृत और असंस्कृत दोनों प्रकार से सम्बन्ध रखने वाले धर्म परस्पर अवलम्बित होने वाले हैं। अतएव वे परमार्थ सत्ता से विहीन हैं।

(१४) लक्षण-शून्यता—किसी वस्तु का लक्षण उसका वह भाव है जिसके द्वारा मनुष्य उसके यथार्थ रूप का परिचय प्राप्त करता है जैसे अग्नि की उष्णता, जल का शैत्य, इन पदार्थों के लक्षण हैं। ये लक्षण भी वस्तुतः शून्य हैं क्योंकि हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण इनकी भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह सकती। अतः वस्तुओं का सामान्य तथा विशेष लक्षण (जिसे मनुष्य उसका स्वरूप बतलाता है) नाममात्र—विज्ञप्तिमात्र हैं।

(१५) **उपलम्भ-शून्यता**—भूत, वर्तमान तथा भविष्य—इस त्रिविध काल की कल्पना दिशा की कल्पना के समान बिल्कुल निराधार है। मनुष्य अपने व्यवहार के लिये काल की कल्पना खड़ा करता है। काल ऐसा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है जिसकी सत्ता स्वतन्त्र प्रमाणों से सिद्ध की जा सके।

(१६) **अभाव-स्वभाव-शून्यता**—अनेक धर्मों के संयोग से जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका भी कोई अपना विशिष्ट स्वरूप नहीं होता, क्योंकि परस्पर-सापेक्ष होने के कारण ऐसी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता होती ही नहीं।

(१७) **भाव-शून्यता**—पञ्चस्कन्ध के समुदाय को साधारण रीति से हम आत्मा के नाम से पुकारते हैं। परन्तु यह पञ्चस्कन्ध भी स्वरूप से हीन है। स्कन्ध शब्द का अर्थ है राशि या समुदाय। जो वस्तु समुदायात्मक होती है वह स्वतः सिद्ध नहीं होती। इसलिये वह जगत् के पदार्थों का किसी प्रकार भी निमित्त नहीं बन सकती। स्कन्ध की सत्ता का निषेध इस विभाग का तात्पर्य है।

(१८) **अभाव-शून्यता**—आकाश और दोनों प्रकार के निरोध (प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध) स्वभावरहित हैं। ये केवल संज्ञामात्र हैं। ये वस्तुतः सांसारिक सत्यता के अभावरूप होने से स्वयं सत्ताहीन हैं।

(१९) **स्वभाव-शून्यता**—साधारण रीति से हमारी यह धारण है कि प्रत्येक वस्तु का अपना स्व-भाव (स्वतन्त्र रूप) है। यह स्वभाव आर्यों के अलौकिक (प्रातिभ) ज्ञान या दर्शन के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। ज्ञान और दर्शन वस्तु के यथार्थ रूप के द्योतक होते हैं। सत्तारहित पदार्थ की अभिव्यक्ति वे कथमपि नहीं कर सकते।

(२०) **परभाव-शून्यता**—वस्तु का परमार्थ रूप नित्य वर्तमान रहता है। वह बुद्धों की उत्पत्ति तथा विनाश की अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र रूप से सदा विद्यमान रहनेवाला है। इस स्वभाव को किसी वाह्य कारण (परभाव) के द्वारा उत्पन्न होना मानना नितान्त तर्कहीन है।

शून्यता के इन बीस प्रकारों का संक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया गया है। इसके अध्ययन करने से शून्यता की विशाल तथा व्यापक कल्पना हमारी दृष्टि के सामने उपस्थित हो जाती है। इस जगत् का कोई भी पदार्थ, कोई भी कल्पना, कोई भी धारणा एकान्ततः सत्य नहीं है। इसी तत्व का संक्षिप्त प्रकाशन 'शून्यता' शब्द

के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। इनमें से आरम्भ के सोलह प्रकार 'प्रज्ञापारमिता सूत्र' में दिये गये हैं। पिछले चार प्रकार किसी अवान्तर काल में जोड़े गये हैं।

नागार्जुन की आस्तिकता—

आचार्य नागार्जुन एक उत्कट तार्किक के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं जिनकी विशाल खण्डनात्मक युक्तियों के आगे समग्र जगत् अपनी नानात्मकता तथा विशालता के साथ छिन्न-भिन्न होकर एक कल्पना के भीतर प्रवेश कर जाता है। नागार्जुन की पद्धति खण्डनात्मक तथा अभावात्मक अवश्य है, परन्तु इस जगत् के मूल में विद्यमान किसी परमार्थ की सत्ता का वे कथमपि निषेध नहीं करते। उसकी सत्यता प्रमाणित करने के लिये ही वे प्रपञ्च के खण्डन में इतनी तत्परता के साथ संलग्न हैं। वह परमार्थ भावरूप है यद्यपि उसकी सिद्धि निषेध-पद्धति से की गई है। जिस प्रकार बृहदारण्यक श्रुति ब्रह्म का वर्णन 'नेति नेति आदेशः[1]' कहकर करती है, उसी प्रकार नागार्जुन ने अपने परमार्थ स्तव में इस परमतत्त्व का तद्रूप वर्णन किया है। माध्यमिक कारिका की प्रथम कारिका में वह तत्त्व आठ निषेधों से विरहित बतलाया गया है[2]। वह अनिरोध (नाशहीन), अनुत्पाद (उत्पत्तिहीन), अनुच्छेद (लयरहित), अशाश्वत (नित्यताहीन), अनेकार्थ (एकताहीन), अनानार्थ (नाना अर्थों से हीन), अनागम (आगमन रहित) तथा अनिर्गम (निर्गम से हीन) है। परन्तु वह सत्तात्मक पदार्थ है। 'शून्य' उसकी एक संज्ञा है। परन्तु वस्तुतः उसे 'शून्य' तथा 'अशून्य' किसी भी संज्ञा से पुकारना उसे बुद्धि की कल्पना के भीतर लाना है। वह स्वयं कल्पनातीत, अशब्द, अनक्षर, अगोचर तत्त्व है। शब्दों के प्रयोग से उसकी कल्पना नहीं हो सकती। वह मौनरूप है। वह चतुष्कोटि से विनिर्मुक्त है। सद्, असद्, सदसद्, नो सदसद्—इन चारों कोटियों की स्थिति इस जगत् के पदार्थों के लिए है। वह इनसे बाहर है। नागार्जुन नास्तिक न थे। वे पूरे आस्तिक थे। उनका शून्य भी परमार्थ सत् तत्त्व है—निषेधात्मक वस्तु नहीं। 'परमार्थस्तव' में तार्किक

---

१. बृहदारण्यक उप०

२. अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थकमनागमममनिर्गमम्। (माध्य० का० १।१)

नागार्जुन की भावुकता देखकर आश्चर्य होता है। बुद्ध के 'धर्मकाय' में परम श्रद्धालु भक्त की यह भारती भक्तिरस से कितनी स्निग्ध है—

न भावो नाप्यभावोऽसि नोच्छेदो नापि शाश्वतः।
न नित्यो नाप्यनित्यस्त्वमद्वयाय नमोऽस्तु ते॥ ४॥
न रक्तो हरितमञ्जिष्ठो वर्णस्ते नोपलभ्यते।
न पीतकृष्णशुक्लो वा अवर्णाय नमोऽस्तु ते॥ ५॥

भगवान् की स्तुति सम्भव नहीं—

एवं स्तुतः स्तुतो भूयादथवा किमुत स्तुतः।
शून्येषु सर्वधर्मेषु कः स्तुतः केन वा स्तुतः॥ ६॥
कस्त्वां शक्नोति संस्तोतुमुत्पादव्ययवर्जितम्।
यस्य नान्तो न मध्यं वा ग्राहो ग्राह्यं न विद्यते॥ १०॥

बुद्ध भगवान् ने नित्य तथा ध्रुव होने पर भी भक्तजनों के कल्याण के लिए निर्वाण का उपदेश दिया है—

नित्यो ध्रुवः शिवः कामस्तव धर्ममयो जिन।
विनेयजनहेतोश्च दर्शिता निर्वृतिस्त्वया[1]॥

संसार के कार्य में तथागत की प्रवृत्ति होती है, परन्तु कभी वे उसमें रमण नहीं करते—आसक्ति (आभोग) के वे भाजन नहीं बनते—

न तेऽस्ति मन्युना नाथ न विकल्पो न चेञ्जना।
अनाभोगेन ते लोके बुद्धकृत्यं च वर्तते[2]॥

ऐसी भावना रखने वाले व्यक्ति को नास्तिक कहना कथमपि उचित नहीं है।

शून्यवाद का खण्डन बौद्धमत वालों ने तथा ब्राह्मण और जैन दार्शनिकों ने बड़े अभिनिवेश के साथ किया है। इन खण्डनकर्ताओं ने शून्य का अर्थ अभाव ही लिया है। हीनयानी लोग शून्य को अभावरूप ही मानते हैं। विज्ञानवाद शून्य को अभाव मानकर उसका स्पष्ट खण्डन करता है। आचार्य कुमारिल ने श्लोकवार्तिक (पृ० २६८–३४५) में इस सिद्धान्त का खण्डन बड़े ही ऊहापोह के साथ किया है। शून्यवादी प्रमाता (ज्ञाता), प्रमेय (जानने योग्य वस्तु), प्रमाण (ज्ञान का साधन) तथा प्रमिति (ज्ञान की क्रिया)—इन तत्त्वचतुष्टय

१–२ निरुपमस्तव श्लोक २२, २४।

को परिकल्पित या अवस्तु मानते हैं। सूक्ष्म तर्क के आधार पर वे इन तत्त्वों का खण्डन कर इस निषेधात्मक सिद्धान्त पर सहुँचते हैं कि जितना वस्तु के तत्त्व पर विचार किया जाता है उतना ही वह विशीर्ण हो जाता है। इसके विरुद्ध इन दार्शनिकों का कहना है कि यदि शून्यवाद को प्रश्रय दिया जायेगा तो जगत् की व्यवस्था, नित्य प्रतिदिन के व्यवहार के अनुष्ठान, में घोर विप्लव मचने लगेगा। जिस बुद्धि के बल पर समस्त तर्कशास्त्र की प्रतिष्ठा है उसे ही शून्य मानना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? शंकराचार्य ने तो शून्यवाद को इतना लोक-हानिकर माना है कि उन्होंने एक ही वाक्य में इसके प्रति अपनी अनादर-बुद्धि दिखला दी है—शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाण-प्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते (२।२।३१ शाङ्करभाष्य)

शून्य और ब्रह्म—

शून्यतत्व की समीक्षा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शून्य परमतत्व है और वह वही वस्तु है जिसके लिए अद्वैतवेदान्तियों ने 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया है। बुद्ध अद्वैतवादी थे। उनके नाम में एक प्रसिद्ध नाम है—अद्वयवादी। नैषधकार ने बुद्ध के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है[1]। धर्म-शर्माभ्युदय के कर्ता जैन कवि हरिश्चन्द्र ने भी सुगत के अद्वैतवाद का उल्लेख किया है[2]। 'बोधिचित्त-विवरण' में शून्यता को 'अद्वयलक्षणा' कहा गया है[3]। शान्तिदेव बोधि को अद्वयरूप मानते हैं[4]। अतः शून्य अद्वैततत्व है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। वह चतुष्कोटियों से विनिमुक्त अनेक स्थानों पर सिद्ध किया गया है[5]।

---

१. एकचित्ततितिरद्वयवादिन्नत्रयीपरिचितोऽथ बुधस्त्वम्।
पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चबाणविजयी षडभिज्ञः॥ (नैषध २१।८८)

२. अद्वैतवादं सुगतस्य हन्ति पदक्रमो यच्च जडद्विजानाम्।
(धर्मशर्माभ्युदय १७।९६)

३. 'भिन्नापि देशनाऽभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा'। बोधिचित्तविवरण का यह वचन भामती (२।२।१८) में वाचस्पति ने उद्धृत किया है।

४. अलक्षणमनुत्पादमसंस्कृतमवाङ्मयम्।
आकाशं बोधिचित्तं च बोधिरद्वयलक्षणा॥ (बोधिचर्या० पृ० ४२१)

५. न सन् चासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।

नैषधकार श्रीहर्ष ने, जिन्होंने खण्डन खण्ड-खाद्य लिखकर अद्वैततत्त्व के विरोधियों की युक्तियों का मार्मिक खण्डन किया है, अद्वैततत्त्व को 'पञ्चमकोटिमात्र' बतलाया है[1] क्योंकि अस्ति, नास्ति, तदुभय, उभयरहित कोटियों का प्रयोग ब्रह्म के विषय में कथमपि नहीं किया जा सकता। आचार्य गौड़पाद की दृष्टि में बालिश (मूर्ख) इन आवरणों के द्वारा परमार्थ को ढकने का प्रयत्न करता है[2]। शंकराचार्य ने इस कारिका की व्याख्या करते लिखा है कि ये चारों (कोटियाँ) परमतत्त्व के आवरण हैं, क्योंकि इनके कारण ब्रह्म के यथार्थ रूप का प्रकटीकरण नहीं होता; परमार्थ आवृत हो जाता है। अतः वह चतुष्कोटि-विहीन है। इस प्रकार इन चारों कोटियों का बहिष्कार समभावेन शून्य के लिए उसी प्रकार अभिमत है जिस प्रकार ब्रह्म के लिए। रामानुजियों के द्वारा अद्वैतवादी इस सिद्धान्त के कारण आक्षेप का पात्र माना गया है[3]।

शून्य तथा ब्रह्म के स्वरूपद्योतन के लिए प्रयुक्त शब्द भी प्रायः एक समान या एक ही अर्थ के प्रकाशक हैं। जिस प्रकार शून्य शान्त, शिव, अद्वैत, अनानार्थ, प्रपञ्चैरप्रपञ्चित, आदि शब्दों के द्वारा वर्णित किया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म

चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।

अद्वयवज्र के अनुसार यह मायोपमाद्वयवादी माध्यमिकों का मत है। द्रष्टव्य—अद्वयवज्रसंग्रह पृ० १९

१. साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मतानामद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः॥
(नैषध १३।३६)

२. अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः॥ (गौडपाद कारिका)

आनन्दतीर्थ ने अस्ति को वैशेषिकादि दर्शनों का पक्ष, नास्ति को विज्ञानवादियों का, अस्ति-नास्ति को दिगम्बरों का तथा नास्ति-नास्ति को शून्यवादियों का पक्ष बतलाया है। द्रष्टव्य कारिका के शाङ्करभाष्य की टीका।

३. तत्त्वे द्वित्रिचतुष्कोटिव्युदासेन यथायथम्।
निरुच्यमाने निर्लज्जैरनिर्वाच्यत्वमुच्यते॥
(वेंकटनाथ का न्यायसिद्धाञ्जन पृ० ९३)

भी शान्तं, शिवं, अद्वैतं, एकं आदि विशेषणों से लक्षित किया जाता है। अतः इतनी समानता होने के कारण दोनों शब्दों को एक ही परमार्थ का द्योतक मानना सर्वथा न्याययुक्त प्रतीत होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि शून्यवादी उसे निषेधात्मक शब्द के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं, वहाँ अद्वैतवादी उसे सत्तात्मक शब्द के द्वारा अभिहित करते हैं। तत्व एक ही है—अशब्द, अगोचर, अनिर्वाच्य तत्त्व। केवल उसे समझाने की प्रक्रिया भिन्न है। बौद्ध लोग 'असत्' की धारा के अन्तर्मुक्त हैं और अद्वैतवादी लोग 'सत्' की धारा के पक्षपाती हैं। वस्तुतः परमतत्त्व इन दोनों सापेक्षिक कल्पनाओं से बहुत ही ऊपर उच्चकोटि का पदार्थ है। समुद्र के समान अगाध उस शान्त तत्त्व की स्वरूपाभिव्यक्ति के निमित्त जगत् के शब्द नितान्त दुर्बल हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टि से उसी परमतत्व की व्याख्या इन दर्शनों में है। अद्वैतवादियों को शून्यवादियों का ऋणी मानना भी उचित नहीं, क्योंकि यह अद्वैततत्त्व भारतीय संस्कृति तथा धर्म का पीठस्थानीय है। भारतभूमि पर पनपने वाले दोनों धर्मों ने उसे समभावेन ग्रहण किया। इसमें किसी के ऋणी होने की बात युक्तियुक्त नहीं। परमतत्त्व एक ही है। केवल उसकी व्याख्या के प्रकरणों में भेद है। कुलार्णवतन्त्र (१।११०) की यह उक्ति नितान्त सत्य है—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥

चतुर्थ खण्ड

(बौद्ध तर्क और तन्त्र)

सम्यक् न्यायोपदेशेन यः सत्त्वानामनुग्रहम् ।
करोति न्यायबाह्यानां स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम् ॥

दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥

बीसवाँ परिच्छेद

बौद्ध न्याय

बौद्ध न्यायशास्त्र बौद्धपण्डितों की अलौकिक पाण्डित्य का उज्ज्वल उदाहरण है। इस शास्त्र के इतिहास तथा सिद्धान्त बतलाने के साधन पर्याप्त मात्रा में अब उपलब्ध हो रहे हैं, परन्तु इसके गाढ़ अनुशीलन की ओर विद्वानों का ध्यान अभी तक अधिक आकृष्ट नहीं हुआ है। प्राचीन काल में इसकी इतनी प्रतिष्ठा थी कि ब्राह्मण तथा जैन नैयायिक लोग अपने मत के मण्डन को तब तक पर्याप्त नहीं समझते थे, जब तक बौद्धन्याय के सिद्धान्तों का मार्मिक खण्डन न कर दिया जाय। ब्राह्मणन्याय का अभ्युदय बौद्ध न्याय के साथ घोर संघर्ष का परिणाम है। बौद्ध पण्डित ब्राह्मणन्याय का खण्डन करता था जिसके उत्तर देने तथा स्वमतस्थापन के लिए ब्राह्मण दार्शनिकों को बाध्य होकर ग्रन्थ लिखना पड़ता था। ब्राह्मणों के आक्षेपों के उत्तर देने के लिए पिछली शताब्दी का बौद्ध नैयायिक अश्रान्त परिश्रम करता था। इस प्रकार परस्पर संघर्ष से दोनों धर्मों में न्याय की चर्चा खूब होती थी। फलतः प्रमाणशास्त्र के मूल सिद्धान्तों, प्रामाण्यवाद, प्रमाण स्वरूप, प्रमाणभेद आदि की बड़े विस्तार के साथ सूक्ष्म समीक्षा हुई। बौद्ध नैयायिकों के सिद्धान्त तर्कशास्त्र तथा प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से नितान्त मननीय हैं। आवश्यकता तुलनात्मक अध्ययन की है जिसमें बौद्धन्याय की तुलना केवल ब्राह्मणन्याय तथा जैनन्याय के साथ न करके पश्चिमी तर्क के साथ भी की जाय।

(१) बौद्धन्याय की उत्पत्ति—

बुद्ध का जन्मकाल शास्त्रार्थ का युग था जब बुद्धिवाद की प्रधानता थी; विचार की स्वतन्त्रता थी। जो चाहता अपने विचारों को निर्भयता के साथ अभिव्यक्त करता था। न राजा का डर था और न समाज की ओर से रुकावट थी। उस समय तक्की (तार्किकों) तथा विमंसी लोगों (मीमांसकों) की प्रधानता थी। सूत्रपिटक के अध्ययन से प्रतीत होता है कि बुद्ध के साथ शास्त्रार्थ करने वाले लोगों की कमी न थी। शाक्यमुनि स्वयं शास्त्रार्थ को—वाद को—न तो महत्त्व देते थे, न उसे प्रोत्साहन देते थे; परन्तु शास्त्रार्थ करने के विशेष आग्रही

लोगों के आग्रह की उपेक्षा भी नही करते थे। विनयपिटक के 'परिवार'[1] में चार प्रकार के अधिकरणों का उल्लेख मिलता है। 'अधिकरण' से तात्पर्य उन मतों से है जिनको निश्चय करने की आवश्यकता होती है। अधिकरणों के चार प्रकार हैं—(१) **विवादाधिकरण**—जिस एक विषय पर भिन्न-भिन्न राय हो उसका निर्णय। (२) **अनुवादाधिकरण**—वह विषय जिसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष को नियम के उल्लंघन का दोषी ठहरावे। (३) **आपत्ताधिकरण**—वह विषय जहाँ किसी भिक्षु ने आचार के किसी सिद्धान्त का जान-बूझकर उल्लंघन किया हो; (४) **किच्चाधिकरण**—संघ के किसी नियम के विषय में विचार। किसी विवाद के निर्णायक की संज्ञा 'अनुविज्जक' दी गई है। संघ किसी किच्चाधिकरण का विधान किस प्रकार से करता था, इसका स्पष्ट उदाहरण 'पातिमोक्ख' में मिलता है। इससे 'वाद' वे महत्त्व का परिचय मिलता है।

अभिधम्मपिटक के कथावत्थु (कथावस्तु—मोग्गलिपुत्त तिस्स के द्वारा तृतीय शतक वि० पू० में विरचित्त) में न्यायशास्त्र से सम्बद्ध अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है—अनुयोग (प्रश्न), आहरण (उदाहरण), पटिञ्ञा (प्रतिज्ञा), उपनय (हेतु के प्रयोग के स्थल का निर्देश), निग्गह (निग्रह–पराजय) जैसे शब्दों का प्रयोग स्पष्टतः सूचित करता है कि तृतीय शतक वि० पू० में न्यायशास्त्र की विशेष उन्नति अवश्य हुई थी। 'कथावत्थु' में प्रतिपक्षों के साथ शास्त्रार्थ करने की प्रक्रिया का विशिष्ट उदाहरण भी दिया गया है जिससे तर्कशास्त्र की भूयसी उन्नति का पर्याप्त परिचय मिलता है। किसी सिद्धान्त के शास्त्रार्थ के निमित्त प्रतिपादन को 'अनुलोम' कहते थे। प्रतिपक्षी के उत्तर की संज्ञा पटिकम्म (प्रतिकर्म) थी। प्रतिपक्ष के पराजय का नाम निग्गह (निग्रह) था। प्रतिपक्ष के हेतु का उसी के सिद्धान्त में प्रयोग करने को 'उपनय' कहते थे तथा अन्तिम सिद्धान्त को 'निग्गमन' कहा जाता था। ब्राह्मण न्याय में अनुमान के ये ही प्रसिद्ध पञ्चावयव वाक्यों की संज्ञायें हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन। अनुमान के अभ्युदय के इस विषय पर ध्यान देना आवश्यक है कि प्रथमतः अनुमान में पूर्वोक्त पञ्चावयव वाक्य नहीं विद्यमान थे। दिङ्नाग के

---

१. द्रष्टव्य विनयपिटक के पञ्चम खण्ड (डा० ओल्डनवर्ग का संस्करण) के ९–१२ अध्याय। पाली टेक्स्ट सोसाइटी का संस्करण।

समय (पञ्चम शतक) में पञ्च अवयवों के स्थान पर केवल तीन अवयव ही उपयुक्त माने गये। वेदान्त तथा मीमांसा शास्त्रों में त्र्यवयव अनुमान ही ग्राह्य माना गया है। कथावत्थु के लगभग दो सौ वर्ष पीछे विरचित 'मिलिन्द प्रश्न' में वाद-प्रक्रिया के सद्गुणों का प्रदर्शन किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों की समीक्षा से न्यायशास्त्र के उदय का परिचय विक्रम से पूर्व शताब्दियों में भली-भाँति चलता है।

बौद्ध न्याय का इतिहास—

बौद्ध आचार्यों में न्यायशास्त्र का स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित करने का समग्र श्रेय आचार्य दिङ्नाग को है। परन्तु इससे दिङ्नाग को ही प्रथम नैयायिक मानना उचित नहीं है। इनके पहले कम से कम दो बड़े नैयायिक हो गये थे— (१) नागार्जुन और (२) वसुबन्धु। नागार्जुन का प्रमाण-विषयक ग्रन्थ—विग्रहव्यावर्तनी—अभी हाल ही में उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थ में इन्होंने शून्यवाद के विरोधियों की युक्तियों का खण्डन कर व्यावहारिक रीति से प्रमाण की ही असत्यता सिद्ध कर दी है। वसुबन्धु का न्याय-ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला है। लेकिन उसके अनेक उद्धरण तथा उल्लेख परवर्ती बौद्ध तथा ब्राह्मण न्याय ग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। वसुबन्धु के नैयायिक सिद्धान्तों का खण्डन ब्राह्मणों के न्याय-ग्रन्थों में मिलता है। इन्हीं खण्डनों से अपने गुरु को बचाने के लिए दिङ्नाग ने अपने प्रमाण ग्रन्थ की रचना की। **'प्रमाण-समुच्चय'** का मूल-संस्कृत में न मिलना विद्वानों के नितान्त सन्ताप का विषय है। दिङ्नाग के 'प्रमाण समुच्चय' के खण्डन करने के लिये पाशुपताचार्य उद्योतकर ने अपना 'न्याय वार्तिक' जैसा अलौकिक प्रतिभासम्पन्न ग्रन्थ-रत्न लिखा। इनकी युक्तियों के खण्डन करने के लिए धर्मकीर्ति ने 'प्रमाण-वार्तिक' जैसा प्रमेयबहुल ग्रन्थ बनाया। यह एक प्रकार से दिङ्नाग के सिद्धान्तों की ही विपुल व्याख्या है यद्यपि स्थान-स्थान पर ग्रन्थकार ने दिङ्नाग के मतों की पर्याप्त आलोचना की है, तथापि इनका दिङ्नाग के प्रति समधिक आदर और सातिशय श्रद्धा है।

दिङ्नाग से लेकर धर्मकीर्ति (७ म शताब्दी) तक का दो शताब्दी का काल बौद्धन्याय के चरम उत्कर्ष का युग है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हैं कि इन दो शताब्दियों के बीच में ये दो ही आचार्य हुए। इस युग में दो और

आचार्य हुए जिनका महत्त्व न्यायशास्त्र के इतिहास में कम नहीं है। प्रथम आचार्य का नाम है (१) शंकरस्वामी, जो दिङ्नाग के साक्षात् शिष्य थे। इनकी महत्त्व-पूर्ण रचना है—'न्याय-प्रवेश'। इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। हम इसे दिङ्नाग की ही रचना मानते हैं। परन्तु चीनदेश की परम्परा के अनुसार यह ग्रन्थ शंकरस्वामी रचित ही है। इस ग्रन्थ में पक्षाभास, हेत्वाभास तथा दृष्टान्ताभास की जो सूक्ष्म कल्पना की गयी है वह न्यायशास्त्र के इतिहास में अपूर्व है। धर्मकीर्ति भी दिङ्नाग की ही परम्परा के अन्तर्भुक्त थे परन्तु इनके साक्षात् गुरु का नाम तिब्बतीय परम्परा में (२) **ईश्वरसेन** बतलाया गया है। इनकी कोई रचना नहीं मिलती, परन्तु धर्मकीर्ति के ऊपर इनका बहुत ही प्रभाव पड़ा है इसे उन्होंने स्वीकार किया है। 'प्रमाण वार्तिक' की महत्ता का परिचय इसी से लग सकता है कि उसे मूल मानकर उसके टीका-ग्रन्थों की एक परम्परा आरम्भ हो गयी जो भारत में ही नहीं परन्तु तिब्बत में भी फैली। अवान्तर कालीन बौद्धनैयायिकों में महापण्डित रत्नकीर्ति रचित 'अपोहसिद्धि'[1] और क्षणभंगसिद्धि, आचार्य अशोक रचित 'अवयवि-निराकरण तथा सामान्यदूषण दिक् प्रसारित' और रत्नाकर शान्तिपाद का 'अन्तर्व्याप्तिसमर्थन' बौद्धन्याय के निबन्ध ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार बौद्ध न्याय का इतिहास भारतीय न्याय के इतिहास में गौरवपूर्ण तथा विशिष्ट स्थान रखता है।

(२) हेतुविद्या का विवरण—

न्याय शास्त्र का प्राचीन रूप हेतुविद्या के रूप में हमारे सामने आता है। उस समय इस शास्त्र का प्रधान उद्देश्य स्वपक्ष की स्थापना था तथा इसके निमित्त परपक्ष की खण्डन भी उतना ही आवश्यक था। इसलिए इसका नाम **वादशास्त्र** या **वादविधि** था। इसी विषय को प्रधानतया लक्ष्य कर विरचित होने से वसुबन्धु के ग्रन्थ का नाम 'वादविधान' है। वसुबन्धु के ज्येष्ठ भ्राता असंग ने 'योगाचार भूमि' में हेतुविद्या का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है तथा धर्मकीर्ति ने 'वादन्याय' में इसी वाद का शास्त्रीय पद्धति से विवेचन किया है। आज-कल इसका महत्त्व कम

१. इन छः ग्रन्थों का सम्पादन तथा संग्रह म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने Six Buddhist Nyaya Tracts के नाम से A. S. B. से प्रकाशित किया है।

प्रतीत होता है, परन्तु प्राचीन काल में—परस्पर शास्त्रीयसंघर्ष के युग में—इस शास्त्र की बड़ी आवश्यकता थी। इसीलिए बौद्ध तथा ब्राह्मण—उभय नैयायिकों ने इसका शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। आचार्य दिङ्नाग की महती विशिष्टता है कि उनके हाथों वादशास्त्र प्रमाणशास्त्र बन गया—अर्थात् 'वाद' के स्थान पर 'प्रामाण्यवाद' का गाढ़ अनुशीलन होने लगा। प्रमाण के रूप, भेद, अनुमान के प्रकार, हेत्वाभास, प्रामाण्यवाद—आदि विषयों का सांगोपांग विवेचन दिङ्नाग से आरम्भ होता है। इसीलिए ये माध्यमिक न्याययुग के प्रवर्तक माने जाते हैं। न्याय के इस द्विविध रूप का वर्णन यहाँ संक्षेप में किया जायगा।

आर्य असंग ने हेतुविद्या को ६ भागों में बाँटा है—(१) वाद, (२) वाद-अधिकरण, (३) वाद-अधिष्ठान, (४) वाद-अलंकार, (५) वाद-निग्रह, (६) वादे-बहुकर (वाद के विषय में उपयोगी बातें):—

(१) **वाद** के स्वरूप जानने के लिए उसे तत्सदृश वस्तुओं से विविक्त करना आवश्यक है। 'वाद'–१ वह जो कुछ मुँह से बोला जाय, कहा जाय ('भाषण'); लोक में प्रसिद्ध बातें 'प्रवाद'–२ कही जाती हैं। 'विवाद'–३ का अर्थ वाग्युद्ध है जो भोग-विलास के विषय में या दृष्टि (दर्शन) के सम्बन्ध में विरुद्ध विषयों में किया जाता है। दृष्टि के नाना प्रकार हैं जैसे सत्कायदृष्टि, उच्छेददृष्टि, शाश्वतदृष्टि आदि। इनमें कौन सा मत ग्राह्य है? इसके विषय में वाग्युद्ध को 'विवाद' कहते हैं। 'अपवाद'–४ दूसरों के सद्गुणों की निन्दा है। 'अनुवाद'–५ धर्म के विषय में उठे हुए सन्देहों को दूर करने के लिए जो बातें की जाती हैं, उनका नाम अनुवाद है। 'अववाद'–६ तत्त्वज्ञान कराने के लिए किया गया भाषण। इनमें विवाद तथा अववाद सर्वथा वर्जनीय हैं तथा अनुवाद और अववाद सर्वथा ग्राह्य हैं। इन प्रकारों के पार्थक्य से वाद का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

(२) जब किसी सिद्धान्त के निश्चय करने के लिए किसी विषय के ऊपर वाद चलता था तो उसके लिए उपयुक्त स्थान प्रायः दो थे। राजा या किसी बड़े अधिकारी की परिषद् तथा अर्थधर्म में निपुण ब्राह्मणों या भिक्षुओं की सभा। इन उपयुक्त स्थानों को **वाद-अधिकरण** कहते थे।

(४) **वादालंकार** में जिन विषयों का समावेश है वे वाद के लिए भूषण-रूप हैं। इसमें वक्ता के उन गुणों की गणना है जिनके रहने से उसका भाषण

अलंकृत समझा जायेगा। ये पाँच गुण हैं—(क) **स्वपरसमयज्ञता**—अपने तथा प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों का भलीभाँति जानना। यह तो वक्ता का अपना गुण हुआ। परन्तु उसकी वाणी को भी शास्त्रार्थ के उपयुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। वक्ता की वाणी गवारूँ न होनी चाहिए, उसे परस्पर सम्बद्ध तथा शोभन अर्थों का प्रतिपादन करना नितान्त आवश्यक है। ऐसी वाणी के प्रयोग करने से वक्ता में (ख) **वाक्-कर्म सम्पन्नता**-नामक योग्यता का उदय होता है।

(ग) **वैशारद्य**—अर्थात् सभा में निर्भीकता। महायान धर्म में यह गुण बड़े महत्त्व का माना जाता है। यह स्वयं बुद्ध या बोधिसत्त्व के गुणों में प्रधान है। इससे तात्पर्य यह है कि प्रतिवादियों की कितनी भी बड़ी भारी सभा हो, वादी को अपने मत प्रकट करने में किसी प्रकार का भय न दिखलाना चाहिए। उसे निसंदिग्ध अदीन शब्दों के द्वारा अपने मत की अभिव्यक्ति करनी चाहिए।

(घ) **धीरता**—सभा में सोच-विचार कर बोलना, बिना समझे जल्दी में किसी वाक् का उच्चारण न करना।

(ङ) **दाक्षिण्य**—मित्रता का भाव रखना तथा दूसरे के हृदय को अनुकूल लगनेवाली बातों का कहना।

यहीं पर ग्रन्थकार ने २१ प्रकार के **प्रशंसा-गुणों** (वाद के शोभन गुणों) का वर्णन किया है। ये प्रशंसा-गुण या वाक्य-प्रशंसा का वर्णन असंग से पहले भी उपलब्ध होता है। 'चरक संहिता' तथा 'उपायहृदय' (जिसके लेखक स्वयं नागार्जुन बतलाए जाते हैं) में इन वाक्य-प्रशंसाओं का वर्णन मिलता है। चरक के अनुसार वाक्य-प्रशंसा पाँच प्रकार की होनी चाहिए। इनके रहने से वाक्य का अर्थ जल्दी समझ में आ जाता है जिससे शास्त्रार्थ करने में किसी प्रकार का झंझट नहीं होता। वाक्य को न तो न्यून होना चाहिए, न अधिक होना चाहिए अर्थात् अनुमान के सिद्ध करने वाले समस्त अवयवों का रहना नितान्त आवश्यक है। वाक्य को सार्थक होना चाहिए (अर्थवत्)। वाक्य को परस्पर सम्बन्ध (अनपार्थक) होना चाहिए। तथा उसे अविरोधी होना चाहिये (अविरुद्ध)। ऐसे गुणों के होने पर वाक्य शास्त्रार्थ के उपयुक्त होते हैं।

(५) **वाद-निग्रह**—इसका अर्थ है शास्त्रार्थ में पकड़ा जाना अर्थात् उन बातों का जानना जिससे प्रतिपक्षी शास्त्रार्थ में पराजित किया है। तर्क-शास्त्र का यह

बहुत ही प्रधान विषय था। इसका पर्याप्त परिचय गौतम-न्यायसूत्र से चलता है। मैत्रेय ने 'निग्रह' को तीन प्रकार का बतलाया है—(१) **वचन-संन्यास** जो न्याय-सूत्रों के प्रतिज्ञा-संन्यास[1] का प्रतिनिधि है। इसका अर्थ यह है कि अपने सिद्धान्त को ठीक समझना। (२) **कथाप्रमाद** अर्थात् मतलब की बात न कहकर इधर-उधर की बातें करना। यह न्याय-सूत्र के विक्षेप[2] के समान है जिसमें वादी अपने पक्ष के समर्थन करने में अपनी अयोग्यता देखकर किसी अन्य कार्य का बहाना कर शास्त्रार्थ समाप्त कर देता है। (३) **वचन-दोष**—अनर्थवाली बात बिना समझे-बुझे बेसमय का वचन बोलना, वचन-दोष बोला जाता है।

(६) **वादेबहुकर**—इसमें उन बातों पर जोर दिया गया है जो शास्त्रार्थ के लिए बहुत उपयोगी होती है। वादी में वैशारद्य या प्रतिभा का रहना नितान्त आवश्यक है। किसी वाद के आरम्भ करने के पूर्व उसकी अपनी योग्यता को अपने शत्रु की योग्यता से मिलाकर देखना चाहिए कि उसके विजय की कितनी आशा है तथा शास्त्रार्थ के लिए चुनी गई परिषद् उसके अनुकूल है या प्रतिकूल। बिना इन बातों पर ध्यान दिए वादी को शास्त्रार्थ में विजय पाने की आशा करना दुराशामात्र है।

अब तक वाद के जिन अंगों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है[3] वे सब विवाद के लिए ही आवश्यक हैं। न्याय के ये प्राथमिक उद्योग हैं। अतः उनका भी अनुशीलन कम उपयोगी नहीं है। बुद्धधर्म में स्वयं तर्क के विषय में मत बदल रहा था। त्रिपिटक में भिक्षुओं को तर्क के अभ्यास करने से स्पष्ट ही निषेध किया गया है परन्तु समय के परिवर्तन के साथ ही साथ इस धारणा में भी परिवर्तन हो गया। विवाद गर्हणीय विषय अब न था। प्रत्युत बोधिसत्त्व के लिए उपादेय विषय में इसका अभ्यास ग्राह्य माने जाना लगा। इसीलिए असंग ने इसे शब्द-विद्या, शिल्प-विद्या, चिकित्सा विद्या तथा अध्यात्म-विद्या के साथ ही इस 'हेतु-विद्या' की गणना की है।

---

१. पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः। (न्यायसूत्र ५।२।५)

२. कार्यव्यासंगात् कथाच्छेदो विपक्षः। (न्यायसूत्र ५।२।२०)

३. द्रष्टव्य—Tucci : Doctrines of Maitreya and Asanga. pp. 47–51: राहुल—दर्शनदिग्दर्शन पृ० ७२४–७३०

(३) प्रमाणशास्त्र

बौद्ध नैयायिकों ने प्रमाण शास्त्र की व्याख्या की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया है। ब्राह्मण दार्शनिकों के समान बुद्ध का भी यह प्रधान मत था कि बिना ज्ञान की प्राप्ति हुये निर्माण नहीं मिल सकता—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। सब अनर्थों की जड़ अविद्या है और इस अविद्या को दूर हटाने का एक ही उपाय हैं विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति। परन्तु ज्ञान की विशुद्धि किस प्रकार हो सकती है? ज्ञान के उत्पन्न होने में कितनी रुकावटें हैं? इन विषयों की ओर बौद्धमत के आचार्यों का ध्यान आकृष्ट हुआ था। बौद्ध न्याय इसी प्रयास का फल है। इस विषय के मुख्य सिद्धान्त का ही यहाँ संक्षेप रूप में वर्णन उपस्थित किया गया है।

प्रमाण—

प्रमाण वह ज्ञान है[1] जो अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करता है। और वस्तु स्थिति के विरुद्ध कभी नहीं जाता (अविसंवादी)। अर्थात् प्रमाण को नवीन अर्थ का ज्ञापक होना आवश्यक है। उसमें तथा वस्तुस्थिति में किसी प्रकार विसंवाद (असामञ्जस्य) नहीं होता। जो ज्ञान कल्पना के ऊपर अवलम्बित रहता है वह विसम्वादी है। तथा जो ज्ञान अर्थक्रिया के ऊपर अवलम्बित रहता है वह अविसंवादी होता है[2]।

प्रमाणों की संख्या—

प्रमाणों की संख्या को लेकर दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है। चार्वाक की दृष्टि में एक ही प्रमाण है और वह है प्रत्यक्ष। सांख्यों के मत में प्रमाण तीन—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द—हैं। नैयायिक लोग इसमें उपमान जोड़कर चार प्रमाण मानते हैं। भाट्ट मीमांसक तथा अद्वैत वेदान्त अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को भी प्रमाण मानते हैं। इन सभी लोगों से विलक्षण मत बौद्धों का है। उनकी दृष्टि में दो ही प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष तथा अनुमान। इन्हें प्रमाण मानने के कारण ये हैं। विषय

---

१. प्रमाणमविसंवादी ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः।
अविसंवादनं शाब्देप्यभिप्रायनिवेदनात्॥ (प्रमाण-वार्तिक २।१)

२. प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम्। (वही २।४)

दो प्रकार के होते हैं[1]—**स्वलक्षण** तथा **सामान्यलक्षण।** स्वलक्षण का अर्थ है वस्तु का अपना रूप जो शब्द आदि के बिना ही ग्रहण किया जाय। यह तब होता है जब पदार्थ अलग अलग रूप से ग्रहण किये जाते हैं। सामान्य लक्षण का अर्थ है अनेक वस्तुओं के साथ गृहीत वस्तु का सामान्य रूप। इसमें कल्पना का प्रयोग होता है। इनमें पहला अर्थात् स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है। दूसरा (सामान्य लक्षण) अनुमान का लक्षण होता है। पहिला अर्थ क्रिया करने में समर्थ होता है और दूसरा असमर्थ होता है[2]।

(क) प्रत्यक्ष

वह ज्ञान जो कल्पना से रहित और निर्भ्रान्त हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। असंग दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति[3] आदि आचार्यों का प्रत्यक्ष का यही प्रसिद्ध लक्षण हैं। दिङ्नाग ने इसकी परिभाषा देते हुये लिखा है :—

'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्'। (प्रमाण समुच्चय)

अर्थात् नाम, जाति आदि से असंयुक्त कल्पनाविरहित ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। कल्पना किसे कहते हैं? नाम, जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य से किसी को युक्त करना 'कल्पना' है। गौ, शुक्ल, पाचक, दण्डी, डित्थ ये सब कल्पनायें हैं। अभ्रान्त ज्ञान वह है जो असंग के अनुसार इन भ्रान्तियों से मुक्त हो—

(१) संज्ञा भ्रान्ति—मृगतृष्णा उत्पन्न करनेवाली मरीचिका में जल का ज्ञान।

(२) संख्या भ्रान्ति—जैसे धुन्ध रोग वाले आदमी को एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा दिखाई पड़ना।

(३) संस्थान भ्रान्ति—आकृति की भ्रान्ति। जैसे अलात (बनेठी) में चक्र की भ्रान्ति।

---

१. मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात् शक्त्यशक्तितः।
अर्थक्रियायां केशादिर्नार्थोऽनर्थाधिमोक्षतः॥ (प्रमाणवार्तिक ३।१)

२. अर्थक्रियासमर्थं यत् तद परमार्थसत्।
अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे॥ (वही ३।३)

३. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नाम संश्रयः॥ (प्रमाण वार्तिक ३।१२३)

(४) वर्ण भ्रान्ति—जैसे पाण्डु रोगी का शंख आदि सफेद रंग वाली वस्तुओं को भी पीला देखना।

(५) कर्म भ्रान्ति—दौड़ने वाले आदमी का या रेलगाड़ी पर बैठे हुये पुरुष का वृक्षों को पीछे की ओर चलते हुए देखना। इन भ्रान्तियों में चित्त का जो आग्रह है वह चित्त-भ्रान्ति है तथा उन भ्रमपूर्ण विषयों में जो आसक्ति है वह दृष्टिभ्रान्ति है। इन भ्रान्तियों से विरहित होने वाला तथा नाम, जाति आदि की योजना से नितान्त अस्पृष्ट जो ज्ञान होता है उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। बौद्धों का यह प्रत्यक्ष नैयायिकों के निर्विकल्पक ज्ञान के समान होता है।

प्रत्यक्ष के भेद—

इन्द्रिय-ज्ञान, मनो-विज्ञान, स्वसंवेदन, और योगिज्ञान—ये ही प्रत्यक्ष के चार प्रकार हैं (१) **इन्द्रिय प्रत्यक्ष**[1]—उस समय उत्पन्न होता है जब चारों ओर से अपने ध्यान को हटाकर कोई व्यक्ति निश्चल चित्त से किसी व्यक्ति को देखता है। इन्द्रिय ज्ञान होते समय उस वस्तु के आकार, प्रकार, वर्ण, रंग आदि किसी वस्तु का ज्ञान हमें नहीं होता। कल्पना का आरम्भ तब होता है जब इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होने के अनन्तर देखने वाले का चित्त जाति, गुण आदि की ओर अग्रसर होता है। इन्द्रियों से हम केवल वस्तु के स्वलक्षण को ही जान सकते हैं। जब किसी वस्तु को हम नाम देते हैं तब वह वस्तु इन्द्रिय के सामने से हट गयी रहती है और चित्त नयी पुरानी कल्पनाओं को एक साथ मिलाकर किसी नाम की खोज में प्रवृत्त रहता है।

(२) **मानस प्रत्यक्ष**—विषय के पश्चात् विषय के सहकारी समनन्तर प्रत्यक्ष रूप इन्द्रियों के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष करते है[2]। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि बौद्ध दर्शन में ज्ञानके चार प्रत्यय (कारण) माने जाते हैं—आलम्बन प्रत्यय, सहकारी प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय और समनन्तर प्रत्यय। उदाहरण के लिये घटज्ञान के विषय में इन चारों प्रकार के प्रत्ययों का

---

१. संहृत्य सर्वतः चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः॥

२. स्वविषयानन्तरे विषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन
समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तत् मनोविज्ञानम्॥ न्यायबिन्दु (१।९)

परिचय इस प्रकार है। नेत्र से घट का ज्ञान होने में पहिला कारण घट ही है जो विषय होने से 'आलम्बन प्रत्यय' कहलाता है। बिना प्रकाश के चक्षु घट का ज्ञान नहीं कर सकता। इसलिये प्रकाश को **सहकारी प्रत्यय** कहते हैं। इन्द्रिय का ही नाम है अधिपति। इसलिये **अधिपति प्रत्यय** स्वयं इन्द्रिय ही है। चौथा कारण ग्रहण करने तथा विचार करने की वह शक्ति है जिसके उपयोग से किसी वस्तुका साक्षात्कार होता है। वही 'समनन्तर प्रत्यय' है। नेत्र आदि इन्द्रियों से जो विषय का विज्ञान हुआ है उसीको समनन्तर प्रत्यय बनाकर जो मन उत्पन्न होता है वही मानस प्रत्यक्ष है। यही धर्मकीर्ति का मत है[1]। दिङ्नाग ने पदार्थ के प्रति राग आदि का जो ज्ञान होता है उसको मानस प्रत्यक्ष कहा है[2]। परन्तु इसे धर्मकीर्ति मानस प्रत्यक्ष मानने के लिये तैयार नहीं हैं क्योंकि यहाँ जो मानस प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है वह इन्द्रियों के द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में है। ऐसी दशा में ज्ञात वस्तु के प्रकाशक होने के कारण से वह प्रमाण ही नहीं होगा। अतः दिङ्नाग का मानस प्रत्यक्ष का लक्षण धर्मकीर्ति को अभीष्ट नहीं है।

(३) **स्वसंवेदन प्रत्यक्ष**—इसका लक्षण जो दिङ्नाग ने दिया है धर्मकीर्ति ने उसी का समर्थन किया है। दिङ्नाग का लक्षण है—स्वसंवित् निर्विकल्पकम्। अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान स्वसंवेदनरूप है। इन्द्रिय के द्वारा गृहीत रूप का ज्ञान मानस ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है तब उस विषय के प्रति इच्छा, क्रोध, मोह, सुख, दुःख आदि का जो अनुभव होता है वही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। दिङ्नाग के इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुये धर्मकीर्ति ने आत्मसंवेदन की पृथक्ता सिद्ध की है। इन्द्रियों के द्वारा विषय के किसी एक अंश का ज्ञान होता है। मानस प्रत्यक्ष इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का अनुभव कराता है। परन्तु इन दोनों से भिन्न राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि का ज्ञान बिल्कुल एक नयी वस्तु है। इसलिए सुख, दुःख के ज्ञानरूप आत्म-संवेदन को पूर्व दोनों प्रत्यक्षों से भिन्न तथा स्वतन्त्र मानना नितान्त आवश्यक है[3]।

---

१. तस्मादिन्द्रियविज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवः।
मनोऽन्यमेव गृह्णाति विषयं नान्धदृक् ततः॥ (प्रमाण वार्तिक ३।२४३)

२. चित्तमप्यर्थरागादि। (प्रमाण समुच्चय १।६)

३. अशक्यसमयो ह्यात्मा रागादीनामनन्यभाक्।
तेषां मतः सुसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषंगिणी॥ (प्र० वा० ३।१८१)

(४) **योगि-प्रत्यक्ष**—समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता से उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान उसको योगि प्रत्यक्ष कहते हैं। इसे अज्ञात ज्ञापक (न जानी हुयी वस्तु को प्रकटित करने वाला) होने के अतिरिक्त विसंवादी होना भी नितान्त आवश्यक है। अर्थात् समाधिप्राप्त ज्ञान तभी प्रत्यक्ष कोटि में आएगा जब उसमें किसी प्रकार की कल्पना न होगी तथा वह अर्थक्रिया का अनुसरण करने वाला होगा[1]।

ब्राह्मणन्याय से तुलना—

ब्राह्मण नैयायिकों ने जो प्रत्यक्ष भेदों का वर्णन किया है उससे उपर लिखे गये प्रत्यक्ष भेदों से समानता स्पष्ट है ; साथ ही कुछ भेद भी हैं। पहिला मौलिक भेद यह है कि हमारे नैयायिक प्रत्यक्ष के दो भेद मानते हैं (१) सविकल्पक और (२) निर्विकल्पक[2]। दूर पर विद्यमान रहने वाली किसी वस्तु का ज्ञान जब पहिले-पहल हम को होता है तो उसके विषय में हमारा ज्ञान सामान्य कोटि को पार कर विशेष में कभी प्रवेश नहीं करता। हमें यही पता चलता है कि कुछ है। परन्तु क्या है ? उसका रूप कैसा है ? उसमें कौन-कौन से गुण हैं ? इत्यादि वस्तुओं का ज्ञान हमें उस समय कुछ भी नहीं होता। इसी नाम, जाति आदि से विहीन ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं। बौद्धों का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है। परन्तु जब वस्तु के स्वरूप, जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा का ज्ञान हमें प्राप्त होता है तब वह सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञान है। परन्तु बौद्ध नैयायिक इसे प्रत्यक्ष मानने के लिये कथमपि उद्यत नहीं हैं। उनकी दृष्टि में यह ज्ञान सामान्य लक्षण होने से अनुमिति है, प्रत्यक्ष नहीं।

प्रत्यक्ष के पूर्वनिर्दिष्ट चार प्रकारों में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और योगज प्रत्यक्ष दोनों को अभीष्ट है[3]। अन्तर केवल इतना ही है कि इन्द्रिय-ज्ञान को ब्राह्मण नैयायिक

---

१. प्रागुक्तं योगिनां ज्ञानं तेषां तद्भावनामयम्।
विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते ॥
कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥ (प्र० वा० ३।२८२)

२. वाचस्पति मिश्र—तात्पर्य टीका पृ० १३३ (काशी) वाचस्पति के पूर्व कुमारिलभट्ट ने बौद्धसंमत प्रत्यक्ष के खण्डन के समय इन भेदों को स्वीकार किया है। इस विषय में वाचस्पति उन्हीं के ऋणी प्रतीत होते हैं।

३. योगज प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में भर्तृहरि की यह उक्ति कितनी सटीक है।

लौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न बतलाता है और योगज प्रत्यक्ष को अलौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न। ब्राह्मण नैयायिक सुख, दुःख आदि के ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष ही बतलाता है, अतः उसका स्वसंवेदन मानस प्रत्यक्ष के अन्तर्गत होता है। मानस प्रत्यक्ष को स्वतन्त्र प्रत्यक्ष मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि मन इन्द्रिय ठहरा। अतएव तज्जन्य प्रत्यक्ष का अन्तर्भाव इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के अन्तर्गत स्वतः सिद्ध है। उसे अलग स्थान देने की आवश्यकता ही क्या? इस प्रकार बौद्धों के पूर्वोक्त प्रत्यक्ष—चतुष्टय ब्राह्मण नैयायिकों के दो ही प्रत्यक्ष—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और योगज प्रत्यक्ष—के अन्तर्गत हो जाते हैं।

(ख) अनुमान

प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान की आवश्यकता को बतलाते हुये धर्मकीर्ति[1] का कहना है कि वस्तु का जो अपना निजी रूप (स्वलक्षण) है उसके लिये तो कल्पना-रहित प्रत्यक्ष की आवश्यकता होती है। परन्तु अन्य वस्तुओं के साथ समानता रखने के कारण से जो सामान्य रूप है उसका ग्रहण कल्पना के अतिरिक्त दूसरी वस्तु से नहीं हो सकता। इसलिये इस सामान्य ज्ञान के लिये अनुमान की आवश्यकता है।

अनुमान का लक्षण

किसी संबन्धी के धर्म से धर्मी के विषय में जो परोक्ष ज्ञान होता है वही अनुमान है[1]। जगत् में वह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि सदा साथ रहने वाली दो वस्तुओं में से एक को देखने पर दूसरे की स्थिति की संभावना स्वयं उपस्थित हो जाती है। परन्तु प्रत्येक दशा में यह अनुभव प्रमाण कोटि में नहीं आ सकता। दोनों वस्तुओं का उपाधिरहित सम्बन्ध सदा विद्यमान रहना चाहिये। इसे ही 'व्याप्ति ज्ञान' के

अनुभूतप्रकाशानामनुपद्रुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥ (वा० प० १।३७)

१. अन्यत् सामान्यलक्षणम्। सोऽनुमानस्य विषयः। (न्या० बि० १।१६-१७)
स्वलक्षणे च प्रत्यक्षमविकल्पतया विना।
विकल्पेन न सामान्यग्रहस्तस्मिन्नतोऽनुमा ॥ (प्र० वा० ३।७५)

१. या च संबन्धिनो धर्माद् भूतिर्धर्मिणि जायते।
सानुमानं परोक्षाणामेकं तेनैव साधनम् ॥ (प्र० वा० ३।६२)

नाम से हम पुकारते हैं। व्याप्तिज्ञान पर ही अनुमान अवलम्बित रहता है[१]।

अनुमान के भेद—

अनुमान के दो भेद होते हैं—स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। स्वार्थानुमान किसी हेतु से किसी साध्य के ज्ञान को कहते हैं जो अपने लिये किया जाय। वही परार्थानुमान हो जाता है जब वाक्यों के प्रयोग के द्वारा उसका ज्ञान दूसरे के लिये कराया जाय। स्वार्थानुमान बिना किसी वाक्य के प्रयोग किये ही किया जाता है परन्तु परार्थानुमान में त्रि-अवयव वाक्यों का प्रयोग नितान्त आवश्यक होता है। अनुमान के इस द्विविध भेद के उद्भावक आचार्य दिङ्नाग माने जाते हैं।

हेतु की त्रिरूपता—

जो हेतु अनुमान को भली भाँति सिद्ध कर सकता है उसमें तीन गुणों का रहना नितान्त आवश्यक है। पहला गुण है अनुमेय में सत्ता अर्थात् 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान में हेतुरूप धूम का पर्वत में रहना नितान्त आवश्यक है। दूसरी आवश्यकता है 'सपक्ष' में सत्ता अर्थात् भोजनगृह आदि अग्नियुक्त स्थानों में धूम का निवास। तीसरी आवश्यकता है 'विपक्ष' में निश्चित असत्ता अर्थात् अग्नि से विरहित जलाशय आदि में धूम का न रहना[२]। हेतु तीन प्रकार का होता है[३]—(१) अनुपलब्धि हेतु (२) स्वभाव हेतु और (३) कार्य हेतु। अनुपलब्धि का अर्थ है न मिलना अर्थात् उस स्थान पर उस वस्तु के रहने की योग्यता है परन्तु वह उपलब्ध नहीं हो रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस वस्तु का वहाँ सर्वथा अभाव है[४]। (२) यह वृक्ष है—आम होने के कारण से। यहाँ आम का होना स्वभाव हेतु है। स्वभाव वह है जो उपलम्भ (प्राप्ति) के कारणों के होने पर भी जिसका प्रत्यक्ष हमें हो रहा है। इस अनुमान में वृक्ष समस्त आम के वृक्षों का स्वभाव (स्वरूप) है। अतः सामने दीख पड़ने वाली वस्तु आम है तो वह वृक्ष अवश्य होगी। यह हुआ

---

१. प्रमाण-वार्तिक १।१७—३९।

२. न्यायबिन्दु २।६—८।   ३. वही पृ० ३५।

४. पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः।
अविनाभावनियमात् हेत्वाभावास्ततो परे। (प्र० वा १।३)

स्वभाव हेतु का उदाहरण। (३) जहाँ धूप से अग्नि का अनुमान किया जाता है वहाँ धूम कार्य-हेतु है क्योंकि वह अग्नि से उत्पन्न होता है अतः उसका कार्य है।

अनुमानाभास—

जिस अनुमान में किसी प्रकार की त्रुटि या भ्रान्ति हो, वह यथार्थ अनुमान न होकर मिथ्या अनुमान होगा। ऐसे अनुमान को अनुमानाभास कहते हैं। अनुमान के तीन अङ्ग हैं—(१) पक्ष (२) हेतु तथा (३) दृष्टान्त। भ्रान्ति तीनों में उत्पन्न होती है। इसलिये शंकरस्वामी के अनुसार तीन प्रकार के प्रधान आभास (भ्रान्ति) होते हैं— पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास।

इनमें (क) **पक्षाभास** के नव भेद होते हैं—(१) प्रत्यक्षविरुद्ध (२) अनुमानविरुद्ध (३) आगमविरुद्ध (४) लोकविरुद्ध (५) स्ववचनविरुद्ध (६) अप्रसिद्ध-विशेषण (७) अप्रसिद्धविशेष्य (८) अप्रसिद्धोभय तथा (९) प्रसिद्ध सम्बन्ध।

(ख) **हेत्वाभास**—इसके प्रधान भेद ये हैं—(१) असिद्ध, (२) अनैकान्तिक, (३) विरुद्ध। इनके अवान्तर भेद इस प्रकार हैं।

(१) असिद्ध (४ भेद):—

१ उभयासिद्ध, २ अन्यतरासिद्ध, ३ संदिग्धासिद्ध, ४ आश्रयासिद्ध

(२) अनैकान्तिक (६ भेद):—

साधारण, असाधारण, सपक्षैकदेश-वृत्तिविपक्ष-व्यापी, विपक्षैकदेश-वृत्तिसपक्ष-व्यापी, उभयपक्षैकदेश-वृत्तिः, विरुद्धाव्यभिचारी

(३) विरुद्ध (४ भेद):—

धर्मस्वरूपविपरीत-साधनः, धर्मविशेषविपरीत-साधनः, धर्मिस्वरूपविपरीत-साधनः, धर्मिविशेष-विपरीतसाधनः

(ग) **दृष्टान्ताभास** दो प्रकार का होता है—(१) साधर्म्यमूलक (२) वैधर्म्यमूलक।

(१) साधर्म्यमूलक (५ भेद) :—

साधनधर्मासिद्ध, साध्यधर्मासिद्ध, उभयधर्मासिद्ध, अनन्वय, विपरीतान्वय

(२) वैधर्म्यमूलक (५ भेद) :—

साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त, उभयाव्यावृत्त, अव्यतिरेकः, विपरीत-व्यतिरेकः

ऊपर बौद्ध अनुमान का सामान्य वर्णन किया गया है। उससे इसकी महत्ता का कुछ परिचय मिल सकता है। गौतम सूत्र में अनुमान के तीन भेद माने गये हैं (१) पूर्ववत् (२) शेषवत् तथा (३) सामान्यतोदृष्ट। यही 'त्रिविधं अनुमानम्' है जिसका उल्लेख सांख्य-कारिका आदि अनेक ग्रन्थों में पाया जाता है। दिङ्नाग ने अनुमान का जो दो नया भेद— स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान–किया, उसे परवर्ती ब्राह्मण नैयायिकों ने अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है। दोनों के 'आभासों' में यह भेद है कि ब्राह्मण-न्याय हेतु को विशेष महत्त्व देकर समग्र आभासों को हेतु का ही आभास (हेत्वाभास) मानता है। इसके विपरीत बौद्ध नैयायिकों ने पक्ष के आभासों तथा दृष्टान्त के आभासों को भी स्वीकार किया है। हेत्वाभास की संख्या भी दोनों में बराबर नहीं है। बौद्धों के तीन हेत्वाभासों के अतिरिक्त ब्राह्मणों ने वाधित तथा सत्प्रतिपक्ष इन दो नये आभासों का वर्णन किया है। ब्राह्मण नैयायिकों को परार्थानुमान में पञ्चावयव वाक्य स्वीकृत हैं (प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय एवं निगमन) परन्तु बौद्ध नैयायिकों ने त्रि-अययव (प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त) वाक्य को ही स्वीकार किया है।

ब्राह्मण न्याय से तुलना

---

१. इन आभासों के विस्तृत वर्णन के लिये देखिये—
(शंकर स्वामी–न्यायप्रवेश पृ० २–७, बड़ोदा)

इक्कीसवाँ परिच्छेद

बौद्ध–ध्यानयोग

बुद्ध ने भिक्षुओं को निर्वाण प्राप्ति के लिये दो साधनों से सम्पन्न होने का विशेष उल्लेख किया है। (१) पहिला साधन है शील-विशुद्धि (सत्कर्मों के अनुष्ठान से नैतिक शुद्धि) तथा (२) दूसरा साधन है चित्त-विशुद्धि (चित्त की शुद्धता)। शील-विशुद्धि का प्रतिपादन अनेक बौद्ध ग्रन्थों में पाया जाता है, परन्तु आचार्य के द्वारा अन्तेवासिक (विद्यार्थी) को मौखिक रूप से दिये जाने के कारण चित्त–विशुद्धि का विवेचन बहुत ही कम ग्रन्थों में किया गया है। 'सुत्त–पिटक' के अनेक सुत्तों में बुद्ध ने समाधि की शिक्षा दी है परन्तु यह शिक्षा इतनी सुव्यवस्थित नहीं है। आचार्य बुद्धघोष का 'विशुद्धि-मग्ग'[1] इस विषय का सबसे सुन्दर, प्रामाणिक तथा उपादेय ग्रन्थ है जिसमें हीनयान की दृष्टि से ध्यानयोग का विस्तृत तथा विशद विवेचन है। महायान में भी योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। योग और आचार पर समधिक महत्त्व प्रदान करने के कारण ही विज्ञानवादी 'योगाचार' के नाम से अभिहित किये जाते हैं। इनके ग्रन्थों में, विशेषतः असंग के 'महायान-सूत्रालंकार' तथा 'योगाचारभूमिशास्त्र' में विज्ञानवादी सम्मत ध्यानयोग का वर्णन पाया जाता है।

हीनयान में ध्यान—

लक्ष्य की सिद्धि के लिए ध्यान का उपयोग किया जाता है। हीनयान तथा महायान के लक्ष्य में ही मौलिक भेद है। हीनयान में निर्वाण-प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है। अर्हत् पद की प्राप्ति प्रधान उद्देश्य है। अर्हत् केवल अपने क्लेश की निवृत्ति का अभिलाषी रहता है। वह तो अपने को अपने में ही सीमित किये रहता है। निर्वाण की प्राप्ति ही उसके जीवन का लक्ष्य है जो चित्त के रागादि क्लेशों के दूरीकरण पर इसी लोक में आविर्भूत होता है। इस कार्य में साधक को ध्यान-योग

---

१. 'विशुद्धि–मग्ग' का बहुत ही प्रामाणिक संस्करण धर्मानन्द कौशाम्बी ने 'भारतीयविद्या-भवन-ग्रन्थमाला' बम्बई से १९४२ में प्रकाशित किया है तथा अपनी नयी मौलिक टीका पाली में लिखकर उन्होंने महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ से निकाला है। इसी का उल्लेख यहाँ किया गया है।

से पर्याप्त सहायता मिलती है। विना समाधि के साधक कामधातु (वासनामय जगत्) का अतिक्रमण कर रूपधातु में जा नहीं सकता। समाधि साधक को रूपधातु में ले जाने के लिए प्रधान सहायक है। चार ध्यानों का सम्बन्ध इसी रूपधातु से है। उसके आगे अरूप धातु का साम्राज्य है। इसमें भी चार आयतन होते हैं—आकाशानन्त्यायतन; विज्ञानानन्त्यायतन, अकिञ्चनायतन तथा नैवसंज्ञाना-संज्ञायतन। इन प्रत्येक आयतन के साथ आरूप्य ध्यान का सम्बन्ध है जो आयतनों की संख्या के अनुसार स्वयं चार है। इनमें सबसे अन्तिम आयतन को 'भवाग्र' कहते हैं, क्योंकि वह इस जगत् के समस्त आयतनों में अग्रगण्य, श्रेष्ठ होता है[1]। साधक स्थूल जगत् से आरम्भ कर ध्यान के बल पर सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करता जाता है। उसके लिए जगत् अल्प तथा सूक्ष्म बनता जाता है। इस गति से वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ जगत् की समाप्ति होती है, विज्ञान का अन्त होता है। इसी बिन्दु को 'भवाग्र' कहते हैं। इसके अनन्तर उसे निर्वाण में कूदने में तनिक भी विलम्ब नहीं होता। लोक में 'भृगुपात' के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करने की कल्पना इसी 'भवाग्र' से निर्वाण में कूदने का प्रतीकमात्र है। इस इस निर्वाण की प्राप्ति होते ही साधक को अर्हत् पदकी उपलब्धि ही हो जाती है। वह कृतकृत्य बन जाता है। इस प्रकार हीनयान में समाधि निर्वाण की उपलब्धि में प्रधान कारण है।

महायान में समाधि—

महायान का लक्ष्य ही दूसरा है। महायान में चरम उद्देश्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। साधक को जीवन का अन्तिम ध्येय बुद्ध बनना है। यह एक जन्म का व्यापार नहीं है। अनेक जन्मों में पुण्यसंभार का संचय करता हुआ साधक ज्ञानसंभार की प्राप्ति करता है। प्रज्ञापारमिता अन्य पारमिताओं का परिणाम है। जब तक इस प्रज्ञापारमिता का उदय नहीं होता तब तक बुद्धत्व की प्राप्ति हो नहीं सकती। इस पारमिता के उदय के लिए समाधि की महती उपयोगिता है। इस पारमिता तक पहुँचने के लिए साधक को अनेक भूमियों को पार करना पड़ता है। ये भूमियाँ कहीं चौदह और कहीं दस बतलाई गई हैं। असंग ने 'महायान-सूत्रालंकार' में इनके नाम तथा स्वरूप का पूरा परिचय दिया है। इस भूमियों

१. अभिधर्मकोष ३।६

के नाम ये हैं :—(१) प्रमुदिता, (२) विमला, (३) प्रभाकरी, (४) अर्चिष्मती, (५) सुदुर्जया, (६) अभिमुक्ति, (७) दूरङ्गमा, (८) अचला, (९) साधुमती, (१०) धर्ममेघ्या। इन भूमियों को पार करने पर ही साधक बुद्धत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार महायान में बुद्ध पद की प्राप्ति के निमित्त एकमात्र सहायक होने से ध्यान-योग का उपयोग है।

पातञ्जलयोग से तुलना—

बुद्धधर्म में ध्यानयोग की कल्पना पातञ्जलयोग से नितान्त विलक्षण है। पतञ्जलि के मत में प्रत्येक साधक को दो प्रकार के योगों का अभ्यास करना पड़ता है—क्रियायोग और समाधियोग। क्रियायोग से आरम्भ किया जाता है। क्रियायोग के अन्तर्गत तीन साधन होते हैं—तप (चान्द्रायण व्रत आदि), स्वाध्याय (मोक्षशास्त्र का अनुशीलन अथवा प्रणवपूर्वक मन्त्रों का जप) तथा ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर की भक्ति[1] अथवा ईश्वर में समग्र कर्म के फलों का समर्पण)। क्रियायोग का उपयोग दो प्रकार से होता है[2]—(१) क्लेशतनूकरण—क्लेशों को कम कर देना तथा (२) समाधिभावना—समाधि की भावना का उदय। क्रियायोग क्लेशों को केवल क्षीण कर देता है, उसका उपयोग इतने ही कार्य में है। क्लेशों को एकदम जला डालने का काम प्रसंख्यान (ज्ञान) के ही द्वारा होता है। अब योग के अंगों का अनुष्ठान आवश्यक है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि—योग के आठ अंग हैं जिनके क्रमशः अनुष्ठान करने से समाधिलाभ होता है। समाधि का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है विक्षेपों को हटाकर चित्त का एकाग्र होना (सम्यग् आधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः)। जहाँ ध्यान ध्येय वस्तु के आवेश से मानों अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है, वह 'समाधि' कहलाती है[3]। ध्यानावस्था में ध्यान, ध्येय वस्तु तथा ध्याता अलग-अलग प्रतीत होते हैं, परन्तु समाधि में इन तीनों की एकता सी हो जाती है। ध्यान, धारणा और समाधि—इन तीनों अन्तिम अंगों का सामूहिक नाम 'संयम' है। इस संयम के

---

१. तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। (योगसूत्र २।१)

२. क्लेशतनूकरणार्थः समाधिभावनार्थश्च। (योगसूत्र २।२)

३. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (योगसूत्र ३।३)

जीतने का फल है प्रज्ञा या विवेक ख्याति का आलोक (प्रकाश)। इस दशा में चित्त की समग्र वृत्तियों का विरोध हो जाता है तथा द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। चित्त की पाँचों वृत्तियों में लीन होने के कारण पुरुष प्रकृति के साथ सदा सम्बद्ध रहता है। वह अपने असंग, शुद्ध, बुद्ध, नित्यमुक्त स्वरूप से नितान्त अनभिज्ञ रहता है। परन्तु प्रज्ञा के आलोक से उसकी समग्र चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और पुरुष प्रकृति से अलग होकर अपने पूर्ण चैतन्य रूप से भासित होने लगता है। ध्यान रखना चाहिए कि वृत्तिनिरोध ही योग के लिए आवश्यक नहीं है। ज्ञान का उन्मेष होना भी नितान्त आवश्यक होता है। इस प्रकार की जड़ समाधि को पतञ्जलि 'भवप्रत्यय' के नाम से पुकारते हैं (योगसूत्र १।१९)। 'उपायप्रत्यय' समाधि ही वास्तव समाधि है। 'उपाय' का अर्थ है प्रज्ञा या शुद्ध ज्ञान। यही समाधि सच्ची समाधि होती है क्योंकि इसमें ज्ञान के उदय होनेसे क्रमशः संस्कारों का दाह हो जाता है, जिससे इसमें व्युत्थान की तनिक भी आशङ्का नहीं रहती। अतः योग का परिनिष्ठित लक्षण 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के साथ-साथ 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' ही है। इस प्रकार पातञ्जलयोग का चरम लक्ष्य कैवल्य-प्राप्ति है। समाधिजन्य प्रज्ञा से पुरुष प्रकृति से विवेक प्राप्त कर अपने शुद्ध असंगरूप में अवस्थित होता है। यही प्रधान लक्ष्य है। बौद्धयोग के साथ इसका पार्थक्य स्फुट है।

निर्वाण की प्राप्ति के लिये चित्त को समाहित करना नितान्त आवश्यक है। राग, दोष, मोह, आदि अनन्त उपक्लेश चित्त को इतना विकृत किया करते हैं कि वह कभी शान्ति का अनुभव ही नहीं करता। परन्तु अशान्त चित्त से निर्वाण का लाभ असम्भव है इसीलिये विषय से चित्त को हटाकर निर्वाण की ओर अग्रसर करने के लिये बौद्ध ग्रन्थों में अनेक व्यावहारिक योग-शिक्षायें दी गई हैं। इनका लक्ष्य है निर्वाण की उपलब्धि जो चरम शान्ति का द्योतक है।

बुद्धधर्म में समाधि

बुद्धघोष ने समाधि की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'समाधानत्थेन समाधि, एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधारं थपणं ति वुत्तं होति'[१]--अर्थात् समाधि का अर्थ है एकाग्रता। एक आलम्बन के ऊपर मन को तथा मानसिक व्यापारों को समान रूप से तथा सम्यक् रूप से लगाना 'समाधि' है। समाधि के

१. विसुद्धि—पृ० ८४ (बं० सं०)।

अनेक प्रभेदों का वर्णन बुद्धघोष ने किया है जिनमें से कतिपय ये हैं।—(१) उपचार समाधि—किसी वस्तु के ऊपर चित्त को लगाने से ठीक पूर्व क्षण में विद्यमान मानसिक दशा का नाम उपचार समाधि है (२) अप्पना (अर्पणा) समाधि—वस्तु के ऊपर चित्त को स्थिर कर देना। प्रीति-सहगत, सुख-सहगत तथा उपेक्षा-सहगत समाधियाँ (आनन्द, सुख तथा क्षोभ से विरहित मानसिक अवस्था से युक्त समाधियाँ)।

ध्यानयोग का वर्णन पाँच भागों में किया गया है—गुरु, शिष्य, योगान्तराय, समाधिविषय तथा योगभूमि—जिनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है।

योगान्तराय (पलिबोध)

योगमार्ग में अनेक अन्तराय विद्यमान रहते हैं जो दुर्बल चित्तवाले व्यक्तियों को प्रभावित कर समाधिमार्ग से दूर हटाते हैं। बुद्धघोष ने इन सब अन्तरायों का निर्देश एकत्र एक गाथा में किया है। इन अन्तरायों की संज्ञा है--पलिबोध जो बोध, के प्रतिबन्धक होने से संस्कृत 'परिबोध' का पाली रूप प्रतीत होता है।

आवासो[1] च कुलं लाभो गणो कम्मं च पंचमं।
अद्धानं ञाति आबाधो गन्धो इद्धीति ते दसा ति॥

ये प्रतिबन्धक निम्नलिखित दस हैं--

(१) आवास--मठ या मकान बनवाना। जो भिक्षु मठ के बनवाने में व्यस्त रहता है, उसका चित्त समाधिमार्ग पर नहीं जाता।

(२) कुल—अपने शिष्य के सम्बन्धियों के ऊपर विचार करने से मन इधर-उधर व्यस्त रहता है। समाधि के लिए अवसर नहीं मिलता।

(३) लाभ—धन या वस्त्र की प्राप्ति। धन या वस्त्र के लोभ ने अनेक भिक्षुओं के चित्त को संसार का रसिक बना दिया है।

(४) गण—अनेक भिक्षुओं को सुत्त या अभिधम्म को अपने शिष्यों को पढ़ाने से ही अवकाश नहीं मिलता कि वे अपना समय समाधि में लगावें।

(५) कम्म—मकानों का बनवाना या मरम्मत कराना। इनमें व्यस्त रहने से भिक्षु को मजदूरों की हाजिरी तथा मजदूरी रोज-रोज जोड़ने से समाधि के लिए फुरसत नहीं मिलती।

---

१. विसुद्धिमग्ग पृ० ६१।

(६) अद्धानं--रास्ता चलना। कभी-कभी भिक्षु को उपसम्पदा देने या किसी आवश्यक वस्तु के लेने के लिए दूर तक जाना पड़ता है। रास्ता चलना समाधि के लिए विघ्न है।

(७) ञाति--ज्ञाति, अपने सगे-सम्बन्धी या गुरु अथवा अपना चेला जिसकी बीमारी चित्त को योग से हटाती है।

(८) आबाध--अपनी बीमारी, जिसके लिए दवा लाना, तैयार करना तथा खाना पड़ता है।

(९) गन्ध = (ग्रन्थ का अभ्यास) बौद्ध ग्रन्थों के पढ़ने में कितने ही भिक्षु इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें योग करने के लिए अवकाश नहीं मिलता। ग्रन्थ का अभ्यास बुरा नहीं है परन्तु उसे समाधि का साधक होना चाहिए। बाधक होते ही वह अन्तराय बन जाता है।

(१०) इद्धि = अलौकिक शक्तियाँ तथा सिद्धियाँ। समाधिमार्ग पर अग्रसर होने से साधक को अनेक सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त होती हैं। ये भी विघ्नरूप हैं, क्योंकि इनके आकर्षण में कतिपय साधकों का मन इतना अधिक लगता है कि वे विपश्यना (ज्ञान) की प्राप्ति की उपेक्षा कर बैठते हैं। पृथग्जनों की दृष्टि में सिद्धियाँ भले ही लोभनीय प्रतीत होती हों, परन्तु आर्यजन की दृष्टि में वे नितान्त व्याघातक हैं अतएव हेय हैं[1]।

इनके अतिरिक्त शारीरिक शुद्धि, पात्र, चीवर का साफ रखना आवश्यक है। इनके स्वच्छ न रहने से चित्त कलुषित रहता है और समाधि में नहीं लगता।

(ख) कर्मस्थान (कम्मट्ठान)

'कर्म-स्थान' से अभिप्राय ध्यान के विषयों से है। बुद्धघोष ने चालिस कम्मट्ठानों का विस्तृत वर्णन किया है, जिन पर साधक को अपना चित्त लगाना चाहिए, परन्तु इनकी संख्या अधिक भी हो सकती है। यह कल्याणमित्र की बुद्धि पर निर्भर रहता है कि वह अपने शिष्य की चित्तवृत्ति के अनुसार उचित कर्मस्थान की व्यवस्था करे।

चालीस कर्मस्थानों की सूची—

दस कसिण (कृत्स्न), दस असुभ (अशुभ), दस अनुस्सति (अनुस्मृति), चार ब्रह्मविहार, चार आरुप्प, एक संज्ञा, एक ववट्ठाण।

---

१. इन पलिबोधों के विस्तार के लिए द्रष्टव्य-विसुद्धिमग्ग पृ० ६१-६६

कर्मस्थान (१—१०)—

ध्यान के विषय तो अनन्त हो सकते हैं, परन्तु विसुद्धिमग्ग में ऊपर निर्दिष्ट चालीस विषयों को ही अधिक उपयोगी तथा अनुरूप माना गया है। 'कसिण' शब्द संस्कृत 'कृत्स्न' से निष्पन्न हुआ है। ये विषय समग्र चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इनकी ओर लगने से चित्त का सम्पूर्ण अंश (कृत्स्न) विषयाकाराकारित हो जाता है। इसी हेतु इन्हें 'कसिण' संज्ञा प्राप्त है। इनकी संख्या दस है[1]—पृथ्वी कृत्स्न (पठवी कसिण), जल, तेज, वायु, नील, लोहित, पीत, अवदात (ओदात, सफेद), आलोक तथा परिच्छिन्नाकाश। इन विषयों पर चित्त-समाधान के निमित्त अनेक उपयोगी व्यावहारिक बातों का वर्णन किया गया है।

(१) **'पठवी कसिण'** के लिए मिट्टी के बने किसी पात्र को चुनना चाहिए। वह रंग-विरंगा न होना चाहिए, नहीं तो चित्त पृथ्वी से हटकर उसके लक्षण की ओर आकृष्ट हो जाता है। एकान्त स्थान में चित्त को उस पात्र पर लगाना चाहिए। साथ ही साथ पृथ्वी तथा उसके वाचक शब्दों का धीरे-धीरे उच्चारण करते रहना चाहिए। इस प्रक्रिया के अभ्यास से नेत्र बन्द कर देने पर उसी वस्तु की मूर्ति भीतर झलकने लगती है। इसका नाम है—उग्गहनिमित्त का उदय। साधक उस एकान्त स्थान से हटकर अपने निवास स्थान पर जा सकता है परन्तु उसे इस निमित्त पर ध्यान सतत लगाते रहना चाहिए। इससे उसके निवारण (पांचों बन्धन) तथा क्लेशों का नाश हो जाता है। समाधि के इस उद्योग (उपचार समाधि) से चित्त एकत्र स्थित होता है और इस दशा में वह वस्तु चित्त में पूर्व की अपेक्षा अत्यधिक स्पष्ट तथा उज्ज्वल रूप से दृष्टिगत होने लगती है। इसे 'पटिभाग निमित्त' का जन्मना कहते हैं। अब चित्त ध्यान की भूमियों में धीरे-धीरे आरोहण करता है। (२) **'आपो कसिण**[2]**'** में समुद्र, तालाब, नदी या वर्षा का जल ध्यान का विषय होता है। (३) **'तेजाकसिण'** में दीपक की टेम (लौ) चूल्हे में जलती हुई आग या दावानल ध्यान के विषय माने जाते हैं। (४) **'वायु कसिण'** में बास के सिरे, ऊख के सिरे या बाल के सिरे को हिलाने वाली वायु पर ध्यान देना होता है। (५) **'नील कसिण'** में

---

१. विसुद्धिमग्ग पृ० ८०-११४

२. विसुद्धिमग्ग परिच्छेद ५ पृ० ११४-११९

नील पुष्पों से ढके हुए किसी पात्र-विशेष (जैसे टोकरी आदि) पर ध्यान लगाना होता है। उस टोकरी को कपड़े से इस प्रकार ढक देना चाहिए जिससे वह ढोल की शक्ल की मालूम पड़ने लगे। तब उसके चारों ओर विभिन्न रंग की चीजे रख देनी चाहिए। साधक को इन नाना रंगों से चित्त को हटाकर केवल नील रंग पर ही लगाना चाहिए। यह 'नील कसिण' की प्रक्रिया है। (६) **पीत कसिण** (७) **लोहित कसिण** तथा (८) **आदात कसिण** (अवदात) में पीले, लाल तथा उजलें रंग की चीजें होनी चाहिए। प्रक्रिया पूर्ववत् होती है। (९) **'आलोक कसिण'** में प्रकाश के ऊपर ध्यान लगाना होता है (जैसे दीवाल के किसी छिद्र से या वृक्षों के पत्तों के छेद से होकर आने वाले चन्द्र किरण या सूर्य किरण) (१०) **'परिच्छिन्नाकाश कसिण'** में परिच्छिन्न आकाश (जैसे दीवाल या खिड़की का बड़ा छेद) ध्यान का विषय होता है। भिन्न-भिन्न कसिणों में ऊपर लिखित विषयों पर ध्यान लगाना चाहिए। उन शब्दों का उच्चारण करते रहना चाहिए। तब उनके ऊपर चित्त समाहित होता है। 'पृथ्वी कसिण' के अनुसार प्रक्रिया सर्वत्र समझनी चाहिए।

दस अशुभ—(११-२०)

अशुभ[1] कर्मस्थान में मृतक शरीर को ध्यान का विषय नियत किया गया है। बुद्धधर्म में मृतक शरीर के ध्यान से जगत् की अनित्यता की शिक्षा लेने पर विशेष जोर दिया गया है। जब इस अभिराम शरीर का चरम अवसान यह कुरूप मृतक शरीर है, तब चित्त में अभिमान के लिए स्थान कहाँ? सौन्दर्य की भावना से अपने चित्त को गर्वोन्नत करने की आवश्यकता ही कौन सी है? मृतक शरीर की दस अवस्थायें हैं जिन्हें ध्येय मानने से अशुभ कर्म-स्थान दश प्रकार का होता है—(११) **उद्धुमातकम्**—फूला हुआ शव, (१२) **विनीलकम्**—जब शव का रंग नीला पड़ जाता है, (१३) **विपुब्बकम्**—पीब से भरा शव (१४) **विच्छिद्दकम्**—अंग-भंग से युक्त शव (जैसे चोरों का मृतक शरीर) (१५) **विक्खायितकम्**—कुत्ते या सियारों से छिन्न-भिन्न शव), (१६) **विक्खित्तम्**—बिखरे हुए अंग वाला शव ; (१७) **हतविक्खित्तम्**—कुछ नष्ट और कुछ छिन्न-भिन्न अंगवाला शव, (१८) **लोहितकम्**—खून से इधर-उधर ढका

१. द्रष्टव्य विसुद्धिमग्ग पृ० ११९-२८।

हुआ शव; **(१६) पुलुवकम्**—कीड़ों से भरा हुआ शव; **(२०) अट्ठिकम्**—शव की ठठरी।

बुद्धघोष ने शव के स्थान, आदि के विषय में भी अनेक नियम बताये हैं। इन विषयों पर ध्यान देने से वह वस्तु चित्त में स्फुरित होती है (पटिभाग) क्लेशों तथा नीवरणों का नाश होता है। चित्त समाहित होता है।

दस अनुस्मृति

अनुस्मृति[1] **(२१—३०)**—

अब तक वर्णित कर्मस्थान वस्तुरूप हैं जिनकी बाह्य सत्ता विद्यमान है। अनुस्मृतियों में ध्येय विषय कल्पनामात्र है, बाह्य वस्तु रूप नहीं। वस्तु की प्रतीति या कल्पना पर चित्त लगाने से समाधि की अवस्था उत्पन्न होती है।

२१ बुद्धानुस्सति, (२२) धम्मानुस्सति, (२३) संघानुस्सति, (२४) सीलानुस्सति, (२५) चागानुस्सति, (२६) देवतानुस्सति। इन अनुस्मृतियों में क्रमशः बुद्ध, धर्म, संघ के गुणों पर और शील त्याग तथा देवता (देवलोक में जन्म लेने के उपाय) की भावना पर चित्त लगाना होता है।

(२७) मरणसति—शव को देखकर मरण की भावना पर चित्त को लगाना, जिससे चित्त में जगत् की अनित्यता का भाव उत्पन्न हो जाता है।

(२८) कायगता-सति—(कायगतानुस्मृति) साधक को शरीर के नाना प्रकार के मल से मिश्रित अङ्ग-प्रत्यङ्गों की भावना पर चित्त लगाना चाहिए। मानव शरीर क्या है? अनेक प्रकार के मल-मूत्रादि का सङ्घातमात्र तो ही है। यही भावना इस कर्मस्थान का विषय है।

(२९) आनापानानुसति—(प्राणायाम)—इस अनुस्मृति का वर्णन दीघ-निकाय में 'अनुसति' के नाम से विशेष रूप से मिलता है। एकान्त स्थान में बैठकर आश्वास और प्रश्वास पर ध्यान देना चाहिये। आश्वास नाभि से आरम्भ होता है, हृदय से होकर जाता है तथा नासिकाग्र से वह बाहर निकलता है। इस प्रकार उसका आदि, मध्य तथा अन्त तीनों है। आश्वास तथा प्रश्वास के नियमतः करने से चित्त में शान्ति का उदय होता है। बुद्धघोष ने प्राणायाम के विषय में अनेक ज्ञातव्य विषयों का निर्देश किया है।

---

१. विसुद्धि-मग्ग, परिच्छेद ७-८ पृ० १३३-२००।

(३०) उपसमानुस्सति—अर्थात् उपशम रूप निर्वाण पर ध्यान ।

चार ब्रह्मविहार—

चार ब्रह्मविहारों[1] के नाम हैं **मेत्ता** (मैत्री), **करुणा**, **मुदिता** तथा **उपेक्खा** (उपेक्षा)। इनकी 'ब्रह्मविहार' संज्ञा सार्थक है क्योंकि इन भावनाओं का फल ब्रह्मलोक में जन्म लेना तथा उस लोक की आनन्दमय वस्तुओं का उपभोग करना है। महर्षि पतञ्जलि ने इन चारों भावनाओं के अभ्यास से चित्त की एकाग्रता को उत्पन्न होना बतलाया है। इष्टजन में मैत्री, दुःखितों में करुणा, पुण्यात्मा व्यक्तियों में मुदिता तथा अपुण्यात्माओं में उपेक्षा का भाव रखना चाहिए। बुद्धधर्म में भी इन भावनाओं पर चित्त को समाहित करने का उपदेश है। **(३१) मेत्ता भावना** प्रथमतः अपने ही ऊपर करनी चाहिए। अपने कल्याण की भावना पहले रखनी चाहिए, अनन्तर अपने गुरु तथा अन्य सम्बन्धियों की। पीछे अपने शत्रुओं के ऊपर भी मैत्री की भावना करनी चाहिये। स्व और पर का सीमाविभेद करना नितान्त आवश्यक होता है। इसी तरह दुःखित व्यक्तियों पर **(३२) करुणा**, पुण्यात्माओं पर **(३३) मुदिता** तथा अपुण्यात्माओं पर **(३४) उपेक्खा** की भावना करनी चाहिए।

चार आरूप्य[2]—अब तक वर्णित कर्मस्थान कामधातु से रूपधातु में ले जाते हैं। उसके आगे के लोक 'अरूप लोक' में जाने के लिए इन चार आरूप्य कर्मस्थान आवश्यक होते हैं :—

(३५) आकासानञ्चायतन—(= अनन्त आकाशायतन) कसिण में केवल परिच्छिन्न आकाश पर ध्यान देने का विधान है, पर इस नवीन कर्मस्थान में अनन्त आकाश पर चित्त लगाना चाहिये। इससे पञ्चम ध्यान का उदय होता है।

(३६) विञ्ञाणञ्चायतन (= अनन्त विज्ञानायतन) पूर्व कर्मस्थान में देश की भावना बनी रहती है। अनन्त आकाश की कल्पना के साथ कुछ न कुछ दैशिक सम्बन्ध बना रहता है। अब साधक को आकाश के विज्ञान के ऊपर चित्त समाहित करना आवश्यक है। इससे षष्ठ ध्यान का उदय होता है।

---

१. विसुद्धिमग्ग परिच्छेद ९ पृ० २००–२२१।

२. विसुद्धिमग्ग परिच्छेद १० पृ० २२२।२३४

(३७) **आकिञ्चन्यायतन** (= नास्ति किञ्चन + आयतन) विज्ञान को भी चित्त से दूर कर देना चाहिए, केवल विज्ञान के अभाव पर ही ध्यान देना आवश्यक है, जिससे विज्ञान की शून्य भावना जागरित होती है। इससे सप्तम ध्यान का उदय होता है।

(३८) **नेवसञ्ञानासञ्ञायतन** (= नैव संज्ञा + न असंज्ञा + आयतन) पूर्व ध्यान में चार स्कन्धों के ज्ञान (संज्ञा) से साधक मुक्त हो जाता है परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म संस्कारों का ज्ञान अभी तक बना ही रहता है। वह साधारण वस्तुओं को नहीं जान सकता, परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान से विरहित नहीं होता। अभाव से भी बढ़कर बलवती कल्पना 'संज्ञा' हैं। आकिञ्चन्यायतन को अतिक्रमण कर साधक आरुप्प कर्मस्थानों में अन्तिम कर्म स्थान को प्राप्त करता है।

उस आयतन के स्वरूप को बुद्धघोष ने दो उपमाओं के सहारे बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है[१]। (१) किसी समाणेर ने एक वर्तन को तेल से चुपड़ रखा था। यवागू के पीने के समय स्थविर (गुरु) ने उस वर्तन को माँगा। सामनेर ने कहा—भन्ते, बर्तन में तेल है। गुरु ने कहा—तेल लाओ, उसे मैं बाँस की बनी नली में उड़ेल दूँगा। शिष्य ने कहा—इतना तेल नहीं है कि बाँस की नली में उड़ेल कर रखा जाय। तेल यवागू को दूषित करने में समर्थ है, अतः उसकी सत्ता है। परन्तु नली के भरने में असमर्थ होने से वह नहीं है। इसी प्रकार संज्ञा (ज्ञान) संज्ञा के पटुकार्य करने में असमर्थ है। अतः वह संज्ञा नहीं है। परन्तु वह सूक्ष्मरूप से, संस्कार रूप से विद्यमान है, अतः वह 'असंज्ञा' भी नहीं है (२) कोई गुरु कहीं जा रहा था। शिष्य ने कहा—रास्ते में थोड़ा जल दीखता है। जूता निकाल लीजिये। गुरु ने कहा—यदि जल है, तो मेरी धोती (स्नानशाटिका) निकालो स्नान कर लूँ। शिष्य ने कहा—भन्ते, नहाने के लिए नहीं है। यहाँ जल जूते को भिगा देने मात्र के लिए है। परन्तु स्नानकार्य के लिए जल नहीं है। इसी तरह संज्ञा संज्ञाकार्य में असमर्थ है, परन्तु संस्कार के शेष होने से वह सूक्ष्मरूप से वर्तमान है, अतः वह 'असंज्ञा' नहीं है। इस विचित्र नामकरण का यही रहस्य है।'

अन्तिम दो कर्मस्थान हैं—(१) आहारे पटिकूल-संज्ञा ; (२) चतुर्धातु बव-त्थानस्स भावना।

---

१. द्रष्टव्य—विसुद्धिमग्ग १०।५१,५४; पृ० २३०।

(३९) **संज्ञा**[1]—आहारे प्रतिकूलसंज्ञा अर्थात् भोजन से घृणा। भोजन से सम्बद्ध बुराइयों पर ध्यान देना चाहिए। भोजन के लिए दूर दूर जाना, भोजन के न पचने से अनेक बुराइयाँ आदि बातों पर ध्यान देने से साधक का चित्त प्रथमतः भोजन की तृष्णासे निवृत्त होता है और पीछे सब प्रकार की तृष्णा से।

(४०) ववत्थान[2]—चतुर्धातुव्यवस्थान भावना अर्थात् शरीर के चारों धातुओं का निश्चय करना। शरीर चारों महाभूतों से बना हुआ है। इन भूतों के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि यह नाना कामनाओं का केन्द्रभूत सुन्दर शरीर अचेतन (भौतिक), अव्याकृत (अवर्णनीय), शून्य (स्वरूपहीन), तथा निःसत्त्व (सत्ताहीन) है। 'सर्वं शून्यम्' की उत्कट भावना के लिए इस व्यवस्थान का नितान्त उपयोग है। यह शरीर शून्य है तथा तत्समान जगत् के समस्त पदार्थ भी शून्य हैं।

समाधि को सीखने के लिये भिक्षु को प्रथमतः योग्य गुरु (कल्याण मित्र) को खोज निकालना नितान्त आवश्यक है[3]। कल्याणमित्र वह होना चाहिये जिसने स्वयं उच्चतम ध्यान का अभ्यास कर लिया हो, संसार के तत्त्वों के प्रति जिसकी आन्तरिक दृष्टि जागृत हो और जिसने समस्त मलों (आस्रवों) को दूर कर अर्हत् पद को प्राप्त कर लिया हो। यदि ऐसा अर्हत् न मिले तब उसे क्रम से निम्नलिखित प्रकार के योग्य गुरुओं को प्राप्त करना चाहिये—अनागामी, सकृदागामी, स्रोतापन्न, ध्यानाभ्यासी, पृथक् जन, त्रिपिटकों के ज्ञाता, अट्ठकथा के साथ एक भी निकाय का ज्ञाता तथा चित्त को वश में रखने वाला कोई भी पुरुष (लज्जी)।

गुरु

---

१. विसुद्धि मग्ग पृ० २३४–२३८।

२. वही पृ० २३८–२५६।

३. कल्याणमित्र के गुणों का वर्णन करते समय बुद्धघोष ने इस गाथा को उद्धृत किया है।

'पियो गुरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खमो।
गम्भीरञ्च कथं कत्ता, नो चट्ठाने नियोजये॥'

(अङ्गुत्तर निकाय ४।३२; वि० म० पृ० ९९)

साधक[1] को अपने कल्याणमित्र का परम भक्त और आज्ञाकारी होना चाहिए। अपने योगाभ्यास के लिए अनुरूप विहार पसन्द करना चाहिए जिसमें साधक को अपने गुरु के साथ निवास करना चाहिए। इसके अभाव में अन्य उचित स्थान की व्यवस्था की गई है। साधक भिक्षु के लिए अनुरूप समय मध्याह्न भोजन के उपरान्त का समय है। साधक की मानसिक प्रवृत्तियों पर बड़ा जोर दिया गया है। मानस प्रवृत्ति के अनुरूप ही कल्याणमित्र को अपने शिष्य के लिए कर्मस्थान की व्यवस्था करनी चाहिए। मानस प्रवृत्तियाँ नाना प्रकार की हैं, परन्तु बुद्धघोष ने छः प्रवृत्तियों को प्रधानता दी है—राग, द्वेष, मोह, श्रद्धा, बुद्धि और वितर्क। इन प्रवृत्तियों का पता साधक के भ्रमण (इरियापथ), क्रिया (किच्चा), भोजन, आदिसे भली भाँति लगाया जा सकता है। बुद्धघोष ने शिष्य की प्रवृत्ति के अनुसार उसके लिए कर्मस्थानों का इस प्रकार निर्देश किया है—

राग चरित के लिए—दस अशुभ तथा कायगता सति।
द्वेष चरित—चार ब्रह्मविहार तथा चार वर्ण (वर्ण कसिण)
मोह और वितर्क—आनापान सति (प्राणायाम)
श्रद्धा चरित—६ प्रकार की पहली अनुस्मृतियाँ
बुद्धि चरित—मरणसति, उपसमानुस्सति, चतुर्धातुववट्ठान तथा आहारे पटिकूल संञ्ञा।

यह शिक्षा व्यावहारिक दृष्टि से बड़ी उपादेय है। इस प्रकार बुद्धमत की योगप्रक्रिया में चित्तानुसन्धान के विषयों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

(ग) समाधि की भूमियां

(१) उपचार—

ध्यानयोग की प्राप्ति एक दिन के क्षणिक प्रयास का फल नहीं है; अपि तु वह अनेक वर्षों के तीव्र अध्यवसाय का मंगलमय परिणाम है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुरूप किसी भी निमित्त (वस्तु) को पसन्द कर चित्त के लगाने का प्रयत्न प्रथमतः साधक को करना पड़ता है। इसकी संज्ञा है 'परिकर्म भावना' चित्त के अनुसन्धान से वही वस्तु चित्त में प्रतिविम्बित होने लगती है—जिसका

---

१. साधक की पहचान तथा चर्या के विस्तारपूर्वक विवेचन के लिये देखिये। (वि० म० पृ० ६७–७९)

नाम है उग्गहनिमित्त का उदय। वस्तु के साथ उसके लक्षण (जैसे रङ्ग, आकृति आदि) भी अनुस्यूत रहते हैं। अतः वस्तु को उसके लक्षण से पृथक् करना पड़ता है—इसी को कहते हैं उपचार—भावना। इस उद्योग से वह वस्तु उसी प्रकार नेत्रों के सामने भीतर स्फुटित होने लगती है, जिस प्रकार वह बाहर भासित होती है। इसकी सञ्ज्ञा है पटिभागनिमित्त का जन्म। परन्तु अभी तक चित्त में वस्तु की स्थिरता नहीं आती। इस दशा में चित्त उस बालक के समान होता है जो अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता। उद्योग करता है, पर गिर पड़ता है[१]।

(२) अप्पना—

इस भूमि में चित्त में दृढ़ता आती है। जिस प्रकार युवक अपने पैरों पर दृढ़ता से खड़ा हो सकता है, उसी प्रकार इस दशा में चित्त वस्तु का अनुसन्धान दृढ़ता से करता है। 'अप्पना' शब्द 'अर्पणा' का पाली प्रतिनिधि है। 'अर्पणा' का अर्थ है अपने को अर्पित कर देना, चित्त अपने को विषय के लिए अर्पित कर देता है। वह विषय को पूरे दिन या रातभर एकाकार से ग्रहण करता है। परन्तु साधक को अपने अनुष्ठान में न तो अधिक उत्साह दिखलाना चाहिए और न अधिक आलस्य रखना चाहिए। इस अवस्था में चित्त की अवधानता विशेषरूप से प्राप्त होती है।

हीनयानी ग्रन्थों में समाधि के प्रसङ्ग में चार प्रकार के ध्यानों का वर्णन उपलब्ध होता है। दीघनिकाय के अनेक सुत्तों में (जैसे सामञ्ञफल सुत्त) तथागत ने चारों ध्यानों के स्वरूप का विशद विवेचन किया है। इसी का आश्रय लेकर बुद्धघोष ने विशुद्धिमार्ग में इस विषय का पूरा ऊहापोह किया है[२]। प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता—इन पाँच चित्तवृत्तियों की प्रधानता रहती है। द्वितीय ध्यान में वितर्क तथा विचार का सर्वथा परित्याग कर देने पर प्रीति, सुख तथा एकाग्रता की प्रधानता रहती है। तृतीय ध्यान में प्रीति का भाव नहीं रहता, केवल सुख तथा एकाग्रता का राज्य बना रहता है। चतुर्थ ध्यान में सुख की भावना को हटाकर उपेक्षा तथा एकाग्रता का ही प्राधान्य रहता

१. विसुद्धिमग्ग परिच्छेद ११ पृ० २३४—२५७।

२. द्रष्टव्य विसुद्धिमग्ग पृ० १००—११२।

है। इस प्रकार इन ध्यानों में साधक स्थूलता तथा बहिरङ्गता से आरम्भ कर सूक्ष्मता तथा अन्तरङ्गता में प्रविष्ट हो जाता है।

समाधि के विषय में चित्त का प्रथम प्रवेश वितर्क कहलाता है तथा उस विषय में चित्त का अनुमज्जन करना 'विचार' है। इससे चित्त में जो आनन्द उत्पन्न होता है इसे 'प्रीति' कहते हैं। मानस आह्लाद के अनन्तर शरीर में एक प्रकार के समाधान या शान्ति का भाव उदय लेता है इसकी संज्ञा 'सुख' है। विषय में चित्त का बिल्कुल समाहित हो जाना जिससे वह किसी अन्य विषय की ओर भटक कर भी न जाय 'एकाग्रता' कहलाता है। इन्हीं पाँचों के उदय और ह्रास के कारण ध्यान के चार प्रभेद बुद्धधर्म में स्वीकृत किये गये हैं।

वितर्क तथा विचार का भेद स्पष्ट है। चित्त को किसी विषय में समाहित करने के समय उस विषय में चित्त का जो प्रथम प्रवेश होता है, वह तो **'वितर्क'** हुआ। परन्तु आगे बढ़ने पर उस विषय में चित्त का निमग्न होना 'विचार' शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है। बुद्धघोष ने इनके भेद को दो रोचक उदाहरणों के सहारे समझाया है। आकाश में उड़ने से पहले पक्षी अपने पंखों का समतोलन करता है और कई क्षणों तक अपने पंखों के सहारे आकाश में स्थित रहता है। इसकी समता 'वितर्क' से दी गई है। अनन्तर वह अपने पंखों को हिलाकर, उनमें गति पैदा कर, आकाश में उड़ने लगता है। यह क्रिया **'विचार'** का प्रतीक है। अथवा किसी गन्दे पात्र को एक हाथ से पकड़ने तथा उसे दूसरे हाथ से साफ सुथरा करने की क्रियाओं में जो अन्तर है वही अन्तर वितर्क तथा विचारों में है। इसी प्रकार प्रीति तथा सुख की भावना में भी स्फुटतर पार्थक्य है। चित्तसमाधान से जो मानसिक आह्लाद उत्पन्न होता है उसे 'प्रीति' कहते हैं। अनन्तर इस भाव का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। शरीर की व्युत्थित दशा की बेचैनी जाती रहती है। अब पूरे शरीर के ऊपर स्थिरता तथा शान्ति के भाव का उदय होता है, इसे ही 'सुख' कहते हैं। प्रीति मानसिक आनन्द है और सुख शारीरिक समाधान या स्थिरता। इसके अनन्तर चित्त विषय के साथ अपना सामञ्जस्य स्थापित कर लेता है इसे ही 'एकाग्रता' कहते हैं। इन पाँचों की प्रधानता

प्रथमध्यान रहने पर प्रथम ध्यान उत्पन्न होता है। इसके स्वरूप बतलाते समय तथागत ने कहा है—जिस प्रकार नाई या उसका शिष्य

कांसे के थाल में स्नानचूर्ण को डालकर थोड़ा जल से सीचे जिससे वह स्नानचूर्ण की पिण्डी तेल से अनुगत, भीतर-बाहर तेल से व्याप्त हो जाय, किन्तु तेल न चुवे। उसी प्रकार प्रथम ध्यान में साधक अपने शरीर को विवेक से उत्पन्न प्रीति-सुख से भिगोता है, चारों ओर व्याप्त करता है जिससे उसके शरीर का कोई भी भाग इस प्रीति-सुख से अव्याप्त नहीं रहता।

द्वितीय ध्यान में वितर्क तथा विचार का अभाव रहता है। इस समय श्रद्धा की प्रबलता रहती है। प्रीति, सुख तथा एकाग्रता के भाव की प्रधानता रहती है।

द्वितीय-ध्यान

इस ध्यान की उपमा उस गम्भीर तथा भीतर में पानी के सोते वाले जलाशय से दी गई है जिसमें किसी भी दिशा से पानी आने का रास्ता नहीं है, वर्षा की धारा भी उसमें नहीं गिरती है प्रत्युत उसे भीतर की जलधारा फूटकर शीतल जल से भर देती है। इस प्रकार भीतरी प्रसाद तथा चित्त की एकाग्रता के कारण समाधिजन्य प्रीति-सुख साधक के शरीर को भीतर से ही आप्यायित कर देता है।

तृतीयध्यान

तृतीयध्यान में केवल सुख और एकाग्रता की ही प्रधानता बनी रहती है। इस ध्यान में तीन मानस-वृत्तियाँ लक्षित होती है—(१) उपेक्षा—न तो प्रीति से ही चित्त में कोई विक्षेप उत्पन्न होता है और न विराग से। चित्त इन भावों की उपेक्षा कर समता का अनुभव करता है। (२) स्मृति—उसे द्वितीय ध्यान के समय होने वाली वृत्तियों की स्मृति बनी रहती है। (३) सुखविहारी—साधक के चित्त में सुख की भावना विक्षेप नहीं उत्पन्न करती। ध्यान से उसके शरीर में विचित्र शान्ति तथा समाधान का उदय होता है। इस ध्यान की समता के लिए पद्मसमुदाय का दृष्टान्त दिया जाता है। जिस प्रकार कमल-समुदाय में कोई कोई नीलकमल, रक्तकमल या श्वेत कमल जल में उत्पन्न होकर जल में ही बढ़े जिससे उसका समस्त शरीर शीतल जल से व्याप्त हो जाय, उसी प्रकार तृतीय ध्यान में भिक्षु का शरीर प्रीति-सुख से व्याप्त रहता है।

चतुर्थध्यान में शारीरिक सुख या दुःख का सर्वथा त्याग, मानसिक सुख या दुःख का प्रहाण, राग-द्वेष से विरह, उपेक्षा द्वारा स्मृतिपरिशुद्धि—इन चार विशेष-

चतुर्थध्यान ताओं का जन्म होता है। यह ध्यान पूर्व तीन ध्यानों का परिणाम रूप है। इस ध्यान में साधक अपने शरीर को शुद्धचित्त से निर्मल बनाकर बैठता है। जिस प्रकार उजले कपड़े से शिर तक ढाँक कर बैठने वाले पुरुष के शरीर का कोई भी भाग उजले कपड़े से बे-ढका नहीं रहता, उसी प्रकार साधक के शरीर का कोई भी भाग शुद्धचित्त से अव्याप्त नहीं रहता। ध्यान की यही पराकाष्ठा मानी गई है[1]। आरूप्य कर्मस्थानों के अभ्यास से इनसे बढ़कर अन्य चार ध्यानों का जन्म होता है जिन्हें **'समापत्तिः'** कहते हैं[2]।

---

१. इन दृष्टान्तों के लिए द्रष्टव्य–सामञ्जफलसुत्त (दीघनिकाय पृ० २८–२६)

२. किसी-किसी के मत में ध्यानों की संज्ञा पाँच है। इस पक्ष में द्वितीयध्यान को दो भागों में बाँटकर पाँच की संख्या-पूर्ति की जाती है। 'इति यं चतुक्कनये दुतियं, तं द्विधा भिन्दित्वा पंचकनये दुतियन्येव ततियञ्च होति। यानि च तत्थ ततियचतुत्थानि तानि चतुत्थपञ्चमानि होन्ति पठमं पठममेवाति ॥'

—विसुद्धिमग्ग पृ० ११२, सं० २०२।

बाइसवाँ परिच्छेद

बुद्धतन्त्र

(क) तन्त्र का सामान्य परिचय

मानव सभ्यता के उदय के साथ-साथ मन्त्र-तन्त्र का उदय होता है। अतः उनकी प्राचीनता उतनी ही अधिक है जितनी मानव संस्कृति की। इस विशाल विश्व में जगन्नियन्ता की अद्भुत शक्तियाँ क्रियाशील हैं। भिन्न-भिन्न देवता उसी शक्ति के प्रतीकमात्र हैं। जगद्व्यापार में इन शक्तियों का उपयोग नाना प्रकार से है। इन्हीं देवताओं की अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए मन्त्र का उपयोग है। जिस फल की उपलब्धि के लिए मनुष्य को अश्रान्त परिश्रम करना पड़ता है, वही फल दैवी कृपा से अल्प प्रयास में ही सुलभ हो जाता है। मनुष्य सदा से ही सिद्धि पाने के लिए किसी सरल मार्ग की खोज में लगा रहता है। उसे विश्वास है कि कुछ ऐसे सरल उपाय हैं जिनकी सहायता से दैवी शक्तियों को अपने वश में रखकर अपना भौतिक कल्याण तथा पारलौकिक सुख सम्पादन किया जा सकता है। मन्त्र-तन्त्रों का प्रयोग ऐसा ही सरल मार्ग है। यह बात केवल भारतवर्ष के लिए चरितार्थ नहीं होती, प्रत्युत अन्य देशों में भी प्राचीनकाल में इस विषय की पर्याप्त चर्चा थी। भारत में तन्त्र के अध्ययन और अध्यापन की ओर प्राचीनकाल से विद्वानों की दृष्टि आकृष्ट रही है। यह विषय नितान्त रहस्यपूर्ण है। तन्त्र-मन्त्र की शिक्षा योग्य गुरु के द्वारा उपयुक्त शिष्य को दी जा सकती है। इसके गुप्त रखने का प्रधान उद्देश्य यही है कि सर्वसाधारण जो इसके रहस्य से अनभिज्ञ हों इसका प्रयोग न करें, अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि होने की ही अधिक सम्भावना है।

तान्त्रिक साधना नितान्त रहस्यपूर्ण है। अनधिकारी को इसका रहस्य नहीं बतलाया जा सकता। यही कारण है कि शिक्षित लोगों में भी तन्त्र के विषय में अनेक धारणायें फैली हुई हैं। तन्त्रों की उदात्त भावनायें तथा विशुद्ध आचारपद्धति के अज्ञान का ही यह कुत्सित परिणाम है।

'तन्त्र' शब्द का अर्थ

तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति तन् धातु (विस्तार) तनु-विस्तारे—से ष्ट्रन् प्रत्यय से हुई है। अतः इसका व्युत्पत्तिगम्य अर्थ है वह शास्त्र, जिसके द्वारा ज्ञान विस्तार किया जाता है[1]? शैव सिद्धान्त

---

१. तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेनेति तन्त्रम्। (काशिका)

के 'कामिक आगम' में उन शास्त्रों को तन्त्र बतलाया गया है जो तन्त्र और मन्त्र से युक्त अनेक अर्थों का विस्तार करते हों तथा उस ज्ञान के द्वारा साधकों का त्राण करते हों[1]। इस प्रकार तन्त्र का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान आदि है। इसीलिये शङ्कराचार्य ने सांख्य को तन्त्र नाम से अभिहित किया है[2]। महाभारत में भी न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदि के लिये तन्त्र का प्रयोग उपलब्ध होता है। परन्तु तन्त्र का प्रयोग सीमित अर्थ में किया गया है। देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का जिसमें चिन्तन किया गया हो, तद्विषयक मन्त्रों का उद्धार किया गया हो, उन मन्त्रों को यन्त्र में संयोजित कर देवता का ध्यान तथा उपासना के पांचो अङ्ग—पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र—व्यवस्थित रूप से दिखलाये गये हों, उन ग्रन्थों को तन्त्र कहते हैं। वाराही-तन्त्र के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन (शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण) और ध्यानयोग-इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थों को आगम[3] कहते हैं। तन्त्रों का ही दूसरा नाम आगम है। सभ्यता और संस्कृति निगमागम-मूलक है। निगम से अभिप्राय वेद से है तथा आगम का अर्थ तन्त्र है। जिस प्रकार भारतीय सभ्यता वैदिक ज्ञान को आश्रित कर प्रवृत्त होती है उसी प्रकार वह अपनी प्रतिष्ठा के लिये तन्त्रों पर भी आश्रित है।

तन्त्रों की विशेषता क्रिया है। वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट ज्ञान का क्रियात्मक रूप या विधानात्मक आचारों का वर्णन आगमों का मुख्य विषय हैं। वेद तथा तन्त्र, निगम तथा आगम के परस्पर सम्बन्ध को सुलझाना एक विषम समस्या है। तन्त्र दो प्रकार के होते हैं। (क) वेदानुकूल तथा (ख) वेदबाह्य। कतिपय तन्त्रों तथा आचारों का मूल-स्रोत वेद से ही प्रवाहित होता है। पाञ्चरात्र तथा तथा शैवागम के कतिपय

तन्त्रों के भेद

१. तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणञ्च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥ (का० आ०)

२. स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता। (ब्र० सू० २।१।१ पर शां० भा०)

३. सृष्टिश्च प्रलयश्चैव, देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां, पुरश्चरणमेव च॥
षट्-कर्मसाधनं चैव, ध्यानयोगश्चतुर्विधः। सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः॥

सिद्धान्त वेदमूलक अवश्य हैं तथापि प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें वेद-बाह्य ही माना गया है। शाक्तों के सप्तविध आचारों में से जनसाधारण केवल एक ही आचार—वामाचार—से परिचय रखता है और वह भी उसके तामसिक रूप से ही। तामसिक वामाचारियों की घृणित पूजापद्धति के कारण पूरा का पूरा शाक्तागम घृणित, हेय तथा अवैदिक ठहराया जाता है। परन्तु समीक्षकों के लिये इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं कि इन शाक्ततन्त्रों की भी महती संख्या वेदानुकूल है। तन्त्रधर्म अद्वैतवाद का साधन मार्ग है। उच्चकोटि के साधकों की साधना में अद्वैतवाद सदा अनुस्यूत रहता है। सच्चे शाक्त की यही धारणा रहती है कि मैं स्वयं देवी रूप हूं; मैं अपने इष्ट देवता से भिन्न नहीं हूँ। मैं शोकहीन साक्षात् ब्रह्मरूप हूँ; नित्य, मुक्त तथा सच्चिदानन्द रूप मैं ही हूँ:—

अहं देवी न चान्योऽस्मि, ब्रह्मैवाऽहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं, नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

शाक्तों की आध्यात्मिक कल्पना के अनुसार परब्रह्म निष्कल, शिव, सर्वज्ञ, स्वयंजोति, आद्यन्तविहीन, निर्विकार तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है और जीव एवं जगत् अग्नि स्फुलिङ्ग की भांति उसी ब्रह्म से आविर्भूत हुए हैं[1]। तन्त्रों के ये सिद्धान्त निःसन्देह उपनिषन्मूलक हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद के वागाम्भृणी[2] सूक्त (१०।१२५) में जिस शक्ति तन्त्र का प्रतिपादन है, शाक्त-तन्त्र उसी के भाष्य माने जा सकते हैं। अतः तन्त्रों का वेदमूलक होना युक्तियुक्त है। सच तो यह है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से साधना की दो धारायें प्रवाहित होती चली आ रही हैं। एक धारा (वैदिक धारा) सर्वसाधारण के लिये प्रकट रूप से सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है और दूसरी धारा (तान्त्रिक धारा) चुने हुए अधिकारियों के लिये गुप्त साधना का उपदेश देती है। एक बाह्य है, तो दूसरी आभ्यन्तरिक; पहली प्रकट है तो दूसरी गुह्य। परन्तु दोनों धारायें प्रत्येक काल में साथ-साथ विद्यमान रही हैं। इसीलिये जिस काल में वैदिक यज्ञ-यागों का बोलबाला था उस समय भी तान्त्रिक उपासना अज्ञात न थी तथा

तन्त्र और वेद

---

१. कुलार्णव तन्त्र १।६–१०

२. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

कालान्तर में जब तान्त्रिक पूजा का विशेष प्रचलन हुआ उस समय भी वैदिक कर्मकाण्ड विस्मृति के गर्भ में विलीन नहीं हुआ। वैदिक तथा तान्त्रिक पूजा की समकालीनता का परिचय हमें उपनिषदों के अध्ययन से स्पष्ट मिलता है। उपनिषदों में वर्णित विभिन्न विद्याओं की आधार-भित्ति तान्त्रिक प्रतीत होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् (६।२) तथा छान्दोग्य उप० (५।८) में वर्णित पञ्चाग्नि विद्या के प्रसङ्ग[1] में 'योषा वाव गौतामाग्निः' आदि रूपक का यही स्वारस्य है। मधुविद्या का भी यही रहस्य है। 'सूर्य की ऊर्ध्वमुख रश्मियाँ मधुनाडियाँ हैं, गुह्य आदेश मधुकर है, ब्रह्म ही पुष्प है, उससे निकलने वाले अमृत को साध्य नामक देवता लोग उपभोग करते हैं'—पञ्चम अमृत के इस वर्णन में जिन गुह्य आदेशों को मधुकर बतलाया गया है वे अवश्यमेव गोपनीय तान्त्रिक आदेशों से भिन्न नहीं हैं। अतः वैदिकी पूजा के संग में तान्त्रिक पद्धति के अस्तित्व की कल्पना करना कथमपि निराधार नहीं है। जो लोग तान्त्रिक उपासना को अभारतीय तथा अर्वाचीन समझते हैं उन्हें पूर्वोक्त विषय पर गम्भीर रीति से विचार करना चाहिये[2]। भारतीय तन्त्रों की उत्पत्ति भारत में ही हुई। वे किसी अभारतीय टकसाल के सिक्के नहीं हैं जिन्हें भारतीयों ने उपयोगी समझकर अपने कार्य में प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया हो। साधना के रहस्य को जानने वाले विद्वानों के सामने इस विषय के विशेष स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है।

तान्त्रिक मत की यह विशेषता है कि वह साधकों की योग्यता के अनुरूप उपासना का नियम बतलाता है। शाक्त मत तीन भाव तथा सात आचार को अङ्गीकार करता है। भाव मानसिक अवस्था है और आचार है बाह्याचरण। पशुभाव, वीरभाव तथा दिव्यभाव—ये तीन भाव हैं। वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार तथा कौलाचार—ये सात आचार पूर्वोक्त तीन भावों से

भाव और आचार

---

१. योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति॥

२. डा० विनयतोष भट्टाचार्य—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि बुधिष्ट एसाटेरिज़म पृ० ४३-४४।

सम्बद्ध हैं। जिन जीवों में अविद्या के आवरण के कारण अद्वैतज्ञान का लेशमात्र भी उदय नहीं हुआ है, उनकी मानसिक प्रवृत्ति पशुभाव कहलाती है। क्योंकि पशु के समान ये भी अज्ञान रज्जु के द्वारा संसार से बँधे रहते हैं। जो मनुष्य अद्वैतज्ञान रूपी अमृत ह्रद की कणिका का भी आस्वादन कर अज्ञान रज्जु के काटने में किसी अंश में समर्थ होता है वह वीर कहलाता है। इसके आगे बढ़ने वाला साधक दिव्य कहलाता है। दिव्यभाव की कसौटी है द्वैतभाव को दूर कर उपास्य देवता की सत्ता में अपनी सत्ता खोकर अद्वैतानन्द का आस्वादन करना। इन्हीं भावों के अनुसार आचारों की व्यवस्था है। प्रथम चार आचार—वेद, वैष्णव, शैव तथा दक्षिण—पशुभाव के लिये हैं। वाम और सिद्धान्त वीरभाव के लिये और कौलाचार दिव्यभाव के साधक के लिये है। कौलाचार सब आचारों में श्रेष्ठ बतलाया जाता है। पक्का कौलमतावलम्बी वही है जिसे पङ्क तथा चन्दन में, शत्रु तथा मित्र में, श्मशान तथा भवन में, सोना तथा तृण में तनिक भी भेद-बुद्धि नहीं रहती[1]। ऐसी अद्वैतभावना रखना बहुत ही दुष्कर है। कौल साधना के रहस्य को न जानने के कारण लोगों में इसके विषय में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। इसका कारण भी है क्योंकि कौल अपने वास्तविक रूप को कभी प्रकट नहीं होने देता। कौलों के विषय में यह लोक-प्रसिद्ध उक्ति निन्दात्मक नहीं बल्कि वस्तुतः यथार्थ है :—

अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः, सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौलाः, विचरन्ति महीतले ॥

पञ्चमकार का रहस्य—

कौल शब्द कुल शब्द से बना हुआ है। कुल का अर्थ है कुण्डलिनी शक्ति तथा 'अकुल' का अर्थ हैं शिव। जो व्यक्ति योग-विद्या के सहारे कुण्डलिनी का उत्थान कर सहस्रार में स्थित शिव के साथ संयोग करा देता है उसे की कौल[2]

१. कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि ! तथैव काञ्चने तृणे ॥
न भेदो यस्य देवेशि ! स कौलः परिकीर्तितः। (भावचूडामणि तन्त्र)

२. कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते ॥ (स्वच्छन्द तन्त्र)

या कुलीन[1] कहते हैं। कुल—कुण्डलिनी शक्ति-ही कुलाचार का मूल अवलम्बन है। कुण्डलिनी के साथ जो आचार किया जाता है उसे कुलाचार कहते हैं। यह आचार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन-इन पञ्च मकारों के सहयोग से अनुष्ठित होता है। इस पञ्च मकार का रहस्य अत्यन्त गूढ़ है। उसे ठीक-ठीक न जानने के कारण से ही लोगों में अनेक प्रकार की भ्रान्ति फैली हुई है। इन पाँचों तत्त्वों का सम्बन्ध अन्तर्योग से है। ब्रह्मरन्ध्र में स्थित जो सहस्रदलकमल है उससे चूने वाला जो अमृत उसी का नाम मद्य है[2]। उच्च साधना के बल पर जो साधक कुण्डलिनी तथा परम शिव के साथ सम्मिलन होने पर मस्तक में स्थित इन्दु से चूने वाले अमृत का पान करता है उसी को तान्त्रिक भाषा में मद्यप कहते हैं[3], शराब पीने वालों को नहीं। जो साधक पुण्य और पापरूपी पशुओं को ज्ञानरूपी खड्ग से मारता है और अपने चित्त को ब्रह्म में लीन करता है वही मांसाहारी है[4]। आगमसार के अनुसार जो व्यर्थ का बकवाद नहीं करता अर्थात् अपनी वाणी का संयम रखता है वही सच्चा मांसाहारी है[5]। शरीर में इडा और पिङ्गला नाडियों को तान्त्रिक भाषा में गंगा और यमुना कहते हैं। इनके योग से सर्वदा प्रवाहित होने वाले श्वास और प्रश्वास (निःश्वास) ही दो मत्स्य हैं। जो साधक प्राणायाम द्वारा श्वास, प्रश्वास बन्द करके कुम्भक द्वारा सुषुम्ना मार्ग में प्राण-वायु का संचालन करता है वही यथार्थ में मत्स्य-साधक भक्षक है[6]। सत्संग

---

१. कुलं शक्तिः समाख्याता, अकुलं शिव उच्यते।
तस्यां लीनो भवेद् यस्तु, स कुलीनः प्रकीर्तितः॥ (गुप्तसाधन तन्त्र।)

२. व्योमपङ्कजनिस्यन्दसुधापानरतो नरः।
मधुपायी समः प्रोक्तः इतरे मद्यपायिनः॥ (कुलार्णव तन्त्र)

३. कुण्डल्याः मिलनादिन्दोः स्रवते यत् परामृतम्।
पिबेद् योगी महेशानि ! सत्यं सत्यं वरानने॥ (योगिनी तन्त्र)

४. पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित्।
परे लयं नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते॥ (कुलार्णव तन्त्र)

५. मा शब्दात् रसना ज्ञेया, तदंशान् रसनाप्रियान्॥
सदा यो भक्षयेत् देवी, स एव मांससाधकः॥ (आगम सार)

६. गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेद् मत्स्यसाधकः॥ (आगम सार)

के प्रभाव से मुक्ति होती है और बुरी संगति से बन्धन होता है। असत्संगति के मुद्रण का ही नाम मुद्रा है अर्थात् बुरी संगति को छोड़कर सत्संगति को प्राप्त करना ही मुद्रा साधन है[1]। सुषुम्ना और प्राण के समागम को तान्त्रिक भाषा में मैथुन कहते है। स्त्री के सहवास से वीर्यपात के समय जो सुख होता है उससे करोड़ों गुना अधिक आनन्द सुषुम्ना में प्राण वायु के स्थित होने पर होता है। इसी को प्रकृत मैथुन कहते हैं[2]।

इस प्रकार पञ्च मकार का आध्यात्मिक रहस्य बड़ा ही गम्भीर है। परन्तु इस तत्त्व को न जानने वाले अनेक तान्त्रिकों ने इन पञ्च मकारों को बाह्य तथा भौतिक अर्थ में ही ग्रहण किया। इससे धीरे-धीरे समाज में अनाचार का प्रचार होने लगा और लोग इसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। तान्त्रिकों ने इन मकारों का सांकेतिक भाषा में वर्णन किया है। इससे उनका यही अभिप्राय था कि अनधिकारी लोग—जो इस शास्त्र के गूढ रहस्यों को समझने में असमर्थ हैं—इसका प्रयोग कर इसे दूषित न करें। परन्तु तन्त्र शास्त्र की यह गुह्यता गुण न होकर, दोषस्वरूप बन गयी। पीछे के लोगों ने उनकी इस सांकेतिक भाषा को न समझ कर इन शब्दों का साधारण अर्थ ग्रहण किया और इसे बुरी दृष्टि से देखने लगे। यही कारण है कि आजकल तन्त्र-शास्त्र के विषय में इतनी भ्रान्ति तथा बुरी धारणा फैली हुई है। तान्त्रिक लोग कभी भी उच्छृङ्खल नहीं थे। वे जीवन में सदाचार को उतना ही महत्त्व देते थे जितना अन्य लोग। वे सात्त्विक तथा शुद्ध और पवित्र जीवन के परम पक्षपाती थे। यदि कालान्तर में तन्त्र-शास्त्र को बुद्धि की कमी अथवा भ्रान्ति से कोई दूषित समझने लगे तो उसमें उनका क्या दोष? मेरुतन्त्र का स्पष्ट कथन है कि जो ब्राह्मण पर-द्रव्य में अन्ध तुल्य है, परस्त्री के विषय में नपुंसक है, परनिन्दा में मूक और अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला है वही इस कुलमार्ग का अधिकारी है :—

---

१. सत्संगेन भवेत् मुक्तिरसत्संगेषु बन्धनम्।
असत्संगमुद्रणं यत्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता॥ (विजय तन्त्र)

२. इडापिङ्गलयोः प्राणान् सुषुम्नायां प्रवर्तयेत्।
सुषुम्ना शक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽयन्तु परः शिवः॥
तयोस्तु संगमो देवैः सुरतं नाम कीर्तितम्॥ (मेरु तन्त्र)

परद्रव्येषु योऽन्धश्च, परस्त्रीषु नपुंसकः ।
परापवादे यो मूकः, सर्वदा विजितेन्द्रियः ॥
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र, वामे स्यात् अधिकारिता ॥

(ख) बौद्ध-तन्त्र

बुद्धधर्म में मन्त्र-तन्त्र का उदय किस काल में हुआ ? यह एक विषम समस्या है। इसके सुलझाने का उद्योग विद्वानों ने किया है, परन्तु उनमें ऐकमत्य नहीं दृष्टिगत होता। त्रिपिटकों के अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि तथागत की मूल शिक्षा में भी मन्त्र और तन्त्र के बीज अन्तर्निहित थे। मानुष बुद्ध के पक्षपाती होने वाले भी स्थविर-वादियों ने 'आटानाटीयसुत्त'[1] में इस प्रकार की अलौकिक बातों का प्रारम्भ कर दिया। पीछे के आचार्यों का बुद्ध से ही तन्त्र-मन्त्र के आरम्भ होने में दृढ़ विश्वास है। बुद्ध को स्वयं इद्धियों (सिद्धियों) में पूरा विश्वास था और इस प्रसङ्ग में इन्हों ने चार 'इद्धिपाद'[2]—छन्द (इच्छा), वीर्य (प्रयत्न), चित्त (विचार) तथा विमंसा (परीक्षा)— का वर्णन किया है जो अलौकिक सिद्धियों को उत्पन्न करने में समर्थ थे। तत्त्वसंग्रह में शान्तरक्षित का स्पष्ट कथन है[3] कि बुद्धधर्म पारलौकिक कल्याण की उत्पत्ति में जितना सहायक है उतना लौकिक कल्याण की उत्पत्ति में भी है। इसीलिये बुद्ध ने स्वयं मंत्र धारणी आदि तान्त्रिक विषयों की शिक्षा दी है जिससे इसी लोक में प्रज्ञा, आरोग्य आदि वस्तुओं की उपलब्धि हो सकती है[4]। इतना ही नहीं, 'साधनमाला'–जिसमें भिन्न-भिन्न विद्वानों के द्वारा रचित देवता-विषयक ३१२ 'साधनों' का संग्रह है—बतलाती

बुद्धधर्म में तन्त्र का उदय

---

१. दीघनिकाय (३२ सुत्त)। इसमें यक्षों और देवताओं से बुद्ध का संवाद वर्णित है। कुछ ऐसी प्रतिज्ञायें दी गई हैं जिनके दुहराने से हम इन अलौकिक व्यक्तियों की अनुकम्पा पा सकते हैं।

२. दीघनिकाय पृ० १९६ (हिन्दी अनु०)।

३. यतोऽभ्युदयनिष्पत्तिर्यतो निःश्रेयसस्य च ।
स धर्म उच्यते तादृक् सर्वैरेव विचक्षणैः ॥ (त० सं०—श्लोक ३४८६)

४. तदुक्तमन्त्रयोगादिनियमाद् विधिवत् कृतात् ।
प्रज्ञारोग्यविभुत्वादि दृष्टधर्मोऽपि जायते ॥ (त० सं०—श्लोक ३४८७)

है कि बहुत से मन्त्र स्वयं बुद्ध से उत्पन्न हुए हैं। विभिन्न अवसरों पर देवताओं के अनेक मन्त्र बुद्ध ने अपने शिष्यों को बतलाये हैं। गुह्य-समाज (५ शतक) की परीक्षा बतलाती है कि तन्त्र का उदय बुद्ध से ही हुआ। तथागत ने अपने अनुयायियों को उपदेश देते समय कहा है कि जब मैं दीपंकर और कश्यप बुद्ध के रूप में उत्पन्न हुआ था, तब मैंने तान्त्रिक शिक्षा इसलिए नहीं दी कि मेरे श्रोताओं में उन शिक्षाओं के ग्रहण करने की योग्यता न थी।

'विनयपिटक' की दो कथाओं में अलौकिक सिद्धियों के प्रदर्शन का मनोरञ्जक वृत्त वर्णित है। राजगृह के एक सेठ ने चन्दन का बना हुआ भिक्षापात्र बहुत ही ऊँचाई पर किसी बाँस के सिरे पर बाँध दिया। अनेक तीर्थङ्कर आये, पर उसे उतारने में समर्थ नहीं हुए। तब भरद्वाज अपनी योगसिद्धि के बल पर आकाश में ऊपर उठ गए और उसे लेकर ऊपर ही ऊपर राजगृह की तीन बार प्रदक्षिणा की। जनता के आश्चर्य की सीमा न थी, पर बुद्ध को एक तुच्छ काठ के पात्र के लिए इतनी शक्ति का प्रयोग नितान्त अनुचित जँचा और उन्होंने भरद्वाज की इसके लिए भर्त्सना की और काष्ठपात्र का प्रयोग दुष्कृत नियत किया। इसी प्रकार मगधनरेश सेनिय बिम्बसार के द्वारा पुरस्कृत 'मेण्डक' नामक गृहस्थ के परिवार की सिद्धियों का वर्णन विनयपिटक में अन्यत्र मिलता है। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि तन्त्र, मन्त्र, योग, सिद्धि आदि की शिक्षा स्वयं बुद्ध से उद्भूत हुई थी। वह प्रथमतः बीजरूप में थी, अनन्तर उसका विकास हुआ।

महायान के उदय के इतिहास से हम परिचित हैं। इसका संक्षिप्त परिचय धार्मिक विकास के प्रकरण में दिया गया है। महासंघिकों ने पहले-पहल बुद्ध के मानव व्यक्तित्व का तिरस्कार कर उन्हें मनुष्य लोक से ऊपर उठाकर दिव्य लोक में पहुँचा दिया। वेतुल्लवादियों की यह स्पष्ट मान्यता थी कि बुद्ध ने इस लोक में कभी आगमन नहीं किया और न कभी उपदेश दिया[1]। इस प्रकार बुद्ध की लोकोत्तर सत्ता से ही वे सन्तुष्ट न हुए, प्रत्युत उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस युगान्तरकारी भावना को प्रकट किया कि खास मतलब से (एकाभिप्रायेण) मैथुन का सेवन किया जा सकता है[2]। ये दोनों सिद्धान्त—ऐतिहासिक बुद्ध की अस्वीकृति और विशेषावस्था में मैथुन की स्वीकृति—घोर विप्लव मचाने वाले थे। इससे सिद्ध

१. कथावत्थु १७।१०, १८।१; २. वही २३।१

होता है कि बुद्ध के अनुयायियों की महती संख्या इस बात पर विश्वास करती थी कि तथागत अलौकिक पुरुष थे तथा मैथुन का आचरण विशिष्ट दशा में न्याय्य था। इस दूसरे सिद्धान्त में वज्रयान (तान्त्रिक बुद्धधर्म) का बीज स्पष्टतः निहित है। 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' की रचना प्रथम तथा द्वितीय शतक विक्रमी में हुई। इस ग्रन्थ में मन्त्र, धारणी आदि का वर्णन विशेषतः मिलता है। अतः महायान के समय में मन्त्र, तन्त्र की भावना नष्ट नहीं हुई थी, प्रत्युत यह बड़े जोरों से अपनी अभिव्यक्ति पाने के लिए अग्रसर हो रही थी। योगाचार में योग और आचार पर विशेष महत्त्व का देना इसी फल के आगमन की सूचना थी।

महायान के इस विकास का नाम 'मन्त्रयान' है जिसका अग्रिम विकास 'वज्रयान' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। दोनों में अन्तर केवल मात्रा (डिग्री) का है। सौम्य अवस्था का नाम 'मंत्रयान' है, उग्ररूप की संज्ञा 'वज्रयान' है। योगाचार से लोगों को सन्तुष्टि कुछ काल तक हुई, परन्तु विज्ञानवाद के गहन सिद्धान्तों के भीतर प्रवेश करने की योग्यता साधारण जनता में न थी। वह तो ऐसे मनोरम धर्म के लिए लालायित थी जिसमें अल्प प्रयत्न से महान् सुख मिलने की आशा दिलाई गई होती। इस मनोरम धर्म का नाम 'वज्रयान है। इस सम्प्रदाय ने 'शून्यता' के साथ-साथ 'महासुख'[1] की कल्पना सम्मिलित कर दी है। 'शून्यता' का ही नाम 'वज्र' है। वज्र कभी नहीं नष्ट होता है, वह दुर्भेद्य अस्त्र है। वज्र दृढ़सार, अपरिवर्तनशील, अच्छेद्य, अभेद्य, न जलने योग्य, अविनाशी है। अतः वह शून्यता का प्रतीक है[2]। यह शून्य 'निरात्मा' है—वह देवी रूप है जिसके गाढ आलिङ्गन में मानव चित्त (बोधिचित्त या विज्ञान) सदा बद्ध रहता है तथा यह युगल मिलन सब काल के लिए सुख तथा आनन्द उत्पन्न करता है। अतः वज्रयान ने शून्य, विज्ञान तथा महासुख की त्रिवेणी का संगम बन कर असंख्य जीवों के कल्याण का मार्ग उन्मुक्त किया है।

वज्रयान

---

१. महासुख के लिए द्रष्टव्य—ज्ञानसिद्धि (परि० ७), गाय० ओरि० सीरीज़ भाग ४४ पृ० ५७; अद्वयवज्रसंग्रह (पृ० ५०) का 'महासुखप्रकाश'।

२. दृढं सारमसौशीर्यम् अच्छेद्याभेद्यलक्षणम्।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते॥
—वज्रशेखर (अद्वयवज्रसंग्रह) पृ० २३।

वज्रयान का उद्गमस्थान कहाँ था? यह ऐतिहासिकों के लिए विचारणीय विषय है। तिब्बती ग्रन्थों में कहा गया है कि बुद्ध ने बोधि के प्रथम वर्ष में, ऋषिपत्तन में, श्रामणधर्म का चक्रप्रवर्तन किया, १३ वें वर्ष में राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर महायान धर्म का चक्रप्रवर्तन किया और १६ वें वर्ष में मन्त्रयान का तृतीय धर्म चक्रपरिवर्तन श्रीधान्यकटक में किया[1]। धान्यकट गुन्दूर जिले में धरणीकोट के नाम से प्रसिद्ध है। वज्रयान का जन्मस्थान यही प्रदेश तथा श्रीपर्वत है जिसकी ख्याति तन्त्रशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त अधिक है। भवभूति ने मालतीमाधव में श्रीपर्वत को तान्त्रिक उपासना के केन्द्ररूप में चित्रित किया है जहाँ बौद्ध-भिक्षुणी कपालकुण्डला तान्त्रिक पूजा में निरत रहती थी[2]। सप्तम शतक में बाणभट्ट श्रीपर्वत के माहात्म्य से भलीभाँति परिचित थे। हर्षचरित में उन्होंने श्रीहर्ष को समस्त प्रणयीजनों की मनोरथसिद्धि के लिए 'श्रीपर्वत' बतलाया है[3]। श्री हर्षवर्धन ने रत्नावली में श्रीपर्वत से आने वाले एक सिद्ध का वर्णन किया है[4]। शङ्करदिग्विजय में श्रीशैल को तान्त्रिकों का केन्द्र माना गया है जहाँ शङ्कराचार्य ने जाकर अपने अपूर्व तर्क के बल पर उन्हें परास्त किया था[5]। प्रसिद्धि है कि नागार्जुन ने श्रीपर्वत पर रहकर अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त की थी। इन समस्त उल्लेखों की समीक्षा हमें इस परिणाम पर पहुँचाती है कि श्रीपर्वत तान्त्रिक उपासना का प्रधान केन्द्र था। यह दशा अत्यन्त प्राचीन काल से थी। श्रीपर्वत में ही मन्त्रयान तथा वज्रयान का उदय हुआ, इसका प्रमाण तिब्बती तथा सिंहली ग्रन्थों से भलीभाँति चलता है। १४ वीं शताब्दी के **'निकायसंग्रह'** नामक ग्रन्थ में वज्रयान को वज्रपर्वतवासी निकाय बतलाया गया है। इस ग्रन्थ में इस निकाय को चक्रसंवर, वज्रामृत, द्वादशचक्र आदि जिन जिन ग्रन्थों का रचयिता माना है वे समस्त ग्रन्थ वज्रयान के ही हैं। अतः सम्भवतः श्रीपर्वत को ही वज्रयान से सम्बद्ध होने के

वज्रयान का उदयस्थान

---

१. पुरातत्त्वनिबन्धावली पृ० १४०।

२. मालतीमाधव—अङ्क १।८,१०।

३. जयति ज्वलत्प्रतापज्वलनप्राकारकृतजगद्रक्षः।
सकलप्रणयिमनोरथसिद्धिश्रीपर्वतो हर्षः॥ (हर्षचरित पृ० २)

४. रत्नावली अङ्क २। ५. शङ्करदिग्विजय पृ० ३६६।

कारण 'वज्रपर्वत' के नाम से पुकारते हों। जो कुछ भी हो, तिब्बती सम्प्रदाय धान्यकटक में वज्रयान का चक्रप्रवर्तन स्वीकार करता है। धान्यकटक तथा श्रीपर्वत दोनों ही मद्रास के गुण्टूर जिले में विद्यमान हैं। इसी प्रदेश में वज्रयान की उत्पत्ति मानना न्यायसंगत है।

समय

वज्रयान की उत्पत्ति किस समय में हुई? इसका यथार्थ निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। इसका अभ्युदय आठवीं शताब्दी से आरम्भ होता है जब सिद्धाचार्यों ने लोकभाषा में कविता तथा गीति लिखकर इसके तथ्यों का प्रचार किया। परन्तु तान्त्रिक मार्ग का उदय बहुत पहले ही हो गया था। 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' मन्त्रयान का ही ग्रन्थ है। इसकी रचना तृतीय शतक के आसपास हुई। इसके अनन्तर 'श्रीगुह्यसमाजतन्त्र' का समय (५ वाँ शतक) आता है। यह गुह्यसमाज 'श्रीसमाज' के नाम से भी प्रसिद्ध है[1]। पुष्पिका में यह 'तन्त्रराज' कहा गया है। तान्त्रिक साधना के इतिहास में यह ग्रन्थ समधिक महत्त्व रखता है। इस ग्रन्थ के ऊपर टीका तथा भाष्यों का विशाल साहित्य आज भी तिब्बती तंजूर में सुरक्षित है[2] जिनमें नागार्जुन (७ शतक), कृष्णाचार्य, शान्तिदेव की टीकायें प्रसिद्ध सिद्धाचार्यों की कृतियाँ हैं। इसके १८ पटलों में तन्त्रशास्त्र के सिद्धान्तों का विशद विवेचन है। वज्रयान का प्रचार भारत के बाहर तिब्बत में भी विशेषरूप से हुआ जिसका प्रमाण 'श्रीचक्र-संवरतन्त्र' है[3]।

(ग) वज्रयान के मान्य आचार्य

वज्रयान का साहित्य बहुत ही विशाल है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने केवल संस्कृत में ही अपने सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रणयन नहीं किया, प्रत्युत जन साधारण के हृदय तक पहुँचने के लिए उन्होंने उस समय की लोकभाषा में भी ग्रन्थों की रचना की। वज्रयान का सम्बन्ध मगध तथा नालन्दा से बहुत ही अधिक है। श्रीपर्वत पर आन्ध्र देश में इसका उदय भले ही हुआ हो, परन्तु इसका अभ्युदय मगध के नालन्दा तथा ओदन्तीपुर विहारों से नितरां सम्बद्ध है। यह

१. संस्करण गा० ओ० सी० संख्या ५३ (बड़ौदा, १९३३)

२. इनके नामों के लिए द्रष्टव्य ग्रन्थ की भूमिका पृ० ३०–३२।

३. द्रष्टव्य Tantrik Text Series में इसका संस्करण तथा अनुवाद।

नितान्त परिताप का विषय है कि यह विशाल वज्रयानी साहित्य अपने मूल रूप में अप्राप्य है। तिब्बती साहित्य के तंजूर नामक विभाग में इन ग्रन्थों के अनुवाद आज भी उपलब्ध हैं। कई वर्ष हुए महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री जी को नेपाल से इन वज्रयानी आचार्यों की भाषा रचनायें प्राप्त हुई जिनका इन्होंने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से वंगीय साहित्य-परिषद से १९१६ ई० में प्रकाशित किया[1]। इन गानों और दोहाओं की भाषा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। शास्त्री जी ने इसे पुरानी बंगला माना है, परन्तु मगध में रचित होने के कारण इस भाषा को पुरानी मागधी कहना अधिक युक्तियुक्त है। इन दोहों की भाषा तथा मैथिली में पर्याप्त साम्य है। अतः भाषा की दृष्टि से यह मगध जनपद की भाषा है जब बंगला, मैथिली, मगही आदि प्रान्तीय भाषाओं का स्फुटतर पृथक्करण सिद्ध नहीं हुआ था।

चौरासी सिद्ध—

वज्रयान के साथ ८४ सिद्धों का नाम सर्वदा सम्बद्ध रहेगा। अत्यन्त विख्यात होने के कारण इन सिद्धों की गणना एक विशिष्ट श्रेणी में की गई है। इन ८४ सिद्धों का पर्याप्त परिचय हमें तिब्बती ग्रन्थों से चलता है[2] इन सिद्धों में पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियों का भी स्थान था, ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय राजाओं की भी गणना थी। यह परम्परा किसी एक शताब्दी की नहीं है। नवम शताब्दी से आरम्भ कर १२ वीं शताब्दी के मध्यभाग तक के सिद्धाचार्य इसमें सम्मिलित किये गये हैं। इन सिद्धों का प्रभाव वर्तमान हिन्दूधर्म तथा हिन्दी कविता पर खूब

१. इस ग्रन्थ में चार पुस्तके हैं जिनमें तीन ग्रन्थों के नवीन विशुद्ध संस्करण हाल में ही प्रकाशित हुये हैं। :—

(क) दोहा-कोश—डा० प्रबोधचन्द्र वाक्ची एम० ए० द्वारा सम्पादित— (कलकत्ता संस्कृत सीरीज नं० २५, १९३८)

(ख) Materials for a Critical edition of the old Bengali Charyapadas सम्पादक वही (कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस १९३८)

(ग) डाकार्णव—डा० नरेन्द्र नारायण चौधरी एम० ए० कलकत्ता संस्कृत सीरीज़ नं० १०, १९३५

२. द्रष्टव्य राहुल-सांस्कृत्यायन (पुरातत्त्वनिबन्धावली पृ० १४६–१५९)

गहरा है। इस सम्वन्ध को जोड़ने वाली लड़ी नाथपन्थी निर्गुनिया सन्तों की है। कबीर की बानियों में सिद्धों की ही परम्परा हमें मिलती है। हिन्दी की निर्गुण सन्तों की कवितायें इसी परम्परा के अन्तर्भुक्त हैं। इसके कतिपय सम्मान्य आचार्यों का परिचय यहाँ दिया जा रहा है :—

(१) **सरहपा**[1]—इनका दूसरा नाम राहुलभद्र तथा सरोजवज्र भी था। ये पूरब के किसी नगर में ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। नालन्दा विहार में भी इन्होंने निवास किया था। अनन्तर किसी बाण बनाने वाले की कन्या को अपनी महामुद्रा (वज्रयान में सिद्धि की सहायक योगिनी) बनाकर जंगल में रहने लगे। वहीं ये भी बाण (शर = सर) बनाया करते थे जिससे इनका लोकप्रिय नाम 'सरह' पड़ गया। इनके १६ भाषा ग्रन्थों के अनुवाद तिब्बती भाषा में मिलते हैं जिनमें दोहाकोष, दोहाकोषगीति आदि ग्रन्थ नितान्त प्रसिद्ध हैं।

(२) **शबरपा**—ये सहरपा के पट्ट शिष्य थे। ये भी जंगल में शबरों के साथ रहा करते थे। इसीलिए ये इस नाम से विख्यात हैं। इनके भी छोटे-छोटे भाषा-ग्रन्थों के अनुवाद तिब्बती तंजूर में उपलब्ध होते हैं।

(३) **लूइपा**—चौरासी सिद्धों में इनकी प्रथम गणना है। अतः इनकी प्रतिष्ठा तथा गुरुता का यही पर्याप्त निदर्शन है। ये पालवंशी नरेश धर्मपाल (७६९—८०९) के कायस्थ अर्थात् लेखक बतलाये जाते है। ये शबरपा के शिष्य थे तथा इन्होंने मगही में अनेक कवितायें तथा गायन लिखा है जिनमें कतिपय उपलब्ध हैं।

(४) **पद्मवज्र**—पद्मवज्र का गौरव तिब्बत में बहुत ही अधिक माना गया है। तारानाथ का कहना है कि इन्होंने पहले-पहल वज्रयान में 'हेवज्रतन्त्र' को प्रचलित किया। इनकी अनेक संस्कृत ग्रन्थों की रचना बतलाई जाती है जिनमें 'गुह्यसिद्धि' का आदर विशेष है। इसके अनुसार श्रीसमाज (गुह्यसमाजतन्त्र) में जितनी तान्त्रिक प्रक्रियायें वर्णित हैं वे बुद्ध से उद्भूत हैं। गुह्यसिद्धि में 'महामुद्रा' को सिद्धि का प्रधान साधन बतलाया है। बिना महामुद्रा के सिद्धि की प्राप्ति दुर्लभ है। इन्हीं का दूसरा नाम 'सरोरुहवज्र' है।

---

१. पा = पाद; नामों के साथ 'आचार्यपाद' के समान आदर सूचित करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है।

(५) **जालन्धरपा**—(दूसरा नाम—हाडी-पा) इनकी विशिष्ट ख्याति का परिचय तिब्बती ग्रन्थों से चलता है। तारानाथ इन्हें धर्मकीर्ति का समकालीन मानते हैं। इन्होंने पद्मवज्र के एक ग्रन्थ पर टीका लिखी तथा ये 'हेवज्रतन्त्र' के अनुयायी थे। घण्टापाद के शिष्य सिद्ध कूर्मपाद की संगति में आकर ये उनके शिष्य बन गये। इनके तीन पट्टशिष्य थे—मत्स्येन्द्रनाथ, कण्हपा तथा तंतिपा। इन्हीं मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य सुप्रसिद्ध सिद्ध 'गोरखनाथ' थे। बंगाल में इनकी अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं जिनमें इनके शिष्य रानी मैनावती उसके प्रति राजा मानिकचन्द तथा पुत्र गोपीचन्द के साथ इनकी घनिष्ठता का वर्णन किया गया है[1]।

(६) **अनङ्गवज्र**—ये पद्मवज्र के शिष्य थे। ८४ सिद्धों में इनकी गणना (नं ८१) है। ये पूर्वी भारत के गोपाल नामक राजा के पुत्र माने गये हैं। इनके अनेक ग्रन्थों के अनुवाद तिब्बतीय तञ्जूर में मिलते हैं। संस्कृत में भी इनकी रचना प्रकाशित हुई है जिसका नाम 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि' है। इस ग्रन्थ में पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद (प्रज्ञोपायविपञ्च) में प्रज्ञा (शून्यता) तथा उपाय (करुणा) का स्वभाव निर्दिष्ट है। द्वितीय परिच्छेद (वज्राचार्याराधननिर्देश) में वज्रगुरु की आराधना का उपदेश है। तृतीय परिच्छेद में अभिषेक का विस्तृत वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में तत्त्वभावना का विशद विवेचन तथा पञ्चम में वज्रयानी साधना का विवरण है। लघुकाय होने पर भी यह ग्रन्थ नितान्त उपादेय है।

(७) **इन्द्रभूति**—वज्रयानी साहित्य में इन्द्रभूति और उनकी भगिनी भगवती लक्ष्मी या **लक्ष्मींकरा देवी** का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये उड्डियान के राजा तथा पद्मसंभव के पिता थे। ये वही पद्मसंभव हैं जिन्होंने आचार्य शान्तरक्षित के साथ तिब्बत में बौद्धधर्म का विपुल प्रचार किया तथा ७४९ ई० में 'सम्मये' के प्रसिद्ध विहार की स्थापना की। इनके २३ ग्रन्थों का अनुवाद तञ्जूर में मिलता है। इनके दो ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध होते हैं। (१) कुरुकुल्ला साधन (साधनमाला पृ० ३५३) तथा (२) ज्ञानसिद्धि।

---

१. द्रष्टव्य धर्ममंगल, शून्यपुराण, मानिकचाँदेरगान, मयनावतीर गान, गोपीचाँदेरगान, गोपीचाँदेर संन्यास आदि बंगला ग्रन्थ।

ज्ञानसिद्धि—इस ग्रन्थ में छोटे-बड़े २० परिच्छेद हैं जिनमें तत्त्व, गुरु, शिष्य, अभिषेक साधना आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है[१]।

(८) **लक्ष्मीङ्करा**—यह इन्द्रभूति की बहन थीं। ८४ सिद्धों में इनकी गणना है (नं० ८२)। राजकुल में उत्पन्न होने पर भी इसके विचार बड़े सुदृढ़ और उग्र थे। यह तन्त्र और योग में बहुत ही निष्णात थीं। इसका एक ही ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध है जो अभी दुर्भाग्य से प्रकाशित नहीं है। इस ग्रन्थ का नाम है—'अद्वयसिद्धि' जिसमें साधक को गुरु की सेवा करने, स्त्रियों के प्रति आदर दिखलाने तथा समग्र देवताओं के निकेतन होने के कारण इस शरीर की पूजा करने का विधान है।

(९) **लीलावज्र**—ये लक्ष्मीङ्करा के प्रधान शिष्य थे। संस्कृत में इनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं परन्तु कम से कम इनके नव ग्रन्थों के अनुवाद तञ्जूर में मिलते हैं। इनके किसी दूसरे गुरु का पता चलता है जिनका नाम 'विलासवज्र' था।

(१०) **दारिकपाद**—ये लीलावज्र के शिष्य थे। परन्तु कुछ लोगों का विचार है कि ये लुईपाद के शिष्य थे। 'बौद्ध गान ओ दोहा' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि दारिकपाद बंगाल के रहने वाले थे और इन्होंने इन ग्रन्थों का प्रणयन अपनी मातृभाषा में किया था जिनमें से कुछ का उल्लेख उपर्युक्त ग्रन्थ में किया गया है। अपने एक गीत में इन्होंने लुइपा के प्रति विनम्रता दिखलाई है जिससे डा० हरप्रसाद शास्त्री ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ये उनके साक्षात् शिष्य थे। परन्तु लुइपा का काल इनके बहुत पूर्व था अतः यह सिद्धान्त मानना उचित नहीं है। इन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना की। परन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ नहीं मिलता। इनके दस ग्रन्थों का अनुवाद तञ्जूर में मिलता है।

(११) **सहजयोगिनी चिन्ता**—ये दारिकपाद की शिष्या थी। इनके एक संस्कृत ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति मिलती है जिसका नाम 'व्यक्तभावानुगततत्त्व-सिद्धि' है। इस ग्रन्थ की परीक्षा से पता चलता है कि इनकी विज्ञानवाद पर विशेष आस्था थी। यह जगत् चित्त का ही विकास है। प्रज्ञा और उपाय ये दोनों चित्त से ही उत्पन्न हैं। इन्हीं दोनों के मिलन से चित्त में महासुख का उदय होता है।

---

१. 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि' तथा 'ज्ञानसिद्धि'—दोनों का प्रकाशन हो गया है। गायकवाड ओरि० सीरीज, संख्या ४४, Two Vajrayana Works. Baroda. 1929.

(१२) **डोम्बी हेरुक**—तिब्बतीय प्रमाणों से इनका मगध का राजा होना सिद्ध होता है। ये तञ्जूर में आचार्य सिद्धाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इनकी गणना ८४ सिद्धों में है (नं० ४)। वीणापा और विरूपा दोनों इनके गुरु थे। ये 'हेवज्रतन्त्र' के अनुयायी थे। सिद्ध कण्हपा इनके शिष्य बतलाये जाते हैं। इनके अनेक ग्रन्थों के अनुवाद तञ्जूर में पाये जाते हैं जिनमें 'सहजसिद्धि' नामक ग्रन्थ मूल संस्कृत में मिला है। 'डोम्बी गीतिका' नामक इनका भाषा में लिखा गया ग्रन्थ भी था, सम्भवतः जिसके अनेक पद 'बौद्धगान ओ दोहा' में मिलते हैं।

इस सिद्ध परम्परा से अतिरिक्त भी आचार्य हुए। जिनमें अद्वयवज्र विशेष प्रसिद्ध हैं। इनका समय १२ वीं शताब्दी के आसपास है। इन्होंने वज्रयान के तथ्यों के प्रतिपादन के लिए २१ ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें अनेक ग्रन्थ बहुत ही छोटे हैं। इनमें कुदृष्टिनिर्घातन, तत्त्वरत्नावली, पञ्चतथागतमुद्राविवरण तथा चतुर्मुद्रा-तान्त्रिक तत्त्वों के ज्ञान के लिए विशेष गौरव रखते हैं[1]।

(घ) वज्रयान के सिद्धान्त

तान्त्रिक तत्त्व जानने के लिए हठयोग का अनुशीलन परम आवश्य है। जिन्होंने यह अनुशीलन किया है वे जानते हैं कि हठयोग का मूल सिद्धान्त चन्द्र और सूर्य को एक अवस्थापन्न करना है। तन्त्र की साङ्केतिक भाषा में हकार और ठकार चन्द्र और सूर्य के वाचक हैं। इसलिये हकार और ठकार के योग—अर्थात् हठयोग—से अभिप्राय चन्द्र और सूर्य का एकीकरण है। इसी को इडा और पिङ्गला नाडी अथवा प्राण और अपान वायु का समीकरण कहा जाता है। वैषम्य से ही जगत् की उत्पत्ति होती है और समता प्रलय की सूचिका है। जिससे यह जगत् फूट निकलता है उसके साम्यावस्था में विद्यमान रहने पर जगत् उत्पन्न नहीं होता। यह अद्वैत या प्रलय की अवस्था है। जगत् में दो विरुद्ध शक्तियाँ हैं जो एक दूसरे का उपमर्दन कर प्रभुता लाभ करने के लिये सदा क्रियाशील रहती हैं। बहिःशक्ति

जीवन का लक्ष्य

---

१. इन समग्र ग्रन्थों के संग्रह के लिए द्रष्टव्य 'अद्वयवज्र संग्रह' (गा० ओ० सी० सं० ४०), बरोदा १९२७।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में पूज्यपाद पण्डित हरप्रसादशास्त्री जी ने लम्बी भूमिका लिखी है जिसमें बौद्धसम्प्रदायों के सिद्धान्तों का पर्याप्त विवेचन है।

की प्रधानता होने पर सृष्टि होती है और अन्तःशक्ति की प्रधानता होने पर संहार होता है। स्थिति उभय शक्तियों की समानता का निदर्शक है। शिव-शक्ति, पुरुष-प्रकृति आदि शब्द इसी आदि द्वन्द्व के बोधक हैं। जीव देह में ये शक्तियाँ प्राण और अपान रूप से रहती हैं। प्राण और अपान का परस्पर संघर्षण ही जीवन है। प्राण अपान को और अपान प्राण को अपनी ओर खींचता रहता है। इन दोनों को उद्‌बुद्ध कर दोनों में समता लाना योगी का परम कर्तव्य है। प्राण तथा अपान की समता, इड़ा और पिङ्गला की समता, पूरक और रेचक की समानता (अथवा कुम्भक), सुषुम्ना के द्वार का उन्मोचन—एक ही पदार्थ है। इड़ा वाम नाड़ी है और पिङ्गला दाहिनी नाड़ी है तथा दोनों की समानता होने पर, दोनों के मध्य में स्थित सुषुम्ना नाड़ी का द्वार आप से आप खुल जाता है। इसी द्वार के सहारे प्राण की ऊर्ध्व गति करना योगियों का परम ध्येय है। सुषुम्ना के मार्ग ही को कहते हैं मध्यम पथ, मध्यम मार्ग, शून्यपदवी अथवा ब्रह्मनाड़ी। सूर्य और चन्द्र को यदि प्रकृति तथा पुरुष का प्रतीक मानें तो हम कह सकते हैं कि प्रकृति और पुरुष के आलिङ्गन के बिना मध्यम मार्ग कभी खुल नहीं सकता। वाम और दक्षिण के समान होने पर मध्यमावस्था का पूर्ण विकास ही निर्वाण है। इड़ा और पिङ्गला के समीकरण करने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। जब षट्चक्र का भेद कर आज्ञाचक्र से ऊपर साधक की स्थिति होती है तब कुण्डलिनी धीरे-धीरे ऊपर चढ़कर चैतन्य-समुद्ररूप सहस्रारचक्र में स्थित परम शिव के आलिङ्गन के लिए अग्रसर होती है। शिव-शक्ति का यह आलिङ्गन महान् आनन्द का अवसर है। इसी अवस्था का नाम युगल रूप है।

'वज्रयान' का ही दूसरा नाम 'सहजयान' है। सहजिया सम्प्रदाय के योगियों के मतानुसार 'सहजावस्था' को प्राप्त करना सिद्धि की पूर्णता है। इसी अवस्था का नामान्तर निर्वाण, महासुख, सुखराज,[1] महामुद्रा-साक्षात्कार आदि हैं। इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान—ग्राहक, ग्राह्य तथा ग्रहण इस लोकप्रसिद्ध त्रिपुटी का उस समय सर्वथा अभाव हो

सहजावस्था

---

१. जयति सुखराज एकः कारणरहितः सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥
(सरहपाद का वचन, सेकोद्देशटीका पृ० ६३)

जाता है। इसी अवस्था का वर्णन सरहपा (८०० ई० के आसपास) ने इस प्रसिद्ध दोहे में किया है :—

'जह मन पवन न सञ्चरइ, रवि ससि नाह पवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥'

अर्थात् सहजावस्था में मन और प्राण का सञ्चार नहीं होता। सूर्य और चन्द्र का वहाँ प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। चन्द्र और सूर्य, इड़ा-पिङ्गलामय आवर्तनशील काल-चक्र का ही नामान्तर है। निर्वाण पद काल से अतीत होता है, इसलिये वहाँ चन्द्र और सूर्य के प्रवेश न होने की बात का सरहपा ने वर्णन किया है। इसी अवस्था का नाम है 'उन्मनीभाव'। इस अवस्था में मन का लय स्वाभाविक व्यापार है। उस समय वायु का भी निरोध सम्पन्न होता है। सहजिया लोगों का कहना है कि यही निर्वाण प्रत्येक व्यक्ति का **निज-स्वभाव** (अपना सच्चा रूप) है। इस समय जो आनन्द होता है उसी को महासुख कहते हैं। इसी का नाम सहज है। वह एक, कारणहीन परमार्थ है। महासुख के विषय में सरहपाद की यह उक्ति नितान्त सत्य है कि :—

'घोरे न्धारें चन्दमणि, जिमि उज्जोअ करेइ।
परम महासुख एखुकणे, दुरिअ अशेष हरेइ॥'

अर्थात् घोर अन्धकार को जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि दूर कर अपने निर्मल प्रकाश से उद्भासित होता है उसी प्रकार इस अवस्था में महासुख समस्त पापों को दूर कर प्रकाशित होता है। इस महासुख की उपलब्धि वज्रयानी सिद्धों के लिये परम पद की प्राप्ति है[1]।

इह महासुख के प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है गुरु का उपदेश। तन्त्र साधन मार्ग है। पुस्तकावलोकन से इस मार्ग का रहस्य नहीं जाना जा सकता।

---

१. 'हेवज्रतन्त्र' में महासुख को उस अवस्था का आनन्द बतलाया है जिसमें न तो संसार (भव) है, न निर्वाण, न अपनापन रहता है, न परायापन। आदि-अन्त-मध्य का अभाव रहता है—

आइ ण अन्त मज्झ णहि, नउ भव नउ निव्वाण।
एहु सो परम महासुहउ, नउ पर नउ अप्पाण॥
(सेकोद्देश टीका (पृ० ६३) में उद्धृत हेवज्रतन्त्र का वचन)

गुरु तत्त्व इसीलिए साधक को किसी योग्य गुरु की शिक्षा नितान्त आवश्यक होती है[१]। परन्तु गुरु का स्वरूप क्या है? जानना अत्यन्त आवश्यक है। सहजिया लोग कहते हैं कि गुरु युगनद्धरूप है अर्थात् मिथुनाकार है। वह शून्यता और करुणा की युगल मूर्ति है; उपाय तथा प्रज्ञा का समरस विग्रह है। शून्यता सर्व-श्रेष्ठ ज्ञान का वाचक है; करुणा का अर्थ जीवों के उद्धार करने के लिये महती दया दिखलाना है। गुरु को शून्यता और करुणा की मिश्रित मूर्ति बतलाने का अभिप्राय यह है कि वह परम ज्ञानी होता है परन्तु साथ ही साथ जगत् के नाना प्रपञ्च से आर्त प्राणियों के उद्धार के लिये उसके हृदय में महती दया विद्यमान रहती है। वज्रयान में प्रज्ञा और उपाय के एकीकरण के ऊपर जोर दिया गया है। क्योंकि प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य (परस्पर मिलन) ही निर्वाण है[२]। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये केवल प्रज्ञा से काम नहीं चलता और न उपाय से ही काम चलता है[३]। उसके लिये दोनों का संयोग नितान्त आवश्यक है। इन्हीं दोनों की मिलित मूर्ति होने से गुरु को 'मिथुनाकार' बतलाया गया है। वज्रयानी सिद्धों के मत में मौन-मुद्रा ही गुरु का उपदेश है। शब्द के द्वारा सहजतत्त्व का परिचय नहीं दिया जा सकता। क्योंकि मन और वाणी के गोचर पदार्थ विकल्प के अन्तर्गत हैं। निर्विकल्पक तत्त्व शब्दातीत हैं। इसी को महायानी ग्रन्थों में अनक्षर तत्त्व कहा गया है[४]। सच्चा गुरु वह है जो आनन्द या रति के प्रभाव से शिष्य के हृदय में महासुख का विस्तार करे[५]।

---

१. ज्ञान-सिद्धि का १२ वाँ परिच्छेद देखिए।

२. न प्रज्ञाकेवलमात्रेण बुद्धत्वं भवति; नाप्युपायमात्रेण। किन्तु यदि पुनः प्रज्ञोपायलक्षणौ, समतास्वभावौ भवतः एतौ द्वौ अभिन्नरूपौ भवतः, तदा भुक्ति-मुक्तिर्भवति।

३. उभयोर्मिलनं यच्च, सलिलक्षीरयोरिव।
अद्वयाकारयोगेन, प्रज्ञोपायं तदुच्यते॥
चिन्तामणिरिवाशेषजगतः सर्वदा स्थितम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदं सम्यक् प्रज्ञोपायस्वभावतः॥

४. अनक्षरस्य तत्वस्य श्रुतिः का देशना च का। मा० का०

५. सद्गुरुः शिष्ये रतिस्वभावेन महासुखं तनोति।

केवल मौखिक उपदेश देना गुरु का काम नहीं है। गुरु का काम हृदय के अन्धकार को दूर कर प्रकाश तथा आनन्द का उल्लास करना है। तन्त्र शास्त्र में इसीलिये उपयुक्त गुरु की खोज के लिए इतना आग्रह है[1]।

गुरु शिष्य की योग्यता को पहिचान कर ही उसे तत्त्व का उपदेश देता था। साधक को यम, नियम आदि का विधान करना अवश्य चाहिए। सत्य, अहिंसा आदि सार्व-भौमिक नियमों का विधान परमावश्यक है। वज्रयानी

शिष्य की पात्रता

ग्रन्थों में गुरु के द्वारा विहित 'बोधिचित्ताभिषेक' का विशेष वर्णन किया गया है। गुरु की आराधना करना शिष्य का परम कर्तव्य है तथा गुरु का भी यह आवश्यक धर्म है कि वह शिष्य के चित्त को प्रपंच से दूर हटाकर सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति के लिये उपयुक्त बनावे। शिष्य को तान्त्रिक साधना के लिये नवयौवनसम्पन्ना युवती को अपनी संगिनी बनाना पड़ता है। इसी का नाम तान्त्रिक भाषा में 'मुद्रा' है। इस मुद्रा से सम्पन्न होकर शिष्य वज्राचार्य (वज्र मार्ग के उपदेशक गुरु) के पास जाकर दीक्षित होने के लिये प्रार्थना करता था। आचार्य उसको वज्रसत्त्व के मन्दिर में ले जाता था। यह स्थान गन्ध, धूप तथा पुष्प से सजाया जाता था। इसमें फूलों की मालायें लटकती रहती थी। ऊपर सफेद चँदवा टँगा रहता था। माला और मदिरा की सुगन्ध से वह स्थान सुवासित रहता था। ऐसे मन्दिर में वज्राचार्य मुद्रा के साथ शिष्य का तान्त्रिक विधान के अनुसार अभिषेक करता था तथा नियम पालन करने के लिये प्रतिज्ञा करवाता था जो इस प्रकार थी:—

'नहि प्राणिवधः कार्यः, त्रिरत्नं मा परित्यज।
आचार्यस्ते न संत्याज्यः, संवरो दुरतिक्रमः॥'

अर्थात् प्राणिका वध कभी नहीं करना, तीनों रत्नों (बौद्ध, धर्म तथा संघ) को मत छोड़ना, आचार्य का परित्याग कभी न करना; यह नियम बहुत ही कठिन

---

१. या सा संसारचक्रं विरचयति मनः सन्नियोगात्महेतोः;
सा धीर्यस्य प्रसादाद्दिशति निजभुवं स्वामिनो निष्प्रपञ्चम्।
तच्च प्रत्यात्मवेद्यं समुदयति सुखं कल्पनाजालमुक्तं;
कुर्यात्तस्याङ्घ्रियुग्मं शिरसि सविनयं सद्गुरोः सर्वकालम्॥
(चर्याचर्यविनिश्चय पृ० ३)

है। इस अभिषेक का नाम 'बोधिचित्त' अभिषेक है। इसके प्राप्त करने पर साधक का द्वितीय जन्म होता है और उसे बुद्ध-पुत्र की पदवी प्राप्त होती है। अब तक का जन्म सांसारिक कार्य में व्यतीत हुआ। अब गुरु की कृपा से उसे आध्यात्मिक जन्म प्राप्त होता है। गुरु स्वयं बुद्धरूप है, अतः शिष्य का बुद्ध-पुत्र कहलाना उचित ही है। इस अभिषेक का रहस्य यह है कि शिष्य का चित्त निर्वाण की प्राप्ति के लिये सन्मार्ग पर लग जाता है और वह अब आध्यात्मिक मार्ग का पथिक बन कर अपने मंगल साधन में क्रियाशील होता है[1]।

तन्त्र-मार्ग की विशुद्ध साधना से अनभिज्ञ लोगों में यह धारणा फैली हुई है कि जितने त्याज्य कर्म हैं उन सब का अनुष्ठान साधक के लिए विहित है। परन्तु यह धारणा भ्रान्त, निराधार तथा निर्मूल है। तन्त्रों में साधक की योग्यता (अधिकार) पर बड़ा आग्रह दीखता है। शिष्य को 'पुण्यसंभार' का अर्जन करना नितान्त आवश्यक है जिसके निमित्त बुद्ध की बन्दना, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, समयग्रहण की व्यवस्था की गई है। यम-नियमों का सम्यक् अनुष्ठान कथमपि वर्जनीय नहीं है। अभिषेक के समय वज्राचार्य का यह उपदेश है—

प्राणिनश्च न ते घात्या, अदत्तं नैव चाहरेत्।
मा चरेत् कामिमिथ्या वा, मृषा नैव हि भाषयेत्[2] ॥

अर्थात् प्राणिहिंसा, अदत्ताहरण, कामचार तथा मिथ्या-भाषण कभी नहीं करना चाहिए। जो 'मद्यपान' आवश्यक समझा जाता है उसके लिए 'ज्ञानसिद्धि' स्पष्ट कहती है—

सर्वानर्थस्य मूलत्वाद् मद्यपानं विवर्जयेत्[3]।

अर्थात् समग्र अनर्थों के मूल होने से मद्यपान कभी न करना चाहिए। ये नियम साधन-मार्ग के प्रारम्भिक उपाय हैं। इनकी अवहेलना करने पर साधक साधारण मार्ग पर भी नहीं चल सकता; अद्वैत तन्त्रमार्ग पर चलना तो नितान्त दुरूह व्यापार है। सारांश है कि तन्त्रमार्ग की साधना उच्चकोटि की साधना है।

---

१. इस विषय के विशेष विवरण के लिये देखिये—श्रीगुह्यसमाजतन्त्र-पटल १५ पृ० ९४–११२। प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि-परि० ३, पृ० ११–१५। ज्ञानसिद्धि १७ वाँ परिच्छेद।

२. ज्ञानसिद्धि ८।१९। ३. वही ८।२०।

उसके निमित्त बड़े कड़े नैतिक आचरण की आवश्यकता है। थोड़ी भी नैतिक शिथिलता घातक सिद्ध होगी।

अवधूती-मार्ग

महासुख की उपलब्धि के स्थान तथा उपाय का वर्णन वज्रयानी ग्रन्थों में विस्तार के साथ मिलता है। सिद्धों का कहना है कि 'उष्णीष कमल' में महासुख की अभिव्यक्ति होती है। तन्त्रशास्त्र और हठयोग के ग्रन्थों में में इस कमल को 'सहस्रदल' (हजार पत्तों वाला) कहा गया है। वज्रगुरु का आसन इसी कमल की कर्णिका के मध्य में है। इस स्थान की प्राप्ति मध्यममार्ग के अवलम्बन करने से ही हो सकती है। जीव सांसारिक दशा में दक्षिण और वाम मार्ग में इतना भ्रमण करता है कि उसे मध्यम मार्ग में जाने के लिए तनिक भी सामर्थ्य नहीं होती। यह मार्ग गुरु की कृपा से ही प्राप्य है। सहजिया लोग वाम शक्ति को **'ललना'** और दक्षिण शक्ति को **'रसना'** कहते हैं। तान्त्रिक भाषा में ललना, चन्द्र तथा प्रज्ञा-वामशक्ति के द्योतक होने से समानार्थक है। रसना, सूर्य और उपाय-दक्षिण शक्ति के बोधक होने से पर्यायवाची हैं। इन दोनों के बीच में चलने वाली शक्ति का पारिभाषिक नाम है 'अवधूती'[1]। अवधूती शब्द की व्युत्पत्ति है—

'अवहेलया अनाभोगेन क्लेशादि पापान् धुनोति।

अर्थात् वह शक्ति जो अनायास ही क्लेशादि पापों को दूर कर देती है। अवधूतीमार्ग ही अद्वयमार्ग, शून्यपथ, आनन्दस्थान आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। ललना और रसना इसी अवधूती के ही अविशुद्ध रूप हैं। जब ये शक्तियाँ विशुद्ध होकर एकाकार हो जाती हैं तो इन्हें 'अवधूती' कहते हैं। तब चन्द्र का चन्द्रत्व नहीं रहता और न सूर्य का सूर्यत्व रहता है। क्योंकि इन दोनों के आलिङ्गन से ही 'अवधूती' का उदय होता है। वज्रजाप के द्वारा ललना और रसना का शोधन करने से तात्पर्य, नाड़ी की शुद्धि से है। शोधन होने पर दोनों नाड़ियाँ मिलकर एकरस या एकाकार हो जाती हैं। इसी निःस्वभाव या नैरात्म्य

---

१. द्रष्टव्य 'वीणापाद' का यह गायन—

सु ज लाउ ससि लागेलि तान्ती। अणहा दाण्डी वाकि किअत अवधूती॥
बाजइ अलो सहि हेरुअ बीणा सुन तान्ति घनि विलसइ रुणा॥

(बौद्धगान ओ दोहा पृ० २०)

अवस्था को ही शून्यावस्था कहते हैं। जो इस शून्यमय अद्वैतभाव में अधिष्ठान कर आत्मप्रकाश करता है वही सच्चा वज्रगुरु है।

रागमार्ग—

महासुख कमल में जाने के लिये यथार्थ सामारस्य प्राप्त करने के लिये मध्यपथ का अवलम्बन करना तथा द्वन्द्व का मिलन कराना ही होगा। दो को बिना एक किये हुये सृष्टि और संहार से अतीत निरंजन पद की प्राप्ति असम्भव है। इसलिये मिलन ही अद्वयशून्यावस्था तथा परमानन्द लाभ का एकमात्र उपाय है। सहजिया लोगों का कहना है कि बुरे कर्मों के परिहार से तथा इन्द्रियनिरोध से निर्विकल्पक दशा उत्पन्न नहीं की जा सकती। युगल अवस्था की प्राप्ति न होने से विराग तथा विषय का त्याग एकदम निष्फल है। इसके लिये एक ही मार्ग है—सहजमार्ग—रागमार्ग, वैराग्यमार्ग नहीं। इस मार्ग के लिये कठिन तपस्या आदि का विधान निष्फल है। श्रीसमाजतन्त्र का कथन है कि दुष्कर नियमों के करने से शरीर केवल दुःख पाकर सूखता है; चित्त दुःख के समुद्र में गिर पड़ता है। इस प्रकार विक्षेप होने से सिद्धि नहीं मिलती—

दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः, मूर्तिः शुष्यति दुःखिता।
दुःखाब्धौ क्षिप्यते चित्तं, विक्षेपात् सिद्धिरन्यथा॥

इसलिये पञ्च प्रकारों के कामों का त्यागकर तपस्या द्वारा अपने को पीड़ित न करे। योगतन्त्रानुसार सुखपूर्वक बोधि (ज्ञान) की प्राप्ति के लिये सदा उद्यत रहे—

पञ्चकामान् परित्यज्य तपोभिर्न च पीडयेत्।
सुखेन साधयेद् बोधिं योगतन्त्रानुसारतः॥

इसलिये वज्रयान का यह सिद्धान्त है कि देहरूपी वृक्ष के चित्तरूपी अङ्कुर को विशुद्ध विषय-रस के द्वारा सिक्त करने पर यह वृक्ष कल्पवृक्ष बन जाता है और आकाश के समान निरञ्जन फल फलता है। महासुख की तभी प्राप्ति होती है:—

तनुतरचित्ताङ्कुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः।
गगनव्यापी फलदः कल्पतरुत्वं कथं लभते[1]॥

---

१. 'चर्याचर्यविनिश्चय' के लुईपाद कृत प्रथम पाद की टीका में उद्धृत सरहपाद का वचन।

राग से ही बन्धन होता है अतः मुक्ति भी राग से ही उत्पन्न होती है। इसलिये मुक्ति का सहज साधन महाराग या अनन्यराग है, वैराग्य नहीं। इस बात के ऊपर 'हेवज्रतन्त्र' आदि अनेक तन्त्रों की उक्ति अत्यन्त स्पष्ट है:— 'रागेन बध्यते लोको रागेनैव विमुच्यते।' इसलिये अनङ्गवज्र ने चित्त को ही संसार और निर्वाण दोनों बतलाया है। जिस समय चित्त बहुल-सङ्कल्प-रूपी अन्धकार से अभिभूत रहता है; बिजुली के समान चञ्चल होता है और राग, द्वेष आदि मलों से लिप्त रहता है, तब वही संसार रूप है[1]।

अनल्प-सङ्कल्प-तमोऽभिभूतं, प्रभञ्जनोन्मत्त-तडिच्चलञ्च।
रागादिदुर्वारमलावलिप्तं; चित्तं विसंसारमुवाच वज्री॥

वही चित्त जब प्रकाशमान होकर कल्पना से विमुक्त होता है, रागादि मलों के लेप से विरहित होता है, ग्राह्य-ग्राहक भाव की दशा को अतीत कर जाता है तब वही चित्त निर्वाण कहलाता है[2]। वैराग्य को दमन करने वाले पुरुष को 'वीर' कहते हैं।

'डोम्बी' तथा 'चाण्डाली'

ऊपर ललना और रसना के एकत्र मिलन की बात कही गयी है। विशुद्ध होने पर ये दोनों 'अवधूती' के रूप में परिणत हो जाती हैं। उस समय एकमात्र अवधूतिका ही प्रज्वलित रहती है। 'अवधूतिका' के विशुद्ध रूप के लिए 'डोम्बी' शब्द का व्यवहार किया जाता है। वामशक्ति और दक्षिणशक्ति के मिलन से जो अग्नि या तेज उत्पन्न होता है उसकी प्रथम अभिव्यक्ति नाभिचक्र में होती है। इस 'अवस्था में वह शक्ति अच्छी तरह विशुद्ध नहीं रहती। इसका सहजिया भाषा में सांकेतिक नाम 'चाण्डाली' है। जब चाण्डाली विशुद्ध हो जाती है तब

---

१. प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि ४।२२

२. प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं, प्रहीणरागादिमलप्रलेपम्।
ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रसत्वं, तदेव निर्वाणपदं जगाद॥
(प्र० वि० सि० ४।२४)

नागार्जुन के निम्नाङ्कित वचन से इसकी तुलना कीजिये।

निर्वाणस्य तु या कोटिः, कोटिः संसरणस्य च।
न तयोरन्तरं किञ्चित्, सुसूक्ष्ममपि विद्यते॥

उसे 'डोम्बी' या 'बङ्गाली' कहते हैं[1]। अवधूती, चाण्डाली और बङ्गाली (या डोम्बी) एक ही शक्ति की त्रिविध अवस्था के नामान्तर हैं। अवधूती अवस्था में द्वैत का निवास रहता है क्योंकि उसमें इड़ा और पिङ्गला पृथक् रूप में अपना कार्य अलग-अलग निर्वाह करती हैं। चाण्डाली अवस्था में द्वैताद्वैत का निवास है तथा बङ्गाली अद्वैतभाव की सूचिका है। तन्त्र में शक्ति के जो तीन भेद—अपरा, परापरा तथा परा—किये-गये हैं उनका लक्ष्य इन्हीं तीनों भेदों से है। अवधूती अवस्था में वायु का संचार तथा निर्गम होता है, इसी का नाम संसार है। शक्ति को सरलमार्ग में ले आना अर्थात् वक्र गति को दूर कर सरलपथ में ले चलना साधक का प्रधान कार्य है। सिद्धाचार्यों का **उजू बाट**[2] (ऋजुवर्त्म, सीधा मार्ग) यही है। वाम और दक्षिण की गति जब तक है तब तक हमारा

---

१. तुलनीय भुसुकुपाद की यह प्रसिद्ध गीति—

आज भुसुक् बंगाली भइली। णिअ घरिणीं चण्डाली लेली॥
उहि जो पञ्चघाट णइ दिबिसंज्ञा णठा।
न जानमि चिअ मोर कहिं गइ पइठा॥

२. मध्यमार्ग ही सरल मार्ग, ऋजु मार्ग या **ऊजू बाट** है। सरहपाद की उक्ति है :—

'ऊजू रे ऊजू छाड़ि ना ले ओ रे वँक।'
निअहि बोहिया जाहु रे लाँक॥

अर्थात् ऋजुमार्ग को पकड़ो, ठेढ़े रास्ते को छोड़ दो।

सिद्धाचार्य शान्तिपाद (प्रसिद्ध नाम भुसुक) की यह उक्ति भी मननीय है—

वाम दहिन दो वाटा छांड़ी।
शान्ति बुगथेउ संकेलिउ॥

अर्थात् वाम और दक्षिण मार्ग को छोड़कर मध्यमार्ग का ग्रहण आवश्यक है। यही विशुद्ध 'अवधूतीमार्ग' या वज्रमार्ग है। विना इसका आश्रय लिये बुद्धत्व, तथागतभाव या महासुख की प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है—एतद् विरमानन्दोपायमार्गं विहाय नान्यमार्गसद्भावोऽभिमुखोऽस्ति। इसी का द्योतक यह तन्त्र वचन है—

एष मार्गवरः श्रेष्ठो महायानमहोदयः।
येन यूयं गमिष्यन्तो भविष्यथ तथागताः॥

मार्ग टेढ़ा (सिद्धों की भाषा में बाँक = वक्र) ही रहता है। इस मार्ग को छोड़कर सीधे मार्ग में आने के लिए सिद्धाचार्यों ने अनेक सुन्दर दृष्टान्त दिये हैं। इस मार्ग के अवलम्बन करने से वज्रयानी साधक को अपनी अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त होती है। अन्तिम क्षण में रागाग्नि आप से आप शान्त हो जाती है जिसका नाम है निर्वाण (या आग का बुझ जाना) रागाग्नि के निवृत्त होने से जिस आनन्द का प्रकाश होता है उसे कहते हैं—**विरमानन्द**। उस समय चन्द्र स्वभावस्थित होता है, मन स्थिर होता है, तथा वायु की गति स्तम्भित होती है। जिसके हृदय में विरमानन्द का प्रकाश उत्पन्न हो गया है, वही यथार्थ में योगीन्द्र, योगिराट् है तथा सहजिया भाषा में वही 'वज्रधर' पदवाच्य सद्गुरु कहलाता है।

महामुद्रा

सहजिया लोगों में महामुद्रा का साक्षात्कार ही सिद्धि गिना जाता है। शून्यता तथा करुणा के अभेद को ही 'महामुद्रा' कहते हैं[1]। जिसने इस अभेद ज्ञान को प्राप्त कर लिया है, उससे अज्ञात कोई भी पदार्थ नहीं रहता। उसके लिए समग्र विश्व के पदार्थ अपने विशुद्धरूप को प्रकट कर देते हैं। 'धर्मकरण्डक', 'बुद्धरत्नकरण्डक' तथा 'जिनरत्न'—इसी महामुद्रा के पर्याय हैं। तन्त्रशास्त्र में शिव और शक्ति का जो तात्पर्य तथा स्थान है वही रहस्य तथा स्थान वज्रयान में शून्यता तथा करुणा अथवा वज्र और कमल का है। शिव-शक्ति के सामरस्य को दिखलाने के लिए तन्त्र में एक यन्त्रविशेष का उपयोग किया जाता है। यन्त्र में दो समकेन्द्र त्रिकोण हैं—एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण रहता है और दूसरा अधोमुख त्रिकोण। ये पृथक् रूप से शिवतत्त्व तथा शक्तितत्त्व के द्योतक हैं—इनका एकीकरण दोनों के परस्पर आलिंगन या मिलन का यान्त्रिक निदर्शन है। शून्यता तथा करुणा के परस्पर मिलन—वज्र और कमल का परस्पर योग—दोनों का रहस्य एक ही है—शक्तिद्वय का परस्पर मिलन या सामरस्य या समरसता।

इन्द्रियसुख में आसक्त पुरुष धर्मतत्त्व का ज्ञाता कभी नहीं हो सकता। वज्र-कमल के संयोग से जिस साधक ने बोधिचित्त को वज्रमार्ग में अच्युत रखने की योग्यता प्राप्त कर ली है अथवा जिसने शिव-शक्ति के मिलन से ब्रह्मनाडी में बिन्दु को चालित कर स्थिर तथा दृढ़ करने की सामर्थ्य सिद्ध कर ली है, वही महायोगी

---

१. द्रष्टव्य ज्ञानसिद्धि १।५६–५७।

है। धर्म का तत्त्व उसकी ज्ञानदृष्टि के सामने स्वयं उन्मिषित हो जाता है। समस्त साधन का उद्देश्य बोधिचित्त या बिन्दु की रक्षा करना है। बोधिचित्त से अभिप्राय बोधिमार्ग पर आरूढचित्त से है[1]। ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे चित्त उस मार्ग से पतित न हो जाय। नाना प्रकार की साधना का फल काय, वाक् तथा चित्त की दृढ़ता सम्पादन करना होता है। देवता के संयोग से काय की दृढ़ता, वज्रजाप के द्वारा चन्द्र-सूर्य की गति के खण्डन होने पर वाक् की दृढ़ता और सुमेरुशिखर पर श्वास को ले जाने से चित्त की दृढ़ता सम्पादित होती है। बिना इनकी दृढ़ता हुए साधक में परम चैतन्य की शक्ति का आविर्भाव हो नहीं सकता। यदि आविर्भाव सम्भवतः हो भी जाय तो उसे सहन या धारण करने की क्षमता साधक में नहीं रहती। इसीलिए गुरु इस दृढ़ता की प्राप्ति के लिए विशेष आग्रह दिखलाता है। इस दृढ़ता की अभिव्यक्ति 'वज्र' शब्द के द्वारा की जाती है। इस प्रकार द्वैतभाव के परित्याग से अद्वैतभाव की अनुभूति वज्रयान का चरम लक्ष्य है। 'वज्र' शून्यता का ही भौतिक प्रतीक है क्योंकि दोनों ही दृढ़, अखण्डनीय, अछेद्य, अभेद्य तथा अविनाशी हैं—

दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥ (वज्रशेखर पृ० २३)

वज्रयान का अर्थ है सब बुद्धों का ज्ञान—(सर्वताथागतं ज्ञानं वज्रयानमिति स्मृतम्[2])। इस मत में परमार्थ सर्वव्यापक, अविकारी,

तत्त्वभावना सर्वज्ञ माना जाता है। आकाश के समान अप्रतिष्ठित, व्यापक तथा लक्षणवर्जित जो तत्त्व है यही 'वज्रज्ञान' है[3]। न यह भावरूप है, न अभावरूप, न भावाभावरूप और न तदुभयवर्जित है:—

भावाभावौ न तौ तत्त्वं, भवेत् ताभ्यां विवर्जितम् ।
न देशत्वमतो युक्तं, सर्वज्ञो न भवेत्तदा ॥ (ज्ञा० सि० १।२४)

---

१. अनादिनिधनं शान्तं भावाभावक्षयं विभुम् ।
शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तमिति स्मृतम् ॥ (श्रीसमाजतन्त्र पृ० १५३)
इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य (ज्ञानसिद्धि पृ० ७५)

२. ज्ञानसिद्धि १।२७

३. अप्रतिष्ठं यथाकाशं व्यापि लक्षणवर्जितम् ।
इदं तत् परमं तत्त्वं वज्रज्ञानमनुत्तरम् ॥ (ज्ञानसिद्धि १।४७)

मूलतत्त्व साकार तथा निराकार दोनों से भिन्न है। उसके निमित्त न तो शून्य की भावना करे न अशून्य की, न शून्य को छोड़े और न अशून्य का परित्याग करे (प्रज्ञोपाय० ४।५) क्योंकि शून्य और अशून्य के ग्रहण करने से अनल्प कल्पना का उदय होता है। इनके त्याग से संकल्प जन्मता है। इसलिए दोनों को छोड़ना आवश्यक है। परमार्थ निर्विकार, निरासङ्ग, निष्काङ्क्ष (आकाङ्क्षाहीन), गतकल्मष, आद्यन्तहीन, कल्पनामुक्त है। शून्यता ही 'प्रज्ञा' है तथा अशेष प्राणियों पर अनुकम्पा (कृपा) ही 'उपाय' है। प्रज्ञोपाय के मिलन का अर्थ है प्रज्ञा तथा करुणा का परस्पर योग। इसकी उपलब्धि से ही परमार्थ मिलता है[1]। तत्त्वभावना भावक, भाव्य तथा भावना की त्रिपुटी से रहित होती है—

न यत्र भावकः कश्चित्, नापि काचिद् विभावना।
भावनीयं न चैवास्ति, सोच्यते तत्त्वभावना[2] ॥

वज्रयानी ग्रन्थों में प्रज्ञा और उपाय की एकाकार की मूर्ति के निदर्शन के लिए एक बीज का वर्णन किया जाता है। यह बीज है—एवं। ब्राह्मणतन्त्रों में जिसे शिव-शक्ति का योग मानते हैं उसी तत्त्व को यह बीज प्रकट करता है। इस बीज का यान्त्रिक स्वरूप यह है कि एकार △ त्रिकोण की आकृति वाला है और बीच में लघु त्रिकोण के रूप में 'व' की की स्थिति है। ँ बिन्दु दोनों के संयोग का सूचक दोनों त्रिकोणों का मध्यबिन्दु है। यह बीज बुद्धरत्न के रखने के लिए करण्डक (सन्दूक) माना गया है। इसकी प्राप्ति की 'महासुख' उपलब्धि है। अतः यह सब सौख्यों का आलय माना जाता है। हेवज्रतन्त्र के अनुसार—

एवं तत्त्व

एकाराकृति यद्दिव्यं, मध्ये वंकारभूषितम्।
आलयः सर्वसौख्यानां, बुद्धरत्नकरण्डकम् ॥

इस बीजतन्त्र में एकार मातारूप है, और वह चन्द्र तथा प्रज्ञा का द्योतक है।

---

१. प्रज्ञोपायसुयुक्तात्मा सर्वासङ्गपराङ्मुखः।
जन्मनीहैव संसिध्येत तत्त्वाभ्यासे कृतश्रमः ॥ (प्रज्ञोपाय० ५।१६)

२. प्रज्ञोपाय-विनिश्चय-सिद्धि का चौथा परि० तथा ज्ञानसिद्धि का १२ वाँ परि० देखिए।

वकार पिता है एवं सूर्य तथा उपाय का सूचक है। बिन्दु अनाहत ज्ञान का प्रतीक है, जो दोनों के संमिश्रण का फल है—

एकारस्तु भवेन्माता वकारस्तु रताधिपः।
बिन्दुश्चानाहतं ज्ञानं तज्जातान्यक्षराणि च[1] ॥

अतः 'एवँ' युगलरूप का वाचक है। परमार्थ एक भी नहीं है, न दो ही है, अपितु दो होते हुए भी एकाकार है। इसी तत्त्व को वैष्णव 'युगलमूर्ति', तान्त्रिक-लोग 'यामल' तथा बौद्धलोग 'युगनद्ध' नाम से पुकारते हैं। जिस प्रकार दो बैल एक ही युग में बाँधे जाने पर अपनी भिन्नता खोकर एकता के सूत्र में बँध जाते हैं, उसी प्रकार यह परमतत्त्व (जो शिव-शक्ति अर्थात् प्रकृति-पुरुष के परस्पर मिलन का प्रतिनिधि है) दो होते हुए भी दो नहीं है। वह अद्वैत (दो नहीं), अद्वय (द्वय-नहीं) आदि पदों के द्वारा वाच्य होता है। इसी तत्त्व का प्रतिनिधि 'एवँ' पद हैं। इस वीज की उपयोगिता के विषय में सिद्ध काण्हपाद की यह रहस्यमयी उक्ति अवधान देने योग्य है—

एवँकार वीअ लइअ कुसुमिअ-अरविन्दए।
महुअर रुएँ सुरअ-वीर जिंघइ मअरन्दए[2] ॥

साधक को प्रथमतः वैराग्य को दमन करना चाहिए जिससे वह 'वीर' पदवी को प्राप्त करता है। तब इसी 'एवँ' वीज को लेकर अच्युत (कभी च्युत न होने वाला), महाराग (अत्यधिक प्रेममय) सुख को चित्त उसी प्रकार अनुभव करता है, जिस प्रकार भ्रमर खिले हुए कमल के ऊपर बैठकर मकरन्द का स्वाद लेता है।

'एवं' तत्त्व का यथार्थ ज्ञान समग्र ज्ञेय पदार्थों की उपलब्धि है। इसका ज्ञान साधक को उच्चकोटि की सिद्धि में पहुँचा देता है। काण्हपाद कहते हैं—

एवङ्कार जे बुज्झिअ ते बुज्झिअ सअल असेस।
धम्मकरण्डओ सो हु रे णिअ-पहुधर-वेस[3] ॥

आशय यह है कि जिसने एवङ्कार को जाना है उसने समग्र विषयों को जान लिया है। परमार्थ के ज्ञाता के सामने जगत् का कोई भी विषय अज्ञेय नहीं रहता।

---

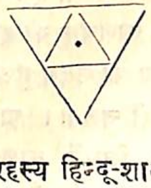
१. सिद्ध काण्हपाद के २१ वें दोहे की टीका में उद्धृत 'हेवज्रतन्त्र' के वचन। द्रष्टव्य—दोहाकोष पृ० १५६।

२. काण्ह—दोहाकोष, दोहा ६। ३. वही—दोहा २१।

शून्यता और करुणा की अभेदरूपिणी यह महामुद्रा धर्मकायरूप है अर्थात् बुद्ध का सत्य यथार्थ स्वरूप है। इसके ज्ञान होते ही साधक अपने प्रभु–वज्रधर–के वेश को धारण कर लेता है। इतना महत्त्वपूर्ण होने के कारण इस बीजमन्त्र का वज्रयानीय साधना में विशिष्ट गौरव है।

'एवँ' का आध्यात्मिक रहस्य

एवँ तत्त्व की उद्भावना बौद्धतन्त्र-ग्रन्थों में की गई है। एवँ शब्द तीन वर्णों–ए + व + ँ–से बना हुआ है और इसमें प्रत्येक वर्ण एक एक तत्त्वका प्रतीक है। एकार मातृशक्ति, चन्द्र तथा प्रज्ञा का द्योतक है। वकार शिवतत्त्व, सूर्य तथा उपाय का सूचक है। बिन्दु (ँ) दोनों के योग का प्रतीक है। इसी बिन्दु का दूसरा नाम अनाहत ज्ञान है। इस प्रकार 'एवँ' शिव शक्ति के सम्मिलन का सूचक है। एकार शक्ति त्रिकोण को सूचित करता है जो कि अधोमुख त्रिकोण ▽ है। वकार शिव त्रिकोण का प्रतिनिधि है जो त्रिकोण के बीच में ऊर्ध्वमुख से वर्तमान है। बिन्दु दोनों त्रिकोणों का केन्द्रस्थानीय है। इस प्रकार इसका यान्त्रिक निदर्शन इस प्रकार है—



इस यन्त्र का आध्यात्मिक रहस्य हिन्दू-शास्त्रों में भी स्वीकृत किया गया है जो बौद्धों के सिद्धान्त से मिलता जुलता है। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुरूप ही एकार शृङ्गाट (त्रिकोण) के रूप में शक्ति यन्त्र (भगयोनि) का प्रतीक है और वह वह्नि का गृह कहा गया है:—

त्रिकोणमेकादशमं, वह्निगेहं च योनिकम्।
शृङ्गाटं चैव एकार-नामभिः परिकीर्तितम्॥

इसके तीनों कोण इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति को सूचित करते हैं। इसी के मध्य में बौद्धों के वङ्कार के समान चिञ्चिणी क्रम की स्थिति त्रिकोण के मध्य में बतलाई जाती है—

त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम्।
इच्छाज्ञानक्रियाकोणं तन्मध्ये चिञ्चिणीक्रमम्॥

इस प्रकार इस तत्त्व का रहस्य बौद्धों के समान हिन्दू-तान्त्रिकों को भी ज्ञात था[1]।

(ङ) कालचक्रयान

वज्रयान के उदय के कुछ ही समय बाद एक नवीन बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसका नाम है **'कालचक्रयान'**। इस सम्प्रदाय की धारणायें वज्रयानी ग्रन्थों में ही उपलब्ध नहीं होतीं प्रत्युत शैव तान्त्रिकों के ग्रन्थों में भी ये सिद्धान्त पर्याप्त स्पष्टरूप से प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, प्रत्यभिज्ञादर्शन के आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने 'तन्त्रालोक' में कालचक्र का बड़ा ही विशद, विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है, परन्तु उन्होंने इस सिद्धान्त को शैव तान्त्रिक तथ्यों के अन्तर्गत ही सम्मिलित किया है। परन्तु ये सिद्धान्त मुख्यतया वे ही हैं जिनको आधार मानकर इस बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय ने अपने नवीन यान—कालचक्रयान—का प्रवर्तन किया। सिद्धाचार्यों की वाणियों के अनुशीलन से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि ये तथ्य सिद्धों को अवगत थे। कालचक्र की इस धारा को आश्रित कर पिछली शताब्दियों में इस नवीन सम्प्रदाय का उदय हुआ। परन्तु सामग्री के अभाव में इस मत के इतिहास का पता नहीं चलता। अभी हाल में **'सेकोद्देश टीका'** नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है[2] जिसमें कालचक्र के दार्शनिक सिद्धान्त तथा व्यावहारिक साधना-पद्धति का विशिष्ट वर्णन है। यह ग्रन्थ किसी मूल तन्त्रग्रन्थ

ग्रन्थ

१. इस तत्त्व के रहस्य के उद्घाटन का श्रेय महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज को है। इस विषय के विशेष जिज्ञासुओं को उनका निम्न लेख देखना चाहिये—

The Mystic Significance of 'Evam', G. N. Jha Research Institute Journal Vol II Part I 1944.

२. गा० ओ० सी० (संख्या ९०) में डा० कारेल्ली की महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना के साथ प्रकाशित, बड़ोदा १९४१। इसकी सम्पादिका इटली की रहने वाली हैं परन्तु उनका तन्त्र में प्रवेश तथा तान्त्रिक तत्त्वों की ओर उनकी सहानुभूति भारतीयों के समान है। ग्रन्थ के आरम्भ में दी गई प्रस्तावना विद्वत्तापूर्ण तथा ज्ञातव्य विषयों से परिपूर्ण है।

की व्याख्यामात्र है। इसके अनुशीलन से कालचक्रयान के विशाल साहित्य का तनिक आभास सा मिलता है। 'परमार्थ सेवा' के अतिरिक्त **'विमलप्रभा'** इस मत का विशिष्ट ग्रन्थ प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ के लेखक का नाम है—**नडपाद** या **नारोपा**। ये कोई विशिष्ट तान्त्रिक आचार्य प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ में नागार्जुन, आर्यदेव तथा चन्द्रगोमी[१] के तान्त्रिक मतविषयक पद्यों का उद्धरण दिया गया है। साथ ही साथ प्रसिद्ध सिद्धाचार्य सरहपाद के दोहा उद्धृत किये गये हैं[२]। इन्द्रभूति की ज्ञानसिद्धि से 'वज्रयान' का लक्षण दिया गया है[३]। अनेक अप्रसिद्ध सिद्धों के पद्य भी प्रमाणरूप से दिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि 'नारोपा' का समय १० म शताब्दी से पहले नहीं हो सकता। इस ग्रन्थ का विषय है—सेक, अभिषेक या तान्त्रिकी दीक्षा, परन्तु आचार-पद्धति के अतिरिक्त मूल सिद्धान्तों का भी संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इसी ग्रन्थ के आधार पर कालचक्रयान के मत का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

मुख्य सिद्धान्त—

कालचक्रयान का यह मुख्य सिद्धान्त है कि बाहर का समग्र ब्रह्माण्ड इस मानव-शरीर के भीतर है। यह तो वेदान्त का मान्य सिद्धान्त है कि पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में नितान्त एकता है। बाह्य जगत् के सूर्य-चन्द्र, आकाश-पाताल-भूमि, समस्त भुवन, विन्ध्य-हिमालय आदि पर्वत, गंगा-यमुना-सरस्वती आदि नदियाँ—जितने विशाल तथा सूक्ष्म प्रपञ्च उपलब्ध होते हैं वे सब इस देह में विद्यमान हैं। विद्वान् का कार्य है कि वह इस रहस्य को जानकर अपने शरीर की शुद्धि के सम्पादन का प्रयत्न करे। शरीर के ही द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, साधना का मुख्य साधन शरीर है। अतः कायशुद्धि होने पर ही प्राणशुद्धि तथा चित्तशुद्धि हो सकती है। काय, प्राण तथा चित्तका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक की शुद्धि हुए बिना दूसरे की विशुद्धता संघटित नहीं हो सकती और बिना तीनों की विशुद्धि

---

१. द्रष्टव्य सेकोद्देशटीका पृ० ५९।

२. वही, पृ० ४८/१, ४८/४।

३. वही पृ० ५८ (= ज्ञानसिद्धि पृ० ३६, श्लोक ४७)

हुए परमार्थ की प्राप्ति नितान्त असम्भाव्य है। इस प्रकार काय में ही कालचक्र का परिवर्तन सदा हुआ करता है। इस तत्त्व को पहचानना चाहिए।

यह विश्व शक्ति तथा शक्तिमान् के परस्पर संयोग का फल है। परम तत्त्व को 'आदिबुद्ध' कहते हैं। उनका न आदि है और न अन्त है। अनन्त ज्ञान से सम्पन्न होने से, अविपरीत रूप से समग्र धर्मों को जानने के कारण, वे ही 'बुद्ध' इस विश्व के आदि में वर्तमान होने से आदि बुद्ध हैं। 'आदि' से तात्पर्य है उत्पादव्ययरहित से। वे करुणा और शून्यता की मूर्ति हैं। अर्थात् परमतत्त्व के दो प्रकार हैं—(१) शून्यता-समस्त धर्मों के निःस्वभाव होने का ज्ञान; यह उत्कृष्ट प्रज्ञा है। (२) करुणा-अनन्त दया अर्थात् दुःख के समुद्र में डूबने वाले प्राणियों को उद्धार करने की असीम अनुकम्पा। प्रज्ञा तथा करुणा की सम्मिलित मूर्ति कालचक्रयान में 'आदि बुद्ध' है जिस की यह महती विशिष्टता है कि वे सर्वज्ञ होते हुए परम कारुणिक हैं। जब तक करुणा का उदय नहीं होता, तब तक प्रज्ञासम्पन्न होने से भी विशेष लाभ नहीं है। इसलिए 'बुद्ध' को हम 'भगवान्' कहते हैं—अर्थात् जगदुद्धार की सामर्थ्य रखने वाला। अतः महायानी कल्पना के अनुसार ही कालचक्रयान में 'आदि बुद्ध' की कल्पना करुणा और शून्यता की एकता के रूप में की गई है। उन्हीं की संज्ञा 'काल' है। उनकी शक्ति संवृतिरूपिणी है अर्थात् जगत् का यह व्यावहारिक रूप (संवृति) उन्हीं की शक्ति हैं। चक्र संतत परिवर्तनशील विश्व का प्रतिनिधि है। शक्ति से संवलित रूप 'कालचक्र' है। यह अद्वय (दो होकर भी एक) है तथा कभी विनाश नहीं होने वाला (अक्षर) है—

> अनादिनिधनो बुद्ध आदिबुद्धो निरन्वयः।
> करुणाशून्यता-मूर्तिः कालः संवृतिरूपिणी।
> शून्यता चक्रमित्युक्तं कालचक्रोऽद्वयोऽक्षरः॥

आदि-बुद्ध—

आदि-बुद्ध के **चार काय** होते हैं—(१) सहज काय, (२) धर्म काय, (३) सम्भोग काय तथा (४) निर्माण काय। वैदिक दर्शन में जीव की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय—ये चार अवस्थायें मानी जाती हैं। इन चारों अवस्थाओं में विद्यमान रहने वाला चैतन्य भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। जाग्रत् अवस्था के साक्षी चैतन्य को (जीव को) 'विश्व' कहते है, स्वप्न के साक्षी को 'तैजस' तथा

सुषुप्ति के साक्षी को 'प्राज्ञ' कहते हैं। इससे अतिरिक्त तुरीयदशा का साक्षी वास्तव 'आत्मा' है। उसी प्रकार कालचक्रयान में इन अवस्थाओं से सम्बद्ध चार कायों की कल्पना मानी जाती है। इनसे सम्बद्ध भिन्न-भिन्न वज्र तथा योग का निर्देश इस चक्र में किया गया है—

१	सहजकाय	करुणा	ज्ञानवज्र	विशुद्धयोग	तुरीय
	धर्मकाय	मैत्री	चित्तवज्र	धर्मात्मक योग	सुषुप्ति
३	संभोगकाय	मुदिता	वाग्वज्र	मन्त्रयोग	स्वप्न
४	निर्माणकाय	उपेक्षा	कायवज्र	संस्थान योग	जाग्रत्

आदि-बुद्ध का (१) **सहजकाय** ही परमार्थतः सत्य है। यह शून्यता के ज्ञान होने से विशुद्ध है। यह तुरीयदशा के क्षय न होने से अक्षर तथा महासुख रूप है। वास्तव करुणा का उदय इसी काय में है। अतः वह ज्ञानवज्र कहा गया है। यही विशुद्ध योग है। (२) **धर्मकाय** में बिना निमित्त ही ज्ञान का उदय होता है। सुषुप्ति के क्षय होने से यह नित्य, अनित्य आदि द्वैत से रहित होता है, मैत्री रूप है, निचले दोनों कायों के द्वारा जगत् का समग्र कार्य सम्पन्न कराता है, यह निर्विकल्पक चित्त की भूमि होने से 'चित्तवज्र' तथा धर्मात्मक योग कहलाता है। (२) **सम्भोगकाय** स्वप्न की दशा का सूचक है। इसमें अक्षय अनाहत ध्वनि का उदय होता है। सब प्राणियों के नादरूप होने से मन्त्रमुदिता रूप है। मन्त्र के उदय का सम्बन्ध इसी काय से है। इसे वाग्वज्र तथा मन्त्रयोग कहते हैं। इसी काय के द्वारा आदिबुद्ध धर्म तत्त्वों की शिक्षा प्रदान करते हैं। (४) **निर्माण-काय** का सम्बन्ध जाग्रत् दशा से है। नाना निर्माण कायों को धारणकर बुद्ध क्लेश का नाश करते हैं। यही कायवज्र तथा संस्थान योग कहलाता है। इन चारों कायों की कल्पना योगाचार को भी मान्य थी। इस कल्पना में अनेक नवीन बातें मनन करने योग्य हैं[१]।

१. सेकोद्देशटीका पृ० ५—६

'कालचक्र'—

'कालचक्र' शब्द समष्टि तथा व्यष्टि रूप से उसी परम-तत्त्व का द्योतक है। इस शब्द के चारों अक्षर परमार्थ सत्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। **'का'** कारण का प्रतीक है अर्थात् परमतत्त्व कारणरहित है। कारण बोधिचित्त काय एक ही पदार्थ हैं। **'ल'** लय (नाश) का द्योतक है। लय किसका ? प्राण का। काय के व्यापार के शान्त होने पर प्राण का लय अवश्यम्भावी होता है। **'च'** चल चित्त का वाचक है। जगत् के व्यापार के साथ सम्बद्ध रहने से चित्त इन्हीं विषयों में सदा भ्रमण किया करता है। इसलिए वह चञ्चल रहता है। **'क्र'** क्रम बन्धन का सूचक है। अर्थात् तुरीयावस्था में काय, प्राण तथा चित्त का बन्धन क्रमशः सम्पन्न होता है। प्राण तथा चित्त का परस्पर योग नितान्त घनिष्ठ रहता है। इसलिए प्रथमतः कायबिन्दु का निरोध करना आवश्यक है। यह ललाट में सम्पन्न होता है। अतः 'का' निर्माणकाय का सूचक है। कण्ठ में वाग्-बिन्दु के निरोध होने से प्राण का लय होता है। विना प्राण के लय किये चञ्चल चित्त का बन्धन हो नहीं सकता। इन तीनों के बन्धन तथा लय का अनुष्ठान तुरीय दशा में किया जाता है। अतः 'कालचक्र' (जिसमें ये चारों अक्षर क्रमशः सन्निविष्ट हैं) उसी परम सत्यभूत, अक्षर, आदि-बुद्ध को द्योतित करता है—

> काकारात् कारणे शान्ते लकाराल्लयोऽत्र वै।
> चकाराच्चलचित्तस्य क्रकारात् क्रमबन्धनैः॥

'काल चक्र' पदतः उसी परमार्थ का द्योतक है। 'कालचक्र' में दो शब्द हैं—काल और चक्र। काल और चक्र का समन्वय ही परमतत्त्व का द्योतक है। ज्ञान तथा ज्ञेय से सम्बन्ध रखनेवाला ज्ञाता, सब आचरणों के क्षय का कारण है। अतः वह 'काल' कहलाता है। काल, उपाय तथा करुणा—एक ही तत्त्व के पर्याय है—वही तत्त्व, जिसे हम पुरुष या शिव के नाम से ब्राह्मण-ग्रन्थों में पुकारते हैं। ज्ञेयरूप में सदा उपस्थित रहने वाला, तीन धातुओं—काम धातु, रूप धातु तथा अरूप धातु से सम्बद्ध, अनन्त स्थिति से सम्पन्न जगत् का यह चक्र 'चक्र' कहलाता है। चक्र, प्रज्ञा, शून्यता—एक ही तत्त्व के पर्याय है—वही तत्त्व, जिसे प्रकृति या शक्ति की संज्ञा ब्राह्मणग्रन्थों में है। परम तत्त्व इन्हीं ज्ञाता तथा ज्ञेय, प्रज्ञा तथा उपाय का समन्वय होने के कारण **कालचक्र** की संज्ञा से पुकारा जाता

है। तन्त्र के जिस तत्त्व पर हम इतना आग्रह दिखलाते हैं उसी युगलरूप परम-तत्त्व की सूचना शिवशक्ति की एकता का बोधक 'कालचक्र'[1] शब्द दे रहा है। कालचक्र यान में यही परमार्थ है।

इस तत्त्व की उपलब्धि के लिए कालचक्रयानियों ने विशिष्ट साधना बतलाई है जिसका उपदेश गुरु के मुख से ही किया जा सकता है। कालचक्रयान की मौलिकता स्पष्ट है।

---

१. स एव कालचक्रो भगवान् प्रज्ञोपायात्मको ज्ञानज्ञेय-सम्बन्धेनोक्तो यथाक्षर-सुखज्ञानं सर्वावरणक्षयहेतुभूतं काल इत्युक्तम्।

(सेकोद्देशटीका पृष्ठ ८)

पञ्चम खण्ड

(बौद्ध धर्म का प्रसार और महत्त्व)

हूणान् चीनांश्च काम्बोजान् शिष्टान् सभ्यांश्च यो व्यधात् ।
गौरवं तस्य धर्मस्य कथा वाचा प्रतन्यते ॥

तेइसवाँ परिच्छेद
बौद्धधर्म का विदेशों में प्रसार

भारत के बाहर बौद्ध-धर्म के प्रचार का अपना पृथक् ही इतिहास है। अशोक ने इसे सर्व-प्रथम राजकीय आश्रय देकर इसका विपुल प्रचार किया। इसके पहिले यह भारत के एक प्रान्तमात्र का धर्म था। परन्तु यदि अशोक की धर्मप्रचार-भावना इस धर्म को प्राप्त न हुई होती तो इसकी दशा जैनधर्म के समान ही होती। अशोक ने अपने पुत्र और पुत्री महेन्द्र और संघमित्रा को सर्व-प्रथम प्रचार कार्य के लिये लंका द्वीप में भेजा। तब से लंका ही स्थविरवादी बौद्ध धर्म (हीनयान) का प्रधान केन्द्र बन गया। वहीं से यह धर्म बर्मा, स्याम (थाईलैण्ड) और कम्बोडिया में फैला। इस प्रचार इन देशों में हीनयान धर्म की प्रधानता है। भारत के उत्तर में तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया तथा जापान में महायान धर्म की प्रधानता है। भारतवर्ष से कनिष्क के समय (प्रथम शताब्दी) में यह धर्म चीनदेश में गया तथा चीन से होकर यह कोरिया और तिब्बत पहुंचा। कोरिया से यह धर्म जापान में आया। मंगोलिया में इस धर्म के प्रचार करने का श्रेय तिब्बती लोगों को है। इस प्रकार भारत के दक्षिणी प्रदेशों में हीनयान का और उत्तरी प्रदेशों में महायान की प्रधानता है।

(क) तिब्बत में बौद्धधर्म

तिब्बत का राज-धर्म बौद्ध-धर्म है। वहाँ का राजा दलाई लामा धर्म का भी गुरु समझा जाता है। तिब्बत को बौद्धधर्म चीन से प्राप्त हुआ और इसीलिये तिब्बती लोगों ने संस्कृत-ग्रन्थों के चीनी अनुवाद का भाषान्तर अपनी भाषा में किया। सर्वास्तिवादी मत के जिन ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में विशेष रूप से मिलता है इन ग्रन्थों का मूल संस्कृत रूप भारत में भी अप्राप्य है। अतः सर्वास्तिवाद के त्रिपिटक के विषय तथा महत्त्व को जानने के लिये तिब्बती अनुवादों का अध्ययन अनिवार्य है। तिब्बती अनुवादों की यह एक बड़ी विशेषता है कि संस्कृत ग्रन्थों का वे अक्षरशः अनुवाद प्रस्तुत करते हैं। अतः इनकी सहायता से मूल संस्कृत ग्रन्थों का संस्कृतरूप भली-भाँति पुनर्निर्मित किया जा सकता है। तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रचार का इतिहास बड़ा मनोरञ्जक है। भिक्षु राहुल सांकृ-

त्यायन ने 'तिब्बत में बौद्धधर्म' में इस इतिहास को ६ युगों में विभक्त किया है— (१) आरम्भयुग ५८० ई०–७६३ ई०; (२) शान्तरक्षित युग (७६३ ई०–९८२ ई०), (३) दीपङ्कर-युग (१०४२–११०२); (४) सक्स्य-युग (११०२–१३७६ई०) (५) चोङ्-ख प युग (१३७६ ई० १६६४ ई०), (६) वर्तमानयुग (१६६४ ई०–)।

शान्त रक्षित—

तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रवेश स्नोङ्-गचन्-गस्नम्-पो (जन्मकाल ५५७ ई०) के राज्यकाल में प्रथम बार हुआ जब उनकी स्त्री नेपालराजकुमारी अपने साथ अक्षोभ्य, मैत्रेय तथा तारा की चन्दन की मूर्तियाँ ले आई और दूसरी स्त्री चीन-राज की कन्या पुरातन बुद्धप्रतिमा को चीन से दहेज में लाई। इन स्त्रियों के सहवास से राजा ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया। परन्तु इसको व्यापक रूप ७६३ई० में मिला जब शान्तरक्षित नालन्दा से तिब्बत में धर्म-प्रचार के निमित्त राजा के निमन्त्रण पर आये। **शान्तरक्षित** नालन्दा विहार के बड़े भारी प्रौढ़ दार्शनिक थे जिनके व्यापक पाण्डित्य का परिचय 'तत्त्वसंग्रह' से भलीभाँति चलता है। ज्ञानेन्द्र नामक तिब्बती भिक्षु इन्हें पहले-पहल स्वयं तिब्बत ले गये। राजा ने इनका बड़ा स्वागत किया। राजमहल में ही वे ठहराये गये तथा इनकी भूयसी अभ्यर्थना की गई। कारण वश इन्हें भारत लौटना पड़ा। दूसरी बार राजा खि-स्रोङ्-ल्दे-ब्चन (७४२-८५ ई०) के निमन्त्रण पर शान्तरक्षित ७५ वर्ष की अवस्था में शारीरिक कठिनाइयों का विना ख्याल किये तिब्बत पहुँचे। भोट-देश के अनेक पुरुषों को भिक्षु बनाया गया तथा 'सम्ये' नामक स्थान पर बड़ा विशाल विहार बनाया गया (७६३–७७५ ई०)। यही पहला विहार तिब्बत में स्थापित किया गया जो पीछे बौद्ध-धर्म के प्रचार तथा प्रसार में विशेष सहायक सिद्ध हुआ। तिब्बत में आचार्य की मृत्यु के अनन्तर उनके विद्वान् शिष्य कमलशील भी राजा के निमन्त्रण पर वहाँ गये परन्तु चीनी भिक्षुओं के साथ वैमनस्य होने के कारण इन्हें अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा।

दीपंकर श्रीज्ञान—

दीपंकर श्रीज्ञान का जन्म विक्रमशिला महाविहार के पास ही किसी सामन्त के गृह में हुआ था। सुनते हैं कि इन्होंने नालन्दा तथा बोधगया में ही नहीं, प्रत्युत सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) में भी जाकर विद्याध्ययन किया था। विक्रमशिला

महाविहार में ही ये पीछे अध्यापन कार्य करते थे। ज्ञानप्रभ नामक भोटदेशीय भिक्षु के निमन्त्रण पर वे तिब्बत गये (१०४२ ई०)। जीवन के अन्तिम तेरह वर्ष वहीं बिताकर १०५५ ई० में, ७३ वें साल की उम्र में वहीं निर्वाण प्राप्त किया। इन्होंने सैकड़ों संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद दुभाषियों की सहायता से तिब्बती भाषा में किया, जिसमें आचार्य भव्य (या भावविवेक) का 'मध्यमकरत्नदीप' नितान्त विख्यात है। यह तीसरा युग अनुवाद के कार्य के लिए नितान्त महत्त्व-शाली है। इसमें मुख्य दार्शनिक ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद प्रस्तुत किये गये।

बुस्तोन—

चतुर्थ युग के ग्रन्थकारों तथा अनुवादों में **बु-स्तोन** का नाम उल्लेखनीय है। इनका नाम रिन्-छेन्-ग्रुब (१२९०–१३६४ ई०) था। इनकी विद्वत्ता अद्वितीय थी। ये अपने समय के ही नहीं; बल्कि आजतक हुए तिब्बती विद्वानों में अद्वितीय माने जाते हैं। इन्होंने स्वयं पचासों ग्रन्थ लिखे जिनमें भारत और भोटदेश में बौद्ध-धर्म के इतिहास का प्रतिपादक ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण रचना है[1]।

परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण कार्य उस समय तक के सभी अनुवादित ग्रन्थों को एकत्र कर क्रमानुसार दो बड़े संग्रहों में जमा करना है। इनमें एक का नाम स्क-ग्युर (प्रसिद्ध नाम कन्जुर है) और दूसरे का नाम स्तन-ग्युर (प्रसिद्ध नाम तंजुर) है। इनमें पहला संग्रह उन ग्रन्थों का है जो बुद्ध के वचन माने गये। 'स्क' शब्द का अर्थ भोट भाषा में है 'वचन' और 'ग्युर' कहते हैं अनुवाद को। इस प्रकार 'कंजुर' में बुद्ध-वचन माने जाने वाले ग्रन्थों का संग्रह है। तंजुर में बुद्ध-वचन से भिन्न दर्शन, काव्य, वैद्यक, ज्योतिष, तन्त्र आदि ग्रन्थों का विशाल संग्रह है। 'स्तन' शब्द का अर्थ है 'शास्त्र'। अतः दूसरे संग्रह में शास्त्रपरक ग्रन्थों का तिब्बतीय संग्रह है। कंजुर और तंजुर का अध्ययन बौद्ध धर्म के अनु-शीलन के लिए कितना आवश्यक है, इसे विद्वानों को बतलाने की आवश्यकता नहीं। इस संग्रह के कर्ता 'बुस्तोन' हमारी महती श्रद्धा के भाजन हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं[2]।

---

१. इस ग्रन्थ का अनुवाद डा० ओबरमिलर ने अंग्रेजी में किया है।

२. तंजुर के ग्रन्थों की विस्तृत सूची के लिए देखिए डा० कारदियेर का सूत्री-पत्र Catalogue du fonds tibetain de la Bibliotheque natainale; Paris 1909—15.

लामा तारानाथ—

चौथे युग में बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ता ही गया। इस युग के आरम्भ में चोङ्-रव प नामक प्रसिद्ध भिक्षु ने एक महाविद्यालय तथा एक महाविहार की स्थापना कर बौद्ध धर्म का विपुल प्रचार किया। इसी युग में प्रसिद्ध विद्वान् **लामा तारानाथ** (१२७५ सन्) भी हुए। यद्यपि इनका अध्ययन बुस्तोन या चोङ्-रव-प की भाँति गंभीर न था, तौभी ये बहुश्रुत थे। इनके अनेक ग्रन्थों में 'भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास' नामक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण माना जाता है। दन्तकथाओं से मिश्रित होने के कारण से यह विशुद्ध इतिहास तो नहीं कहा जा सकता, तथापि भारत से बाहर, विदेशी दृष्टि से लिखे जाने के कारण इसका महत्त्व कम नहीं है। सबसे पूर्व इस ग्रन्थ का अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में हुआ था जिसके कारण तारानाथ की प्रसिद्धि खूब अधिक हो गई। इन्होंने अनुभूति स्वरूपचार्य के 'सारस्वत व्याकरण' का अनुवाद किया जिसमें कुरुक्षेत्र के पण्डित कृष्णभट्र ने इनकी पर्याप्त सहायता की। इनके अतिरिक्त इस युग में पाँचवे दलाई लामा भी धर्म-प्रचार में विशेष लग्न रखते थे। इन्हीं की प्रेरणा से पाणिनीय व्याकरण की प्रक्रियाकौमुदी तथा सारस्वत का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया गया। इसी युग के साथ बौद्ध धर्म के प्रचार की कहानी समाप्त होती है[१]।

इस संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट है कि तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार लगभग १३०० सौ वर्षों से है। दसवीं से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक भारत और तिब्बत का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ था। इसी समय वज्रयानी सिद्धाचार्यों के संस्कृत तथा लोकभाषा में लिखे गए ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया गया। कालक्रम से मूल संस्कृत ग्रन्थों के नष्ट हो जाने पर भी तिब्बती ग्रन्थों के सहारे हमें बौद्ध-ग्रन्थों के विषय का ज्ञान हो सकता है। तिब्बती अनुवाद इतने मूलानुसारी हैं कि उनकी सहायता से संस्कृत मूल रूप का निर्माण भली भांति किया जाने लगा है। तिब्बत के मूल धर्म (बोन धर्म) में भूत-प्रेत की पूजा की बहुलता

---

१. इस विवरण के लिए ग्रन्थकार भिक्षु राहुल सांकृत्यायन के 'तिब्बत में बौद्ध धर्म' का विशेष ऋणी है। यह संक्षिप्त वर्णन इसी प्रामाणिक ग्रन्थ के आधार पर है।

है। अतः तिब्बत में जो सभ्यता तथा संस्कृति दीख पड़ती है वह सब बौद्ध धर्म के प्रचार का ही फल है।

(ख) चीन में बौद्ध-धर्म

चीन की एक दन्तकथा है कि सन् ६८ ई० में चीन के महाराज मिङ्गटी (५८–७५ ई०) ने एक सपना देखा कि एक सोने का बना हुआ आदमी उड़कर राजमहल में प्रवेश कर रहा है। उसने अपने सभासदों से इसका अर्थ पूछा। उन्होंने कहा कि यह पश्चिम के सन्त बुद्ध (चीनी नाम फो या फोतो) के आगमन की सूचना है। राजा इस स्वप्न से इतना प्रभावित हुआ कि उसने भारत से बौद्ध आचार्यों को लाने के लिए अपने तसाई इन, सिङ् गिङ्ग तथा वाङ् स्वाङ्ग नामक तीन राजदूतों को भेजा। वे यहाँ भारत में आये तथा काश्यप मातङ्ग और धर्मरत्न नामक दो आचार्यों को अपने साथ लेकर ६४ ई० में लौट गये। बौद्ध धर्म का चीन देश में यही प्रथम प्रवेश है। कनिष्क ने बौद्धों की चतुर्थ संगीति की थी तथा वैभाषिक मत के मान्य ग्रन्थ विभाषा या महाविभाग जैसे बृहत्काय भाष्य-ग्रन्थ का निर्माण कराया था। प्रचारार्थ चीन में भिक्खु भी भेजे गये। फलतः सर्वास्तिवादी त्रिपिटकों का अनुवाद तथा प्रचार चीन देश में हुआ। यह अनुवाद संस्कृत मूल के नष्ट हो जाने के कारण समधिक महत्त्वशाली है। सर्वास्तिवादियों के इस विपुल परन्तु विस्मृत साहित्य का परिचय इन्हीं चीनी अनुवादों के आधार पर आजकल मिलता है।

चीनी परिव्राजक तथा भारतीय पण्डितों के साहित्यिक उद्योग का काल पञ्चम शताब्दी से आरम्भ होता है जब फाहियान (३९९–४१२ ई०) ने भारत में भ्रमण किया और बौद्धस्थानों का निरीक्षण कर बुद्धधर्म से साक्षात् परिचय प्राप्त किया।

फाहियान

ह्वेनचाँग (६२९–४५ ई०) तथा इचिङ् (६७१–९५ ई०) के नाम तथा काम इस प्रसङ्ग में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। ह्वेन चाँग के यात्रा-विवरणात्मक ग्रन्थ का चीनी नाम है—तताङ् सियुकी जिसे उसके शिष्य ने ६४५ ई० में संकलित किया था। दूसरा ग्रन्थ है—शिह-चिआ-फां-चू जिसमें शाक्यमुनि के धर्म का पर्याप्त विवरण है। इसकी रचना ६५० ई० में परिव्राजक के शिष्य तथा अनुवाद कार्य में सहायक ताओ

ह्वेनचाँग

सिउश्रान ने की थी। तीसरा ग्रन्थ ह्वेनचाँग की जीवन का सारांश है (रचनाकाल ६६५ ई०)। इस विद्वान यात्री ने ७५ प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनेक सहायकों के साथ अनुवाद किया। महत्त्व की बात यह है कि ये समग्र ग्रन्थ प्रायः विज्ञानवाद मत से सम्बन्ध रखते हैं। इस समय भारत में इसी मत की प्रतिष्ठा थी, नालन्दा विहार में इसी की प्रधानता थी। च्वाँग यहीं का विद्यार्थी था। फलतः उसके विज्ञानवाद का समर्थक होने में आश्चर्य की बात नहीं है।

इचिङ्

इचिङ् (६७१-६९५ ई०) इनके पीछे भ्रमण के लिए भारत में आया। वह स्वयं सर्वास्तिवादी था। इसके मूल ग्रन्थ तथा भारत के पाठ्य-ग्रन्थों के अन्वेषण तथा मनन की ओर उसकी स्वाभाविक अभिरुचि थी। उसका यात्रा-ग्रन्थ इस दृष्टि से विशेष माननीय है। ये सर्व-प्रसिद्ध चीनी परिव्राजक हैं। इनसे पहले तथा बाद भी चीन से बौद्ध धर्म के जिज्ञासु यात्री आते थे तथा प्रचार के इच्छुक बौद्ध भिक्षु चीन में जाते थे और ग्रन्थों के अनुवादकार्य में संलग्न होकर धर्म की वृद्धि में हाथ बँटाते थे। इचिङ् ने लगभग ५० चीनी यात्रियों के नामों का उल्लेख किया है। अनुवाद का मुख्य काल पञ्चम से लेकर सप्तम शताब्दी है परन्तु चीन का भारत से सम्बन्ध पीछे भी कम घनिष्ठ न था।

भारतीय पण्डितों ने भी बुद्धधर्म के प्रचार करने के लिए दुर्लङ्घ्य हिमालय को पारकर चीन में पदार्पण किया और अश्रान्त परिश्रम से चीनी जैसी चित्र-प्रधान लिपि का तथा भाषा का अध्ययन किया तथा अपने संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया। गुप्त-काल में यह विद्यासम्पर्क बहुत ही घनिष्ठ था। इन पण्डितों के अध्यवसाय की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है। ऐसे भिक्षुओं में कुमारजीव, बुद्धभद्र, बुद्धयश, धर्मरक्ष, गुणवर्मन्, गुणभद्र, बोधिधर्म, संघपाल, परमार्थ, उपशून्य, बोधिरुचि और बुद्धशान्त के नाम आज भी चीनी साहित्य में प्रसिद्ध हैं जिन्होंने अपने धार्मिक उत्साह के सामने न तो हिमालय को और न समुद्र को अलङ्घ्य समझा और जिनकी कीर्ति भारत में संस्मरणीय होने पर भी आज चीन की कर्मभूमि में चमक रही है। इनमें **कुमारजीव** तथा **परमार्थ** का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। चीन में बुद्ध धर्म को जन-प्रिय बनाने का अधिकांश श्रेय इन्हीं दोनों आचार्यों को है।

(१) कुमारजीव (३२५-४१५ ई०)

कुमारजीव स्वयं भारत में पैदा नहीं हुए थे, पर भारतीय थे। ये चीनी तुर्किस्तान के प्रधान नगर कूचा के निवासी थे। ये सातवें वर्ष अपनी माता के साथ बौद्ध बन गये। कूचा में आचार्य बुद्धदत्त के शिष्य बन प्रथमतः सर्वास्तिवादी थे, अनन्तर महायान में दीक्षित हुए। ३८३ ई० में जब चीनी सेनापति ने कूचा पर आक्रमण किया, तब वह इन्हें कैदी बनाकर चीन ले गया। पर इन्हें चीन महाराज ने राज्यगुरु के पद पर प्रतिष्ठित किया और इसी पद से इन्होंने बुद्ध धर्म का उपदेश दिया। इन्होंने बौद्ध धर्म के माननीय ९८ प्रामाणिक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इनके ग्रन्थों से चीन-वासियों को विशाल बुद्ध साहित्य का परिचय मिला। अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव, वसुबन्धु—इन आचार्य चतुष्टयी का जीवनचरित भी इन्होंने चीनी भाषा में लिखा है।

(२) **परमार्थ**—चीनी बौद्ध साहित्य के इतिहास में परमार्थ का नाम सदा स्मरण का विषय रहेगा। चीन के धार्मिक नरेश सम्राट उटी (५०२-५४९ ई०) ने भारत से संस्कृत ग्रन्थों के लाने के लिये जिस अनुचरदल को भेजा था, उसी के साथ परमार्थ भी ५४९ ई० में चीन गए और बीस वर्ष के लगातार घोर परिश्रम से ५० संस्कृत ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया जिनमें ३० ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। ये अभिधर्म के विशेष ज्ञाता थे। इनका ही अनुवाद अनेक संस्कृत ग्रन्थों की स्मृति आज भी बनाये हुए है। उनमें अश्वघोष का 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र', असंगकृत 'महायान सम्परिग्रह शास्त्र' तथा 'तर्कशास्त्र' आदि ग्रन्थ विशेष महत्त्व के हैं। ईश्वर की कृपा से हिरण्यसप्तति (सांख्यकारिका) का वृत्ति (माठर वृत्ति ?) के साथ अनुवाद आज भी उपलब्ध है। ५६९ ई० में परमार्थ ने धर्म के अर्थ अपनी जन्मभूमि मालवा से सुदूर चीन में निर्वाण प्राप्त किया।

परमार्थ

(३) हरिवर्मा—सत्यसिद्धि सम्प्रदाय

चीनदेश में आकर बुद्ध धर्म में अवान्तर शाखायें उत्पन्न हो गईं। यहाँ के किसी आचार्य ने तथागत के किसी उपदेश को विशेष महत्त्व दिया फलतः उस उपदेश के आधार पर नवीन मत का उदय हुआ जो जापान में विशेष रूप से फैला। इस सम्प्रदाय का नाम था 'सत्यसिद्धि सम्प्रदाय' तथा संस्थापक का

हरिवर्मा। बड़े दुःख तथा आश्चर्य का विषय है कि भारत में न तो हरिवर्मा का नाम ही कोई जानता है और न उनके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय ही से कोई परिचित है। अतः इस भूले हुए बौद्ध आचार्य का थोड़ा परिचय देना कुछ अप्रासङ्गिक न होगा।

हरिवर्मा मध्यभारत के रहने वाले थे। इन्होंने 'सत्यसिद्धि-शास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। परन्तु दुःख का विषय है कि इस ग्रन्थ-रत्न का मूल संस्कृत उपलब्ध नहीं है। कुमारजीव ने इसका अनुवाद चीनी भाषा में किया था जिससे इसके स्वरूप का परिचय मिलता है। इस ग्रन्थ का तिब्बती भाषा में भी अनुवाद उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में २०२ अध्याय हैं। चीन देश के बौद्धमताव-लम्बियों में इस ग्रन्थ का इतना अधिक प्रचार हुआ कि लियान राजवंश के समय में 'सत्यसिद्धिशास्त्र' के नामकरण से 'सत्यसिद्धि' नामक एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय ही स्थापित हो गया। हरिवर्मन् ने सर्वास्तिवादियों के सिद्धान्तों का बड़ा ही खण्डन किया है।

विद्वानों ने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि हरिवर्मन् कुमारजीव के एक शताब्दी पहिले हुए थे। अतः इनका समय २५० ई० माना जाय तो कुछ अनुचित न होगा। इनके सम्प्रदाय की यह विशेषता थी कि ये हीनयान को मानते हुए भी शून्यवाद के पक्षपाती थे। इस प्रकार से इन्होंने हीन-यान और महायान का अपने सम्प्रदाय में संमिश्रण कर दिया है। इन्होंने बौद्धधर्म की सत्य वार्तों की सिद्धि पर अत्यधिक ज़ोर दिया है। सम्भवतः इसीलिये इनके सम्प्रदाय का नाम 'सत्यसिद्धि' पड़ गया। चीन देश में इस सम्प्रदाय का कभी बहुत प्रचार था परन्तु आश्चर्य है कि ऐसे उद्भट विद्वान् तथा आचार्य का आज कोई नाम भी नहीं जानता[1]।

(ग) कोरिया में बौद्ध-धर्म

चीन के बाद बौद्धधर्म का प्रवेश कोरिया में हुआ और वहाँ से वह जापान में गया। जापान में जिन-जिन बौद्ध सम्प्रदायों का प्रचार हुआ वे प्रायः कोरिया होकर ही वहाँ पहुँचे थे। कोरिया का इतिहास तीन राज्यों में विभक्त किया जा सकता है :—

---

१. इस विषय की विशेष जानकारी के लिये देखिये (Yamakami Sogen—Systems of Buddhist Thought P, 72—79.)

(१) सिला का राज्य (६६८ ई० ९१८ ई० तक)।
(२) कोरये का राज्य (९१८–१३९२)।
(३) चोज़ेन का राज्य (१३९२–१९१०)।

सातवी शताब्दी में सिला राज्य की प्रधानता थी। इस राज्य ने ५२८ ई० में बौद्धधर्म को स्वीकार किया। यद्यपि इस समय कनफ्यूशियन धर्म भी प्रचलित था परन्तु उसकी प्रधानता नहीं थी। सातवीं शताब्दी में सिला बौद्ध-सभ्यता तथा व्यापार का केन्द्र बन गया था। इस समय भारत, तिब्बत और एशिया से व्यापार करने के लिये लोग यहाँ आते थे और कोरिया के अनेक लोग भी तीर्थ-यात्रा के लिये भारत आते थे। सन् ९१८ ई० में वाङ्ग वंश का राज्य हुआ। इस समय में बौद्धधर्म की बड़ी उन्नति हुई। अनेक विहारों का निर्माण हुआ। परन्तु यह अवस्था बहुत दिनों तक रही। १२५० ई० में दूसरे वंश ने विजय प्राप्त किया और इनके समय में बौद्धधर्म का ह्रास होने लगा। दो राजाओं ने जो विहार बनवाये उनको नष्ट कर दिया गया, बौद्धधर्म के पठन का निषेध हो गया। १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजधानी में बौद्ध-विहारों को बन्द कर दिया गया इसीलिये कोरिया के गावों तथा पहाड़ी प्रदेशों में ही विहार मिलते हैं। इस प्रकार वहाँ बौद्धधर्म का क्रमशः ह्रास होने लगा। परन्तु सन् १९१० ई० में जब से जापानियों ने इसे जीत लिया है बौद्धधर्म फिर से पनपने लगा है, इस धर्म का प्रचार होने लगा है तथा इसके अध्ययन के लिये अनेक सुविधायें प्रदान की गयी हैं।

(घ) जापान में बौद्ध-धर्म[1]

जापान में बौद्ध-धर्म का प्रवेश कोरिया से ५५२ ई० या ५३८ ई० में हुआ, जब कोरिया के राजा ने जापान के महाराज किम्मेई के पास सूत्रों तथा धार्मिक उपकरणों के साथ शाक्यमुनि बुद्ध की काँसे की मूर्ति उपहार में भेजी। कुछ दिनों तक जापानी-धर्म और बौद्ध धर्म का संघर्ष बना रहा। परन्तु यह विरोध शीघ्र ही नष्ट हो गया और ५० वर्ष के भीतर ही राजकुमार शोतुकू (५७४–६२२ ई०) के प्रयत्न से बौद्धधर्म जापान में नितान्त प्रतिष्ठित हो गया। इन्होंने नारा (जापान

---

१. यह वर्णन सुजुकी (Suzuki) के Essays in Zen Buddhism (P. 222–331) नामक ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है।

के प्रसिद्ध शहर) में तथा उसके आसपास बहुत से सुन्दर बौद्ध-मन्दिरों का निर्माण किया जिनमें होर्युजी का मन्दिर आज भी वर्तमान है। इन्होंने पुण्डरीक, श्रीमाला तथा विमलकीर्ति—इन तीन बौद्ध सूत्रों पर टीकायें भी लिखीं, इसी लिये जापानी बौद्ध धर्म के इतिहास में राजकुमार शोतुकू का नाम सदा के लिये अमर रहेगा। बौद्धधर्म के प्रथम प्रवेश के अनन्तर राजा और उनके सरदारों ने इस धर्म के प्रति विपुल श्रद्धा दिखलाई। अनन्तर धीरे-धीरे वहाँ की जनता ने भी इसे ग्रहण किया। जापानी संस्कृति तथा सभ्यता के उत्थान में बुद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव सर्वत्र कारण-भूत था, इसे विशेष रूप से दिखलाने की कोई आवश्यकता नहीं।

वर्तमान जापान में अनेक बौद्ध सम्प्रदाय विद्यमान हैं जिनमें भगवान् तथागतकी किसी विशिष्ट शिक्षा को महत्त्व प्रदान किया गया है। इन सम्प्रदायों में मुख्य ये हैं जिनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१ तेन्दई सम्प्रदाय—

चीन देश में इस सम्प्रदाय का नाम है तियेन्ताई। इस मत के अनुसार व्यवहार और परमार्थ—सत् और असत्—में किसी प्रकार का वास्तविक भेद नहीं है। अश्वघोष के कथनानुसार संसार और निर्वाण में अन्तर, जल और तरङ्गों के अन्तर के समान है। जल सत्य है और तरंग असत्य। परन्तु जिस प्रकार तरंग जल से पृथक् नहीं है और न जल तरंग से अलग से है, उसी प्रकार परमार्थ और व्यवहार एक दूसरे से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं धारण करते। इस सम्प्रदाय का यही मूल मन्त्र है। इस मत के चीनी संस्थापक का नाम ची-चे-ता-शी है। इस धर्म का मूल ग्रन्थ है 'सद्धर्मपुण्डरीक'। इस ग्रन्थ तथा 'माध्यमिककारिका' का अध्ययन कर इसके संस्थापक ने शून्यता, प्रज्ञप्ति तथा मध्यमप्रतिपदा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ये तीनों सत्य परस्पर सम्बद्ध हैं। इस प्रकार इस मत में योगाचार के विपरीत माध्यमिक मत के प्रति विशेष पक्षपात है। जापान में इस धर्म का प्रचार तथा प्रतिष्ठा देङ्गियो-दैशी नामक धार्मिक नेता (७६७ से ८२२ ई० तक) के द्वारा की गयी।

१ तेन्दई सम्प्रदाय

इस मत के अनुसार बुद्ध की शिक्षाओं के तीन भेद माने गये हैं। (१)

कालक्रमानुसार (२) सिद्धान्तानुसारी (३) व्यवहारी। बुद्ध की समस्त शिक्षायें पाँच भागों में विभक्त की गई हैं (१) अवतंसक सूत्र,—संबोधि प्राप्त करने के बाद बुद्ध ने तीन सप्ताहों तक इस सूत्र की शिक्षा दी जिसमें महायान के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन है। (२) आगम सूत्र—जिनकी शिक्षायें दूसरे काल में बुद्ध ने सारनाथ में १२ वर्ष तक दी। (३) वैपुल्य-सूत्र–इनमें हीनयान और महायान के सिद्धान्त आठ वर्ष तक उपदिष्ट किये गये। (४) प्रज्ञापारमिता सूत्र—चौथे काल में बुद्ध ने २२ वर्ष तक इन सूत्रों का उपदेश किया। (५) सद्धर्म पुण्डरीक और महानिर्वाण सूत्र—इनका उपदेश आठ वर्षों तक अपने जीवन के अन्तिम काल तक बुद्ध ने किया। इन ग्रन्थों का सिद्धान्त ही बुद्ध की शिक्षा का परम विकास है।

सिद्धान्तानुसारी वर्गीकरण में बुद्ध की शिक्षायें स्थूल से सूक्ष्म या अपूर्ण से पूर्ण के क्रम से की गई हैं। इस कल्पना के अनुसार बुद्ध की शिक्षायें चार भागों में विभक्त हैं। (१) त्रिपिटक (२) सामान्य शिक्षा (३) विशिष्ट शिक्षा—जो केवल बोधिसत्त्वों के लिये है। (४) पूर्ण शिक्षा—बुद्ध तथा समस्त जगत् के प्राणियों की एकता का उपदेश जिनके ऊपर तेन्दई सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा है।

व्यावहारिक वर्गीकरण में बुद्ध के उपदेश व्यावहारिक दृष्टि से चार भागों में विभक्त हैं। (१) आकस्मिक—वह शिक्षा जिसे तथागत ने बिना किसी अनुष्ठान के निर्वाण की सद्यः प्राप्ति के लिये दी। (२) क्रमिक शिक्षा—जिसमें क्रम-क्रम से निर्वाण की प्राप्ति के साधन बतलाये गये हैं। इस मार्ग में धीरे-धीरे उठकर साधक निम्न कोटि से ऊपर जाकर निर्वाण प्राप्त करता है। आगम,सूत्र, वैपुल्य-सूत्र तथा प्रज्ञापारमिता की गणना इसी श्रेणी में है। (३) गुप्त शिक्षा—यह शिक्षा उन लोगों के लिये है जो बुद्ध के सार्वजनिक उपदेशों से लाभ उठाने में असमर्थ हैं। (४) अनिर्वचनीय—इसका अभिप्राय यह है कि बुद्ध की शिक्षायें इतनी गूढ़ है कि अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न लोगों ने उसका भिन्न-भिन्न अर्थ समझा है।

यह सम्प्रदाय शून्यवाद का पक्षपाती होते हुये भी अपने को उससे पृथक् तथा उच्चतर समझता है[1]।

---

१. इस मत के विस्तृत विवरण के लिये देखिये (Yamakami—Systems of Buddhist Thought P. 270—86.)

२—केगोन सम्प्रदाय

तेन्दई सम्प्रदाय के साथ यह सम्प्रदाय भी बौद्ध-दर्शन के आध्यात्मिक विकास का चूडान्त निदर्शन माना जाता है। यह सम्प्रदाय योगाचार मत की एक शाखा है जो उत्तरी चीन में उत्पन्न हुआ। इसके संस्थापक का नाम तू-फा-शुन था। ये षष्ठ शतक में उत्पन्न हुये। अवतंसक सूत्र इस सम्प्रदाय का मूलग्रन्थ है। इसी लिये इस सम्प्रदाय का नाम अवतंसक पड़ गया जिसको जापानी भाषा में 'केगोन' कहते हैं। इस मत के अनुसार भी बुद्ध की शिक्षाओं में क्रमिक विकास बतलाया गया है।

इस सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त है कि यह विश्व एक ही चित्त का परिणाम स्वरूप है। संस्कृत में इसका अर्थ है—एकचित्तान्तर्गतधर्मलोकः। अर्थात् एक ही चित्त सत्य पदार्थ है जिसके भीतर यह समग्र विश्व अन्तर्निविष्ट है। यह चित्त एक है, अनन्त है तथा परमार्थभूत है। चित्त और जगत् का पारस्परिक संबन्ध जल में चन्द्र के प्रतिबिम्ब के समान है। आकाशगत चन्द्रमा वास्तविक चन्द्रमा है। जलगत चन्द्रमा उसी का प्रतिबिम्ब है। इसी प्रकार यह संसार उस अनन्त एक चित्त का प्रतिबिम्ब-मात्र है। एक चित्त ही का नाम धर्मकाय है। इस प्रकार यह सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद से बहुत कुछ समानता रखता है।

सिद्धान्त

३–शिङ्गोन सम्प्रदाय

इसी को मन्त्र सम्प्रदाय भी कहते हैं। चीन तथा जापान में तान्त्रिक बौद्ध-धर्म का यही प्रतिनिधि है। चीन में बौद्ध तन्त्रों के प्रचार का अपना अलग इतिहास है। इसका प्रचार वहाँ दो भारतीय पण्डितों ने किया जिनके नाम वज्रबोधि तथा उनके शिष्य अमोघवज्र थे। **वज्रबोधि** ६६० ई० के लगभग दक्षिण भारत के ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। ये काञ्ची के राजपुरोहित थे। ये नालन्दा में बौद्ध-ग्रन्थों के अध्ययन के लिये गये और ५८ वर्ष की वृद्ध अवस्था में अपने प्रिय शिष्य अमोघवज्र के साथ ७१९ ई० में चीन में गये। ७१ वर्ष की उम्र में उसी विदेश में इनका देहावसान हुआ। इन्होंने ११ तान्त्रिक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जो वज्रयान से सम्बन्ध रखते हैं।

इनकी मृत्यु के अनन्तर **अमोघवज्र** ने बौद्ध-तन्त्रों का चीन देश में इतना

अधिक प्रचार किया कि तन्त्रों के प्रति वहाँ के राजा तथा प्रतिष्ठित पुरुषों की श्रद्धा जाग उठी। राजा ने अमोघवज्र को भारत से तन्त्र-ग्रन्थों को लाने के लिये भेजा। वे भारत में आये तथा बड़े परिश्रम से ५०० तन्त्र ग्रन्थों का संग्रह कर चीन देश को ले गये। हिङ्वाङ्ग तुरुङ्ग नामक राजा ने इनके इन कार्यों से प्रसन्न होकर इन्हें ज्ञाननिधि (चुत्साङ्ग) की उपाधि से विभूषित किया। अमोघवज्र की बड़ी इच्छा थी कि मैं चीन देश में तन्त्र का प्रचार कर अपने देश को लौटूँ परन्तु राजा ने इन्हें रोक लिया और इनके प्रति बहुत ही अधिक आदर दिखलाया तथा भू-सम्पत्ति भी प्रदान की। चीन में रहकर अमोघवज्र ने १०८ तन्त्र-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया और ७७४ ई० में, ७० वर्ष की आयु में, इस उत्साही ब्राह्मण पण्डित ने सुदूर चीन देश में निर्वाण पद प्राप्त किया। वज्रबोधि और अमोघवज्र–ये ही दोनों 'मन्त्र सम्प्रदाय' के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। इनकी मृत्यु के अनन्तर इनके चीनी शिष्य हुइलाङ्ग इस मत के तृतीय आचार्य बनाये गये।

परन्तु धीरे-धीरे चीन देश में मन्त्रों के प्रति जनता की आस्था घटने लगी। लेकिन जापान में यह सम्प्रदाय आज भी जीवित है और इसका सारा श्रेय इसके जापानी प्रतिष्ठापक 'कोबो दैशी' को है। कोबो देङ्ग्यो के समकालीन थे। ये उनसे ७ वर्ष छोटे थे और उनकी मृत्यु के बाद १२ वर्ष तक जीते रहे। कोबो बहुत बड़े प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। ये गम्भीर विद्वान्, साधु, परिव्राजक, चित्रकार, व्यवहारज्ञ तथा सुलेखक थे। इनके अध्ययन के प्रधान विषय महावैरोचनसूत्र और वज्रशेखर-सूत्र थे। कोया पर्वत को इन्होंने 'शिङ्गून सम्प्रदाय' का प्रधान स्थान बनाया और उनके शिष्यों का यह विश्वास है कि वे आज भी समाधि में वर्तमान हैं। यद्यपि वह पर्वत पर रहना पसन्द करते थे परन्तु संसार से सम्बन्ध-विच्छेद करना वे नहीं चाहते थे। 'शिङ्गोन सम्प्रदाय' के सिद्धान्त वे ही हैं जो वज्रयान के। मन्त्र की साधना तथा मुद्रा, धारणी और मण्डल का प्रयोग इस सम्प्रदाय में विशेष रूप से है। हम पहिले दिखला चुके हैं कि तिब्बती बौद्धधर्म भी वज्रयान से प्रभावित हुआ है। इस प्रकार दोनों देशों—जापान और तिब्बत—की कला पर तान्त्रिक धर्म का विशेष प्रभाव पड़ा है। मन्त्रयान के प्रधान देवता बुद्ध वैरोचन का चित्रण इन देशों के प्रधान कलाकारों ने किया है। जापान में वैरोचन फेदो के नाम से प्रसिद्ध हैं। विशेष जानने की बात यह है कि तान्त्रिक मन्त्रों की

चीनी अक्षरों में हूबहू प्रतिलिपि कर दी गयी है। चीनी विद्वान इन चीनी अनुवादों में दिये गये संस्कृत के मन्त्रों का उद्धार भलीभाँति कर सकते हैं।

४ जोदो-सम्प्रदाय

इसी का दूसरा नाम 'सुखावती' सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त यह है कि बुद्ध के नाम के जपने से (नेम-बुत्सू) मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाता है और वह अमिताभ (जापानी नाम अमिद) के सर्व-सौख्य-सम्पन्न लोक में निवास करता है। शिङ्गोन सम्प्रदाय रहस्यमय होने के कारण से चुने हुए अधिकारियों को सिखलाया जाता था। बुद्ध धर्म के लिये जनता का हृदय स्पर्श करना आवश्यक था। यह कार्य इस नये युग में हुआ।

इस धर्म को जनप्रिय बनानेवाले विद्वान् का नाम **कूय-शोनिन** था (९०२-९७२)। परन्तु इस मत के सबसे बड़े आचार्य थे **होनेन-शोनिन** (११३३ ई०-१२१२ ई०)। उन्होंने चीनी और जापानी दोनों भाषाओं में ग्रन्थ लिखकर इस मत को लोक-प्रिय बनाया। उनकी शिक्षा बिलकुल ही सीधी थी। बुद्ध का नाम जपना, उन्हें आत्म-समर्पण करना साधक के लिये प्रधान कार्य माना जाता था। कर्मकाण्ड की न तो विशेष आवश्यकता थी, न रहस्यवादी दर्शन की। केवल सच्चे शुद्ध हृदय से अमिताभ बुद्ध की प्रार्थना ही साधक के स्वार्थ-साधन का प्रधान उपाय है। होनिन् के पीछे **शिन रान्** (११७७ ई०-१२६२ ई०) इस मत के आचार्य हुए। इन्होंने इस मत की और भी अधिक उन्नति की। बुद्ध के शरण में जाना ही मनुष्य के लिये प्रधान कार्य था। उनका कहना था कि मनुष्य स्वभाव से ही पातकी है। इन पातकों का निराकरण सरलता से बुद्ध के नाम जपने से ही हो सकता है।

इस प्रकार जोदो सम्प्रदाय में भक्ति की प्रधानता है। जिस प्रकार वैदिक धर्म में नाम-जप से मनुष्य भगवान् के लोक में जाकर बिराजता है, ठीक उसी प्रकार जोदो मत में नाम-जप से स्वर्गलोक में समग्र सुख और सम्पत्ति प्राप्त होती है। सुखावती (स्वर्ग) कल्पना बड़ी ही रोचक तथा कवित्वपूर्ण है। जापानी जन-साधारण का यही अपना बौद्धधर्म है। इस धर्म के दो मूल ग्रन्थ हैं (१) सुखावतीव्यूहसूत्र (२) अमितायुर्ध्यानसूत्र। बुद्ध का नाम 'अमिताभ' है जो आजकल जापानी भाषामें 'अमिद्' के नाम से पुकारा जाता है।

५ निचिरेन् सम्प्रदाय

इस मत के संस्थापक का नाम **निचिरेन् शोनिन्** (१२२२ ई० से १२८२ ई० तक) है। वे बड़ी ही निम्न-श्रेणी में उत्पन्न हुये थे। पिता एक साधारण मल्लाह थे। इनमें धार्मिक उत्साह विशेष था। आज भी इनके अनुयायी बहुत कुछ सैनिक प्रवृत्ति के हैं और अन्य बौद्धों के साथ विशेष हेलमेल नहीं रखते। निचिरेन् की शिक्षा 'सद्धर्मपुण्डरीक' के ऊपर आश्रित है जिसके ऊपर 'तेन्दई' मत भी पूर्वकाल से ही आश्रित था। इसलिये इस नवीन मत को 'तेन्दई' दर्शन का व्यावहारिक प्रयोग कह सकते हैं। इस मत के अनुसार शाक्यमुनि सर्वदा वर्तमान रहते हैं। वे आज भी हमारे बीच में हैं। इस नित्य बुद्ध की अभिव्यक्ति प्रत्येक जीवित प्राणी में होती है। अमिद की सुखावती इस लोक की वस्तु नहीं है और न वैरोचन का वज्रलोक ही इस संसार से सम्बन्ध है। परन्तु शाक्यमुनि इसी जगत् में हैं और हम लोगों में इन्हीं का प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। बुद्ध की इस अभिव्यक्ति का पता हमें 'नमः पुण्डरीकाय' इस महामन्त्र के एकाग्रचित्त होकर जप करने से हो सकता है। इस सम्प्रदाय की यह बड़ी विशेषता है कि वह इसी लोक से सम्बन्ध रखता है। काल्पनिक स्वर्गभूमि कल्पना कर लोगों को ऐहिक कार्यों से पराङ्मुख करना नहीं चाहता। ऐहिकता को अधिक महत्त्व देने के कारण इस मत में देशभक्ति तथा स्वार्थ त्याग की ओर विशेष रुचि है। यह सम्प्रदाय विशुद्ध जापानी है क्योंकि इसकी उत्पत्ति जापान में ही हुई। इसका चीन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

६–ज़ेन सम्प्रदाय

ज़ेन जापानी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है ध्यान। यह वास्तविक संस्कृत 'ध्यान' का ही अपभ्रंश है। इस मत में ध्यान को निर्वाणप्राप्ति का विशिष्ट साधन स्वीकार किया गया है। षष्ठ शताब्दी में बोधिधर्म नामक भारतीय पण्डित ने दक्षिण भारत से जाकर चीन में इस धर्म का प्रचार किया। ६०० वर्ष तक यह सम्प्रदाय चीन में उन्नति को प्राप्त करता रहा। १२ वीं शताब्दी में यह मत जापान में आया जहाँ इसने बड़ी ही व्यापक उन्नति की। आजकल जापानी सम्प्रदायों में ज़ेन का अपना एक विशिष्ट स्थान है तथा जापानी संस्कृति के अभ्युदय में इस मत का विशेष प्रभाव स्वीकार किया जाता है।

इस धर्म का मूल ग्रन्थ है 'लंकावतारसूत्र'। अनन्तर गण्डव्यूहसूत्र और प्रज्ञापारमितासूत्र का भी प्रभाव इस मत के ऊपर पिछली शताब्दी में विशेष रूप से पड़ा। जापानी विद्वान् सुज़ुकी ने इस मत के इतिहास तथा सिद्धान्त का प्रामाणिक विवरण अनेक ग्रन्थों में दिया है। इस सम्प्रदाय के अनुसार ध्यान ही जीवन का लक्ष्य पाने के लिये परम साधन है। जीवन का उद्देश्य उन बाहरी कल्पनाओं के जाल को छिन्न-भिन्न कर देना है जिसे बुद्धि ने आत्मा के चारों ओर बिछा रक्खा है तथा साक्षात् रूप से आत्मा के स्वरूप को जान लेना है। ध्यान के महत्त्व को प्रतिपादन करने के लिये जापान के एक कलाकार ने एक बड़ा ही रमणीय चित्र चित्रित किया है जिसमें एक ज़ेन (ध्यानी) सन्त वृक्ष की डाल के ऊपर ध्यान में स्थित चित्रित किया गया है। पाई लेतियन नामक प्रसिद्ध कवि जब एक प्रान्त के शासक बने तब वे इस ध्यानी सन्त के दर्शन के लिये आये। वृक्ष पर बैठे हुए सन्त से उन्होंने कहा 'सन्त जी ! आपका स्थान बड़ा ही खतरनाक है' सन्त ने कहा कि तुम्हारा स्थान मुझसे बढ़कर है। कवि ने पूछा कि मैं तो यहाँ का शासक ठहरा, मेरा स्थान आदरणीय है। सन्त ने कहा 'जब आपके हृदय में वासनायें जल रही हैं और चित्त अस्वस्थ है तो इससे बढ़कर और विपत्ति क्या हो सकती है ?' कवि-शासक ने कहा—'तो आपके बौद्धधर्म का सिद्धान्त क्या है ?' इस पर सन्त ने धम्मपद का निम्नांकित श्लोक सुनाया जिसमें हिंसा का न करना, पुण्यकार्यों का अनुष्ठान करना तथा चित्त की शुद्धता बौद्ध-धर्म का प्रधान सिद्धान्त बतलाया गया है:—

सब्ब पापस्य अकरणं, कुसलस्य उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं, एतत् बुद्धान सासनं ॥ १४।५

बौद्ध धर्म के इस सिद्धान्त को सुनकर शासक ने कहा कि इसमें कौन सी नयी बात है। इसे तो तीन वर्ष का बच्चा भी जानता है। सन्त ने कहा—बहुत ठीक, परन्तु अस्सी का बूढ़ा भी इसे कार्यरूप में परिणत करते हुए कठिनता का अनुभव करता है।

इस प्रकार ध्यान या समाधि का अनुष्ठान इस मत का व्यावहारिक मार्ग है। बोधिसत्त्व की जिन चर्याओं का वर्णन महायान ग्रन्थों में है उनके अनुष्ठान के ऊपर यह सम्प्रदाय विशेष जोर देता है। शून्यवाद का भी सिद्धान्त इसे मान्य है[1]।

पाश्चात्त्य देशों में बौद्ध-धर्म का प्रभाव

बृहत्तर भारत, तिब्बत, चीन, कोरिया तथा जापान में बौद्ध धर्म के भ्रमण तथा प्रचार की कथा कही जा चुकी है। अब हमें यह विचार करना है कि पाश्चात्त्य देशों में बौद्ध धर्म का क्या प्रभाव पड़ा ? हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि बौद्ध पण्डितों तथा प्रचारकों ने केवल भारत के समीपवर्ती देशों में ही बौद्ध-धर्म का प्रचार नहीं किया, बल्कि उन्होंने सुदूर बेबेलोनिया तथा मिश्र आदि देशों में भी इस धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरायी थी। यह बात उल्लेखनीय है कि भारत का जो प्रभाव भूमध्यसागर के देशों पर पड़ा वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं पड़ा बल्कि वह फारस, बेबिलोनिया तथा मिश्र देश होते हुये पहुँचा। ईसाई धर्म के अनेक अङ्गों पर बुद्ध-धर्म का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा है। अशोक के शिलालेखों से पता चलता है कि उसने सुदूर पश्चिम के देशों में एन्टिओकस के राज्य तक धर्म्म के प्रचार के लिये अपने दूतों को भेजा था। इसके अतिरिक्त उसने टालेमी, एन्टिगोनस, मगस तथा सिकन्दर कें राज्यों तक धर्म फैलाया था। ये राजा सिरिया, मिश्र, एपिरस और मेसिडोनिया नामक देशों के राजा थे। इन देशों में अशोक ने भगवान् बुद्ध के धर्म के प्रचार के लिये अपने अनेक मिशनरियों को भेजा था। इन्हीं धर्म के प्रचारकों ने इन सुदूर देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। जातकों में 'वावेरु जातक' नामक जातक है जिसमें उस द्वीप में जाकर व्यापार करने की कथा का वर्णन है। वावेरु का ही नाम बेविलोनिया है। इस जातक से पता चलता है उस प्राचीन काल में भी भारत से बेविलोनिया देश से व्यापारिक सम्बन्ध था। अतः बहुत सम्भव है कि यहाँ के लोगों ने वहाँ जाकर बौद्धधर्म का प्रचार किया होगा।

ईसा के जन्म के समय सीरिया में 'एसिनी' नामक एक जाति के लोग बड़े ही धार्मिक तथा त्यागी थे। ये बड़े सदाचार से रहते थे तथा इन्द्रिय-दमन करते थे। ये लोग बौद्ध मिशनरियों से प्रभावित हुए थे। ईसा अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में इन्हीं लोगों के सम्पर्क में आये तथा उनसे इन्द्रिय-दमन और सदाचार की शिक्षा ग्रहण की। ईसा ने इसी आदर्श का व्यवहार रूप में प्रयोग

---

१. इस मत के विस्तृत तथा प्रामाणिक वर्णन के लिये देखिये—
Suzuki—Essays in Zen Buddhism. (2nd Series)

अपने धर्म में किया। इन्होंने चर्च के पादरियों को ब्रह्मचर्य का जीवन बिताने, सदाचारी रहने तथा इन्द्रिय-दमन करने का उपदेश दिया। इस प्रकार से ईसाई धर्म में तपस्या (कम से कम पादरियों के लिए) तथा इन्द्रिय-दमन की भावना बौद्ध-धर्म की देन समझनी चाहिये। इतना ही नहीं, पाश्चात्य कहानी साहित्य में भी बुद्ध का महान् व्यक्तित्व अवतरित किया जाने लगा। पाश्चात्य चर्च में सेण्ट ज़ोजफ या जोसफट की जो कहानी है वह बोधिसत्त्व का ही रूपान्तरित आख्यान है। यही कहानी वहाँ धार्मिक कथाओं में बरलाम और ज़ोजफकी कहानी से प्रसिद्ध हैं जो सातवीं शताब्दी से प्रचलित है। ईसाई धर्म में पशुहिंसा का निषेध, वेदि या मूर्ति के आगे धूप, दीप, पुष्प तथा संगीत का प्रदर्शन करना बौद्ध-धर्म से लिया गया है। मेनिकेइज़म (Manichaeism) नामक सम्प्रदाय तो बिलकुल ही बौद्ध धर्म से प्रभावित हुआ है। यदि बाइबिल का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि बुद्ध और ईसा की शिक्षा में नितान्त समता है। बाइबिल का 'सरमन औन दि माउण्ट' वाला उपदेश बुद्ध के 'धम्मपद' में सङ्ग्रहीत उपदेशों से अत्यधिक समानता रखता है। इस प्रकार हम देखते हैं बौद्धधर्म ने भारत के न केवल पूर्वी देशों को बल्कि पश्चिमी देशों को भी अपनी शिक्षा से प्रभावित किया था[1]।

१. ईसाई धर्म पर बुद्ध धर्म के प्रभाव के लिये देखिये—सर चार्ल्स इलियट हिन्दू इज़म एण्ड बुद्धिजम भाग ३, पृ० ४२६-४८।

चौबीसवाँ परिच्छेद

बौद्ध-धर्म तथा हिन्दू-धर्म

बौद्ध धर्म तथा उपनिषद् के परस्पर सम्बन्ध की मीमांसा एक विकट समस्या है। इस विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं दीख पड़ता। कुछ विद्वान् बौद्ध-धर्म को उपनिषदों के मार्ग से नितान्त पृथक् मानते हैं। बुद्ध ने यज्ञों के कर्मकाण्ड-की समधिक निन्दा की है। अतः उसे अवैदिक मानकर ये लोग उसके सिद्धान्त को सर्वथा वेदविरुद्ध अंगीकार करते हैं। परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति में यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। शाक्यमुनि स्वयं वैदिकधर्म में उत्पन्न हुए थे, उनकी शिक्षा-दीक्षा इसी धर्म के अनुसार हुई थी; अतः उनकी शिक्षा पर उपनिषदों का प्रचुर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। बुद्ध धर्म तथा दर्शन के सिद्धान्तों की वैदिक तथ्यों से तुलना करने पर जान पड़ता है कि बुद्ध ने अपनी अनेक मौलिक शिक्षाओं को उपनिषदों से ग्रहण किया है।

बौद्धधर्म और उपनिषद्—

जगत् की उत्पत्ति के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् का कहना है—'कुछ लोग कहते हैं कि आरम्भ में असत् ही विद्यमान था। वह एक था, उसके समान दूसरा न था। उसी असत् से सत् की उत्पत्ति हुई[1]।' इस असत् से सदुत्पत्ति की कल्पना के आधार पर ही बौद्धों ने उत्पत्ति से पहले प्रत्येक वस्तु को असद् माना है। शंकराचार्य ने भाष्य में इस 'सद्भाव' के सिद्धान्त को बौद्धों का विशिष्ट मत बतलाया है। नचिकेता ने जगत् के पदार्थों के विषय में स्पष्ट कहा है कि मर्त्यों के पदार्थ कल तक भी टिकने वाले नहीं हैं, ये समग्र इन्द्रियों के तेज (या शक्ति) को जीर्ण कर देते हैं; समस्त जीवन भी मनुष्यों के लिए अल्प ही है; संसार में वर्ण, प्रेम तथा आनन्द के अनित्य रूप का ध्यान रखने वाला व्यक्ति अत्यन्त दीर्घ जीवन से कभी प्रेम नहीं धारण कर सकता—यह कथन[2] बुद्ध के 'सर्वं दुःखम्'

---

१. तद्ध एक एवाहुरसदेवेदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्। तस्मादसतः सज्जायते—छान्दोग्य ६।२।१

२. श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव। × × अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान् अति दीर्घे जीविते को रमेत। (कठ १।१।२६, २८)

तथा 'सर्वमनित्यम्' सिद्धान्तों का बीज प्रतीत होता है। भिक्षु बनकर निवृत्ति का जीवन बिताना उपनिषन्मार्ग का प्रधान ध्येय था। बृहदारण्यक के अनुसार मुक्ति के अभिलाषी पुरुष संसार की तीनों एषणाओं (पुत्रैषणा = पुत्र की कामना, वित्तैषण = धन की कामना तथा लोकैषणा = यश, कीर्ति कमाने की अभिलाषा) का परित्याग कर भिक्षा माँग कर अपना जीवनयापन करता है[१]। इसी सिद्धान्त का विशदरूप बौद्ध भिक्खु तथा जैन यातियों की व्यवस्था में दीख पड़ता है। बुद्ध से बहुत पहले भारत में भिक्षुओं की संस्था थी। इसका पता पाणिनि की अष्टाध्यायी देती है। पाणिनि के अनुसार पाराशर्य तथा कर्मन्द नामक आचार्यों ने भिक्षु-सूत्रों की रचना की थी।[२] 'भिक्षुसूत्र' से तात्पर्य उन सूत्रों से-है जिनका निर्माण भिक्षुओं की चर्या तथा ज्ञान बतलाने के लिए किया गया था। बुद्ध के निवृत्तिमार्ग की कल्पना ही वैदिक है। कर्मसिद्धान्त बुद्धधर्म के आचारशास्त्र की आधारशिला है। प्राणी अपने किये गए भले या बुरे कर्मों का फल अवश्यमेव भोगता है। कर्म का सिद्धान्त इतना जागरूक तथा प्रभावशाली है कि विश्व का कोई भी व्यक्ति इसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त उपनिषदों में विशेषतः प्रतिपादित लक्षित होता है। बृहदारण्यक उप० (३।२।१३) में जरत्कारव ने याज्ञवल्क्य से ग्रह तथा अतिग्रह के विषय में जो प्रश्न पूछा था तथा जिसके अन्तिम उत्तर के लिए उन दोनों ने एकान्त में जाकर मीमांसा की थी वह चरम उत्तर है—कर्म की प्रशंसा। 'पुण्य कर्म के अनुष्ठान से मनुष्य पुण्यशाली होता है और पाप कर्म के आचरण से पापी होता है' (पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेनेति[३])। इसी सिद्धान्त को लक्ष्य कर कठ उपनिषद् कहता है[४]—कुछ देहधारी शरीर ग्रहण करने के लिए योनि का आश्रय लेते हैं और कुछ लोग वृक्ष

---

१. ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। (बृहदा० उप० ४।४।२२)

२. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (पा० ४।३।११०)
कर्मन्दकृशाश्वादिनिः (४।३।१११)

३. बृहदा० उप० ३।२।१३

४. योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ (कठ २।५।७)

में जन्म लेते हैं। जन्म धारण करना कर्म तथा ज्ञान के अनुसार होता है। यह कर्म सिद्धान्त उपनिषदों को सर्वथा मान्य है और इसी के प्रभाव से वर्तमान हिन्दूधर्म में यह नितान्त ग्राह्य सिद्धान्त है। बुद्धधर्म में इसकी जो विशिष्टता दीख पड़ती है, वह उपनिषदों के ही आधार पर है। इस प्रकार बुद्धधर्म में असत् की कल्पना, जीवन की क्षणिकता, भिक्षाव्रत धारण करने वाले भिक्षु की चर्या, कर्म का सिद्धान्त—ये सब सिद्धान्त उपनिषदों को मूल मान कर गृहीत हुए हैं।

बुद्धधर्म और सांख्य—

शाक्यमुनि के उपदेशों पर सांख्य मत का कम प्रभाव नहीं दीखता, इसमें आश्चर्य करने के लिए स्थान नहीं। उपनिषदों के बीजों को ग्रहण कर ही कालान्तर में सांख्य मत का उदय हुआ। सांख्य मत बुद्ध से प्राचीन है, इसके लिए ऐतिहासिक प्रमाणों की कमी नहीं है। महाकवि अश्वघोष के बुद्धचरित के १२ वें सर्ग से गौतम तथा अराड कालाम नामक आचार्य की भेंट का वर्णन किया है। जिज्ञासु बनकर गौतम अराड के पास गये। तब अराड ने जिन तथ्यों का बृहत्‌रूप से प्रतिपादन किया (१२ सर्ग, १७–८२ श्लोक) वे सांख्य के अनुकूल हैं। सांख्य के प्रवर्तक कपिल मुनि ही 'प्रतिबुद्ध' नहीं बतलाये गए हैं, प्रत्युत जैगीषव्य तथा जनक जैसे सांख्याचार्यों को इसी मार्ग के अनुशीलन से मुक्त बतलाया गया है (१२।६७)। अव्यक्त तथा व्यक्त का भिन्न स्वरूप, पञ्चपर्वा अविद्या के प्रकार तथा लक्षण, मुक्ति की कल्पना—सब कुछ सांख्यानुकूल[1] है। परन्तु गौतम ने इस मत को अकृत्स्न (अपूर्ण) मानकर ग्रहण नहीं किया। इसका अर्थ यह हुआ कि गौतम को अराड के सिद्धान्तों में त्रुटि मिली, उनके मतानुसार वह मत कृत्स्न (पूर्ण) न था, परन्तु हम इसके प्रभाव से उन्हें नितान्त विरहित नहीं मान सकते। कम से कम इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अश्वघोष जैसे प्राचीन बौद्ध आचार्य की सम्मति में सांख्य गौतम से पुराना है।

---

१. अराड के सिद्धान्तों की प्रसिद्ध सांख्यसिद्धान्त से तुलना करना आवश्यक है। यह सांख्य प्राचीन सांख्य तथा सांख्यकारिका में प्रतिपादित सांख्य के बीच का प्रतीत होता है। पञ्चभूत, अहंकार, बुद्धि तथा अव्यक्त—इनको प्रकृति कहा गया है तथा विषय, इन्द्रियाँ, मन को विकार कहा गया है (बुद्धचरित १२।१८,१९) यह वर्तमान कल्पना से भिन्न पड़ता है।

दार्शनिक दृष्टि से दोनों मतों में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है :—

(१) दुःख की सत्ता पर दोनों जोर देते हैं[१]। संसार में आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—इन त्रिविध दुःखों की सत्ता इतनी वास्तव है कि इसका अनुभव पद-पद पर प्रत्येक व्यक्ति को मिलता है। बुद्ध धर्म में आर्य सत्यों का प्रथम सत्य यही 'दुःख सत्य' है। (२) वैदिक कर्मकाण्ड को दोनों गौण मानते हैं। ईश्वर कृष्ण की स्पष्ट उक्ति है कि संसार के दुःख का निराकरण लौकिक उपायों के समान वैदिक (आनुश्रविक) उपायों के द्वारा भी सम्पन्न नहीं हो सकता। वैदिक यज्ञानुष्ठान में अविशुद्धि, क्षय (फल का नाश), तथा अतिशय (फलों में विषमता, कमी-वेशी होना) विद्यमान हैं[२]। तब इनसे आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति किस प्रकार हो सकती है ? बुद्ध इससे आगे बढ़कर यज्ञों को दुःखनिवृत्ति का कथमपि साधन मानने के लिए उद्यत नहीं।

(३) ईश्वर की सत्ता पर दोनों अनास्था रखते हैं। प्रकृति और पुरुष—इन्हीं दोनों को मूलतत्त्व मानकर सांख्य सृष्टि की व्यवस्था करता है। उसके मत में ईश्वर की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। बुद्ध ने ईश्वर के अनुयायियों की बड़ी दिल्लगी उड़ाई है। कभी-कभी ईश्वरविषयक प्रश्न पूछने पर उन्होंने मौन का अवलम्बन ही श्रेयस्कर समझा। तात्पर्य यह है कि ईश्वर को दोनों मत अपने सिद्धान्त की पर्याप्तता के लिए कथमपि आवश्यक नहीं मानते।

(४) दोनों जगत् को परिणामशील मानते हैं। प्रकृति सतत परिणामशालिनी है। वह जड़ होने पर भी जगत् का परिणाम स्वयं करती है। इसलिए वह स्वतन्त्र है—किसी पर अवलम्बित नहीं रहती। बुद्ध को भी यह परिणामशीलता का सिद्धान्त मान्य है। पर एक अन्तर है। सांख्य चित्-शक्ति अर्थात् पुरुष को परिणामी नहीं मानता। पुरुष एकरस रहता है। उसमें परिणाम नहीं होता[३]।

---

१. दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ। सां० का० १

२. दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ-विज्ञानात्॥ (सांख्यकारिका २)

३. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥ (सांख्यकारिका ११)

प्रकृति कभी परिणामशून्य नहीं है। सृष्टिदशा में उसमें विरूप परिणाम तथा

परन्तु बुद्धधर्म में पुरुष की कल्पना मान्य न होने से उसके अपरिणामी होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(५) अहिंसा की मान्यता—अहिंसा की जैन तथा बौद्धधर्म का मुख्य मत मानने की चाल-सी पड़ गई है। परन्तु वस्तुतः इसकी उत्पत्ति सांख्यों से हुई है। ज्ञानमार्ग कर्ममार्ग को सदा से अग्राह्य मानता है। पशुयाग में अविशुद्धि का दोष मुख्य है। पशुयाग श्रुतिसम्मत होने से कर्तव्य कर्म है, क्योंकि यज्ञ में हिंसित पशु पशुभाव को छोड़कर मनुष्यभाव की प्राप्ति के बिना ही देवत्व को सद्यः प्राप्त कर लेता है। सांख्य-योग की दृष्टि में यज्ञ में पशुहिंसा अवश्य होती है। पशु को प्राणवियोग का क्लेश सहना ही पड़ता है। अतः इतनी हिंसा होने से पुण्य की समग्रता नहीं रहती। इसका नाम व्यासभाष्य (२।१३) में **'आवाप-गमन'** दिया गया है[1]। इसीलिए समस्त यमनियमों में 'अहिंसा' की मुख्यता है। सत्य की भी पहचान अहिंसा के ऊपर निर्भर है। जो सत्य सब प्राणियों का उपकारक होता है वही ग्राह्य होता है। जिससे प्राणियों का अपकार होता है, वह 'सत्य' माना ही नहीं जा सकता[2]। सत्य से बढ़कर अहिंसा को आदर देने का यही रहस्य है। बौद्धधर्म में तो यह परम धर्म है ही।

(६) **आर्यसत्य** के विषय में भी दोनों मतों में पर्याप्त समता है। दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध तथा निरोधगामिनी प्रतिपद् के प्रतीक सांख्य मत में सांख्यप्रवचन भाष्य के अनुसार इस प्रकार हैं—(१) जिससे हमें अपने को मुक्त करना है वह दुःख है, (२) दुःख का कारण प्रकृति-पुरुष स्वभावतः भिन्न होने पर भी आपस में मिले हुए जान पड़ते हैं; (३) मुक्ति होने से दुःख का निरोध हो

प्रलयदशा में स्वरूप-परिणाम होते हैं। वह परिणाम से कदापि रहित नहीं होती। इस कारिका में 'प्रसवधर्मि' में मत्वर्थीय इन् प्रत्यय का यही स्वारस्य है। प्रसव-धर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीयः प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातुम्। सरूपविरूपपरिणा-माभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यते इत्यर्थः। वाचस्पति-तत्त्वकौमुदी।

१. स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽपि अपकर्षमल्पं करिष्यति। (भाष्य में उद्धृत पञ्चशिख का सूत्र)

२. व्यासभाष्य २।३० में 'सत्य' की मार्मिक व्याख्या देखिए।

जाता है ; (४) मुक्ति का साधन विवेकजन्य ज्ञान—प्रकृति-पुरुष की अन्यताख्याति, पुरुष का प्रकृति से पृथक् होने का ज्ञान है ।

दोनों में इस प्रकार पर्याप्त समानता है, विषमता भी कम नहीं है । इस साम्य को देखकर अनेक विद्वान् बुद्धधर्म को सांख्यमत का ऋणी बतलाते हैं । इतना तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ये सिद्धान्त षष्ठ शताब्दी विक्रमपूर्व में अवश्य विद्यमान थे । अतः उस युग में उत्पन्न होने वाले धर्म को इन सिद्धान्तों से प्रभावित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

अतः बौद्ध धर्म को उपनिषद्मार्ग से नितान्त भिन्न मानना उचित नहीं प्रतीत होता । उपनिषदों में जिस ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन है, उसी का एकांगी विकास बुद्धधर्म में दीख पड़ता है । बुद्धधर्म परमार्थ को, जगत् के मूल में एक व्यापक प्रभावशाली सत्ता को, मानता है; उसके लिए वह केवल निषेधात्मक शब्दों का व्यवहार करता है, इतना ही अन्तर है । परमतत्त्व के विवेचन की दो धारायें हैं—सत् धारा और असत् धारा । सत् धारा ब्राह्मणधर्म में है तथा असत् धारा बौद्धधर्म में है । वस्तुतः परमार्थ शब्दतः अनिर्वचनीय है । हमारे शब्द इतने दुर्बल हैं कि उसका निर्वचन कथमपि कर नहीं सकते । शब्द भी मायिक हैं । अतः वे उसी की व्याख्या कर सकते हैं जो इस मायिक जगत् का विषय हो । माया से विरहित परमतत्त्व की व्याख्या शब्दतः हो ही नहीं सकती । उपनिषदों के नेति-नेति उपदेश का यही स्वारस्य है । बुद्ध के मौनावलम्बन का यही तात्पर्य है । जब वह परमार्थ सत्-असत्, द्वैत-अद्वैत उभय कोटियों से विलक्षण है, तब उसका स्वरूप-निर्णय किस प्रकार किया जाय ? केवल व्याख्या करने के लिए कोई दार्शनिक सत् बतलाता है । उसे असत् बतलाकर जगत् की व्याख्या करना भी उतना ही युक्तियुक्त है । बुद्ध उपनिषद् के सिद्धान्तों को मानते हैं, मूल तत्त्व की निषेधात्मक शब्दों से व्याख्या करते हैं, परन्तु वे उसकी सत्ता को एकदम निषेध करते हों, ऐसा तो प्रतीत नहीं होता । अतः बौद्धधर्म को उपनिषत्परम्परा से बहिर्भूत मानना कथमपि उचित नहीं जान पड़ता ।

गीता और महायान सम्प्रदाय—

उपनिषद् तथा बौद्ध धर्म के दार्शनिक विचारों की समता का उल्लेख अभी किया जा चुका है । अब हमें यह देखना है कि गीताधर्म और बुद्धधर्म के महायान

सम्प्रदाय में कहाँ तक विचार-साम्य है तथा इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति का मूल आधार क्या है। बौद्ध धर्म के इतिहास के पाठकों से यह बात छिपी नहीं है कि यह धर्म प्रारम्भ में निवृत्तिप्रधान था। बुद्ध ने ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता को अस्वीकार कर अपने शिष्यों को आचार की शिक्षा दी। उन्होंने सम्यक् आचार, सम्यक् दर्शन, सम्यक् व्यवहार और सम्यक् दृष्टि आदि अष्टाङ्गिक मार्ग का उपदेश कर चरित्र-शुद्धि के ऊपर विशेष ध्यान दिया। संघ के अन्दर प्रवेश करनेवाले भिक्षुओं के लिए इन्होंने अत्यन्त कठोर नियमों का आदेश दिया जिससे संघ में किसी प्रकार की बुराई न आने पावे। इसके अतिरिक्त संसार को छोड़कर जंगल में रहने तथा अपनी इन्द्रियों के दमन करने की भी उन्होंने आज्ञा दी है। नीचे का उपदेश इसी आत्मदमन के ऊपर विशेष जोर देता है:—

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो॥

उनका समस्त जीवन ही आत्म-संयम, इन्द्रियदमन और त्याग का उदाहरण था। उन्होंने जिन चार आर्यसत्यों का प्रतिपादन किया था उनका उद्देश्य मनुष्य-मात्रको निवृत्ति-मार्ग की ओर ले जाना ही था। भगवान् बुद्ध ने स्वयं पुत्र छोड़ा, स्त्री का त्याग किया, विशाल साम्राज्य को ठुकराया एवं संसार के सुखों से नाता तोड़ कठिन तपस्या तथा आत्मदमन का मार्ग ग्रहण किया। इस प्रकार उन्होंने मनसा, वाचा और कर्मणा मानवमात्र के लिए निवृत्ति-मार्ग का उपदेश दिया। इसीलिए प्राचीन बौद्ध धर्म अर्थात् हीनयान पूर्णतः निवृत्ति-प्रधान धर्म है।

बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त उनके शिष्यों को इस धर्म के प्रचार की आवश्यकता प्रतीत हुई। परन्तु इसके लिये किसी सरल मार्ग की आवश्यकता थी। घर-द्वार को छोड़कर, भिक्षु बनकर बैठे-बिठाये मनोनिग्रह करके निर्वाण प्राप्त करने के इस निवृत्ति-प्रधान मार्ग की अपेक्षा जनता को प्रिय लगने वाले तथा उनके चित्त को आकर्षित करने वाले किसी मार्ग की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। बुद्ध के जीवनकाल में जब तक उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व विद्यमान था, जनता को उनके भाषण सुनने को मिलते थे, तक तक इस कमी का अनुभव किसी को नहीं हुआ। परन्तु उनके निर्वाण के पश्चात् सामान्य जनता को आकर्षित करने के लिये बुद्ध के प्रति श्रद्धा की भावना को मूर्तिमान् रूप देना आवश्यक था। अतः उनके निर्वाण

के कुछ ही दिनों पश्चात् लोगों ने उनको 'स्वयम्भू, अनादि, अनन्त तथा पुरुषोत्तम' मानना प्रारम्भ कर दिया तथा वे कहने लगे कि असली बुद्ध का नाश नहीं होता, वह तो सदैव अचल रहता है। बौद्धग्रन्थों में यह भी प्रतिपादन किया जाने लगा कि असली बुद्ध सारे जगत् के पिता हैं और जनसमूह उनकी सन्तान हैं। धर्म की अवस्था बिगड़ने पर वह धर्मकृत्य के लिये समय-समय पर बुद्ध के रूप से प्रकट हुआ करते हैं और इस देवातिदेव की पूजा करने से, भक्ति करने से और उनकी मूर्ति के सम्मुख कीर्तन करने से मनुष्य को सद्गति प्राप्त होती है[१]। इस प्रकार धीरे-धीरे इस नवीन सम्प्रदाय का उदय हुआ जो अपनी विशिष्टता के कारण अपने को महायानी (प्रशस्त मार्ग वाला) कहता था और इससे पूर्व वाले सम्प्रदाय को हीनयानी नाम देता है। इस महायान सम्प्रदाय में भक्ति की प्रधानता थी। इस मत के अवलम्बी भगवान् बुद्ध को अवतार के रूप मानने लगे और मन्दिरों में उनकी मूर्ति को बनाकर पूजा, अर्चना भी करने लगे। इतना नहीं नहीं, इन्होंने लोकसंग्रह के भावों को भी अपनाया। वे यह भी कहने लगे कि बौद्ध भिक्षुओं को गेंड़े के समान अकेले तथा उदासीन बने रहना न चाहिये, किन्तु धर्मप्रसार आदि लोकहित तथा परोपकार के काम निरीप्सित बुद्धि से करते जाना ही उनका परम कर्तव्य है। इसी मत का विशेष रूप से प्रतिपादन महायान पन्थ के सद्धर्मपुण्डरीक आदि बौद्ध ग्रन्थों में किया गया है। नागसेन ने मिलिन्द से कहा है कि 'गृहाश्रम में रहते हुये भी निर्वाण पद को पा लेना बिल्कुल अशक्य नहीं है' (मि० प्र० ६।२।४)। इस प्रकार से महायान सम्प्रदाय में भक्ति की भावना तथा लोक-संग्रह का भाव विशेष रूप से पाया जाता है। अब हमें विचार यह करना है कि उस नवीन सम्प्रदाय की उत्पत्ति कैसे हुई? क्या निवृत्ति-प्रधान हीनयान धर्म से भक्ति तथा प्रवृत्ति-प्रधान महायान सम्प्रदाय की उत्पत्ति संभव है?

विज्ञों की यह निश्चित धारणा है कि इस महायान सम्प्रदाय की उत्पत्ति गीता से ही हुई है और इस धारणा के लिए निम्नांकित चार प्रधान कारण हैं :—

(१) केवल अनात्मवादी तथा संन्यास-प्रधान मूल हीनयान बौद्ध धर्म से ही आगे चलकर क्रमशः स्वाभाविक रीति से भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान तत्त्वों का निकलना संभव नहीं है।

---

१. सद्धर्म पुण्डरीक २।७७-९८ ; मिलिन्द प्रश्न ३।७।७

(२) महायान पन्थ की उत्पत्ति के विषय में स्वयं बौद्ध ग्रन्थकारों ने श्रीकृष्ण के नाम का स्पष्टतया निर्देश किया है।

(३) गीता के भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति प्रधान तत्त्वों की महायान मतों से अर्थतः तथा शब्दतः समानता है।

(४) बौद्ध धर्म के साथ ही साथ तत्कालीन प्रचलित अन्यान्य जैन तथा वैदिक पन्थों में प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति मार्ग का प्रचार न था।

इन्हीं चार कारणों पर संक्षेप से यहाँ विचार किया जायेगा। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, प्रारम्भ में बौद्धधर्म संन्यास-प्रधान तथा निवृत्तिमार्गी था। इन्द्रियों का दमन कर, सदाचरण से रहते हुए निर्वाण की प्राप्ति करना ही भिक्षु का चरम लक्ष्य था। इस सम्प्रदाय में तो बुद्ध की पूजा के लिये कोई स्थान न था और मानापमान तथा सुख-दुःख से ऊपर उठे हुए भिक्षु को सांसारिक वस्तुओं से कुछ काम नहीं था। उसका सारा पवित्र शान्त जीवन निर्वाण की प्राप्ति में ही लगा रहता था। ऐसे निवृत्तिमार्गी तथा लोकसंग्रह के भाव से दूर रहने वाले सम्प्रदाय (हीनयान) से क्या भक्ति-प्रधान महायान की उत्पत्ति कभी सम्भव है? निवृत्तिपरक हीनयानी पन्थ से प्रवृति-प्रधान महायान की उत्पत्ति कथमपि सम्भव नहीं है।

बौद्ध ऐतिहासिको के लेखों से पता चलता है कि महायान पन्थ की उत्पत्ति गीता से हुई है। तिब्बती भाषा में बौद्धधर्म के इतिहास के विषय में तारानाथ ने जो ग्रन्थ लिखा है उसमें उन्होंने स्पष्टरीति से यह उल्लेख किया है कि 'महायान सम्प्रदाय का मुख्य पुरस्कर्ता नागार्जुन था। उसका गुरु राहुलभद्र नामक बौद्ध पहिले ब्राह्मण था तथा इस ब्राह्मण को महायान पन्थ की कल्पना सूझ पड़ने के लिये ज्ञानी श्रीकृष्ण और गणेश कारण हुए'[१]। इसके सिवाय एक दूसरे तिब्बती ग्रन्थ में भी यही उल्लेख पाया जाता है। इसी बात को पश्चिमी विद्वानों ने मुक्त

---

१. He (Nagarjuna) was a pupil of the Brahmana Rehulbhadra, who himself was a Mahayanist. This Brahmana was much indebted to the sage Krishna and still more to Ganesh. This puasi-historical notice, reduced to its less allegorical expression, means that Mahayanism is much indebted to the Bhagawatgita and more even to Shaivism.

कण्ठ से स्वीकार किया है। यह सच है कि तारानाथ का ग्रन्थ अधिक प्राचीन नहीं है परन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं हैं कि वह प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर ही लिखा गया है। तारानाथ के कथन में सन्देह करने का तनिक भी स्थान नहीं है क्योंकि कोई बौद्ध ग्रन्थकार अपने धर्मग्रन्थ के तत्त्वों को बतलाते समय बिना किसी प्रबल कारण के परधर्मियों का इस प्रकार उल्लेख नहीं कर सकता। तारानाथ के द्वारा श्रीकृष्ण का नामोल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवद्गीता को छोड़कर वैदिकधर्म में श्रीकृष्ण के नाम से अन्य कोई ग्रन्थ सम्बद्ध नहीं है। अतः इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि महायान पन्थ ने अपने अनेक सिद्धान्तों का ग्रहण भगवद्गीता से किया है।

महायान सम्प्रदाय तथा गीताधर्म के दार्शनिक विचारों में इतनी अधिक समानता है कि उनके गम्भीर अध्ययन करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन नहीं है कि इनमें से एक दूसरे से अवश्य प्रभावित हुआ है। गीता में श्रीकृष्ण ने लिखा है कि मैं पुरुषोत्तम ही सब लोगों का पिता, और पितामह हूँ; मुझे न तो कोई द्वेष्य है और न प्रिय; मैं यद्यपि अज और अव्यय हूँ तथापि धर्मरक्षणार्थ समय पर अवतार लेता हूँ। मनुष्य कितना भी दुराचारी क्यों न हो परन्तु मेरा भजन करने से वह साधु हो जाता है (गीता ९।३०)। इस प्रकार गीता में कर्मयोग तथा भक्तियोग का जो समन्वय पाया जाता है वही बातें अक्षरशः महायान धर्म में पायी जाती हैं।

अब यह देखना है कि गीता के अतिरिक्त और अन्य कौन ग्रन्थ है जिससे इन सिद्धान्तों की समता दिखाई पड़ती है। महायान के पहिले जैन तथा वैदिक धर्म की प्रधानता थी। ये दोनों धर्म निवृत्तिपरक हैं। अतः इनसे महायान धर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। विद्वानों ने अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है गीता की रचना महायान की उत्पत्ति से पहिले हो चुकी थी। अतः इस कथन में तनिक भी सन्देह नहीं है कि महायान सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों के लिये भगवद्गीता का ही ऋणी है तथा गीता का प्रभाव इस धर्म पर बहुत हो अधिक है[1]।

---

१. इस विषय के विशेष प्रतिपादन के लिये देखियेः—
तिलक—गीतारहस्य, पृ० ५७०-५८५।

पचीसवाँ परिच्छेद

बौद्ध-धर्म की महत्ता

बौद्ध-धर्म आज कल संसार के महनीय धर्मों में मुख्य है। ईसाई मतावलम्बियों की संख्या अधिक बतलाई जाती है, परन्तु उनमें इतनी पारस्परिक विभिन्नता है कि सबको एक ही धर्म के अन्तर्गत मानना न्यायसंगत नहीं है। परन्तु बौद्ध धर्म में ऐसी बात नहीं है। इसमें ईसाई धर्म के समान इतने मत मतान्तर नहीं हैं। एक समय था जब सारे संसार में बौद्ध-धर्म की विजय-दुन्दुभी बज रही थी और प्रायः आधा संसार बुद्ध की शिक्षा में दीक्षित होकर इनके धर्म को स्वीकार कर चुका था। उस समय सर्वत्र इसी धर्म का बोलबाला था। एक ऐसे देश में जहाँ हिन्दू धर्म प्रायः एक हजार वर्ष से प्रचलित था वहाँ इसने हिन्दू धर्म को ध्वस्त कर देने में सफलता प्राप्त की और लगभग दो सौ वर्षों तक भारत का राजकीय धर्म बना रहा। ईसाई तथा इस्लाम धर्म जैसे प्रचारक धर्मों ने भी संसार में इतनी शीघ्र सफलता नहीं पायी जितनी बौद्ध धर्म ने। बुद्ध ने मनुष्यों की इच्छा-पूर्ति के लिये अपने धर्म का प्रचार नहीं किया। उन्होंने न तो स्वर्ग का दरवाजा ही जनता के लिये मुफ्त में खोला और न मोक्ष-प्राप्ति का लोभ ही जनता को दिया। ऐसी दशा में कुछ अवश्य ही महत्त्वपूर्ण बातें होगी जिनसे यह धर्म विश्व-धर्म बन गया।

बुद्ध का व्यक्तित्व

बौद्ध धर्म की सफलता के लिये प्रधानतया इस धर्म का त्रिरत्न ही कारण था– (१) बुद्ध (२) संघ और (३) धर्म। इस धर्म में बुद्ध का व्यक्तित्व एक ऐसी वस्तु था जो संसार के लोगों को अनायास आकृष्ट करता था। बुद्ध का व्यक्तित्व सचमुच महान्, अलौकिक और दिव्य था। उनके व्यक्तित्व की प्रतिभा के प्रकाश से पुराने पापियों का भी मनोमालिन्य दूर हो जाता था। अपूर्व त्याग बुद्ध के जीवन का महान् गुण था। राजघराने में पैदा होने पर भी इन्होंने अपने विशाल साम्राज्य को ठुकरा दिया। राज–प्रासादों के मखमली गद्दों को छोड़ इन्होंने जंगल का कण्टकाकीर्ण जीवन स्वीकार किया। इन्होंने अपने शरीर को सुखा कर काँटा कर दिया परन्तु धन तथा सुख की कामना नहीं की। सचमुच, जब कपिलवस्तु का यह

राजकुमार अपनी युवावस्था में ही राज्य, गृह और गृहिणी से नाता तोड़ और विरक्ति तथा तपस्या से सम्बन्ध जोड़कर, अपना भिक्षापात्र लिये, संसार को विश्वशान्ति का उपदेश देता हुआ घूमता होगा, उस समय का वह दृश्य देवताओं के लिये भी दर्शनीय होता होगा। त्याग और तपस्या, दमन और शमन, शान्ति और अहिंसा का एकत्र संयोग वास्तव में बुद्ध के व्यक्तित्व को छोड़कर अन्यत्र मिलना कठिन है।

बुद्ध के चरित्र का दूसरा गुण उनका आत्म-संयम था। इतिहास के पाठक जानते ही हैं कि बुद्ध ने अपनी भरी जवानी में गृह-त्याग किया था। इनकी स्त्री यशोधरा परम सुन्दरी रमणी थी। फिर भी बुद्ध ने अपनी कामवासना को कुचल कर पत्नी का त्याग कर ही दिया और शेष जीवन को आत्मदमन और संयम में बिताया। जब वे तपस्या कर रहे थे उस समय मार ने अनेक अप्सराओं और परम सुन्दरी युवतियों को लेकर उन पर आक्रमण किया परन्तु उनके विगतराग हृदय में, काम-वासना से रहित मानस में, तनिक भी विकार नहीं पैदा हुआ और दृढ़-प्रतिज्ञ होकर अपने आसन से वे तनिक भी नहीं डिगे। यह थी उनकी इन्द्रिय-निग्रह या आत्मसंयम की परीक्षा और बुद्ध इसमें पूर्णतया सफल हुये। इस प्रकार उनका चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल, पवित्र तथा अनुकरणीय था।

तथागत के चरित्र की तीसरी विशेषता परोपकार-वृत्ति थी। बुद्ध का हृदय मानव-प्रेम से पूर्णतः भरा हुआ था। मनुष्यों के नाना प्रकार के दुःखों को देखकर उनका हृदय टूक-टूक हो जाता था, वे दूसरों के दुःखों से स्वयं दुःखी रहते थे। यही कारण है कि उन्होंने मानव-दुःखों का नाश करना अपने जीवन का चरम लक्ष्य बनाया। मनुष्यों के दुःखों को दूर करने की औषधि पाने के लिये ही वे अनेक वर्षों तक जंगल में भटकते रहे और अन्त में उसे प्राप्त कर ही विश्राम लिया। उन्होंने चार आर्य-सत्यों तथा अष्टाङ्गिक-मार्गों का अनुसन्धान कर मनुष्यों के क्लेश निवारण का उपाय बतलाया। उन्होंने घर छोड़ा, घरिनी छोड़ी, राज्य छोड़ा और सुख छोड़ा परन्तु प्राप्त क्या किया?—मानव दुःखों को दूर करने का परमौषध। बुद्ध का सारा जीवन परोपकार का प्रतीक है, पर-सेवा का उदाहरण है तथा लोक-मंगल का ज्वलन्त प्रमाण है। बुद्ध की इसी परोपकारवृत्ति को देखकर जनता इनके धर्म को स्वीकार कर लेती थी क्योंकि वह समझती थी इसमें उनका कुछ भी स्वार्थ नहीं है।

बुद्ध का हृदय अत्यन्त उदार था। वे अजात-शत्रु थे। उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व के सामने शत्रु भी मित्र बन जाते थे। देवदत्त उनसे बुरा मानता था परन्तु वह भी उनका मित्र बन गया। बुद्ध सब मनुष्यों को समान दृष्टि से देखते थे। यही कारण था इनके यहाँ गिरिव्रज का राजा अज्ञातशत्रु भी आता था और साधारण पतित भी। बुद्ध पाप से घृणा करते थे परन्तु पापी को अत्यन्त प्यार की दृष्टि से देखते थे। इसीलिये उन्होंने एकबार एक वेश्या का भी आतिथ्य ग्रहण किया था। सचमुच बुद्ध का व्यक्तित्व लोकोत्तर था, महान् था तथा दिव्य था। जिसके घर स्वयं गिरिव्रज के महान् सम्राट् दर्शन के लिये आवें वह कितनी बड़ी विभूति होगा? जिसके पास झगड़ा निपटाने के लिये लिच्छवि तथा कोलिय जैसे प्रसिद्ध राज-वंश आवें तथा जो इनकी मध्यस्थता को स्वीकार करे वह सचमुच ही लोकोत्तर व्यक्ति होगा। अपने सुख और शान्ति की तनिक भी चिन्ता न कर मानव-गण को विश्वशान्ति तथा अहिंसा का पाठ पढ़ाने वाले इस शाक्यकुमार का व्यक्तित्व कितना बिशाल होगा, इसका अनुमान करना भी कठिन है। काषाय-वस्त्र को धारण किये, हाथ में भिक्षापात्र लिये तथा मुख पर प्रभा-मण्डल को धारण किये भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व की कल्पना भी मन को मोहित कर लेती है। उनका साक्षात् दर्शन तो किसे आनन्द-सागर में निमग्न न कर देता होगा?

बुद्ध के व्यक्तित्व की विशालता को भारतीय लोगों ने ही नहीं, विदेशियों ने भी स्वीकार किया है। मध्यकालीन युग में बुद्ध का व्यक्तित्व लोगों को आकर्षित करता था। मार्को पोलो ने लिखा है 'यदि वे (बुद्ध) ईसाई होते तो वे क्राइष्ट धर्म के बहुत बड़े सन्तों में से एक होते। उनके तथा क्राइष्ट के चरित्र तथा शिक्षा में बहुत कुछ समानता है'। सुप्रसिद्ध विद्वान् बार्थ ने लिखा है—'बुद्ध का व्यक्तित्व शान्ति और माधुर्य का सम्पूर्ण आदर्श है। वह अनन्त कोमलता, नैतिक स्वतन्त्रता और पाप-राहित्य की मूर्ति हैं[१]।'

संघ की विशेषता

बौद्ध-धर्म की दूसरी विशेषता संघ है जो उसका दूसरा रत्न है। बुद्ध ने यह समझकर कि अपने जीवन में मैंने जिस धर्म का प्रचार किया है वह सदा फूला-फलता रहे तथा वृद्धि को प्राप्त हो एक संघ की स्थापना की तथा इसमें

१. Barth—The Religions of India P. 118.

रहने के लिये कठिन नियम बनाया। उन्होंने संघ में रहने वाले भिक्षुओं के लिए कठिन नियम बनाये और उन्हें आदेश दिया कि वे ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करें, पवित्रता से रहें तथा धर्म के प्रचार का उद्योग करें। बौद्ध संघ का अनुशासन बहुत ही कठिन था। अतएव अवाञ्छित भिक्षुओं का प्रवेश उसमें नहीं हो सकता था। बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए संघ में प्रवेश करना प्रथमतः निषिद्ध बतलाया था जिससे संघ की पवित्रता सदा अक्षुण्ण बनी रहे। यही कारण था कि बौद्ध संघ में बहुत दिनों से कोई बुराई नहीं घुसने पाई परन्तु जब उनके चेलों ने इस नियम में शिथिलता दिखलाई तथा भिक्षुणियों का संघ-प्रवेश का अधिकार व्यापक हो गया तभी से इसमें बुराइयाँ आने लगीं और अन्त में इसका नाश हो गया। अतः बुद्ध की दूर-दर्शिता इसी से समझी जा सकती है।

इस सुसंगठित संघ के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली। इस संघ ने बौद्ध धर्म में एकता का भाव उत्पन्न किया और जाति को शक्ति प्रदान की। सबसे बड़ी बात जो इस संघ के द्वारा हुई वह बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये 'मिशिनरी स्पिरिट' की जागृति थी। इस संघ के अनेक भिक्षुओं ने विदेशों में जाकर इस धर्म का प्रचार करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया और उन्होंने सुदूर पश्चिम और पूर्व में इस धर्म का प्रचार बड़े ज़ोरों से किया। सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और लड़की संघमित्रा को सिंघल द्वीप में इस धर्म के प्रचार के लिये भेजा। यह उन्हीं के उद्योग का फल है कि आज भी लंका बौद्ध धर्म का प्रधान पीठ बना हुआ है। सुप्रसिद्ध विद्वान् भिक्षु कुमारजीव और परमार्थ ने चीन जैसे सुदूर देश में इस धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरायी और हस भाषा में अनेक संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद कर कर उसके साहित्य को भर दिया। बौद्ध धर्म के प्रचार की दृढ़ भावना से प्रेरित होकर अपनी वृद्धावस्था में भी आचार्य शान्तिरक्षित ने तिब्बत जैसे दुर्गम देश की यात्रा की और वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। अधिक अवस्था होने के कारण वे निर्वाण को वहीं प्राप्त हो गये परन्तु उन्हें सन्तोष था कि उन्होंने तथागत के धर्म का प्रचार किया है। कुछ दिनों के पीछे उनके शिष्य कमलशील भी वहाँ गये और उन्होंने तिब्बतीय भाषा में अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया। इसी प्रकार दूसरे भिक्षुओं ने नैपाल, वर्मा, जावा, सुमात्रा तथा बोर्नियों में जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया और इसे विश्व धर्म बनाया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संघ की स्थापना के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़ी सहायता मिली। सच पूछा जाय तो यही कहना पड़ेगा कि इसी संघ के द्वारा बौद्ध धर्म विश्व-धर्म के रूप में परिणत हो सका। भारत में धर्म के प्रचार में 'मिशनरी भावना' की शिक्षा हमें बौद्ध धर्म से ही मिलती है और इसका सारा श्रेय इसी बौद्ध-संघ को प्राप्त है।

बुद्धिवाद

यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी विशेषता उसका बुद्धिवाद या युक्तिवाद है। यद्यपि यह कहना अनुचित होगा कि बुद्ध के पहले धर्म में बुद्धिवाद को स्थान नहीं था, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि भगवान् बुद्ध ने बुद्धिवाद को जितना महत्त्व प्रदान किया उतना किसी ने नहीं किया था। भगवान् बुद्ध के पहिले वैदिक धर्म का बोल बाला था। वेद का प्रमाण अखण्डनीय समझा जाता था। वेद की प्रामाणिकता में सन्देह करना अधर्म गिना जाता था। **'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'**—यह महामन्त्र उद्घोषित किया जाता था। धर्म के संबन्ध में श्रुति ही परम प्रमाण मानी जाती थी और श्रुति से इतर वस्तु प्रमाण कोटि में नहीं आती थी। यद्यपि भगवान् कृष्ण ने गीता में **'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'** कहकर बुद्धिवाद की महत्ता को स्वीकार किया है फिर भी अन्त में, उन्होंने धार्मिक मामलों में शास्त्र को ही प्रमाण माना है। धर्म, अधर्म की उलझन में पड़े हुये मनुष्यों को उन्होंने **'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'** का उपदेश दिया है। इस प्रकार से आर्यधर्म में सर्वत्र शास्त्र को ठीक ही प्रतिष्ठा दी जाती थी और वही परम माना जाता था। परन्तु शाक्यमुनि का कार्य था कि उन्होंने युक्तिवाद या बुद्धिवाद को शास्त्रवाद के स्थान पर प्रतिष्ठित किया। भगवान् बुद्ध की यह शिक्षा थी कि बुद्धिवाद का आश्रय लो तथा शास्त्र पर विश्वास मत करो। अमुक वस्तु ऐसी है, क्योंकि शास्त्र में ऐसा लिखा है—इस मनोवृत्ति का उन्होंने घोर विरोध किया और अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया कि किसी वस्तु को तब तक ठीक मत समझो जब तक तुम उसकी परीक्षा स्वयं न कर लो। उन्होंने अपने परम शिष्य आनन्द से यहाँ तक कहा कि धर्म के किसी सिद्धान्त को इसलिये सत्य मत मानो क्योंकि मैं (स्वयं बुद्ध) ऐसा कहता हूँ, बल्कि उसे तभी स्वकार करो जब वह तुम्हारी बुद्धि में ठीक जँचे। सारांश यह है कि बुद्ध का यह मत था कि धर्म

के सम्बन्ध में किसी अन्य वस्तु या व्यक्ति को प्रमाण मत मानो। यदि कोई धार्मिक सिद्धान्त तुम्हारी बुद्धि को उचित मालूम होता है तो उसे स्वीकार करो अन्यथा उसे दूर रक्खो। इसीलिये भगवान् तथागत ने प्रत्येक मनुष्य को अपना पथ-प्रदर्शक स्वयं बनने का उपदेश दिया है। उन्होंने अपने उपदेश में स्पष्ट ही कहा है कि **'अत्तदीपाः भवथ अत्तशरणाः'** अर्थात् तुम लोग स्वयं ही दीपक बनो तथा दूसरे की शरण में न जाकर अपनी ही शरण में जावो। इसका भाव है कि अपने आत्मा से जो प्रकाश मिलता है उसी के द्वारा धर्म के रहस्यों को समझो तथा गुरु अथवा धर्मोपदेशक के शरण में न आकर स्वयं ही अपना पथ प्रदर्शन करो। जहाँ अन्य धर्मवालों ने गुरु को ईश्वर से भी बड़ा बतला कर उसके शरण में जाना शिष्य का परम कर्तव्य निश्चित किया है, वहाँ बुद्ध ने गुरु की सत्ता को सीमित कर शिष्य की महत्ता का प्रतिपादन किया है। सम्भवतः संसार के इतिहास में इस प्रकार का धार्मिक उपदेश शायद ही कहीं सुनने को मिले। परन्तु तथागत के रूप में हम एक ऐसे विलक्षण धर्मोपदेशक को पाते हैं जिसने न केवल शास्त्रों की सत्ता को अस्वीकृत किया, बल्कि अपना (गुरु) प्रामाण्य भी न मानने के लिये शिष्यों को पूरी स्वतन्त्रता दे दी। इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने मनुष्य की महत्ता तथा उसकी पवित्रता को स्वीकार किया। उस प्राचीन काल में जब व्यक्तिगत विचार का विशेष मूल्य नहीं था तथा शास्त्रों की प्रामाणिकता के आगे तर्क को स्थान नहीं दिया जाता था, बुद्ध ने बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा कर सचमुच ही बहुत बड़ा काम किया। लोग यह समझने लगे कि इस धर्म को मानना इसलिये आवश्यक नहीं है कि यह किसी राजकुमार या तपस्वी के द्वारा चलाया गया है, बल्कि इसलिये कि अपनी बुद्धि को यह उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार अनेक लोगों ने—जिन्हें यह पसन्द आया—इस धर्म को स्वीकार कर लिया। यही कारण है कि आजकल भी यह धर्म अपने बुद्धिवाद के कारण पाश्चात्य लोगों को अधिक 'अपील' करता है।

बौद्ध-धर्म की दूसरी विशेषता सब मनुष्यों का समान अधिकार स्वीकार करना है। वैदिक धर्म यद्यपि बड़ा ही उदार, व्यापक तथा स्पृहणीय है परन्तु उसमें एक बड़ी ही कमी है कि वह सब मनुष्यों का समान अधिकार नहीं मानता। यद्यपि भगवान् ने गीता में ब्राह्मण तथा चाण्डाल के बीच के भेद-दर्शन को मिटाते हुये स्पष्ट ही कहा है :—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

परन्तु यह समदर्शिता व्यवहार के क्षेत्र में विशेष नहीं लायी गयी। यह केवल पुस्तक के पृष्ठों में ही पड़ी रही। जिस समय बौद्धधर्म का प्रादुर्भाव हुआ उस समय वैदिक धर्म की प्रधानता थी। यज्ञ, यागादिक बड़े उत्साह तथा विधि-विधान के साथ किये जाते थे। वेद का पढ़ना द्विजातियों के लिये अत्यावश्यक समझा जाता था। सन्ध्योपासन तथा सावित्री मन्त्र का जप धर्म के प्रधान अंग समझे जाते थे। परन्तु ये सब अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिये ही थे। शूद्र न तो वेद ही पढ़ सकता था और न यज्ञादिक ही कर सकता था। शूद्र तथा स्त्रियों को वेद न पढ़ाने की स्पष्ट आज्ञा का उल्लेख मिलता है—**स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्।** भगवान् व्यास ने महाभारत की रचना का कारण बतलाते हुए लिखा है कि शूद्र और स्त्रियों को वेदत्रयी नहीं सुननी चाहिये अर्थात् वे इसके पठन से वंचित हैं, अतः कृपा करके मुनि (व्यास) ने महाभारत की रचना की :—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ।।

इस प्रकार शूद्र उच्च अधिकारों से वंचित थे और उनके लिये अपनी उन्नति—सामाजिक तथा आध्यात्मिक—का द्वार बन्द था।

बुद्ध ने मनुष्य के बीच वर्तमान इस असमानता के दोष को देखा और उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा कर दी कि सब मनुष्य समान हैं। न कोई श्रेष्ठ है और न कोई नीच। अपने कर्मों के अनुसार ही मनुष्य को लघुता या गुरुता प्राप्त होती है। उन्होंने यह भी शिक्षा दी कि धर्म में सबका समान अधिकार है। जो चाहे अपनी इच्छानुसार इसे ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व बुद्ध ने प्रजातन्त्रवाद के इस मूल-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। सचमुच ही उस प्राचीन युग में इस प्रकार की विद्रोहात्मक घोषणा करना बड़े ही साहस का काम था। परन्तु इसका प्रभाव बड़ा ही संतोषजनक हुआ। वे नीची जातियाँ—जो वैदिकधर्म में तिरस्कृत समझी जाती थीं—अपनी उन्नति करने लगीं और सामूहिक रूप से उन्होंने इस धर्म को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार से यह धर्म निम्नकोटि

के लोगों में धीरे-धीरे फैलने लगा तथा इसकी वृद्धि होने लगी। आजकल अनेक 'वाद' निकल पड़े हैं जिसके अनुसार कोई राष्ट्र को महत्ता देता है, तो कोई व्यक्ति को। आजकल के धर्मों में मानव के समानाधिकार की चर्चा प्रायः सर्वत्र सुनाई देती है परन्तु यदि किसी को सर्वप्रथम मनुष्य तथा मनुष्य के बीच में समान अधिकार स्थापित करने का श्रेय प्राप्त है, तो वह केवल बुद्ध ही को है। उन्होंने अपने इस उपदेश को केवल सिद्धान्त रूप में ही नहीं रक्खा, बल्कि इसे व्यवहार-रूप में भी परिणत किया। उन्होंने अपना पट्टशिष्य एक नाई को बनाया जिसका नाम उपालि था। नीच जाति में उत्पन्न होने के कारण इन्होंने उसका बहिष्कार नहीं किया, बल्कि उसे अपनाकर अपना मुख्य शिष्य बना लिया। इस प्रकार उनके सिद्धान्त और व्यवहार में एकता होने से उनके उपदेशों का लोगों के हृदय पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता था।

बौद्धधर्म की तीसरी महत्ता सदाचार के ऊपर अत्यधिक जोर देना है। भगवान् तथागत ने अपने उपदेश में सदाचार पर ही विशेष जोर दिया है। यदि कोई ब्रह्म के विषय में उनसे चर्चा करता था तो या तो वे मौन रह उत्तर ही नहीं देते थे और यदि उत्तर भी देते थे तो यही कहते थे कि तुम सदाचार का पालन करो, व्यर्थ के दार्शनिक झगड़ों में क्यों पड़ते हो? उन्होंने मनुष्यों के आचरण सुधारने के लिये 'अष्टाङ्गिक' मार्ग का उपदेश किया है जिसके आचरण करने से मनुष्य पवित्र बन जाता है और उसका चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल और निष्कलङ्क होता है। जिस प्रकार इसाई धर्म में दश आज्ञाओं का पालन अत्यावश्यक है, उसी प्रकार से बौद्धधर्म में इन अष्टाङ्गों का पालन अत्यन्त आवश्यक माना गया है। भगवान् बुद्ध अच्छी तरह से जानते थे कि दार्शनिक सिद्धान्तों में मतभेद हो सकता है; उसमें क्षोदक्षेम करने का अवसर उपस्थित होने की संभावना है, परन्तु सदाचार के पालन में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। इसीलिये उन्होंने एक ऐसे सर्वजनीन सदाचार का उपदेश दिया जो सबको बिना किसी संकोच के मान्य था। यदि इस धर्म के मूल सिद्धान्तों की खोज की जाय तो इसमें सदाचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सकता। इसलिये विद्वान् बौद्धधर्म को नैतिक धर्म (Ethical Religion) कहते हैं—अर्थात् वह धर्म जो केवल सदाचार को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करता है। साधारण जनता के लिये इसलिये इस धर्म का पालन सुलभतया सुगम था।

भगवान् बुद्ध ने अहिंसा का उपदेश कर संसार का बड़ा ही उपकार किया। वैदिक धर्म में यज्ञ–यागादिक का बड़ा महत्त्व था। यज्ञों में पशुओं का बलिदान किया जाता था। परन्तु कालान्तर में यह हिंसा अपनी सीमा का उल्लंघन कर गई थी और धर्म के नाम पर अनेक जीवों की हत्या प्रतिदिन की जाती थी। बुद्ध ने देखा कि यह काम बड़ा ही घृणास्पद और नीच है। निरपराध सहस्रों पशुओं की हिंसा निरर्थक की जा रही है और वह भी धर्म के नाम पर। दीन पशुओं की वाणी ने इनके सदय हृदय को द्रवित कर दिया। 'सदयहृदयदर्शितपशुघातं' वाले इस महात्मा तथा महापुरुषने इस पशुहिंसा के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया और तार स्वरों में इस बात की घोषणा की कि यज्ञ–यगादिक का करना व्यर्थ है। मनुष्यों को चाहिये कि पशुओं की हिंसा न करें, क्योंकि संसार में यदि कोई धर्म है तो केवल अहिंसा ही है। बुद्ध ने अहिंसा को बड़ा ही महत्त्व प्रदान किया है और इसे परम धर्म माना है:—**अहिंसा परमो धर्मः**। जहाँ आजकल का रणमत्त संसार हिंसा को ही अपना परम धर्म मानता है, वहाँ आज से २५०० वर्ष पहिले बुद्ध ने मानव को अहिंसा का पाठ पढ़ाया था। बुद्ध संसार के दुःख को दूर करना चाहते थे। उनकी यही आकांक्षा थी कि संसार के सभी जीव सुख से तथा शान्ति-पूर्वक निवास करें। उनका हृदय करुण तथा दया का अगाध महोदधि था। क्षुद्र जीवों के प्रति भी उनके हृदय में अनन्त प्रेम था। अहिंसा के उपदेश का उन्होंने केवल प्रचार ही नहीं किया, बल्कि उसे व्यवहार में लाने पर भी जोर दिया। उन्होंने स्वयं अपने जीवन को खतरे में डालकर किस प्रकार काशिराज के हाथों से एक मृगशिशु की जीवन-रक्षा की थी, यह ऐतिहासिकों से अविदित नहीं है। उनकी इस शिक्षा तथा व्यवहार का जनता में अत्यधिक प्रभाव पड़ा। सम्राट् अशोक तो उनके अहिंसा सिद्धान्त का इतना पक्षपाती था कि उसने राजकीय महानस में भोजन के लिये मयूर तथा मृगों को न मारने की निषेध-आज्ञा निकलवा दी थी। इस प्रकार से अनन्त जीवों की रक्षा कर भगवान् बुद्ध ने प्राणिमात्र का बड़ा उपकार किया। राजा शिवि के शब्दों में उनके जीवन एक ही उद्देश्य था और वह था—प्राणियों के कष्टों को दूर करना। न तो इन्हें राज्य की कामना थी और न धन की। न तो स्वर्ग की स्पृहा उनके हृदय में थी और न अपवर्ग की लालसा। कपिलवस्तु का यह राजकुमार केवल अन्य प्राणियों के दुःखों को दूर करने के लिये ही स्वयं अनेक कष्टों को झेलता रहा। सचमुच ही उनका सिद्धान्त था:—

न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

दूसरी बात जो बौद्धधर्म में विशेष महत्त्व रखती है वह आत्मदमन की शिक्षा है। भगवान् बुद्ध ने आत्मदमन—अपने आत्मा को वश में करने—का उपदेश किया है। उनका यह सिद्धान्त था कि आत्मा को अपने वश में किये बिना कोई कार्य सम्पादित नहीं हो सकता। इसलिये उन्होंने मनुष्य के अन्दर रहने वाले काम, क्रोध, मद, लोभ, अहङ्कार आदि के दमन के ऊपर विशेष जोर दिया है। मनुष्य विकारों का समुदाय है। अतः जब तक वह अपने आन्तरिक विकारों को दूर कर इन्द्रियों को वश में नहीं करता, तब तक वह विजेता नहीं कहला सकता। इसीलिये बुद्ध ने दूसरों पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा आत्म-विजय पर इतना जोर दिया है। वे स्वयं दान्त और शान्त थे। जब वे अपनी तपस्या में लगे हुये थे तब एक बार मार ने उनको समाधिच्युत करने के लिये अनेक सुन्दरी अप्सरायें भेजीं परन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा से टस से मस नहीं हुये—

'इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं विलयं च यातु ।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां, नह्यासनाद् गात्रमिदं चलिष्यति' ॥

यह उनकी भीष्म प्रतिज्ञा थी और अन्त में अपने इसी आत्म-दमन के द्वारा उन्होंने उस महान् बोधि को प्राप्त किया जिसका प्रकाश आज भी अन्धकार में पड़े मानवों के लिये प्रकाश-स्तम्भ का कार्य कर रहा है। इस आत्म-दमन की महत्ता के कारण जनता के सदाचार की वृद्धि हुई और बौद्ध धर्म में वे बुराइयाँ नहीं आनें पाईं जो अन्य धर्मों में विद्यमान थीं।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि बौद्धधर्म में बुद्धिवाद, मनुष्यों के समान अधिकार, सदाचार की महत्ता, अहिंसा का पालन तथा आत्मदमन आदि ऐसी अनेक बातें थीं जो साधारण मनुष्यों को भी 'अपील' करती थीं। परन्तु इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात मनुष्यों की समानता थी। जिस 'स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृता' के अधिकार की प्राप्ति के लिये फ्रेंच लोगों ने १८ वीं शताब्दी में प्रचण्ड विद्रोह किया था उसी समानता और स्वतन्त्रता का अधिकार भगवान् बुद्ध ने आज से २५०० वर्ष पूर्व सभी मानवों को दे दिया था। इससे बढ़कर उदारता क्या हो सकती है? सचमुच बौद्धधर्म एक जनतन्त्र धर्म है। इसके बहुल प्रचार तथा विस्तृत प्रसार का यही सर्वप्रधान कारण है।

बौद्धदर्शन संसार के दार्शनिक इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यथार्थवाद तथा आदर्शवाद दोनों वादों का जितना समन्वय इस दर्शन में मिलता है वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। बौद्ध दार्शनिकों ने इस संसार की क्षणिकता को समझा, इसकी परिवर्तनशीलता को परखा और यह सिद्धान्त निकाला कि संसार के सब पदार्थ क्षणिक हैं। बौद्धों के शून्यवाद की कल्पना भारतीय दर्शन के ब्रह्मवाद से मिलती जुलती है। शून्य कोई अभावात्मक पदार्थ नहीं है बल्कि यह ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का ही प्रतीक है। बौद्धों का मनोविज्ञान भी अद्वितीय है। चित्त या मन की जितनी अवस्थायें हो सकती हैं उनका ऐसा सुन्दर विश्लेषण अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। भारतीय न्याय के इतिहास में बौद्धन्याय का बड़ा महत्त्व है। सच तो यह है कि भारत का मध्यकालीन न्याय इन्हीं बौद्धों के द्वारा प्रारम्भ किया गया था।

बौद्धदर्शन

बौद्धधर्म की महत्ता का अत्यन्त संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है। सर्व प्रथम हमने इस धर्म के त्रिरत्न-बुद्ध, संघ और धर्म—का वर्णन किया जिसमें बुद्ध के महान् व्यक्तित्व, संघ का दृढ़ संघटन तथा इस धर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में बौद्धदर्शन की विशेषताओं को दिखलाकर यह अध्याय तथा ग्रन्थ यहीं समाप्त किया जाता है। आशा है कि भगवान् तथागत का यह धर्म दुःख, जरा तथा व्याधि से व्यथित मानवों को सुख, शान्ति और भ्रातृभाव का सन्देश सदा देता रहेगा। तथास्तु।

यावच्छम्भुर्वहति गिरिजासंविभक्तं शरीरं
यावज्जैत्रं कलयति धनुः कौसुमं पुष्पकेतुः।
यावद् राधारमणतरुणीकेलिसाक्षी कदम्ब-
स्तावज्जीयाज्जगति महितः शाक्यसिंहस्य धर्मः॥

परिशिष्ट (क)

प्रमाण–ग्रन्थावली

सामान्य ग्रन्थ

S. Radhakrishnan — Indian Philosophy Vol. I Chapters VII, X, XI; London'29.

S. N. Das Gupta — History of Indian Philosophy Vol. I, Ch. V; Cambridge.

Hiriyanna — Outlines of Indian Philosophy. London. 1930.

Chatterjee & Datta — An Introduction to Indian Philosophy Chap. IV, Calcutta University'39.

Jwala Prasad — Indian Epistomology, Lahore 1939.

Yamakami Sogen — Systems of Buddhistic Thought. Calcutta University, 1912.

A. B. Keith — Buddhist Philosophy., Oxford.

Stcherbatsky — General Conception of Buddhism, Royal Asiatic Society, London.

Charles Eliot — Hinduism and Buddhism Vol 1-III London.

Otto Rosenberg — Die Problem der Buddhistischen Philosophie. Heidelburg 1924.

B. C. Law — Buddhist Studies, Calcutta 1931.

राहुल सांस्कृत्यायन — दर्शन-दिग्दर्शन, प्रयाग १९४२
बलदेव उपाध्याय — भारतीय-दर्शन, काशी १९४५।
गुलाब राय — बौद्ध-धर्म, कलकत्ता १९४३

बौद्ध-साहित्य का इतिहास

Nariman — Literary History of Sanskrit Buddhism; Bombay, 1920.

Wintenitz — History of Indian Literature Vol. II. Calcutta University.

Obermiller — Buston's History of Buddhism. Heidelburg.

R. Mitra — Nepalese Buddhist Literature Calcutta 1882.

मूल बौद्ध-धर्म

Mrs. Rhys Davids — Sakya or Buddhist Origins Lonbon, 1931.

" " " — Gautam the Man 1928.

" " " — A Manual of Buddhism'32.

" " " — Outlines of Buddhism 1934.

" " " — Buddhism (Home University Library 1934).

" " " — What was the original Gospel in Buddhism ? 1938.

S. Tachibana — The Ethics oi Buddhism, Oxford University Press 1920.

George Grimm — The Doctrine of the Buddha, Leipzig, 1926.

Sukumar Datta — Early Buddhist Monachism London, 1924.

Edmund Holmes — The Creed of Buddha, London.

What is Buddhism ; Buddhist Lodge, London 1929.

Hari Singh Gaur — The Spirit of Buddhism Calcutta, 1929.

J. B. Horner — The Early Buddhist Theory of Man Perfected (A study of the Arhan) London, 1916.

Kern — Indian Buddhism.

अभिधर्म

Anagarika B. Govinda — The Psychological Attitude of Early Buddhist Philosophy (Patna University Readership Lectures 1936-37.)

J. Kashyap — The Abhidhamma Philosophy Vols 1-II ; Mahabodhi Society, Sarnath. 1942.

महायान-धर्म

R. Kimura — A Historical Study of the terms Hinayana and Mahayana and the origin of the Mahayana Buddhism (Calcutta University, 1927.)

N. Datta — Aspects of Mahayana Buddhism and its retation to Hinayana. (Calcutta Oriental Series, Calcutta.)

Macgovern — An Introduction to Mahayana Buddhism (Kegan Paul, London, 1922).

D. T. Suzuki — Outlines of Mahayana Buddhism.

Lala Har Dayal — Bodhisattva.

बौद्ध-सम्प्रदाय

N. Datta — Early History of the Spread of Buddhism and Buddhist

Schools (Luzac & Co, London. 1925.)

W. M. Macgovern — A Manual of Buddhist Philosophy (Kegan Paul & co., London, 1923.)

Satkari Mookerjee — The Buddhist Philosophy of Universal Flux.

Scherbatsky — Conception of Buddhist Nirvana.

Poussin — Way to Nirvan.

बौद्ध-न्याय

Satischandra Vidyabhushan — A History of Indian Logic; Calcutta University 1921.

Scherbatsky — Buddhist Logic Vol. I Leningrad, 1932. Vol. II 1930.

Mrs. Rhys Davids — The Birth of Indian Psychology and its development in Buddhism; Luzac & Co., London 1336.

Jwala Presad — Indian Epistomology, Lahore 1939.

Tucci — Doctrines of Maitreyanath, Calcutta University.

बौद्ध-योग

P. V. Bapat — Vimuttimagga and Visuddhimagga-A Comparative Study. Poona, 1937.

G. C. Lounsbery — Buddhist Meditation ; Kegan Paul, London, 1935.

Concentration and Meditation, Buddhist Lodge, London, 1935.

बौद्ध-तन्त्र

Binayatosh Bhattacharya — An Introduction to Buddhist Esoterism. (Oxford University Press, 1932),

G. N. Kaviraj — The Mystic significance of 'Evam' (Jha Research Institute Journal Vol. II, Part I, 1944).

" " " — बौद्ध तान्त्रिक धर्म (बङ्गला) (उत्तरा-वर्ष ३, ४ में प्रकाशित, काशी)

B. C. Bagchi — Studies in Tantras (Calcutta)

राहुल सांकृत्यायन — वज्रयान और चौरासी सिद्ध (हिन्दी) (पुरातत्त्व-निबन्धावली, इण्डियन प्रेस, १९३७)।

नर्मदाशंकर मेहता — शाक्त-सम्प्रदाय (गुजराती), अहमदाबाद।

बौद्ध-धर्म का प्रसार

Nihar Ranjan Roy — Sanskrit Buddhism in Burma; Calcutta University, 1936.

Lewis Hodous — Buddhism and Buddhist in China, Newyork, 1924.

Edkin — Chinese Buddhism.

J. B. Pratt — The Pilgrimage of Buddhism Macmillian, London 1928.

Waddell — Tibetan Buddhism, 1910.

H. Hackmann — Buddhism : A Religion, London, 1910.

Sarat Chandra Das — Indian Pandits in the land of snow.

Sir Charles Eliot — Hinduism and Buddhism Vol. III.

राहुल सांकृत्यायन — तिब्बत में बौद्ध-धर्म।

Dwight Goddard — A Buddhist Bible; Japan 1932.

D. T. Suzuki — Studies in Lankavatar Sutra; London' 1930.

" " " — Essays in Zen Buddhism Luzac & Co., London Vol. I 1927. Vol. II 1933. Vol. III 1934.

विविध-ग्रन्थ

Oldenberg — Die Lehre der Upenisheden and die Anfiange des Buddhistmus (Gottengen 1923).

A. G. Edmunds — Buddhist & Christian Gospels Vols. I-II (Philadelphia 1908).

Miss Durga Bhagavat — Early Buddhist Jurisprudence (Poona, 1940).

पारिभाषिक
शब्द कोष

[इस ग्रन्थमें दार्शनिक शब्दों का बहुलतासे प्रयोग किया गया है। उनकी विस्तृत व्याख्या भी यथास्थान की गई है। पाठकों के सुभीता के लिए यह कोष तैयार किया गया है जिसमें विशिष्ट शब्दों की संक्षिप्त व्याख्या दी गई है। विशेष जानकारी के लिए ग्रन्थके तत्तत् स्थल देखें]

पृ०

अ

अकुल

तंत्रशास्त्र में शिव का प्रतीक ३५५

अकुशलमहाभूमिक धर्म

सदैव बुरा फल उत्पन्न करनेवाले धर्म। १९५

अकृततावाद

प्रकुध कात्यायन का मत। जगत् के पदार्थ पृथिव्यादि चार तत्त्व, सुख, दुःख तथा जीवन–इन सात तत्त्वों से बने हुए हैं। शस्त्र मारने से किसी की हिंसा नहीं होती, क्योंकि शस्त्र इन सप्त कायों में न पड़ कर उनके विवर में पड़ता है। ३०

अक्रियावाद

पूर्ण काश्यप का स्वतन्त्र मत। यह मत क्रियाफलों का सर्वथा निषेध करता है। इस मत में न भले कर्मों से पुण्य होता है और न बुरे कर्मों के करने से पाप। २८

अचल

विज्ञानवादियों के असंस्कृत धर्मों में अन्यतम। अचल = उपेक्षा। इस दशा का तभी साक्षात्कार होता है जब सुख तथा दुःख उत्पन्न नहीं होते। २४६

अचला

योग की अष्टम भूमि। ३३५

पृ०

अट्ठिकम्

२० वाँ कर्मस्थान। शव की केवल ठठरी पर ध्यान लगाना। इस ध्यान का फल है इस आपाततः रमणीय शरीर के दुःखद परिणाम को जान कर चित्त को इससे हटाना। ३४१

अधिपति प्रत्यय

प्रत्यक्ष ज्ञान का तृतीय प्रत्यय। अधिपति = इन्द्रिय। अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान का कारणभूत इन्द्रिय, जैसे शब्द के श्रावण प्रत्यक्ष में श्रवण। ३२७

अनागामी

श्रावक की तृतीय भूमि। इस शब्द का अर्थ है फिर जन्म न लेने वाला। ११८

अनिश्चिततावाद

संजय वेलट्ठिपुत्त का मत। जगत् के समस्त पदार्थों के रूप का निश्चित निरूपण नहीं हो सकता। 'अनेकान्तवाद' का एक रूप। ३५

अनुत्तर पूजा

'बोधि चित्त' के उत्पन्न करने के लिए एक प्रकार की विशिष्ट महायानी पूजा। १२३

अनुस्सति

='अनुस्मृति'। जब ध्यान का विषय बाह्य ठोस पदार्थ न होकर केवल उसकी प्रतीति या कल्पनामात्र होता है तब उसे 'अनुस्सति' कहते हैं (विसुद्धि मग्ग परिच्छेद ७) ३४१

अप्पणा समाधि

वस्तु के ऊपर चित्त को स्थिर कर देना। ३३७

अप्रतिसंख्या निरोध

बिना प्रज्ञा के ही सास्रव धर्मों का निरोध। इस निरोध का फल 'अनुत्पाद ज्ञान' है अर्थात् भविष्य में रागादि क्लेशों की कथमपि उत्पत्ति नहीं होती जिससे प्राणी ऐकान्तिक निर्वाण प्राप्त होता है। २००

पृ०

अभिधम्म

= 'अभिधर्म'। बुद्धवचन का तृतीय पिटक जो एक ही धर्म के नाना प्रभेद दिखलाने के कारण (आभीक्ष्ण्यात्), दूसरे मतों के खण्डन करने के कारण (अभिभवात्), बौद्ध सिद्धान्तों की उचित आध्यात्मिक व्याख्या करने के कारण (अभिगतितः) इस नाम से पुकारा जाता है। १२-१३

अभिमुक्ति

योग की षष्ठभूमि। ३३५

अमराविक्षेपवाद

कार्य तथा अकार्य के विषय में निश्चित मत न रखने वाले दार्शनिकों का सिद्धान्त। २४

अरूपधातु

भूतों के द्वारा अनिर्मित लोक। इसमें केवल मनोधातु, धर्मधातु तथा मनोविज्ञानधातु की ही एकमात्र सत्ता रहती है। १८५

अर्चिष्मती

योग की चतुर्थ भूमि। ३३५

अर्हत्

हीनयान का आदर्श व्यक्ति-जिसने अपने समस्त क्लेशों को दूर कर स्वयम् निर्वाण प्राप्त कर लिया हो। १२१

अवधूती

'अवहेलया अनाभोगेन क्लेशादि-पापान् धुनोति' = अनायास ही क्लेशादि पापों को दूर करनेवाली शक्ति। सुषुम्ना मार्ग से प्रवाहित होने वाली शक्ति का तान्त्रिक नाम। जब ललना तथा रसना विशुद्ध होकर एकाकार हो जाती हैं, तो उन्हें 'अवधूती' कहते हैं। ३७३

अविज्ञप्ति

अप्रकट अनभिव्यक्त कर्म। जिन कर्मों का फल सद्यः अभिव्यक्त न होकर कालान्तर में अभिव्यक्त होता है, उन्हीं का नाम है 'अविज्ञप्ति'। इस प्रकार 'अविज्ञप्ति' वैशेषिकों के 'अदृष्ट' तथा मीमांसकों के 'अपूर्व' का बौद्ध प्रतिनिधि है। १९१

पृ०

अष्टाङ्गिक मार्ग

बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट मार्ग-जिसके (१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाचा आदि आठ अङ्ग होते हैं। ६०

असंस्कृत

हेतु प्रत्यय से उत्पन्न न होने वाले, स्थायी, नित्य, गतिहीन तथा अनास्रव धर्म। १८६

आ

आकाश

यह वह असंस्कृत धर्म है जो न तो दूसरों को आवरण करता है, न अन्य धर्मों के द्वारा आवृत होता है। १९८

आकासानञ्चायतन

आकाश + आनन्त्य + आयतन। कर्मस्थान का ३५ वाँ प्रकार। समग्र अनन्त आकाश के ऊपर चित्त लगाना। कसिण में केवल परिच्छिन्न आकाश पर ही ध्यान लगाने का विधान होता है। द्रष्टव्य 'परिच्छिन्नाकास कसिण'। ३४२

आकिञ्चञ्ञायतन

कर्मस्थान का ३७ वाँ प्रकार। इसमें विज्ञान के भावको चित्त से दूर कर उसके अभाव पर ध्यान लगाना चाहिए। 'नास्ति + किञ्चन + आयतन'। ३४३

आगम

सृष्टि, प्रलय, देवार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन (शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण) और ध्यान योग—इन लक्षणों से युक्त ग्रन्थविशेष। तन्त्र। ३५२

आचार

तन्त्रशास्त्र में साधक के बाहरी आचरण की संज्ञा। ३५५

आजीवक

मंखलि गोसाल का मत जो नियतिवाद का समर्थक है। भाग्य के प्रभाव से ही प्राणी सुख-दुःख के चक्कर में पड़ा रहता है, उसके अनुष्ठित कर्मों का तनिक भी फल नहीं होता। कर्म की व्यर्थता का पोषक सिद्धान्त। ३४

पृ०

आदात कसिण

८ वाँ कर्मस्थान। आदात = अवदात (सफेद) उजले रंग के फूलों से ढके हुए पात्रविशेष पर ध्यान करना। ३४०

आदि-बुद्ध

कालचक्रयान में परमतत्त्व का संकेत। 'आदि' का अर्थ है उत्पाद-व्यय-रहित अर्थात् नित्य। वे प्रज्ञा तथा करुणा की सम्मिलित मूर्ति माने जाते हैं। इनके चार काय होते हैं। २८४-२८५

आदिशान्त

स्वभावरहित, विशिष्ट सत्ता से विहीन जगत् के मायिक पदार्थ २९३

आनापानानुस्सति

कर्मस्थान का २९ वाँ प्रकार। एकान्त स्थान में बैठ कर श्वास-प्रश्वास के ऊपर, साँस के आगमन तथा निर्गम के ऊपर ध्यान लगाना अर्थात् प्राणायाम करना। ३४१

आपो कसिण

दूसरा कर्मस्थान। समुद्र, नदी, तालाब आदि जलसम्बन्धी ध्यान के विषय। ३३९

आयतन

प्रवेश मार्ग। 'आयं प्रवेशं तनोतीति आयतनम्'। ज्ञान की उत्पत्ति के द्वार होने के कारण इन्द्रिय तथा तत्सम्बद्ध विषय 'आयतन' शब्द से वाच्य होते हैं। भीतरी होने से इन्द्रियाँ (छः) 'अध्यात्म आयतन' कहलाती हैं तथा विषय (छः) 'बाह्य आयतन' कहलाते हैं। संख्या में १२। १८३

आरूप्य

वे कर्मस्थान जो रूपधातु से अरूपधातु में ले जाने में समर्थ होते हैं। इनकी संख्या चार है। ३४२

आर्य सत्य

आर्यों—विद्वानों के द्वारा ज्ञेय सत्य जो संख्या में चार है। इन्हीं के ज्ञान के कारण ही गौतम को बोधि या बुद्धत्व प्राप्त हुआ। ५४

पृ०

आलय विज्ञान

धर्मों के बीजों का यह विज्ञान स्थान (आलय) है। ये धर्म बीज रूप से यहाँ इकट्ठे रहते हैं और विज्ञानरूप से बाहर निकल कर जगत् के व्यवहार का निर्वाह करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में 'उपचेतन मन' (सब–कानशश माइन्ड) का बौद्ध प्रतिनिधि। २४२

आलम्बन प्रत्यय

प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय। जैसे घट–प्रत्यक्ष में घट आलम्बन प्रत्यय कहलाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में चार प्रत्ययों में प्रथम प्रत्यय। ३२७

आलोक कसिण

९ वाँ कर्म स्थान। दीवाल के किसी छिद्र से होकर आनेवाली चन्द्रमा या सूर्य की किरण पर ध्यान लगाना। ३४०

आहारे पटिकूलसञ्ञा

कर्मस्थान का ३९ वाँ प्रकार। भोजन से उत्पन्न तथा सम्बद्ध बुराइयों पर ध्यान देने से भोजन से घृणा का भाव उत्पन्न होना। ३४४

इ

इडा

वाम या चन्द्र नाडी का नाम। ३६८

इद्धि

अलौकिक शक्ति या सिद्धि। समाधि मार्ग के अन्तरायों में अन्यतम। ३३८

उ

उग्गह निमित्त

इसका उदय तब होता है जब योग–प्रक्रिया के अभ्यास करने पर नेत्र बन्द कर देने पर उस वस्तु की मूर्ति भीतर स्वतः झलकने लगती है। ३३९

उच्छेद–वाद

अजित केशकम्बलका मत। मृत्यु के अनन्तर आत्माकी सत्ता में अविश्वास। पृथिव्यादि चार तत्त्वों का बना यह शरीर मरने पर इन्हीं तत्त्वों में लीन हो जाता है, कुछ शेष नहीं रहता। २९

पृ०

उद्धुमातकम्

११ वां कर्मस्थान–संसारकी अनित्यता को सद्यः हृदयङ्गम करने के लिए फूले हुए शव पर ध्यान लगाना। २४०

उन्मनीभाव

आनन्द की वह दशा जिसमें मनका लय हो जाता है तथा प्राण का सञ्चार तनिक भी नहीं रहता। सहजिया लोगों के मत में जीव का यही 'निज स्वभाव' अर्थात् अपना सच्चा रूप है। ३६९

उपक्लेशभूमिक धर्म

परिमित रहने वाले क्लेशों के उत्पादक धर्म जो संख्या में दस हैं। १९५

उपचार भावना

ध्यानयोग से इसका सम्बन्ध है। जब वस्तु को उसके लक्षण जैसे रंग, आकृति आदि से पृथक् कर केवल वस्तुमात्र पर ध्यान लगाना होता है तब उसे 'उपचार भावना' कहते हैं। २४६

उपचार समाधि

किसी वस्तु के ऊपर चित्तको लगाने से ठीक पूर्वक्षण में विद्यमान मानसिक दशा ३३७

उपसमानुस्सति

कर्म-स्थान का ३० वां प्रकार। उपशमरूप निर्वाण के ऊपर ध्यान लगाना। ३४२

उपादान

आसक्ति। तीन प्रकार (१) कामोपादान = स्त्री में आसक्ति। (२) शीलोपादान = व्रतों में आसक्ति। (३) आत्मोपादान = आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति। ७५

उपाय

प्राणियों पर अनुकम्पा या करुणा। ३७९

पृ०

उपायप्रत्यय

उपाय = प्रज्ञा या शुद्ध ज्ञान। वास्तव समाधि, जिसमें ज्ञान का उदय होता है, जिसके उदय से संस्कारों का क्रमशः दाह हो जाता है और व्युत्थान की तनिक भी आशंका नहीं रहती। भवप्रत्यय से यह उच्चकोटि का होता है, क्यों कि इसमें वृत्तियों के निरोध के साथ ही साथ शुद्ध ज्ञान का भी उदय होता है। ३३६

उपेक्खा भावना

कर्मस्थान का ३४ वां प्रकार। पाप कर्म में निरत व्यक्तियों से तथा उनके कार्यों से उपेक्षा या अवहेलना की भावना रखना चाहिए। ३४२

ऊजूवाट

='ऋजुवर्त्म' = सीधा रास्ता। वाम तथा दक्षिण की गतिका परित्याग कर मध्य मार्ग या सुषुम्ना मार्ग। शक्ति को सरल मार्ग से ले जाना। ३७६

ए

एकाग्रता

विषय के साथ चित्त के सामञ्जस्य स्थापित करने का नाम एकाग्रता है। ३४७

एकार

बौद्ध तन्त्र में शक्ति का प्रतीक। चन्द्र तथा प्रज्ञा का द्योतक तत्त्व। ३७९
एकार ही शृङ्गाट (त्रिकोण) के रूप में शक्ति-यन्त्र (भग= योनि) का प्रतीक तथा वह्निका गृह माना गया है। ३८१

एकांश व्याकरणोय

प्रश्न का प्रथम प्रकार। वह प्रश्न जिसका उत्तर सीधे तौर से दिया जा सके। ४९

एवँ

शिवशक्ति के मिलन का प्रतीक बौद्ध सङ्केत। एवँ युगल रूप का वाचक है। परमार्थ एक भी नहीं है और न वह दो ही है, अपि तु दो होते हुए भी एकाकार है। अद्वैत तथा अद्वय तत्त्व का बौद्ध सांकेतिक नाम। ३८०, ३८१

पृ०

क

कथाप्रमाद

मतलब की बातें न कहकर इधर-उधर की बातें कहना। निग्रह का द्वितीय प्रकार = न्यायसूत्र का 'विक्षेप' (५।२।२०) ३२३

कम्मट्ठान ५

= 'कर्मस्थान'। साधकों के ध्यान के निमित्त ४० विषयों का एक समुदाय। ध्यान के विषय तो अनन्त हो सकते हैं, परन्तु 'विसुद्धिमग्ग' के अनुसार केवल ४० विषयों पर ही ध्यान रखने से साधक को समाधि सिद्धि हो जाती है। ३३८

करुणा भावना

कर्मस्थान का ३२ वां प्रकार। दुःखित व्यक्तियों के ऊपर करुणा या दया की भावना करनी चाहिये। ३४२

कल्पना

नाम, जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य से किसी वस्तु को युक्त करना। गौ, शुक्ल, पाचक, दण्डी तथा डित्थ—ये सब कल्पनायें हैं। ३२५

कसिण

= 'कृत्स्न'। वे विषय जो समग्र चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और जिनकी ओर लगने से चित्त का सम्पूर्ण अंश (कृत्स्न) विषयाकाराकारित हो जाता है। ३३९

कामतृष्णा

तृष्णा का प्रथम प्रकार। नाना प्रकार के विषयों की कामना करने वाली तृष्णा। ५८

कामधातु

कामना या वासना से युक्त लोक। १८५

कायगतानुस्सति

कर्मस्थान का २८ वां प्रकार। शरीर के नाना प्रकार के मल से मिश्रित अंग-प्रत्यङ्गों पर चित्त का लगाना। ३४१

काल

उपाय, करुणा तथा शिवतत्त्व का सांकेतिक अभिधान। ३८६

पृ०

कालचक्र

परम तत्त्व का सांकेतिक अभिधान। प्रज्ञोपायरूप सम्बद्ध युगल मूर्ति का कालचक्रयानी नाम। ३८७

कुल

कुण्डलिनी शक्ति। ३५५

कुलान

कौल का पर्यायवाची शब्द। कुल या शक्ति में लीन रहने वाला साधक। ३५६

कुशलमहाभूमिक धर्म

दश शोभन नैतिक संस्कार जो भले कार्यों के अनुष्ठान के प्रतिक्षण में विद्यमान रहते हैं। १९४

कौल

जो व्यक्ति योगविद्या के सहारे कुण्डलिनी का उत्थान कर सहस्रार में स्थित शिव के साथ संयोग करा देता है उसे 'कौल' कहते हैं। पूर्ण अद्वैती साधक जिसे पंक और चन्दन में, शत्रु तथा मित्र में, श्मशान तथा भवन में, सोना तथा तृण में तनिक भी भेदबुद्धि नहीं रहती। ३५५

कौलाचार

सब तान्त्रिक आचारों में श्रेष्ठ आचार, जिसमें पूर्ण अद्वैत भावना का आचरण किया जाता है। ३५५

क्रियायोग

योगसिद्धि का आरम्भिक साधन जिसके अन्तर्गत तीन साधनों का समावेश होता है—(क) तप, (ख) स्वाध्याय = मोक्ष-शास्त्र का अनुशीलन अथवा प्रणवपूर्वक मन्त्रों का जप, (ग) ईश्वरप्रणिधान = ईश्वर की भक्ति अथवा समग्र कर्म फलों का ईश्वर को समर्पण। इसका फल होता है—समाधि की सिद्धि करना तथा अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करना (योगसूत्र २।२) ३१०

पृ०

क्लिष्ट मनोविज्ञान

योगाचार मत में षष्ठ 'मनोविज्ञान' मनन की प्रक्रिया का निर्वाहक होता है अर्थात् इन्द्रिय विज्ञानों के द्वारा जो विचार सामने उपस्थित किये जाते हैं उन पर 'मनन' करता है। यह सप्तम मनोविज्ञान 'परिच्छेद' अर्थात् 'विवेचन' का समग्र व्यापार करता है कि कौन प्रत्यय आत्मा से सम्बन्ध रखता है और कौन अनात्मा से। सांख्यों के 'अहंकार' का प्रतिनिधि तत्त्व। २४१-४२

क्लेशमहाभूमिक धर्म

बुरे कार्यों के विज्ञान से सम्बद्ध छ धर्म। १९५

क्लेशावरण

अविद्या राग आदि क्लेशों का आवरण जो समस्त वस्तुओं को आवृत किये रहता है और जो मुक्ति को रोकता है। १५०

क्षान्तिपारमिता

अपराधी व्यक्तियों के दोषों को पूर्णरूप से सहना तथा क्षमा कर देना। १२८

ग

गंगा

तन्त्र शास्त्र में शरीर के वाम भाग में प्रवाहित होने वाली 'इडा' नाडी का सांकेतिक नाम। ३५६

गुरुतत्त्व

सहजिया लोगों में गुरु शून्यता तथा करुणा की युगल मूर्ति, उपाय तथा प्रज्ञा का समरस विग्रह, होता है। वह केवल परम ज्ञानी ही नहीं होता, प्रत्युत जीवों के उद्धार करने की महती दया भी उसमें विद्यमान रहती है। जब तक परम करुणा का उदय नहीं होता, तब तक ज्ञान से पूर्ण होने पर भी मानव गुरु बनने का अधिकारी नहीं होता। ३७०

च

चक्र

प्रज्ञा, शून्यता तथा शक्ति तत्त्व का बौद्ध प्रतीक। ३८६

पृ०

चतुर्धातुववत्थानस्स भावना

कर्म स्थान का अन्तिम ४० वां प्रकार। शरीर के साधक धातुओं की अनित्यता की भावना जिससे शरीर अचेतन, शून्य, निःसत्त्व तथा सत्ताहीन प्रतीत होने लगे। ३४४

चतुर्यामसंवर

निगण्ठ नातपुत्त का मत जिसमें चार प्रकार के संयम को मान्य ठहराया गया है। ३६

चागानुस्सति

कर्मस्थान का २५ वां प्रकार। चाग = त्याग। त्याग के गुण तथा स्वभाव पर चित्त लगाना। ३४१

चाण्डाली

अवधूती शक्ति का तान्त्रिक नाम। ३७५

चित्तमहाभूमिक धर्म

वे साधारण मानसिक धर्म हैं जो विज्ञान के प्रतिक्षण में विद्यमान रहते हैं। ये संख्या में वेदना, संज्ञा आदि १० हैं। १९३

चित्तविप्रयुक्त धर्म

जाति, स्थिति, जरा आदिक कतिपय धर्म जो भौतिक धर्मों में तथा चैत्तधर्मों में अन्तर्भुक्त नहीं होते। १९६–९७

चित्तसंप्रयुक्त धर्म

चित्त से घनिष्ठरूप से सम्बन्ध रखने वाले धर्म। १९३

चैत्तधर्म

देखो 'चित्त संप्रयुक्त' शब्द। १९३

ज

ज्ञानसंभार

= प्रज्ञा, जिसके उदय से बुद्धत्व की सद्यः उत्पत्ति होती है। १२५

ज्ञेयावरण

द्वितीय प्रकार का आवरण जो सब ज्ञेय पदार्थों के ऊपर ज्ञान की प्रवृत्ति को रोकता है और जिसके दूर हो जाने पर सब वस्तुओं में अप्रतिहत ज्ञान उत्पन्न होता है। १५०

पृ०

ठ

ठकार

तन्त्र में सूर्य या दक्षिण नाडी का सांकेतिक नाम। ३६७

ड

डोम्बी

चाण्डाली शक्ति का विशुद्धरूप जिसमें अद्वैत भावना की पूर्णता रहती है। ३७६

त

तथता

संस्कृत धर्मों का अन्तिम प्रकार अविकारी तत्त्व। परमार्थभूत पदार्थ। २४६–४७

'तथा का भाव'। जैसी वस्तु है वैसा ही उसके यथार्थ रूप का निरूपण। परमार्थ सत्यता का महायानी नाम। २९५

तथ्यसंवृति

किंचित् कारण से उत्पन्न तथा दोषरहित इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध वस्तु का रूप जैसे नील, पीत आदि। यह लोक से सत्य है, परन्तु वस्तुतः नहीं। २९२

तन्त्र

तन् विस्तारे + ष्ट्रन्। वह शास्त्र जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है। विशेषतः वह शास्त्र जो तत्त्व तथा मन्त्र से युक्त अनेक अर्थ का विस्तार करते हैं (तनन) तथा ज्ञान के द्वारा साधकों का त्राण करते हैं (त्राण)। ३५२

तेजो कसिण

तीसरा कर्मस्थान। दीपक की लौ, चूल्हे में जलती हुई आग या दावानल आदि अग्निसम्बन्धी ध्यान के विषय। ३३९

द

दशबल

दश प्रकार के बलों से समन्वित होने के कारण बुद्ध का एक प्रसिद्ध अभिधान। १०१

पृ०

दानपारमिता

सब जीवों के लिए सब वस्तुओं का दान देना तथा दानफल का परित्याग करना। १२६

दिव्यभाव

जब साधक द्वैतभावको दूरकर उपास्य देवता के साथ अपना अद्वैत भाव स्थिर करता है, देवता की सत्ता में अपनी सत्ता खो कर अद्वैतानन्द का आस्वादन करता है तब उसमें 'दिव्य भाव' का उदय माना जाता है। ३५५

दुःखम्

प्रथम आर्यसत्य। संसारका जीवन दुःख से परिपूर्ण है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो दुःखमय न हो। ५५

दुःखनिरोध

तृतीय आर्यसत्य। यह सत्य बतलाता है कि दुःख का नाश होता है। जब दुःख उत्पन्न करने के कारण विद्यमान हैं तब उनको हटा देने से वह दुःख नष्ट भी हो सकता है। ५९

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्

चतुर्थ आर्यसत्य। प्रतिपत् = मार्ग। वह मार्ग जो दुःख के नाश तक चला जाता है अर्थात् जिस पर चलने से दुःख का नाश अवश्यमेव हो जाता है। अष्टाङ्गिक मार्ग। ६०

दुःखसमुदयः

द्वितीय आर्य सत्य। समुदय = कारण। दुःख का कारण है और वह तृष्णा है। ५५

दूरंगमा

योगकी सप्तम भूमि ३३५

देवतानुस्सति

कर्मस्थान का २६ वाँ प्रकार। देवता या देवलोक में जन्म लेने के उपाय पर चित्त लगाना। ३४१

ध

धम्मानुस्सति

२२ वाँ कर्मस्थान। धर्म की भावना पर ध्यान लगाना। ३४१

पृ०

धर्म

पदार्थमात्र का बौद्ध संकेत। धर्म क्षणिक होता है; एक क्षण में एक ही धर्म ठहर सकता है। धर्म आपस में मिल कर नवीन वस्तु को उत्पन्न करता है। धर्म का यह स्वभाव होता है कि वे कारण से उत्पन्न होते हैं (हेतुप्रभव) और अपने विनाश की ओर स्वतः अग्रसर होते हैं (निरोध) १८०-८१

धर्मकाय

बुद्ध का परमार्थभूत शरीर। यह काय अनन्त, अपरिमेय, सर्वत्र व्यापक तथा शब्दतः अनिर्वचनीय होता है। सब बुद्धों के लिए एक ही होता है तथा दुर्ज्ञेय होने से अत्यन्त सूक्ष्म होता है। सम्भोग काय का यही आधार होता है। वेदान्त के ब्रह्म का प्रतिनिधि। १३८-३९

धर्मधातु

वस्तुओं की समग्रता से मण्डित पदार्थ। परमार्थ सत्य का बौद्ध संकेत। २९५

धर्म नैरात्म्य

जगत् के समस्त पदार्थ स्वभाव-शून्य होते हैं। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादक यह शब्द है। १५०

धर्ममेध्या

योग की अन्तिम भूमि। ३३५

धातु

वे शक्तियाँ जिनके एकीकरण से घटनाओं का एक सन्तान या प्रवाह निष्पन्न होता है। ६ इन्द्रियाँ + ६ विषय + ६ विज्ञान = १८ धातु। १८४

पृ०

ध्यान

(१) प्रकार—जब चित्त में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता नामक पाँचों वृत्तियों की प्रधानता रहती है।
(२) प्रकार। इसमें वितर्क तथा विचार का अभाव, श्रद्धा की प्रबलता तथा प्रीति, सुख और एकाग्रता की प्रधानता रहती है।
(३) प्रकार। इसमें सुख तथा एकाग्रता की प्रधानता रहती है, सुख की भावना साधक के चित्त में विक्षेप उत्पन्न नहीं करती है। चित्त में विशेष शान्ति तथा समाधान का उदय होता है।
(४) प्रकार। इसमें शारीरिक सुःख-दुःख का सर्वथा त्याग, राग-द्वेष से विरहित होना, उपेक्षा की भावना प्रबल होती है इस सर्वोत्तम ध्यान में चित्त एकदम निर्मल तथा विशुद्ध बन जाता है। ३४८-३४९

ध्यानपारमिता

चित्त की पूर्ण एकाग्रता, जिससे क्लेशों का क्षय उत्पन्न होता है। १३०

न

नामरूप

द्वादश निदानों में अन्यतम। भ्रूण की मानसिक तथा शारीरिक अवस्था जब वह गर्भ में चार सप्ताह बिता चुकता है। ७४

नित्यशान्त

देखिए 'आदि शान्त' शब्द। २९३

निरुपधि शेष

शरीरपात होने पर अर्हत् के बन्धन के क्षय के साथ-साथ समस्त उपाधियाँ दूर हो जाती हैं। ऐसे अर्हत् का निर्वाण। विदेह-मुक्ति की समान कल्पना। १९८

निर्माण काय

धर्मोपदेश तथा शिक्षा के निमित्त बुद्ध के द्वारा धारण किया गया शरीर। निर्माणकाय कर्मों से उत्पन्न नहीं होता तथा संख्या में अनन्त होता है। तथागत इसी काय को उत्पन्न कर अपने समग्र कार्य तथा शील, समाधि आदि का उपदेश देते हैं। १३५-३६

पृ०

निर्वाण

अष्टांगिक मार्ग के सेवन करने से वस्तुओं की अनित्यता का अनुभव हो जाता है तब भिक्षु राग-द्वेष आदि क्लेशों को नाश कर अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। निर्वाण वह मानसिक दशा है जिसमें भिक्षु जगत् के अनन्त प्राणियों के साथ अपना विभेद नहीं करता, प्रत्युत वह सबके साथ अपनी एकता स्थापित करता है। हीनयान में निर्वाण दुःखाभाव है तथा क्लेशावरण के नाश के ऊपर आश्रित है। महायान में निर्वाण सुखरूप है तथा ज्ञेयावरण के भी नाश के ऊपर अवलम्बित रहता है। १५३, ५४

निष्यन्द बुद्ध

लंकावतार सूत्र में संभोग काय के लिए प्रयुक्त नाम। १३७

नीलकसिण

५ वां कर्मस्थान। नील रंग के फूलों से ढके हुए किसी पात्र-विशेष पर ध्यान लगाना। ३४०

नेव सञ्ञा ना सञ्ञायतन

(= नैव संज्ञा + न असंज्ञा + आयतन) कर्मस्थान का ३८ वां प्रकार।

प

पंचशील

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा मादक द्रव्यों का असेवन शोभन कर्म होने से पंचशील के नाम से पुकारे जाते हैं। ६६

पटिभाग निमित्त

इसका उदय तब होता है जब चित्त की एकाग्रता के कारण वस्तु चित्त में पूर्व की अपेक्षा अत्यधिक स्पष्ट तथा उज्ज्वल रूप से दृष्टिगोचर होने लगती है। ३३९

पठवी कसिण

प्रथम कर्मस्थान। मिट्टी के बने पात्र के ऊपर चित्त को लगाना। पात्र रंगविरंगा न होना चाहिए, नहीं तो चित्त पृथ्वी से हट कर उसके लक्षण की ओर आकृष्ट हो जाता है। ३३९

पृ०

परतन्त्र सत्ता

दूसरे के ऊपर अवलम्बित होने वाली सत्ता। वह सत्ता जो स्वयं उत्पन्न नहीं होती, अपि तु हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होती है। जैसे घट जो मृत्तिका-कुम्भकार आदि के संयोग से उत्पन्न होता है। २४९

परिकर्म भावना

ध्यानयोग की आरम्भिक प्रक्रिया है जिसमें साधक अपनी सहज प्रवृत्तियों के अनुरूप किसी भी निमित्त या वस्तु को पसन्द करता है तथा अपने चित्त को लगाने का प्रयत्न करता है। ३४५

परिकल्पित सत्ता

वह सत्ता जिसमें किसी वस्तु का नाम या अर्थ या नाम का प्रयोग संकल्प या कल्पना के द्वारा किया जाय। २४९

परिच्छिन्नाकास कसिण

१० वां कर्मस्थान। परिच्छिन्न, सीमित आकाश जैसे दीवाल या किसी खिड़की के बड़े छेद को ध्यान का विषय बानना। ३४०

परिनिष्पन्न वस्तु

परमार्थ वस्तु। वह वस्तु जो सुख-दुःख की कल्पना से तथा भाव और अभाव से सर्वथा अतीत होती है। परमार्थ अद्वैत पदार्थ। २५०

पलिबोध

'परिबोध' का पालीरूप। बोध के प्रतिबन्धक अन्तराय या विघ्न जो दुर्बल चित्तवाले व्यक्तियों को प्रभावित कर समाधि-मार्ग से दूर हटाते हैं। ये संख्या में दस हैं। ३३७

पशुभाव

अविद्या के आवरण के कारण जिन जीवों में अद्वैत ज्ञान का उदय लेशमात्र भी नहीं होता और जो संसार के प्रपंच से सर्वथा बद्ध हैं उनकी मानस दशा। पाशनाच्च पशवः। २५५

पृ०

पापदेशना

देशना = प्रकटीकरण। पश्चात्तापपूर्वक अपने पापों को प्रकट करना। इस प्रकार पश्चत्ताप के द्वारा प्राचीन पापों का शोधन हो जाता है। ईसाइयों में कन्फेशन की प्रथा इसी के अनुरूप है। १२४

पारमार्थिक सत्य

प्रज्ञाजनित सत्य। वस्तुत सत्य पदार्थ। २९०

पारमिता

= पूर्णत्व। शोभन गुणों की पूर्णता जो बुद्धत्व की प्राप्ति में सहायक बनती हैं। ये संख्या में छः हैं। १२५

पारमी

पारमिता का पालीरूप। 'पारमिता' शब्द देखो। ,,

पिंगला

दक्षिण या सूर्य नाडी का तान्त्रिक नाम। ३६८

पीतकसिण

छठा कर्मस्थान। पीले रंग की चीजों या फूलों से ढके हुए पात्र विशेष को ध्यान का विषय बनाना। ३४०

पुण्यसंभार

वे पुण्योत्पादक शोभन गुण जिनके अनुष्ठान से अकलुषित प्रज्ञा का उदय होता है। दान, शील, क्षान्ति, वीर्य तथा ध्यान इन पाँचों पारमिताओं का अन्तर्भाव 'पुण्यसंभार' के भीतर किया जाता है। १२५–१२६

पुद्गल

जीव। १४

पुद्गल नैरात्म्य

जीव या आत्मा स्वतः स्वभावरहित है। जीव के अस्तित्व का निषेध। ८१

पुद्गलवाद

सम्मितीयों का एक विशिष्ट मत। पंच स्कन्धों के अतिरिक्त एक नवीन मानस व्यापार जो अहंभाव का आश्रय होता है तथा एक जन्म से दूसरे जन्म में कर्म के प्रवाह को अविच्छिन्न रूप से बनाये रहता है। १०३

पृ०

पुलुवकम्

१९ वाँ कर्मस्थान। कीड़ों से भरे हुए शवको अपने ध्यान का विषय बनाना। ३४१

प्रभाकरी

योग की तीसरी भूमि। ३३५

प्रमुदिता

योग की प्रथम भूमि। ३३५

प्रज्ञा

शून्यता या पूर्णज्ञान। ३७९

प्रज्ञापारमिता

ज्ञान की पूर्णता। सब धर्मों की निःसारता का ज्ञान। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि-भावों की उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः, न उभयतः, न हेतुतः, तब प्रज्ञापारमिता का जन्म होता है। इसी से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। १३१

प्रतिपृच्छा-व्याकरणीय

प्रश्न का तीसरा प्रकार। वह प्रश्न जिसका उत्तर एक दूसरा प्रश्न पूछ कर दिया जाता है। ४९

प्रतिष्ठापन

= समारोप। वस्तु में अविद्यमान भाव की कल्पना। २४९

प्रतिष्ठापिका बुद्धि

असत् में सत् की प्रतीति करानेवाली बुद्धि जो जगत् के प्रपंच को भासित करती है। २४९

प्रतिसंख्या-निरोध

प्रतिसंख्या = प्रज्ञा या ज्ञान। प्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न सास्रव धर्मों का पृथक्-पृथक् वियोग। अर्थात् प्रज्ञा के उदय होने पर सास्रवधर्म में राग या ममता का सर्वथा परित्याग। इसमें मलों के क्षीण होने का ही ज्ञान उत्पन्न होता है; भविष्य में उनकी उत्पत्ति की सम्भावना बनी रहती है। १९९

पृ०

प्रविचय बुद्धि

पदार्थों के यथार्थरूप को ग्रहण करनेवाली बुद्धि। २४८

प्रतीत्य समुत्पाद

सापेक्षकारणतावाद। प्रतीत्य = (प्रति + इण्-गतौ + ल्यप्) किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर, समुत्पाद = अन्य वस्तु की उत्पत्ति। किसी वस्तु के उत्पन्न होने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति। ७०

प्रत्यक्ष

नाम, जाति आदि से असंयुक्त कल्पना-विहीन ज्ञान। 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्' (प्रमाणसमुच्चय) ३२५

प्रत्यय

मुख्यकारण के अनुकूल-कारण सामग्री। गौण कारण। हेतु-मन्यं प्रयि अयते गच्छतीति इतरसहकारिभिर्मिलितो हेतुः प्रत्ययः (कल्पतरु २।२२।१९)। ७२

प्रत्येक बुद्ध

वह व्यक्ति जिसे सब तत्त्व स्वतः परिस्फुरित होते हैं और जिसे तत्त्व-शिक्षा के लिए परतन्त्र नहीं होना पड़ता। ११९

प्रत्येक बुद्धयान

'प्रत्येक बुद्ध' के आदर्श का प्रतिपादक बौद्धवाद। ११८

प्रमाण

वह ज्ञान जो अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करता है और जो वस्तुस्थिति के विरुद्ध कभी नहीं जाता (अविसंवादी)। जो ज्ञान कल्पना के ऊपर अवलम्बित रहता है वह होता है विसंवादी और जो अर्थ-क्रिया के ऊपर आश्रित रहता है वह अविसंवादी होता है। ऐसा ही अविसंवादी ज्ञान। ११ ३२४

प्रीति

ध्यानयोग में चित्त के समाधान होने पर जो मानसिक आह्लाद होता है उसीका नाम प्रीति है। ३४७

पृ०

व

वंगाली

देखो डोम्बी शब्द। ३७६

बुद्धाध्येषणा

बुद्ध बनने की प्रार्थना। १२४

बुद्धानुस्मृति

२१ वां कर्मस्थान। बुद्ध की प्रतीति पर या बुद्धत्व की कल्पना पर ध्यान लगाना। ३४१

बोधिचर्या

बुद्ध पद की प्राप्ति के लिए एक विशिष्ट महायानी साधन। १२२

बोधि चित्त

बोधि = ज्ञान। समग्र जीवों के उद्धार के लिये सम्यग् ज्ञान में चित्त का प्रतिष्ठित होना बोधिचित्त का ग्रहण कहलाता है। १२२

बोधिचित्ताभिषेक

वज्राचार्य के द्वारा साधक को तन्त्रमार्ग में पूर्ण दीक्षा देना जिससे वह अपने उद्देश्य में सद्यः सिद्धि प्राप्त कर ले। ३७१

बोधिपरिणामना

साधक की यह प्रार्थना कि अनुत्तरपूजा के फलरूप जो सुकृत मुझे प्राप्त हुए हैं उनके द्वारा मैं समग्र प्राणियों के दुःखों के प्रशमन में कारण बनूं। १२५

बोधिप्रणिधि चित्त

जब साधक के चित्त में जगत् के परित्राण के लिए बुद्ध बनने की भावना प्रार्थना रूप में उदित होती है, तब इस चित्त का जन्म होता है। १२३

बोधिप्रस्थान चित्त

जब साधक व्रत ग्रहण कर बुद्ध बनने के मार्ग पर अग्रसर होता है तथा शुभ कर्मों में व्यावृत होता है तब इस चित्त का जन्म होता है। १२३

पृ०

बोधिसत्त्व

बोधि (ज्ञान) प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति। बुद्ध जिसमें प्रज्ञा के साथ महाकरुणा का भाव विद्यमान रहता है।' ११९-२०

बोधिसत्त्वयान

'बोधिसत्त्व' के आदर्श का प्रतिपादक बौद्ध मार्ग। ११९

ब्रह्मनाडी

सुषुम्ना नाडी ही ब्रह्म की प्राप्ति में सहायक होने से इस नाम से पुकारी जाती है। ३६८

ब्रह्मविहार

मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा का सामूहिक नाम। इन भावनाओं का फल ब्रह्मलोक में जन्म लेना और वहां की आनन्दमयी वस्तुओं का उपभोग करना है। अतः ब्रह्म-विहार = ब्रह्मलोक में विहार के साधनभूत उपाय। ३४२

भ

भव

भविष्य जन्म को उत्पन्न करने वाला कर्म। भवत्यस्मात् जन्मेति भवो धर्माधर्मौ (भामती २।२।१९)। जन्म के कारण-भूत धर्म और अधर्म। ७५

भवतृष्णा

तृष्णा का द्वितीय प्रकार। भव = संसार या जन्म। इस संसार की सत्ता बनाये रखनेवाली तृष्णा। ५८

भवप्रत्यय

एक प्रकार की जड़ समाधि जिसमें वृत्तियों का निरोध तो हो जाता है, परन्तु ज्ञान का उन्मेष नहीं होता। यह योग विदेह तथा प्रकृतिलय योगियों को प्राप्त होता है (यो० सू० १।१९)। भव=जन्म। यह ऐसी समाधि है जिसके सिद्ध होने में पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त होना ही कारण होता है। ३३६

पृ०

भवाग्र

ध्यानयोग का साधक अपने ध्यान के बल पर स्थूल जगत् से सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करता है। ऐसी गति से वह ऐसे एक बिन्दु पर पहुंचता है जहां जगत् की समाप्ति हो जाती है। यही बिन्दु भवाग्र कहलाता है (अभि० कोष अ० ६) ३३४

भाव

तन्त्रशास्त्र का पारिभाषिक शब्द। साधक की मानसिक दशा। ३५४

भूतकोटि

सत्य अवसान वाला पदार्थ। परमार्थ सत्य। २९५

भौतिकवाद

देखो 'उच्छेदवाद' शब्द। २८

म

मद्य

ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रदल कमल से चूने या टपकने वाला अमृत। ३५६

मद्यप

उच्च साधना के बल पर कुण्डलिनी तथा शिव के संयोग होने पर सहस्रार से चूने वाले अमृत का पान करने वाला व्यक्ति। ३५६

मत्स्य

गंगा और यमुना के प्रवाह में बहने वाले श्वास तथा प्रश्वास का सांकेतिक तान्त्रिक अभिधान। ३५६

मत्स्यभक्षक

प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु को कुम्भक की पद्धति से सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश कराने वाला योगी। ३५६

मध्यमपथ

सुषुम्ना नाडी का सांकेतिक नाम। ३६८

पृ०

मुदिता भावना

कर्मस्थान का ३३ वां प्रकार। पुण्य कार्य करने वाले व्यक्तियों के साथ मुदिता या प्रसन्नता की भावना करनी चाहिये। ३४२

मुद्रा

असत् संगति का मुद्रण या सर्वथा परित्याग मुद्रा कहलाता है। ३५७

मुद्रा-साधन

तान्त्रिक साधना के लिए नवयौवन-सम्पन्ना युवति को अपनी संगिनी या शक्ति बनाना पड़ता है। इसी का तान्त्रिक संकेत है मुद्रा-साधन। ३७१

मेत्ता भावना

कर्मस्थान का ३१ वां प्रकार। मैत्री की भावना। प्रथमतः अपने कल्याण की भावना, अनन्तर गुरु आदि सम्बन्धियों के कल्याण की भावना और क्रमशः अपने शत्रु के ऊपर भी मैत्री की भावना करनी चाहिये। ३४२

मैथुन

सुषुम्ना तथा प्राण के समागम का तान्त्रिक संकेत। स्त्री-सहवास से उत्पन्न आनन्द से करोड़ों गुना अधिक आनन्द उत्पन्न होने से इसको मैथुन कहते हैं। ३५७

य

यमुना

तन्त्र शास्त्र में शरीर के दक्षिण भाग में प्रवाहित होने वाली नाडी का सांकेतिक नाम। ३५६

यामल

शिव-शक्ति के परस्पर सम्बद्धरूप का तान्त्रिक संकेत। देखिये 'एवँ' शब्द। ३८०

युगनद्ध

शिव शक्ति का परस्पर आलिङ्गन या मिलन। ३६८

पृ०

युगनद्ध

शिवशक्ति के परस्पर सम्बद्धरूप का बौद्ध संकेत। देखिये 'एवँ' शब्द। ३८०

युगल मूर्ति

या युगल सरकार। लक्ष्मी तथा नारायण के परस्पर गाढ़ालिंगनासक्त तत्त्व का वैष्णव संकेत। देखिए 'एवँ' शब्द। ३८०

योगाचार

भौतिक जगत् को नितान्त असत्य तथा चित्त या विज्ञान की एकमात्र सत्ता मानने वाला विज्ञानवादी बौद्ध सम्प्रदाय। १६१

योगि प्रत्यक्ष

समाधि से, चित्त की एकाग्रता से, उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान। २२८

र

रसना

सहजिया मत में दक्षिण शक्ति का सांकेतिक नाम। ३७३

रागमार्ग

जब चित्त संकल्प तथा कामना से विरहित होता है, रागादि मलों से निर्लिप्त होकर ग्राह्य-ग्राहक भाव की दशा को अतीत कर जाता है तब वह निर्वाण का मुख्य साधन बनता है। इसी का नाम है रागमार्ग। ३७५

रूप

भूत का सामान्य नाम। १८८

रूपधातु

कामना से हीन, विशुद्ध भूतों से निर्मित जगत्। इस लोक में जीव केवल १४ धातुओं से युक्त रहता है। १८५

रूपस्कन्ध

विषयों के साथ सम्बद्ध इन्द्रिय तथा शरीर। रूप्यन्ते एभिर्विषया इति रूपाणि इन्द्रियाणि। रूप्यन्ते इति रूपाणि विषयाः। ८४

पृ०

ल

ललना
सहजिया मत में वाम शक्ति का सांकेतिक नाम। ३७३

लोहित कसिण
७ वाँ कर्म स्थान। लालरंग के फूलों से ढके हुए पात्र-विशेष का ध्यान करना। ३४०

लोहितकम्
१८ वाँ कर्मस्थान। खून से इधर-उधर ढके हुए शव पर ध्यान लगाना। ३४०

व

व
बौद्धतन्त्र में सूर्य, उपाय तथा शिव का द्योतक तान्त्रिक संकेत ३८०

वचनदोष
बिना समझे-बूझे बेसमय में वचन बोलना। वाद-निग्रह का तृतीय तथा अन्तिम प्रकार। ३२३

वचन संन्यास
मैत्रेय के द्वारा उल्लिखित 'निग्रह' का प्रथम प्रकार = न्यायसूत्र का प्रतिज्ञा संन्यास (५।२।५)। पक्ष के प्रतिषेध करने पर अपने प्रतिज्ञात अर्थ को छोड़ देना। ३२३

वज्र
शून्यता का प्रतीक। दृढ़, सारवान्, अच्छेद्य, अभेद्य तथा अविनाशी होने से वज्र शून्यता का संकेत माना जाता है। ३६०

वज्रधर
सच्चे मार्ग का उपदेशक तान्त्रिक गुरु। ३७७

वज्रपर्वत
वज्रयान के उदय स्थान होने से श्रीपर्वत 'वज्रपर्वत' के नाम से अभिहित किया जाता है। ३६२

वज्रयान
बौद्धधर्म का तान्त्रिक रूप जिसमें शून्यता के साथ-साथ महासुख की कल्पना सम्मिलित की गई है। ३६०

पृ०

वज्राचार्य
वज्रमार्ग या तन्त्रमार्ग का उपदेशक गुरु। ३७१

वात्सीपुत्रीय
बौद्धों का एक विशिष्ट सम्प्रदाय जो 'पुद्गलवाद' का समर्थक था। १०३

वाद
किसी सन्दिग्ध वस्तु के स्वरूप का तर्कों द्वारा निर्णय ३२१

वादनिग्रह
शास्त्रार्थ में पकड़ा जाना अर्थात् उन बातों को जानना जिनसे प्रतिपक्षी शास्त्रार्थ में पराजित किया जाता है। ३२२

वादविधि
परमत का खण्डन कर स्वमत की स्थापना करने के लिए तर्कों का प्रयोग। ३२०

वादशास्त्र
देखो 'वादविधि' शब्द। ३२०

वादाधिकरण
राजा या किसी बड़े अधिकारी की परिषद् तथा धर्मनिपुण ब्राह्मण या भिक्षु की सभा जहाँ किसी विषय का तर्क-वितर्क के द्वारा निर्णय किया जाय। ३२१

वादालंकार
वाद के लिए आवश्यक वैशारद्य, धीरता, दाक्षिण्य आदि २१ प्रकार के प्रशंसा-गुणों का समुदाय। ३२१-२२

वादेबहुकर
वाद के लिए उपयोगी बातें। ३२३

वायु कसिण
१४ वाँ कर्मस्थान। बाँस के सिरे, ऊख के सिरे या बाल के सिरे को हिलाने वाले वायु को अपने ध्यान का विषय बनाना। ३३९

विक्खायितकम्
१५ वाँ कर्मस्थान। कुत्ते या सियार से छिन्न-भिन्न किये गए शव पर ध्यान लगाना। ३४०

पृ०

विक्खित्तम्

१६ वाँ कर्मस्थान। विखरे हुए अंग वाले शव पर ध्यान लगाना। ३४०

विचार

विषय में चित्त के प्रवेश होने के अनन्तर धीरे-धीरे अभ्यास से चित्त उस विषय में निमग्न हो जाता है। इसी का नाम 'विचार' है। ३४७

विच्छिद्दकम्

१४ वाँ कर्मस्थान। अंग भंग होने वाले शव (जैसे चोर का मृतक शरीर) पर ध्यान लगाना। ३४०

विज्ञानस्कन्ध

बाह्य वस्तुओं का ज्ञान तथा 'मैं हूँ' ऐसा आभ्यन्तर ज्ञान। ८४

विञ्ञाणानञ्चायतन

'विज्ञान + आनन्त्य + आयतन'। कर्मस्थान का ३६ वाँ प्रकार। परिच्छिन्न आकाश (सं० १२ वाँ कर्मस्थान) की भावना के साथ साथ दैशिक सम्बन्ध बना रहता है। इस कर्मस्थान में साधक को आकाश के विज्ञान के ऊपर चित्त समाहित करना होता है। ३४२

वितर्क

ध्यान-योग में चित्त को किसी विषय में समाहित करने के समय उस विषय में चित्त का जो प्रथम प्रवेश होता है, उसकी संज्ञा है वितर्क। ३४७

विनीलकम्

१२ वाँ कर्म-स्थान। नीला रंग पड़ जाने वाले शव पर ध्यान लगाना। ३४०

विपश्यना

ज्ञान जिसका उदय शमथ की प्राप्ति के फलरूप में होता है। १२०

विपुब्बकम्

१३ वाँ कर्म-स्थान। पीब से भरे हुए शव का ध्यान। ३४०

पृ०

विभज्य व्याकरणीय

प्रश्न का द्वितीय प्रकार। वह प्रश्न जिसका उत्तर विभक्त करके दिया जाता है। ४९

विभवतृष्णा

तृष्णा का तृतीय प्रकार। 'विभव' = संसार का नाश। संसार के नाश की इच्छा से उसी प्रकार दुःख उत्पन्न होता है जिस प्रकार उसके शाश्वत होने की अभिलाषा से। ५८

विमला

योग की दूसरी भूमि ३३५

विरमानन्द

रागाग्नि के शान्त हो जाने पर पूर्ण आनन्द का प्रकाश। ३७७

वीरभाव

अमृत कणिका आस्वादन कर जो साधक अपने बल पर अविद्या के बन्धनको अंशतः काटने में समर्थ होता है उसकी मानसिक दशा ३५५

वीर्यपारमिता

षट् पारमिताओं का चतुर्थ प्रकार। कुशल कर्मों के सम्पादन में उत्साह की पूर्णता। १२९

वेतुल्लवादी

बौद्ध सम्प्रदाय जो लोकोत्तर बुद्ध को मानता है। इसके मुख्य सिद्धान्त हैं ऐतिहासिक बुद्ध की अस्वीकृति और विशेषावस्था में मैथुन की स्वीकृति। इसी सिद्धान्त में वज्रयान के बीज निहित थे। ३५९

वेदनास्कन्ध

बाह्यवस्तु के ज्ञान होने पर उसके संसर्ग का चित्त पर प्रभाव 'वेदना' कहलाता है। वेदना के तीन प्रकार हैं—सुख, दुःख, न सुख न दुःख। ८४

वैभाषिक

'विभाषा' का अनुयायी बौद्ध मत जो बाह्य अर्थ को प्रत्यक्ष-रूपेण सत्य मानता है। बाह्यार्थ-प्रत्यक्षवादी बौद्ध सम्प्रदाय। १६०

पृ०

श

शमथ

चित्त की एकाग्रतारूपी समाधि १३०

शाश्वतवाद

आत्मा तथा परलोक को नित्य मानने का सिद्धान्त । दीघ-निकाय में उल्लिखित ६२ मतवादों में अन्यतम । २४

शीलपारमिता

हिंसा आदि समग्र गर्हित कर्मों से चित्त-विरति की पूर्णता । १२६

शीलव्रत परामर्श

एक प्रकार का बन्धन । व्रत तथा उपवास आदि में आसक्ति । ११७

शीलानुस्सति

२४ वाँ कर्मस्थान । शील के गुण तथा स्वभाव पर ध्यान लगाना । ३४१

शून्य

अस्ति, नास्ति, तदुभयं तथा नोभयं—इन चार कोटियों से निर्मुक्त परमतत्त्व। माध्यमिकों के मतानुसार वस्तु न तो ऐकान्तिक सत् है और न ऐकान्तिक असत्, प्रत्युत उसका स्वरूप इन दोनों सत्-असत् के मध्य बिन्दु पर ही निर्णीत हो सकता है और यही शून्य है । यह परमार्थ का सूचक होने से स्वयं निरपेक्ष है । शून्य 'अभाव' नहीं है, क्यों कि भाव की कल्पना सापेक्ष है । परन्तु शून्य निरपेक्ष वस्तु तत्त्व है । ३००

(१) शून्य अपर-प्रत्यय है अर्थात् दूसरे के द्वारा उपदेश्य तत्त्व नहीं है, प्रत्युत प्रत्यात्मवेद्य है ।

(२) शून्य शान्त, स्वभाव रहित, है ।

(३) शून्य अनक्षरतत्त्व (शब्दवेद्य नहीं) है ।

(४) शून्य निर्विकल्प है अर्थात् चित्त के प्रचार से विरहित तत्त्व है ।

(५) शून्य अनानार्थ है-नाना अर्थों से विरहित है । ३०२-३

पृ०

शून्यपदवी,

सुषुम्ना नाड़ी

शून्यमार्ग

सुषुम्ना नाडी का वज्रयानी नाम

श्रावकयान

बौद्धों का एक विशिष्ट मार्ग जिसके अनुसार 'अर्हत' पद की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। ११६

ष

षडायतन

निदानों में अन्यतम। आयतन = इन्द्रिय। यह उस अवस्था का सूचक है जब भ्रूण माता के उदर से बाहर आता है; अङ्ग-प्रत्यङ्ग बिल्कुल तैयार हो जाते हैं, परन्तु अभी उनका प्रयोग नहीं करता। ७४

स

सकृदागामी

श्रावक की द्वितीय भूमि। इस शब्द का अर्थ है एक बार आने वाला। जब स्रोतापन्न भिक्षु, इन्द्रिय-लिप्सा तथा प्रतिघ (दूसरे के प्रति अनिष्ट करने की भावना) नामक दो बन्धनों को दुर्बलमात्र बना कर मुक्तिमार्ग में आगे बढ़ता है तब इस भूमि में पहुंच जाता है। ११८

सत्काय दृष्टि

पालीका 'सक्काय दिट्ठि। वर्तमान देह में या नश्वर देह में आत्मा तथा आत्मीय दृष्टि रखना। 'सत्काय' दो प्रकार से बनता है—(क) सत् + काय = वर्तमान शरीर (अस् धातु से) या नश्वर शरीर (सद् धातु से)। (ख) स्व + काय। स्वकाये दृष्टिः आत्मात्मीयदृष्टिः—चन्द्रकीर्ति। टि० ८१

संघानुस्सति

२३ वाँ कर्मस्थान। संघ की भावना या संघत्व की कल्पना पर ध्यान लगाना। ३४१

पृ०

संज्ञा वेदना निरोध

विज्ञानवादियों के असंस्कृत धर्म का एक प्रकार। संज्ञा तथा वेदना के मानस धर्मों को वश में करने की स्थिति। २४६

संज्ञा स्कन्ध

वस्तुओं के यथार्थ ग्रहण करने पर उनके गुणों के आधार पर जो नामकरण किया जाता है वही है संज्ञा-स्कन्ध = नैयायिकों का सविकल्पक प्रत्यक्ष। ८४

संप्रजन्य

= प्रत्यवेक्षण। शीलपारमिता का एक साधन। काय और चित्त की दशा का निरन्तर प्रत्यवेक्षण करना। १२७

संभोगकाय

निर्माण काय की अपेक्षा सूक्ष्म काय। संभोगकाय अत्यन्त भास्वर शरीर होता है जिसके एक एक छिद्र से प्रकाश की अनन्त तथा असंख्य धारायें निकल कर जगत को आप्यायित करती हैं। गृध्र कूट पर्वत पर इसी काय के द्वारा महायान धर्म का उपदेश माना जाता है। १३६-१३७

संयम

ध्यान, धारणा और समाधिका सामूहिक नाम। ३३६

संयोजन

बन्धन—जिनके क्षय होने पर साधक को शुभ दशा प्राप्त होती है। ११७

संवृति = माया प्रपञ्च

(१) अविद्या जो वस्तु के ऊपर आवरण डाल देती है।
(२) हेतुप्रत्यय के द्वारा उत्पन्न वस्तु का रूप।
(३) वे चिह्न या शब्द जो साधारणतया मनुष्यों के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं तथा प्रत्यक्ष के ऊपर अवलम्बित रहते हैं। २९१-९२

पृ०

संस्कार स्कन्ध

मानसिक प्रवृत्तियों का समुदाय, विशेषतः राग और द्वेष का। वस्तु की संज्ञा से परिचय होते ही उसके प्रति हमारा राग और द्वेष उत्पन्न होता है—रागादिक क्लेश, मद मानादिक उपक्लेश तथा धर्माधर्म का इस स्कन्ध में समावेश होता है। ८५

संस्कृत

वे धर्म जो आपस में मिलकर एक दूसरे की सहायता से उत्पन्न होते हैं। सं सम्भूय अन्योन्यमपेक्ष्य कृता जनिता इति संस्कृताः। हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होने वाले अस्थायी, गतिशील सास्रव धर्म। १८६

समनन्तर आश्रय

विज्ञान की सन्तति का जो पीछे आश्रय बनता है। जैसे चक्षुर्विज्ञान में मन। २४०

समनन्तर प्रत्यय

प्रत्यक्ष ज्ञान का चतुर्थ प्रत्यय। प्रत्यक्ष का चौथा कारण ग्रहण करने तथा विचार करने की वह शक्ति है जिसके उपयोग से किसी वस्तु का साक्षात्कार होता है। ३२७

समाधि

(१) 'सम्यग् आधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः' = विक्षेपों को हटाकर चित्त का एकाग्र होना। यहाँ ध्यान ध्येय-वस्तु के आवेश से मानों अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है। (योगसूत्र ३।३) ३३५

(२) बुद्धघोष की व्युत्पत्ति—समाधानत्थेन समाधि। एकारम्भणे चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधारं थपणं ति वुत्तं होति (विसुद्धि मग्ग पृ० ८४) एक ही आलम्बन के ऊपर मन को और मानसिक व्यापारों को समान रूप से तथा सम्यक् रूप से लगाना ही समाधि का तात्पर्य है। ३३६

पृ०

सम्मितीय

देखो 'वात्सीपुत्रीय' शब्द । १०३

सम्यक् आजीव

अष्टांगिक मार्ग का पञ्चम अङ्ग । शोभन सच्ची जीविका । ६७

सम्यक् कर्मान्त

अष्टांगिक मार्ग का चतुर्थ अङ्ग । शोभन कर्म का सम्पादन । ६६

सम्यक् दृष्टि

अष्टांगिक मार्ग का प्रथम अङ्ग । कुशल-अकुशल, भले-बुरे को ठीक ठीक पहचानना या जानना । दृष्टि = ज्ञान । ६४

सम्यक्-वचन

अष्टांगिक मार्ग का तृतीय अङ्ग । ठीक-ठीक बोलना; सत्य भाषण । ६५

सम्यक् व्यायाम

अष्टांगिक मार्ग का षष्ठ अङ्ग । सत्कर्मों के रखने के लिए शोभन उद्योग । ६७

सम्यक् समाधि

अष्टांगिक मार्ग का अष्टम अङ्ग । शोभन समाधि । ६८

सम्यक् सङ्कल्प

अष्टांगिक मार्ग का द्वितीय अङ्ग । कामहीनता, अद्रोह तथा अहिंसा का ठीक-ठीक निश्चय करना । ज्ञान के अनन्तर ही इनका निश्चय होता है । ६५

सम्यक् स्मृति १८

अष्टांगिक मार्ग का सप्तम अङ्ग । काम, वेदना, चित्त तथा धर्म के वास्तव स्वरूप को जानना तथा उसकी स्मृति बनाये रखना। ६७

सर्वबीजक आश्रय

वह आश्रय जिसमें रूप, इन्द्रिय मन तथा सारे विश्व का बीज विद्यमान रहता है जैसे आलयविज्ञान । २४०

सर्वास्ति वाद

सबकी सत्ता मानने वाला बौद्ध सम्प्रदाय । वैभाषिकों तथा सौत्रान्तिकों का सामूहिक नाम । २१७

पृ०

सहकारी प्रत्यय

प्रत्यक्ष ज्ञान का द्वितीय प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान में सहायता देने वाला कारण जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष में प्रकाश, क्योंकि बिना प्रकाश के घट का चाक्षुष ज्ञान सम्पन्न नहीं हो सकता। ३२७

सहजयान

वज्रयान का नामान्तर। ३६८

सहजावस्था

ग्राह्य, ग्राहक तथा ग्रहण की त्रिपुटी का सर्वथा अभाव होने पर जिस दशा में योगी महासुख या निर्वाण की प्राप्ति करता है उसका नाम है 'सहज अवस्था'। ३६८

सहभू आश्रय

जो विज्ञान के साथ-साथ अस्तित्व में आता है तथा साथ ही विलीन होता है वह सदा संबद्ध होने से इस नाम से पुकारा जाता है जैसे चक्षुर्विज्ञान में चक्षु। २४०

सांवृतिक सत्य

अविद्या-जनित व्यावहारिक सत्ता। २९०

साधन

बौद्ध तन्त्र में देवताओं के मन्त्र, यन्त्र, पूजा पटल का वर्णन। ३५८

साधुमती

योग की नवमी भूमि। ३३५

सामान्य लक्षण

अनेक वस्तुओं के साथ गृहीत वस्तु का सामान्य रूप। इसमें कल्पना का प्रयोग होता है और इसी लिए यह अनुमान का विषय होता है, प्रत्यक्ष का नहीं। ३२५

सुख

चित्त समाधान से शरीर की व्युत्थित दशा की बेचैनी जाती रहती है तथा पूरे शरीर में स्थिरता तथा शान्ति का उदय होता है। इसी वृत्ति का नाम है सुख। ३४७

पृ०

सुखराज

'महासुख' का अपर नाम। ३६८

सुदुर्जया

योग की पंचम भूमि। ३३५

सुषुम्ना

मध्यनाडी। वाम तथा दक्षिण नाडी की समानता होने पर अर्थात् कुम्भक होने पर वायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है। इसी द्वार के सहारे प्राण की ऊर्ध्वगति करना योगियों का परम ध्येय है। ३६८

सोपधिशेष

आस्रवों (मलों) के क्षीण हो जाने पर जीवित रहने वाले अर्हतों के अभी भी अनेक विज्ञान शेष रह जाते हैं। उन्हीं के निर्वाण का यह नाम है। जीवन्मुक्ति का प्रतीक। १९८

सौत्रान्तिक

सूत्रान्त या सूत्र के ऊपर आश्रित बौद्ध सम्प्रदाय जो बाह्य अर्थ की सत्ता अनुमान के आधार मानता है। बाह्यार्थानुमेय-वादी बौद्धमत। १६१

स्कन्ध

समुदाय। पाँच प्रकार। आत्मा इन्हीं पाँचों स्कन्धों का समुदाय माना जाता है, उसका स्वतः पृथग् अस्तित्व नहीं होता। ८४

स्वभावकाय

धर्मकाय का ही अपर नाम। १३८

स्वलक्षण

वस्तु का अपना रूप जो शब्द आदि के बिना ही ग्रहण किया जाय। यह तब सम्भव है जब वस्तु अलग-अलग रूप से ग्रहण की जाय। यह प्रत्यक्ष का विषय होता है, क्योंकि इसमें कल्पना का तनिक भी प्रयोग नहीं होता। २२५

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष। २२७

पृ०

स्थापनीय

प्रश्न का चतुर्थ प्रकार। वह प्रश्न जिसका उत्तर बिल्कुल छोड़ देने से ही दिया जाता है। ४९

स्वाभाविक काय

धर्मकाय की ही अपर संज्ञा। १३८

स्रोतापन्न

श्रावक की प्रथम भूमि। जब साधक का चित्त प्रपंच से एक दम हटकर निर्वाण के मार्ग पर आरूढ हो जाता है जहाँ से गिरने की तनिक भी संभावना नहीं रहती तब उसे स्रोतापन्न कहते हैं। ११७

ह

ह

तन्त्र में चन्द्र या वाम नाडी का सांकेतिक नाम। ३६७

हठयोग

चन्द्र तथा सूर्य का एकीकरण, इडा तथा पिंगला, प्राण और अपान का समीकरण सिद्ध करने वाला योग। ३६७

हतविक्खित्तम्

१७ वाँ कर्मस्थान। कुछ नष्ट और कुछ छिन्न-भिन्न अंग वाले शव पर ध्यान लगाना। ३४०

हेतु

मुख्य कारण। 'प्रत्यय' से हेतु की भिन्नता जानने के लिए देखिए 'प्रत्यय' शब्द। ७२

सम्मतियाँ

जैन-दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान्, हिन्दू विश्वविद्याल में जैन-दर्शन के भूतपूर्व अध्यापक पं० सुखलाल जी—

जिस देश में तथागत ने जन्म लिया और जहाँ उन्होंने पादचर्या से भ्रमण किया उसी देश की राष्ट्रभाषा में बौद्ध-दर्शन के सभी अंगों पर आधुनिक दृष्टि से लिखी गई किसी पुस्तक का अभाव एक लाञ्छन की वस्तु थी। इस लाञ्छन को मिटाने का सर्वप्रथम प्रयत्न पं० बलदेव उपाध्याय ने किया है। अतः उनका यह प्रयास सचमुच स्तुत्य है। इस पुस्तक में बौद्ध-धर्म तथा दर्शन के सभी अङ्गों का प्रामाणिक वर्णन किया गया है परन्तु स्थानाभाव से इन विषयों का संक्षिप्त वर्णन होना स्वाभाविक है। यह पुस्तक इतनी रुचिकर हुई है कि इसे पढ़ने वालों की जिज्ञासा इस विषय में जग उठेगी। बौद्धधर्म तथा दर्शन के तथ्यों के रहस्यों का उद्घाटन केवल इसी ग्रन्थरत्न के अनुशीलन से हो जाता है।

विद्वान् लेखक की भाषा तो प्रसन्न है ही, साथ ही विषय भी रोचक तथा रुचिकर ढंग से वर्णित है। पुस्तक पक्षपातरहित दृष्टि से लिखी गई है जो साम्प्रदायिकता के इस युग में अत्यन्त कठिन है। हमें विद्वान् लेखक से अभी बहुत कुछ आशा है।

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के दर्शन-शास्त्र के अध्यक्ष प्रोफेसर डा० भीखनलाल आत्रेय एम. ए. डि. लिट्.

बौद्धदर्शन भारतीय दर्शन का एक प्रधान अङ्ग है और भारतीय विचारों के विकास के इतिहास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। तिसपर भी जन-साधारण को ही नहीं, भारत के पण्डितों का भी बौद्धदर्शन-सम्बन्धी ज्ञान नहीं के बराबर है। जो थोड़ा-बहुत ज्ञान है वह अशुद्ध

है। इसका प्रधान कारण बौद्ध दर्शन पर हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में प्रामाणिक तथा आधुनिक ढंग से लिखी हुई पुस्तकों का अभाव है। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के संस्कृत के अध्यापक पं० बलदेव उपाध्याय जी ने बौद्ध-दर्शन पर यह ग्रन्थ लिखकर वास्तव में एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। यह ग्रन्थ बड़े परिश्रम और अध्ययन का फल है। अभी तक इस प्रकार का बौद्ध-दर्शन पर कोई दूसरा ग्रन्थ हिन्दी भाषा में तो क्या, अन्य किसी भी भारतीय भाषा में नहीं छपा है। ग्रन्थ सर्वाङ्गपूर्ण हैं और बौद्ध-धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान उत्पन्न कराने योग्य है। इसकी भाषा शुद्ध और छपाई उत्तम है। प्रत्येक दर्शन प्रेमी पाठक के पुस्तकालय में रहने योग्य ग्रन्थों में से यह एक है।

नालन्दा 'मगधपाली-विद्यालय' के वर्तमान अध्यक्ष
भिक्षु जगदीश काश्यप एम. ए.

श्री पं० बलदेव उपाध्याय की लिखी 'बौद्ध-दर्शन' नामक पुस्तक को आद्योपान्त पढ़कर बड़ा आनन्द आया। साम्प्रदायिक संकीर्णता के कारण बौद्ध-दर्शन को अयथार्थ रूप से रखने का जो प्रयास कुछ लेखकों ने किया है उनका परिमार्जन यह ग्रन्थ कर देता है। बौद्ध-दर्शन पर इतनी अच्छी, प्रामाणिक, विद्वत्तापूर्ण और सुबोध पुस्तक लिखकर पण्डितजी ने हिन्दी-साहित्य की अनुपम वृद्धि की है। पुस्तक नितान्त मौलिक है तथा मूल-ग्रन्थों का अध्ययन कर लिखी गई है। हिन्दी में तो क्या अंग्रेजी भाषा में भी इतनी सर्वाङ्गपूर्ण पुस्तक नहीं हैं जिसमें बौद्ध-धर्म तथा दर्शन के इतिहास तथा सिद्धान्तों का इतना प्रामाणिक विवेचन किया गया हो। यह पुस्तक बौद्ध-विद्वानों के लिये भी पठनीय है। अन्त में हम विद्वान् लेखक को इस गम्भीर ग्रन्थ के लिखने के लिये बधाई देते हैं।

सौगतसिद्धान्तसारसंग्रह

(हिन्दी अनुवाद सहित)

(बौद्ध दर्शन)

लेखक—**डा० चन्द्रधर शर्मा** एम. ए., डी. फिल्.,
डी. लिट्., एल्. एल्. बी., साहित्याचार्य, साहित्यरत्न,
अध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,

इस ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के उपदेशों से लेकर जब तक भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव रहा तब तक के आचार्यों के उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थों में से बौद्धदर्शन के सारभूत तत्त्वों का संग्रह किया गया है। ग्रन्थ के पाँच परिच्छेद हैं—(१) पालिवाङ्मय, (२) महायान सूत्र, (३) शून्यवाद, (४) विज्ञानवाद और (५) स्वतन्त्रविज्ञानवाद। कुछ महत्त्वपूर्ण भेद होने पर भी महायान मत और अद्वैत वेदान्त परस्पर सम्बद्ध सोपान परम्परा के समान क्रमबद्ध हैं। बौद्ध ग्रन्थ दुष्प्राप्य होने के कारण तथा पण्डितों में अधिक प्रचलित न होने के कारण एवं बौद्ध-दर्शन का ज्ञान अन्य दर्शनों में पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित प्रायः एकाङ्गी और भ्रामक सिद्धान्तों तक ही सीमित होने के कारण, बौद्ध-दर्शन के विषय में अनेक भ्रान्त धारणायें रूढ़ हो गई हैं। इस संग्रह द्वारा बौद्ध-दर्शन के विकास को अपने स्वरूप में विद्वज्जनों के लिये सुलभ किया गया है। साथ में हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है जिसमें पारिभाषिक शब्दों और भावार्थ को भी स्पष्ट किया गया है। बौद्ध-दर्शन के ज्ञान के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस-१